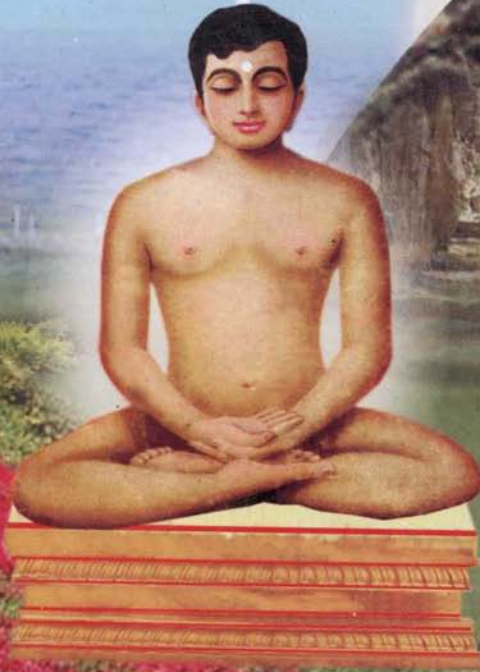


जैन धर्म में ध्यान का ऐतिहासिक विकास क्रम



* महासती डॉ. उदितप्रभा 'उषा'

ध्यान अमृत-बिन्दु

1. बाह्य कोलाहल से दूर, आत्मिक शान्ति एवं चिर-आनन्द की अनुभूति ध्यान साधना से ही संभव हो सकती है। एक पल के लिये लगता है, झंझावात शान्त हो गया है। साधना का उत्तरोत्तर विकास क्रम वस्तुतः सृजनात्मकता के शिखर की यात्रा है।

युवाचार्य श्री मिश्रीमल जी म. सा.

'मधुकर' डायरी से संकलित

2. ध्यान का प्रयोग करना एक प्रवृत्ति है, किन्तु प्रयोजन उससे भिन्न है और वह है जागरूकता का विकास। जीवन के प्रति, वर्तमान समस्याओं के प्रति जागरूकता आए। जो सोया हुआ जीवन है, मूर्च्छा का जीवन है, प्रमाद और आलस्य का जीवन है वह टूटे और व्यक्ति सतत जागरूक बन जावे।

आचार्य महाप्रज्ञ

'finding your spiritual center' से उद्धृत

3. ध्यान द्वारा आत्मिक ऊर्जा को ऊर्ध्वगामी किया जा सकता है। ध्यान साधना में लीन प्राणी विकारों का विरेचन करते हुए आलोक से संप्रवृत्त हो जाता है। मन शान्त-स्थिर और शीतल हो जाता है। प्राणी जब गहनतम केन्द्र पर समाधिस्थ हो जाता है तो आंधी के बाद जल वृष्टि होने पर हरीतिमा की अनुभूति करता है।

आर्या उमराव कुंवर 'अर्चना'

4. ध्यान मन का उद्घाटन और उसी के द्वारा प्रत्यक्षीकरण है। वह एक निर्बाध अवलोकन है, एक ऐसा अवलोकन जिसमें कोई पृष्ठभूमि नहीं होती जिसमें एक अनन्त शून्यता होती है, जिसमें अवलोकन होता है। विचार काल है और ऐसे अवलोकन के लिए जो विचार की सीमा के परे आता है, एक ऐसे मन की आवश्यकता होती है जो अनुपम रूप से शान्त है, मौन है।

जं. कृष्णमूर्ति

'शिक्षा संवाद-छात्रों और शिक्षकों' से उद्धृत

जैनधर्म में ध्यान का ऐतिहासिक विकास क्रम

[जैन विश्व भारती संस्थान लाडनूं (मान्य विश्व विद्यालय)
पी. एच. डी. उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध]

अनुसन्धित्सु :
साध्वी डॉ. उदितप्रभा 'उषा'
एम. ए. पी. एच. डी.

- जैध धर्म में ध्यान का ऐतिहासिक विकास क्रम
- साध्वी डॉ. उदितप्रभा 'उषा'
- मार्गद्रशिका :
महायोगेश्वरी महासती श्री उमरावकुंवर जी म. सा. 'अचर्ना'
- निदेशक :
डॉ. सागरमल जी जैन, शाजापुर
- प्रथमावृत्ति : जनवरी 2007
- प्रतियाँ : 1200
- प्रकाशक / प्राप्ति स्थान
(1) मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन,
पीपलिया बाजार, ब्यावर (राज.)
(2) प्राच्य विद्यापीठ दुपाड़ा रोड़, शाजापुर (म. प्र.)
- अर्थ सहयोगी :
उदारमना श्रीमान् सुरेश कुमार निखिल कुमार बैद - चैन्नई
- प्राप्ति स्थान :
1. सरस्वती पुस्तक भण्डार,
हाथी खाना, रतनपोल, अहमदाबाद - 1
2. भारतीय विद्या प्रकाशन
कचौड़ी गली चौक, वाराणसी - 1
3. पार्श्वनाथ विद्यापीठ
करौदी, पो. बी. एच. यू., वाराणसी - 5
4. Dr. Peter Flugel
16, Elsinore Garden,
LONDON, NW 2 - 1 SS,
ENGLAND
P. No. 0044 207898 4020

मुद्रण :

मूल्य : 200/-

Registration No. R.:J.VBI/Ph.D/J-157/2002-03

Jain Vishva Bharati Institute

(Deemed University), Ladnun



Doctor of Philosophy

This is to certify that Sadhvi. Udit. Prabha 'Usha'
W/O of Shri/Smt. Bhal Chand Jain has been admitted to the
Doctor of Philosophy in Jainology and Comparative Religion & Philosophy
of this Institute on 28.02.2005.

प्रमाणित किया जाता है कि साध्वी उदित प्रभा 'उषा'
पुत्र/पुत्री श्री/श्रीमति बाल चन्द जैन को इस संस्थान द्वारा
जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन विषय में दिनांक 28.02.2005 को
डॉक्टर ऑफ़ फ़िलॉसॉफी की उपाधि प्रदान की जाती है।

प्रमाणेइं अं साध्वी उदित प्रभा 'उषा' स्स/ए
सिरी/सिरीमई बाल चन्द जैन स्स पुतस्स/पुतीए
इमेणं संवणेणं जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन
विसअम्मि दिवसे 28.02.2005 डॉक्टर ऑफ़ फ़िलॉसॉफी नि उवाही पदिज्जइ।

Title of the thesis: जैन धर्म में ध्यान का ऐतिहासिक विकास कस



Ladnun (Registration)

Dated 19.02.2005

Sushamati Ragneshi
Vice-Chancellor

आशीर्वचन.....

जिज्ञासु, शोधार्थी साध्वी डॉ. उदित प्रभा 'उषा' द्वारा प्रणीत "जैन धर्म में ध्यान का ऐतिहासिक विकास क्रम" उत्कृष्ट शोधग्रन्थ है। इसमें ध्यान की व्याख्या और मूल्यांकन तार्किक ढंग से किया है। यह ग्रन्थ आलोच्य क्षेत्र का मील स्तंभ सिद्ध होगा ऐसा विश्वास है।

मैं कामना करता हूँ कि साध्वी जी भविष्य में भी शोध-साधना को जारी रखते हुए नये क्षितिज उद्घाटित करेंगे।

- मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'

मैसूर



हार्दिक आशीर्वचन.....

ज्ञान चक्षु जब खुलते हैं ।

सद् साहित्य के पुष्प खिलते हैं ॥

ध्यान का जैन दर्शन में विशेष महत्त्व है, यह हमें बाह्य संसार के ऊँहापोह से दूर शांत मन से जोड़ता है। तब ऐसा प्रतीत होता है विकार समाप्त हो गए हैं और एक नयी ऊर्जा हमारे स्पन्दनों में आकर बस जाती है।

ध्यान जीवन की ऐसी उत्कृष्ट साधना है, जिसके द्वारा साधक लोकोत्तर आलोक से आप्लावित हो जाता है।

मेरी अन्तेवासिनी शिष्या डॉ. उदित प्रभा 'उषा' को लेखन, मनन और शोध में विशिष्ट अभिरूचि रही है। उनकी लेखनी से निसृत: लगभग आठ रचनायें प्रेरणादीप बनकर जिज्ञासु धर्मोन्मुख श्रावक-श्राविकाओं का पथ प्रशस्त कर रही है। उनके अनवरत कई वर्षों के शोध का प्रतिफल है-“जैन धर्म में ध्यान का ऐतिहासिक विकास क्रम।”

इस शोध ग्रन्थ पर उन्हें लाडलू संस्थान द्वारा विद्या वाचस्पति की उपाधि से अलंकृत किया। यह गौरव का विषय है। प्रस्तुत शोधग्रन्थ के नौ अध्यायों में भारतीय संस्कृति और वाङ्मय में ध्यान साधना का विस्तृत वर्णन है। शोधार्थी साध्वी जी ने जैनागमों एवं परवर्ती आचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया है।

सुधी पाठक इस ग्रन्थ के माध्यम से द्वन्द्व से मुक्त होकर एकाग्रचित होकर अपना कल्याण कर सकते हैं। इससे उनकी संकल्प शक्ति का विकास होगा एवं विजातीय तत्त्व पलायन करेंगे।

मैं साध्वी डॉ. उदित प्रभा 'उषा' को इस ग्रन्थ प्रणयन के लिए साधुवाद देते हुए शोध प्रक्रिया को जारी रखने का आह्वान भी करती हूँ।

- आर्या उमराव कुंवर “अर्चना”

ब्यावर

समर्पण.....



परम श्रद्धेया महायोगेश्वरी गुरुवर्या श्री उमरावकुँवर जी म. सा. "अर्चना" आध्यात्मपथ की परम साधिका है, योग की शब्दावली में कहा जा सकता है गंगा-यमुना के पार शुन्य घाट पर जाना है, दिव्य झरने का अमृत पाना है, उनके जीवन का लक्ष्य है। मैंने सिर्फ ध्यान साधना के विषय में जो लिखा है उन्होंने अनुभूत किया है।

श्री चरण साधना कमल पर मण्डराते ज्ञान-भ्रमर, दर्शन सी महक और चारित्र की आभा ने मेरे सन्तप्त मन को बदली का अहसास कराया, जिन्होंने मेरे जीवन की दशा और दिशा बदली उन्हीं गुरुवर्या श्री के कर-कमलों में सादर, सविनय, सभक्ति सर्वात्मना समर्पित यह लघु प्रयास



त्वदीयं वस्तु योगीन्द्र !

तुभ्यमेव समर्पये!!

विनित :

- आर्या डॉ. उदित प्रभा 'उषा'

श्रुतज्ञान प्रचार प्रसार के सशक्त साथी

उदारचेता श्रीमान् बालचन्द्र जी बैद - सौ. रूकमादेवी बैद, चैन्नई

मानव जीवन की सार्थकता आध्यात्मोन्मुख पथ पर चरण बढ़ाने में है। जो भाग्य के भरोसे बैठकर समय का सदुपयोग नहीं करते उनका जीवन पानी के बुलबुले के सहश कब समाप्त हो जाता है पता ही नहीं चलता है। कुछ लोग विचारों की जाल में इतना अधिक उलझ जाते हैं कि निर्णय हीनता के शिकार हो जाते हैं। दूसरी ओर ऐसे भी प्राणी हैं जो समय का सदुपयोग करते हुए स्वस्थ चिन्तन की दिशा में बढ़ते हैं वे समय के सरगम पर तप त्याग और शुभ भावों के गीत छेड़ते हैं। वे ही किस्मत के कारीगर कहलाते हैं।

ऐसे ही किस्मत के कारीगर थे वीर वसुंधरा राजस्थान के नागौर जिले में बसे हुए 'डेह' ग्राम निवासी धर्मनिष्ठ श्रद्धावान सुश्रावक 'श्रीमान् बालचन्द्र जी बैद सौभाग्यवती रूकमादेवी बैद' आप चैन्नई महानगरी में फाइनेन्स का व्यापार करते थे। अपनी व्यवहार कुशलता, बुद्धि चातुर्य के बलबूते पर अपने व्यवसाय को विस्तृत बनाया। आपके रोम-रोम में श्रद्धा का निर्झर प्रवाहित था। आस्थावान श्रीमान् बालचन्द्र जी तथा धर्मप्रवृत्ति में सदैव अग्रसर सौ. रूकमादेवी दोनों की जोड़ी सचमुच ही विलक्षण थी। आपकी धार्मिक कार्यों में लगन, रूचि प्रशंसनीय थी। आप श्री सम्पन्न होते हुए भी आप में सहजता, व्यवहार में मधुरता, वचनों में सरलता तथा साधु-साध्वी जी की सेवा में उदारता एवं आस्था दृष्टिगोचर होती थी। सुश्राविका स्वाध्याय प्रेमी, समाजसेवी सौ. रूकमादेवी साहूकार पेठ महिला मण्डल की महामंत्री हैं। निरन्तर तप, साधना में आत्मतत्त्व को शुद्ध करते हुए सांसारिक जीवन में भी आराधना की रूढ़ियों पर कदम दर कदम आगे बढ़ रही हैं। आपकी जीवन बगिया में छः पुष्प अंकुरित हुए। श्री सुरेश कुमार, सौ. विमलाजी, सौ. संगीता, सौ. सन्तोष, सौ. राजकुमारी एवं उषा कुमारी। अपनी सन्तानों को आपने संस्कार वैभव प्रचुर मात्रा में दिये। आपके संस्कार सिंचन का ही यह उपहार है कि आपकी सुपुत्री 'उषा' के मनोभूमि में वैराग्य बीज अंकुरित हुआ। वह वैराग्य का बीज 25 जनवरी 1981 में बहुश्रुत पंडितरत्न युवाचार्य श्री मिश्रीमल जी म. सा. 'मधुकर' के पावन मुखारविंद से दीक्षा मंत्र श्रवणकर संयम के तरु के रूप में परिवर्तित हुआ और उषा साध्वी उदितप्रभा के श्रमणवेश में

महायोगेश्वरी श्रद्धेया पू. उमराव कुंवर जी म. सा. 'अर्चना' की नेश्राय में जीवन साफल्यता की अनुभूति करते हुए नित्य नया सृजन कर रही है। समय को मूल्यवान मोती बना रही है। शासन की सेवा में रत्न अर्पित करके धर्म दलाली का महत्त्वपूर्ण कार्य यापन किया है।

आपके सुपुत्र सुरेश कुमार जी बैद ने भी व्यापारिक क्षेत्र में अपनी कार्यशैली व योग्यता के कारण विशिष्ट पहचान बनायी है। आपने कई कल्याणकारी योजनाओं में अपना आर्थिक सहयोग देकर मूर्त्तरूप प्रदान किया है।

आपने अपनी उदारता का परिचय देते हुए अपनी मातुश्री रूकमाबाई सा की प्रेरणा से महासती डॉ. उदित प्रभा जी म. सा. 'उषा' के शोध 'जैन धर्म में ध्यान का ऐतिहासिक विकास क्रम' को प्रकाशित करवाने में अपना आर्थिक सहयोग प्रदान करके अपनी आत्मीयता उदारता, साहित्य रूचिता एवं शिक्षा सेवा का आदर्श प्रस्थापित किया है एतदर्थ साधुवाद।

परिवार परिचय

धर्मपत्नी – श्रीमती रूकमाबाई बैद

पुत्र, पुत्र-वधू -- सुरेश कुमार जी – लीलाजी

पांच पुत्रियाँ – श्रीमती विमला जी कोठारी, श्रीमती संगीता जी लोढ़ा

श्रीमती सन्तोष जी बाघमार, श्रीमती राजकुमारी चौरडिया

पौत्र – निखिल कुमार

दो पौत्री – निखिता एवं नम्रता।

‘बालचन्द री शुभ्र ज्योत्सना।

आस्थामय जीवन उदार मना।

अर्चना लोक उदित हुई ऊषा।

ध्यान रश्मियों से नव जय बना।

सृष्टि ने किया दिव्य शृंगार।

आत्मसात करे कृति के विचार।

ध्यानस्थ साधक नमन शत् शत् वार।’



श्रुतज्ञान प्रचार-प्रसार के सशक्त साथी



स्व. श्रीमान् बालचन्द जी बैद



सौ. श्रीमती रुकमाबाई सा बैद



परस्परार्थो जीवनम्

प्राक्कथन

-डॉ. सागरमल जैन

भारतीय संस्कृति में ध्यान और योग की परम्परा का अस्तित्व प्राक्-ऐतिहासिक काल से ही उपलब्ध होता है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से उपलब्ध सीलों में ध्यानस्थ योगियों के अंकन इस बात के प्रमाण हैं कि भारत में ध्यान एवं योग की जड़ें अतिगहन हैं। यह एक निर्विवाद तत्त्व है कि औपनिषदिक परम्परा और सहवृत्ती श्रमण परम्पराओं में ध्यान साधना उनकी दैनिक-चर्या का आवश्यक अंग होती थी। महावीर और बुद्ध के पूर्व भी ध्यान साधना की अनेक विधियाँ प्रचलित थी। इस प्रकार ध्यान-साधना पद्धति भारतीय साधना-पद्धति का प्रमुख अंग रही है। जैसा कि हमने प्रारम्भ में उल्लेख किया। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के काल से लेकर वर्तमान युग तक ध्यान साधना के पुरातात्विक और साहित्यिक उल्लेख प्राप्त होते हैं। यद्यपि ध्यान साधना की विविध विधियों को लेकर आज तक बहुत लिखा गया है और लिखा जा रहा है तथा वर्तमान तनाव के युग में ध्यान साधना की अनेक पद्धतियाँ विभिन्न धर्मों की शाखाओं और प्रशाखाओं में आज भी प्रायोगिक रूप से प्रचलित है और उनके सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन भी हुआ है। किन्तु प्राक्-ऐतिहासिक काल से लेकर आज तक ध्यानों की कौन-कौन सी विशिष्ट परम्पराएँ रही हैं और ध्यान साधना के क्षेत्र में उनकी अपनी मौलिकता क्या है? इस पर कोई भी शोध कार्य नहीं हुआ है। इसी दृष्टि को लेकर साध्वी श्री उदितप्रभाजी ने "जैन धर्म में ध्यान की परम्परा, महावीर से लेकर महाप्रज्ञ तक" इस विषय पर अपना शोध प्रबन्ध मेरे निर्देशन में लिखा है, जो जैन धर्म में ध्यान की परम्परा के इतिहास को जानने का एक महत्त्वपूर्ण साधन माना जा सकता है।

आज जो ध्यान की विविध परम्पराएँ प्रचलित हैं, उनको मूलतः दो भागों में बाँटा जा सकता है—(1) पातंजल योगसूत्र पर आधारित ध्यान और योग की परम्पराएँ और (2) रामपुत्र की श्रमण-धारा से विकसित ध्यान और योग की परम्पराएँ। फिर भी पातंजल योगसूत्र और रामपुत्र की विषयना की ध्यान पद्धति का मूल लक्ष्य तो मन की भाग-दौड़ या विकल्पात्मक प्रवृत्तियों को समाप्त करना ही रहा है। चाहे योगः चित्तवृत्ति निरोधः की परिभाषा को ले या चित्त समाधि या मन

को अमन बनाने की बात को ले, ध्यान साधना के मूल लक्ष्य में कोई अन्तर नहीं आता। यदि कही अन्तर है तो वह उन पद्धतियों में है, जिनके आधार पर चित्तवृत्तियों का निरोध या मन को अमन बनाने की साधना की जाती है।

यह सत्य है कि आज हम सब तनाव में जी रहे हैं, किन्तु सभी का लक्ष्य तनाव से मुक्ति पाना है। इस प्रकार यदि हम देखे तो आज विश्व की सभी साधना-पद्धतियों का मुख्य लक्ष्य तनाव का निराकरण है। इस तरह ध्यान और साधना की चाहे अनेक पद्धतियाँ प्रचलन में हो, किन्तु उन सबका लक्ष्य तो एक ही है। चाहे लक्ष्य चित्तवृत्तियों का निरोध हो या निर्विकल्पसमाधि हो अथवा जैन दर्शन की भाषा में योग से आयोग की यात्रा हो, मूल बात केवल इतनी ही है कि मन की भाग-दौड़ कम हो एवं आकांक्षाओं और इच्छाओं का स्तर निम्नतम बिन्दु तक आये। प्राचीनकाल से लेकर आज तक ध्यान की समग्र साधनाओं का लक्ष्य मन को अमन बनाना ही रहा है। जैन परम्परा में आचार्य हेमचन्द्र ने मन के चार स्तर— (1) विक्षिप्त मन, (2) यातायत मन, (3) शिलिषु मन और (4) सुलीन मन बताये हैं और ध्यान साधना का लक्ष्य सुलीन मन ही माना गया है। सुलीन मन वह है जहाँ मनोवृत्तियों का लय हो जाता है, इच्छा, आकांक्षा और वासना का विलय हो जाता है। इसी प्रकार बौद्धदर्शन में मन के स्थान पर चित्त के चार स्थान बताये गये हैं— (1) कामावचर, (2) रूपावचर, (3) अरूपावचर, (4) लोकोत्तर। इनमें लोकोत्तर चित्त राग, द्वेष और मोह से रहित विकल्पशून्य अवस्था है। लोकोत्तरचित्त का विकास तभी होता है, जब वासनाएँ विलीन हो जाती हैं। इसी क्रम में योगदर्शन में चित्त की पाँच भूमियाँ या स्तर बताये गये हैं— (1) क्षिप्त, (2) मूढ़, (3) विक्षिप्त, (4) एकाग्र और (5) निरुद्ध। इन पाँचों भूमियों में अन्तिम भूमि तो निरुद्धचित्तभूमि ही है। निरुद्धचित्तभूमि वह है जहाँ सभी वृत्तियाँ लय हो जाती हैं। चित्त विकल्प शून्य बन जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ध्यानमार्ग की इन विभिन्न साधना पद्धतियों के मूल लक्ष्य में कहीं कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जिस प्रकार योगदर्शन में एकाग्र चित्त और निरुद्धचित्त में अन्तर किया गया है, उसी प्रकार जैन परम्परा में ध्यान और व्युत्सर्ग में अन्तर किया गया है। जैन परम्परा के अनुसार ध्यान चित्तवृत्ति की एकाग्रता का नाम है और व्युत्सर्ग चित्त वृत्तियों के विलय की अवस्था है। जिसे हम निर्विकल्प समाधि के रूप में व्याख्यायित कर सकते हैं।

विकल्पों और वासनाओं का जन्म चित्त या मन में होता है और वे विकल्प

और वासनाएं ही हमें तनावयुक्त बनाते हैं। तनावों के कारण चित्त की वृत्ति असंतुलित हो जाती है और असंतुलित चित्तवृत्ति का प्रभाव हमारे बाह्य व्यवहारों पर भी पड़ता है और वह हमारे बाह्य व्यवहारों को भी असंतुलित बना देती है। बाह्य व्यवहारों के असंतुलन से परिवार, और समाज की शांति भंग होती है और यह असंतुलन क्रमशः विकसित होता हुआ राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय शांति को भी भंग कर देता है। वस्तुतः ध्यान इस वैयक्तिक, सामाजिक और वैश्विक असंतुलन को समाप्त करने की ही एक प्रक्रिया है। ध्यान का महत्त्व न केवल आध्यात्मिक साधना के लिए है, अपितु वह वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय असंतुलन को समाप्त करने का भी एक महत्त्वपूर्ण साधन है। यही कारण है कि वैयक्तिक जीवन में जैसे-जैसे तनाव की वृद्धि हो रही है, सामाजिक असंतुलन में भी वृद्धि हो रही है। परिणामतः लोगों में ध्यान की रुचि का भी विकास हो रहा है। आज विश्व में ध्यान की विविध पद्धतियों के प्रति जो आकर्षण बढ़ा है, उसका मूलभूत कारण वैयक्तिक जीवन और सामाजिक जीवन में असंतुलन की वृद्धि ही तो है। अतः ध्यान साधना एक अपरिहार्यता बनती जा रही है।

चाहे ध्यान का लक्ष्य चित्तसमाधि या निर्विकल्पता हो किन्तु जब व्यक्ति उस चित्त समाधि या निर्विकल्पता के लिए विभिन्न पद्धतियों को देखता है तो स्वाभाविक रूप से उसके मन में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह किसे चुनें। ध्यान की साध्यात्मक एकरूपता के बावजूद जो साधनात्मक वैविध्य रहे हैं, वे हमारे चुनावों को विकल्पयुक्त बनाते हैं, किन्तु इन विधि विकल्पों में से हम किसको चुने यह निर्णय करने से पूर्व हमें ये जानना आवश्यक होता है, कि ध्यान साधना की कौनसी पद्धति किस युग में विकसित हुई। क्योंकि साध्यात्मक एकरूपता के बावजूद जो साधनात्मक वैविध्य आता है, वह देश कालगत परिस्थितियों पर आधारित होता है। साथ ही उस युग में ध्यान साधना की जो विविध पद्धतियाँ प्रचलित होती हैं वह भी एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। यही कारण है कि जैन परम्परा में भी ध्यान साधना की विधियों को लेकर कालक्रम में एक परिवर्तन देखा जाता है। साध्वी श्री उदितप्रभाजी ने मेरे सान्ध्य में शोध कार्य करते हुए जैन साधना पद्धति में कालक्रम में क्या-क्या परिवर्तन आए हैं और किन-किन कारणों से आए हैं, इसका विश्लेषण विस्तार से किया है और यही उनके इस शोध प्रबन्धन की विशेषता कही जा सकती है।

हम देखते हैं कि जैन ध्यान साधना पद्धति, बौद्ध ध्यान साधना पद्धति और

योग सूत्र की ध्यान साधना पद्धति में बाह्यतः विभेद होते हुए भी जो कुछ एक रूपता प्रतीत होती है उसका मूलभूत कारण यह है कि इन तीनों का मूल एक ही रहा है। ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि महावीर की और बौद्धों की ध्यान साधना पद्धति उनके पूर्ववर्ती आचार्य रामपुत्र की साधना पद्धति से प्रभावित रही है। क्योंकि हम देखते हैं कि त्रिपिटक साहित्य में बुद्ध ने जिन आचार्यों से ध्यान सीखा था, उनमें एक प्रमुख नाम आचार्य रामपुत्र का भी है। त्रिपिटक साहित्य में इस सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख भी है। जैन परम्परा में भी सूत्रकृतांग में, प्राचीन अंतकृतदशा की विषयवस्तु में और ऋषिभाषित में रामपुत्र के उल्लेख उपलब्ध हैं। इस प्रकार जैन और बौद्ध ध्यान पद्धतियों का मूल वस्तुतः रामपुत्र की ध्यान साधना पद्धति रही हुई है, ऐसा माना जा सकता है। यही कारण है कि दोनों में शब्दगत और पद्धतिगत अनेक समरूपताएं प्राप्त होती हैं। महर्षि पतंजलि को भी रामपुत्र का समकालीन ही माना जा सकता है। यही कारण है कि अनेक प्रसंगों में जैन ध्यान पद्धति और पतंजलि योग सूत्र प्रणीत ध्यान पद्धति में भी कुछ अंशों में साम्य नजर आता है। पुनः यह भी सुस्पष्ट है कि कालांतर में जैन ध्यान पद्धति पर हिन्दू परम्परा में विकसित विभिन्न ध्यान पद्धतियों का प्रभाव आया है। आठवीं शताब्दी में आचार्य हरिभद्र ने योगसूत्र प्रणीत ध्यानपद्धति और योगपद्धति के आधार पर जैन-योग की ध्यान पद्धति का विकास किया। उसके पश्चात् पुनः दसवीं शताब्दी में आचार्य शुभचन्द्र ने तांत्रिक ध्यान साधना विधि का अनुकरण कर के पार्थिवी, वायवी, आग्नेयी, वारुणी आदि धारणाओं की चर्चा की। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में शुभचन्द्र का अनुसरण किया। इस प्रकार जैन ध्यान विधि ऐतिहासिक विकास क्रम में महावीर से लेकर आचार्य हेमचन्द्र तक अन्य ध्यान परम्पराओं का प्रभाव भी देखा जाता है। आचार्य महाप्रज्ञ जी ने भी बौद्ध विपर्ययना, पतंजल के योगसूत्र एवं तांत्रिक ध्यान साधना को समन्वित कर प्रेक्षा ध्यान को पुनर्जीवित किया है। साध्वी उदितप्रभाजी ने अपने शोध प्रबंध—“जैन धर्म में ध्यान का ऐतिहासिक विकास क्रम” में इसकी चर्चा की है।

वर्तमान युग में मानव समाज की सबसे प्रमुख समस्या उसका तनाव युक्त जीवन और तनाव मुक्ति के साधनों में एक प्रमुख साधन ध्यान भी है। जैन धर्म में महावीर से लेकर महाप्रज्ञ तक ध्यान की जो धारा प्रवाहित होती रही है उसमें अनेक जैन आचार्यों का अवदान रहा है। प्रस्तुत शोध प्रबंध के विभिन्न अध्यायों में उनके इस अवदान को रेखांकित किया गया है। जैन आचार्यों की यह विशेषता

रही है कि वे देशकाल गत परिस्थितियों के अनुसार अपनी सहवर्ती परम्पराओं का सहयोग लेकर अपने ध्यान साधना की विधि को विकसित परिमार्जित और परिष्कारित करते रहे हैं। साध्वी उदितप्रभाजी ने अपने इस शोध प्रबन्ध में उन सब जैन आचार्यों के अवदान को रेखांकित करने का प्रयास किया है।

साधना की कोई भी परम्परा हो वह न तो शून्य से ही टपकती है और न वह अपनी सहवर्ती परम्पराओं से पूर्णतः अप्रभावित रहती है। जैन ध्यान साधना विधि का काल-क्रम में जो विकास हुआ है, वह अपने सहवर्ती अन्य परम्पराओं से अप्रभावित नहीं रहा है। प्रस्तुत शोध प्रबंध में इन सब तथ्यों का प्रस्तुतीकरण प्रामाणिकता पूर्वक हुआ है। यही कारण है कि प्रस्तुत कृति को हम “जैन ध्यान साधना विधि का इतिहास” भी कह सकते हैं।

साध्वी उदितप्रभाजी इस हेतु धन्यवाद की पात्र है। हमारी यही उपेक्षा है कि वे भविष्य में इसी तरह से प्रयत्न और पुरुषार्थ करते हुए भारती के भण्डार को समृद्ध करती रहे।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन की इस वेला में मनप्रमुदित है, क्योंकि यह उनके श्रम की सार्थकता का अवसर है। जन-जन इससे लाभान्वित हो यही उपेक्षा है।

निदेशक
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म. प्र.)

स्वकथ्य

प्रस्तुत शोधग्रन्थ मानव जीवन के उस महत्त्वपूर्ण पक्ष का संस्पर्श करता है जो मांसल या भौतिक जीवन से सर्वथा पृथक् अन्तर्जीवन से सम्बद्ध है। बहिर्जीवन तो स्थूल है, भौतिक या पौद्गलिक है। इसलिए वह सभी द्वारा चरम चक्षुओं से देखा जा सकता है, किन्तु आभ्यन्तरिक जीवन के निरीक्षण-परीक्षण के लिए प्रज्ञात्मक चक्षुओं की आवश्यकता है। इन चक्षुओं के खुले बिना जीवन के अन्तरतम में दृष्टि जा नहीं सकती। भारतीय संस्कृति की यही विशेषता है कि इसमें केवल बहिर्दर्शन को स्थान नहीं है, अन्तर्दर्शन की उसमें महत्ता है। इसलिए वहाँ ऐहिक के साथ-साथ पारलौकिक जीवन भी अपना महत्त्व रखता है, जो केवल भौतिक जीवन में अत्यन्त आसक्त रहता हुआ पारलौकिक या आध्यात्मिक जीवन से असंस्पृष्ट रहता है वह अधूरा है, अपूर्ण है।

भारतीय संस्कृति में भी जैन संस्कृति का चिन्तन और गहराई में गया। “अहिंसा विज्ञान” जैसी आगमिक उक्तियाँ इसके प्रमाण हैं। उन्होंने केवल भौतिक विज्ञान को ही विज्ञान नहीं माना अहिंसा जैसे आध्यात्मिक विषयों के गहन चिन्तन-मनन और अनुशीलन को भी विज्ञान की संज्ञा दी। क्योंकि यह आध्यात्मिक विज्ञान जीवन को उस श्रेयस्कर पथ के साथ जोड़ देता है जो उसे उसकी अन्तिम मंजिल तक पहुँचा सकता है।

इसे साधने के लिए भारतीय मनीषियों ने विशेषतः जैन मनीषियों ने एक साधना का मार्ग दिया जिस पर चलता हुआ व्यक्ति अपने ऐहिक जीवन को सम्मार्जित करता हुआ आध्यात्मिक लक्ष्य को साध सके। योग उस साधना का ही एक रूप है जो विविध परम्पराओं में विविध रूपों में विकसित हुई। जैन धर्म में व्रत, गुणस्थान, तपश्चरण, प्रतिमा-वहन इत्यादि के रूप में उसका विकास हुआ। वहीं समन्वयवादी आचार्यों द्वारा जैन योग के रूप में संप्रतिष्ठित हुआ। उनके अनुसार योग वह माध्यम है, जो योगों का मानसिक, वाचिक, कायिक, प्रवृत्तियों का परिष्कार, परिमार्जन और अन्ततः परिशोधन कर साधक को परम निर्मल शुद्ध परमात्म स्वरूप तक पहुँचा दे। जहाँ मानसिक, वाचिक, कायिक प्रवृत्तियों का कोई अस्तित्व ही न रहे। उसी को मुक्ति, मोक्ष या परिनिर्वाण शब्दों द्वारा अभिहित किया जाता है। वह परम आनन्दमयी अवस्था है जिसके समक्ष सभी भौतिक सुख नगण्य हो जाते हैं। ध्यान उस आराधना का मुख्य साधन या माध्यम है जिसका स्रोत सर्वज्ञ प्ररूपित आगम वाङ्मय से लेकर

अब तक अविच्छिन्न रूप में चला आ रहा है। उसी के ऐतिहासिक विकास क्रम का स्वरूप, इतिवृत्त प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में उपस्थापित किया गया है।

‘प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते’। यह प्राचीन उक्ति है जिसका भाव यह है कि प्रयोजन के बिना मन्द या अज्ञानी व्यक्ति भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। अतः सहसा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि विज्ञान के वर्तमान युग में आध्यात्मिक साधना या योग जैसे विषय की क्या उपयोगिता है? मानव को तो आज अत्यधिक साधन चाहिए जिससे वह सुखपूर्वक जी सके। उसके लिए उसे धार्मिक एवं आध्यात्मिक विषयों से क्या उपलब्ध होगा?

इस प्रश्न का समाधान पाने के लिए हमें गहराई में जाना होगा। आज विज्ञान ने मानव को विपुल मात्रा में भौतिक साधन प्राप्त करा दिये हैं। जो कार्य दिनों और महिनों में होते थे वे वैज्ञानिक उपकरणों द्वारा क्षणों में हो जाते हैं। सुख-सुविधाओं के अनेक साधन आज विज्ञान ने जुटा दिये हैं। सबको वे प्राप्त नहीं हैं, यह तो सामाजिक अव्यवस्था का परिणाम है। किन्तु आज भौतिक दृष्टि से कहीं कुछ भी कमी नहीं है। यह सब होते हुए भी आज का मानव अधिकाधिक तनावग्रस्त है। अब से पूर्व जब भौतिक साधन अल्प मात्रा में थे तब के मानव और आज के मानव की तुलना की जाय तो स्पष्ट रूप में सिद्ध होगा कि विज्ञान द्वारा प्रदत्त भौतिक साधन के बावजूद आज का मानव अत्यन्त दुःखित और उद्विग्न है। बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं में प्रचुरतम साधनों के मध्य रहता हुआ भी न वह सुख से सो पा रहा है, न वह निश्चिन्तता पूर्वक रह ही रहा है। बहुत कुछ पा लेने पर उसकी तृष्णा आगे से आगे बढ़ती जा रही है। इसी पीड़ा और वेदना के साथ वह सब कुछ छोड़कर चला जाता है।

दूसरी ओर एक और दृश्य है जहाँ हिंसा, उपद्रव, आतंक, वैर-भाव का नग्न नृत्य दिखलाई दे रहा है। नैतिक मूल्य समाप्त होते जा रहे हैं। पारस्परिक सौहार्द, आत्मीयता मिटती जा रही है। हिंसा की दानवीय शक्ति द्वारा मानव सब कुछ प्राप्त कर लेना चाहता है। आज के वैज्ञानिक युग की यह कितनी बड़ी विडम्बना है। मानव में इतना छल और कपट व्याप्त हो गया है कि वह मैत्री की बात करता है किन्तु उसके भीतर द्वेष की आग सुलगती रहती है। यह केवल साधारण व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं है, बड़े-बड़े राष्ट्राध्यक्ष तक इस विकार से ग्रस्त हैं।

विज्ञान इस विकराल भीषण समस्या का कोई समाधान न दे सका है, न दे पायेगा। इसका समाधान धर्म और अध्यात्म से ही प्राप्त हो सकता है। आज इसका स्थान गौण होता जा रहा है। इसलिए ये विकार बढ़ रहे हैं। हिंसा द्वारा समस्या को न

सुलझा पा सकने के कारण आज यद्यपि मानव अहिंसा की ओर देखने तों लगा है किन्तु अभी अहिंसा में उसकी निष्ठा निष्पन्न नहीं हो सकी है।

ऐसे समय में आध्यात्मिक साधना के अनन्य साधन ध्यानयोग का अपना महत्त्व है। ध्यान द्वारा व्यक्ति आत्मकेन्द्रित होता है जिससे वह विकारजनित दूषित और पापमय वातावरण से दूर होता है। हिंसा, वैर-विरोध-वैमनस्य से हटकर उसकी निष्ठा अहिंसा, विश्वमैत्री और समत्व भाव समाश्रित होती है। यही कारण है कि आज भारतवर्ष में तथा अन्यत्र ध्यानयोग के अनेक प्रयोग चल रहे हैं। विकारग्रस्त जगत् विशाल है। उसकी तुलना में ये प्रयत्न काफी छोटे हैं किन्तु जिस प्रकार एक छोटी चिनगारी विराट् अग्निज्वाला का रूप ले लेती है, उसी प्रकार हम क्यों न आशा करें कि ज्यों-ज्यों आध्यात्म, दर्शन, ध्यान साधना आदि आगे बढ़ते जायेंगे नयी मानसिकता का अभ्युदय होगा। एक दिन मानवता को इसी का आश्रय लेना होगा, अन्यथा उसके अस्तित्व को बचा लेना बहुत कठिन है।

यह हर्ष का विषय है कि आध्यात्म भाव के परिपोषक ध्यानयोग पर अध्ययन-मनन, अनुसंधान के अनेकानेक प्रयोग चल रहे हैं। यदि प्रयोगों के साथ विशुद्ध तत्त्वदर्शन जुड़ा रहे तो वे अत्यन्त सशक्त और शाश्वत बन सकते हैं। इसी कारण यह सर्वथा वांछनीय है कि ध्यानयोग पर अधिक-से-अधिक गवेषणा हो। क्योंकि वह जीवन का एक ऐसा अंग है, जिसको अपनाने से मानव विकारमुक्त होकर सहज ही आध्यात्मिक और नैतिक उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सकता है।

जैन एवं जैनेतर सिद्धान्तों और विधिक्रमों का विवेचन करते हुए ध्यानयोग की ऐतिहासिक विकास परम्परा पर मेरे द्वारा प्रस्तुत यह शोध ग्रन्थ ऐसा ही उपक्रम है जो मेरे लिए तो आत्मश्रेयस् का हेतु है ही मुझे आशा है, अध्येताओं और पाठकों के लिए भी यह आध्यात्मिक सन्मार्ग का प्रदर्शक बनेगा। क्रियोद्धार से पूर्व ज्ञानोद्धार आवश्यक होता है, जब व्यक्ति के मन में अग्राह्य का त्याग और ग्राह्य के स्वीकार का भाव जागृत हो जाता है तब वह उसी पथ को स्वीकार करता है, जो शान्तिमय हो। व्यक्ति-व्यक्ति से समाज और राष्ट्र का निर्माण होता है। अतएव व्यक्ति का जीवन यदि विकार-रहित हो जाय तो वह निर्विकारता का स्रोत राष्ट्रव्यापी या लोकव्यापी भी बन सकता है।

श्रमण प्रव्रज्या के पश्चात् मेरे जीवन ने नया मोड़ लिया। मैं एक ऐसे संसार या परिवार में आ गयी जहाँ भौतिक अभीप्साओं का स्थान आत्म-जागरण की प्रेरणाओं ने लिया। मेरा विशेष सौभाग्य यह रहा कि गुरुवर्या महासती जी श्री उमरावकुँवर जी म.सा. 'अर्चना' जैसी परम उच्च कोटि की ज्ञान-दर्शन-चारित्र-संवाहिका, साध्वीरत्न

का अनवरत सान्निध्य प्राप्त हुआ, जो मेरे दीक्षा-काल से लेकर अब तक मुझे प्राप्त है, उन्हीं के श्रीचरणों में बैठकर मैंने विद्याध्ययन तथा शास्त्रानुशीलन किया। उनके ध्यानयोग निष्णात जीवन को देखते हुए मैं अन्तःप्रेरित होती रही कि इस सम्बन्ध में मैं अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करूँ, अपना अध्ययन बढ़ाऊँ, फिर उसे अपनी जीवन साधना में क्रियान्विति प्रदान करूँ।

यथारुचि, यथाशक्ति, यथावसर मैं अपना अध्ययन बढ़ाती रही और जैन सिद्धान्तों के साथ-साथ जैन योग, ध्यान सम्बन्धी ग्रन्थों को भी पढ़ती रही। तभी से मेरे मन में भाव था कि जब कभी अनुकूलता होगी, मैं ध्यान योग पर सूक्ष्म शोधपूर्ण कार्य करूँ जो मेरी गुरुवर्या का प्रिय विषय है। मेरे अध्ययन का क्रम तो चलता ही रहा, परीक्षाओं में मेरी विशेष रुचि नहीं थी किन्तु व्यवस्थित अध्ययन की दृष्टि से मैंने जैनोलॉजी में 2001 में एम.ए. परीक्षा उत्तीर्ण की, मेरा वह पूर्ववर्ती भाव विशेष रूप से जागृत हुआ कि यदि मैं ध्यान योग सम्बन्धी विषय लेकर शोध करूँ तो कितना अच्छा हो। ज्ञान बढ़ने के साथ-साथ वह मेरे आध्यात्मिक परिष्कार और साधना के उत्कर्ष में सहायक बनेगा क्योंकि मेरे द्वारा परिगृहीत श्रामण्य का यही परम लक्ष्य है। यह प्रसन्नता का विषय है कि आज जैन विद्या के क्षेत्र में अध्ययन और शोध की बहुमुखी प्रवृत्तियाँ गतिशील हैं। जैन शिक्षार्थी और शोधार्थी तो इस ओर कार्यशील हैं ही, जैनेतर जिज्ञासु और अनुसंधित्सु भी जैन दर्शन, तत्त्वज्ञान तथा साधना की दिशा में अध्ययन एवं अनुसंधान करने में उनसे भी अधिक रुचिशील एवं क्रियाशील हैं। जैन दर्शन की वैज्ञानिक चिन्तनधारा ने आज विद्वद्जगत् को निश्चय ही आकृष्ट किया है और चिन्तक और मनीषी यह मानने लगे हैं कि जीवन की अनेक समस्याओं और विपन्नताओं का समाधान इस दर्शन से यथार्थ रूप में प्राप्त हो सकता है।

जैन ध्यान योग के अनेक पक्षों को लेकर हमारे देश के अनेक विश्वविद्यालयों में शोधकार्य हुआ है, हो रहा है, उन सबका पर्यवेक्षण करते हुए मेरी परम श्रद्धास्पदा गुरुवर्या ने मुझे विशेष रूप से संकेत किया कि जैन ध्यान योग के विकास की एक लम्बी ऐतिहासिक यात्रा है जो आगम काल से लेकर उत्तरोत्तर अभिवृद्धि पाती हुई, अद्यावधि गतिशील है। यदि उस पर विश्लेषणात्मक, तुलनात्मक, समीक्षात्मक दृष्टि से अनुसंधान किया जाय तो यह आत्मोपकार और परोपकार दोनों दृष्टियों से बड़ा ही श्रेयस्कर सिद्ध हो सकता है।

पूज्या गुरुवर्याश्री के इस संदेश को एक आत्मजागरण का संदेश एवं निर्देश मानते हुए मैंने इसे सहर्ष शिरोधार्य किया तथा इस सम्बन्ध में मैंने पार्श्वनाथ विद्याश्रम

शोधसंस्थान, हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी के पूर्व निदेशक, अनेक ग्रन्थों के लेखक तथा चिन्तक डॉ. सागरमल जी जैन आदि से इस विषय में विशेष रूप से विचार-विमर्श किया, उन्हें यह विषय बहुत ही उपयोगी प्रतीत हुआ और उन्होंने मुझे इस ओर गतिशील रहने हेतु विशेष प्रेरित किया।

प्रातः स्मरणीया, परम पूजनीया गुरुवर्या श्री एवं विद्वदजनों से अभिप्रेरित होकर मैंने अपना कार्य प्रारम्भ किया। मेरे विषय से सम्बद्ध जैन, वैदिक, बौद्ध आदि विभिन्न परम्पराओं के साहित्य का संग्रह किया तथा उनका सूक्ष्मता से अध्ययन प्रारम्भ किया।

मुझे यह व्यक्त करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता होती है कि विद्वद्वर्य डॉ. सागरमलजी जैन ने मुझे इस कार्य में निर्देशन देना स्वीकार किया। उनके निर्देशन में मेरा कार्य गतिशील होता गया। अपने गृहीत विषय में मुझे नये-नये तथ्य मिलते गये। मुझे अपने अध्ययन और शोध को आगे बढ़ाने में एक और सुन्दर सुयोग प्राप्त हुआ। विद्वदमूर्धन्य डॉ. छगनलाल जी शास्त्री का भी यथेष्ट सहयोग और मार्ग-दर्शन प्राप्त हुआ। उनके गहन अध्ययन एवं अनुभूतिपरक चिन्तन से मुझे बहुत बल मिला। इन दोनों विद्वानों ने जिस आदर, सद्भावना और आत्मीयता के साथ इस शोधकार्य में सम्बल प्रदान किया वह सर्वथा अविस्मरणीय है। मैंने अपने शोधकार्य को भारतीय संस्कृति की त्रिवेणी-जैन, वैदिक, बौद्ध धाराओं के निर्मल स्रोत से प्रारम्भ किया। उनमें उच्छलित होती ध्यान मूलक उर्मियों का संस्पर्श करते हुए मैंने तद्विषयक सूक्ष्म तत्त्वों को खोजने का प्रयास किया। जैन आगम, दर्शन, तत्सम्बन्धी वाङ्मय, बौद्ध ग्रन्थ, उपनिषद्, पुराण, महाभारत और अनेकानेक ग्रन्थों में आये ध्यान विषयक विवेचन को उपस्थापित करने का प्रयास किया।

आचार्य हरिभद्र, शुभचन्द्र, हेमचन्द्र, उपाध्याय यशोविजय आदि अनेक जैन मनीषियों द्वारा रचित ध्यान योग सम्बन्धी ग्रन्थों का परिशीलन कर ध्यान विषयक महत्त्वपूर्ण सन्दर्भों का परिशीलन किया तथा उन्हें समीक्षात्मक दृष्टि से रचने का प्रयास किया। आगे बढ़ते हुए ऐतिहासिक कालक्रम के साथ इस ध्यान विषयक साहित्यिक रचना में जो विश्रामस्थल आये तथा उनमें जो तद्विषयक साहित्यिक सर्जन के रूप में नवाभिनव उन्मेष ध्यान योग के साथ जुड़ते गये उनका भी मूल्यांकन किया तथा वर्तमान में संप्रवृत्त जैन ध्यान विधाओं का हार्द प्रस्तुत करते हुए तुलनात्मक तथा समीक्षात्मक दृष्टि से उनकी विशेषताओं पर अपने विचार प्रस्तुत किये। अन्त में, उपसंहार, निष्कर्ष एवं उपलब्धि के रूप में मैंने उन तथ्यों की ओर इंगित किया है जो आध्यात्मिक दृष्टि से तो कल्याणकारी हैं ही, सांसारिक, पारिवारिक, सामाजिक एवं वैयक्तिक जीवन में

भी बहुत ही प्रेरणास्पद सिद्ध हो सकेंगे।

मेरे आध्यात्मिक जीवन की अनन्य उन्नायिका परम सम्माननीया गुरुवर्या महासती श्री उमराव कुँवर जी म.सा. 'अर्चना' के शुभाशीर्वाद और विद्वद्जनों की शुभकामनाओं का ही सुपरिणाम मानती हूँ कि मेरा यह शोधकार्य संतोषजनक रूप से संपन्न हो सका।

परमश्रद्धेया गुरुवर्या तो मेरे जीवन के सर्वस्व हैं, उन्हें मैं क्या साधुवाद दूँ, उनके प्रति मैं क्या कृतज्ञता ज्ञापित करूँ, मुझमें जो कुछ भी है उन्हीं की देन है। मैं उनके श्रीचरणों में अत्यन्त श्रद्धा, समर्पण एवं विनय भाव से अभिनत हूँ। मैं अपनी परम श्रद्धेया गुरुवर्या की अन्तेवासिनी मेरी सभी समादरणीया भगिनीवृन्द की भी हृदय से आभारी हूँ जो किसी-न-किसी रूप में सहयोगिनी रही हैं, क्योंकि कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य सहवर्तियों के साहचर्य एवं सहयोग के बिना सफल नहीं हो सकता।

शोध ग्रन्थ के निर्देशक समादरणीय डॉ. सागरमल जी जैन का तथा इस कार्य में सहयोगी माननीय डॉ. छगनलाल जी शास्त्री का भी मैं हृदय से आभार मानती हूँ।

माननीय प्रोफेसर डॉ. चेतनप्रकाशजी पाटनी ने शोधप्रबन्ध का भाषिक परिष्कार कर एवं इसका प्रूफ संशोधन कर मेरा कार्य सहज कर दिया, इसके लिए मैं आपके प्रति हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ।

जैन-जैनेतर दिवंगत ग्रन्थकारों, उद्बुद्ध चेता मनीषियों को जिनके द्वारा रचित ग्रन्थों का अध्ययन-अनुशीलन कर मैंने उनसे प्राप्त ज्ञान के सुधा कणों को बटोरते हुए अपने अध्ययन और शोधपादप का सिंचन किया, हृदय से उनका आदर पूर्वक स्मरण करती हूँ तथा उन दिवंगत आत्माओं के प्रति श्रद्धाभाव व्यक्त करती हूँ। श्री महासती श्री सरदार उमराव पुस्तकालय-ब्यावर, फलवृद्धि पार्श्वनाथ ग्रन्थ भंडार-मेड़ता रोड, सम्यग्ज्ञान भंडार रावटी-जोधपुर, आगम प्रकाशन समिति-ब्यावर, जिनदत्त मण्डल-अजमेर, वीतराग स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, पुरानी मंडी-अजमेर, इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजीकल स्टडी एवं रिसर्च लाइब्रेरी-सरदारशहर, प्राच्य विद्यापीठ-शाजापुर आदि सभी पुस्तकालयों के अधिकारियों को मैं हृदय से साधुवाद देती हूँ जहाँ के दुर्लभ-महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों से मैंने अध्ययन में लाभ उठाया।

श्रद्धाशील, विद्यानुरागी, धर्मप्रेमी, श्रावकप्रवर श्रीमान् सुरेशकुमारजी निखिल कुमार जी वैद-चैन्नई, भी साधुवाद के पात्र हैं जो मेरे इस शोध-कार्य में प्रेरक एवं उत्साहवर्धक ही नहीं रहे अपितु, इसे प्रकाशित करवाने में उदार मन से अर्थ सहयोग देकर श्रुतसेवा का अनुपम लाभ प्राप्त किया है।

शास्त्र तो ज्ञान के अगाध महोदधि हैं, उनमें जिज्ञासु अनुसंधित्सु, मुमुक्षुजन

जितनी गहराई से निमग्न होते हैं, डुबकियाँ लगाते हैं वे उतना ही अधिक ज्ञानरूपी आत्मा को प्राप्त करते जाते हैं। उनकी दिव्य आभा से जीवन उद्योतित होता है। हम ससीम शक्ति युक्त प्राणी हैं, इसलिए इस ज्ञान रूपी सागर की थाह पाना तो दुःशक्य है ही पर जितना कुछ सतत प्रयत्न द्वारा जागरूकता पूर्वक प्राप्त किया जा सकता है, वह तो व्यक्ति के अपने वश की बात है। इसी परिप्रेक्ष्य में मेरा यह एक छोटा सा प्रयत्न है। इस शास्त्रीय ज्ञान के साथ-साथ मेरे जीवन की वे अनुभूतियाँ भी जुड़ी हैं जो अध्ययन काल में स्पन्दित होती रही हैं।

श्रामण्य जीवन की संवाहिका होने के नाते मैं अपने अध्ययन एवं शोधमूलक उपक्रम को साधना का ही एक अंग मानती हूँ। इसके द्वारा संस्फूर्त उत्साह मेरी संयम साधना में मेरा सम्बल बनेगा जिससे मेरी गति सर्वदा अव्याहत रहेगी।

अतः मेरे लिए तो यह श्रेयस्कर है ही, मुझे आशा है जो जिज्ञासु मुमुक्षु भाई बहन इसका अध्ययन करेंगे उन्हें इससे ध्यान साधना की प्रेरणा प्राप्त होगी जो हमारी संस्कृति की एक अमूल्य निधि है।

जैन धर्म में ध्यान साधना की चाहे कोई भी विधि क्यों न हो लक्ष्य एक ही है कि व्यक्ति विभाव से स्वभाव की दिशा में प्रगति करे साक्षीभाव और सजगता से जीना सीखे। यदि यह कृति कुछ लोगों को भी इस दिशा में प्रेरित कर सके तो मैं अपना प्रयत्न सार्थक मानूँगी।

❖ आर्या डॉ. उदितप्रभा 'उषा'

एम.ए., पी.एच.डी.

हार्दिक प्रेरणास्प्रद

❖ डॉ. छगनलाल शास्त्री

संसार में जितने भी प्रकार के प्राणी हैं, उनमें मानव का स्थान सर्वोत्तम माना गया है। मानव मननशील होता है। वह सत्-असत् का भेद करने में सक्षम होता है, किन्तु यह तब होता है, जब उसका विवेक जागृत हो। वीतराग, सर्वज्ञ महापुरुषों ने, महान् ज्ञानिजनों ने, अनुभव-निष्णात संतों ने मानव को विवेक-जागरण और आत्मोत्थान का जो पथ बतलाया, वही धर्म के नाम से विश्रुत हुआ। “धारणाद्धर्ममित्याहुः, धर्मो धारयते प्रजाः” अर्थात् धर्म यह तत्त्व है, जो मानव मात्र द्वारा धारण या स्वीकरण करने योग्य है। इसी कारण वह धर्म कहा जाता है। वह जन-जन को धारण करता है-उसके सहारे प्रत्येक मनुष्य सात्त्विक, शुद्ध जीवन जीने का मार्ग प्राप्त करता है। धर्म के बिना जीवन शून्य है। धर्म सर्वव्यापक एवं शाश्वत सिद्धान्तों पर टिका है। अहिंसा, करुणा, मैत्री, सत्य, शील, शौच, समता तथा सेवा आदि से जीवन को संवारना, सम्मार्जित करना, परिष्कृत करना वह सिखलाता है। वह शान्ति से जीवन जीने का पथ दर्शन देता है। जहां धर्म के नाम पर संघर्ष हुए, रक्तपात हुआ, वह सब उसके वास्तविक स्वरूप को न समझने के कारण हुआ।

जैन धर्म आत्मशुद्धि के मार्ग पर अग्रसर होने का एक ऐसी जीवन शैली प्रस्तुत करता है, जिसका अवलम्बन कर मानव अपने जीवन को सार्थक बना सकता है। जैन धर्म कोई सम्प्रदाय नहीं है, वह तो एक ऐसा साधना का मार्ग है, जिसे स्वीकार करने में जाति, वर्ग, वर्ण आदि बाह्य भेद जरा भी बाधक नहीं बनते।

धर्म के बहिरंग और अंतरंग के रूप में दो पक्ष हैं। बहिरंग व्रतोपवासादि बाह्य क्रियाओं पर आश्रित है, अन्तरंग आत्मा की चिन्तन, मनन, परिशीलन, अनुविक्षण, प्रेक्षण आदि स्थितियों के साथ जुड़ा है, जिसमें ध्यान का सर्वाधिक महत्त्व है।

ध्यान का सम्बन्ध इन्द्रिय नियन्त्रण कर चित को एकाग्रता पूर्वक किसी

विषय के साथ जोड़ने से है। वह विषय सत् भी हो सकता है, असत् भी हो सकता है। असत् वह होता है, जो काम, क्रोध, ऐषणा, वासना, भोगेच्छा आदि के साथ जुड़ा हुआ हो। सत् वह होता है, जो जीव को उसके शुद्ध स्वरूप तथा स्वभाव की दिशा में ले जाता है। असत् की ओर ले जाने वाला ध्यान सावद्य-पापयुक्त है, त्याज्य है। शास्त्रों में उसका आर्तध्यान एवं रौद्र ध्यान के रूप में वर्णन हुआ है।

आत्मा को शुभ क्रमशः शुद्ध स्वरूप की दिशा में ले जाने वाला ध्यान धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान के रूप में व्याख्यात हुआ है। यही आदेय, ग्राह्य या स्वीकार्य है, क्योंकि इससे जीव अपने कर्म-कालुष्य अथवा पाप-मल का प्रक्षालन करता हुआ अपने शुद्ध स्वरूप को अधिगत करने की यात्रा में आग बढ़ता जाता है। अंततः वह वीतरागता का मार्ग अपना लेता है और अध्यात्मयोग की परमावस्था अथवा परमात्मावस्था प्राप्त कर लेता है।

योग का सामान्य अर्थ जुड़ना है। वहाँ आत्मा का अपने शुद्ध स्वरूप के साथ जुड़ाव होता जाता है, तब जीव बहिरात्मभाव से मुड़कर अंतरात्मभाव की ओर अग्रसर होता-होता परमात्मभाव को उद्दिष्ट कर चलता जाता है। वही शुद्ध ध्यान अध्यात्म योग का रूप ले लेता है।

आत्मा का परम लक्ष्य निर्वाण या मोक्ष है। समग्र कर्मों का क्षय होने पर वह प्राप्त होता है। कर्मक्षय में ध्यान की बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

जो साधना की ऊँचाइयों पर पहुँचे, उन आचार्यों, संतों तथा साधकों ने ध्यान साधना का उत्तरोत्तर विकास करने का प्रयत्न किया। उनका एक ही लक्ष्य था कि ध्यान द्वारा जीव अपने मालिन्य एवं कालुष्य का अपनयन करता हुआ आत्मोज्ज्वलता प्राप्त करे।

जैन आगमों में निर्जरा आदि तत्त्वों के विवेचन के अन्तर्गत ध्यान का वर्णन आया है। आगमों के व्याख्याकारों ने जहाँ, जैसा अपेक्षित हुआ, उसका विश्लेषण किया है।

एक समय था जब भारतवर्ष में सभी धर्मों में "योग" के नाम से साधना का विशेष उपक्रम प्रस्फुटित हुआ था। महर्षि पतंजलि द्वारा निरूपित अष्टांग योग में ध्यान का सातवां स्थान है। वह साधना की अन्तिम मंजिल समाधि पर आरोहण करने का अनन्य माध्यम है।

जैन आचार्यों ने भी स्वतंत्र रूप से जैन योग पर ग्रन्थ लिखे। उनमें ध्यान का विशेष रूप से विस्तार पूर्वक अपने मौलिक चिन्तन को जोड़ते हुए जो विशद रूप में प्रतिपादन किया, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन महान् लेखकों में स्वनामधन्य आचार्य श्री हरिभद्र सूरि, आचार्य श्री हेमचन्द्र, आचार्य श्री शुभचन्द्र, आचार्य श्री सोमदेव एवं उपाध्याय श्री यशोविजय आदि के नाम प्रमुख रूप से लिए जा सकते हैं।

यह लिखते हुए बड़ी प्रसन्नता होती है कि साध्वी जी श्री डॉ. उदित प्रभाजी म. सा. 'उषाजी' ने "जैन धर्म में ध्यान का ऐतिहासिक विकास क्रम" नामक अपने पी. एच. डी. के शोध-ग्रन्थ में आगमकाल से लेकर अब तक ध्यान योग का जो विकास हुआ है, उसका तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक दृष्टि से जो निरूपण किया है, वह वास्तव में उनके गहन अध्ययन एवं वैदुष्यपूर्ण श्रम का सूचक है। उन्होंने आगमों के उन बहुत से प्रसंगों को खोज निकाला है, जहाँ ध्यान के संदर्भ में ऐसे संकेत आए हैं, जो उसके उत्तरकालीन विकास के बीज कहे जा सकते हैं। उन्होंने आचार्य श्री हरिभद्र सूरि द्वारा रचित योगदृष्टि समुच्चय, योगबिन्दु, योगशतक तथा योगविशिका और उनकी अन्य रचनाओं में आए हुए ध्यान विषयक प्रसंग, आचार्य हेमचन्द्र कृत योगशास्त्र, आचार्य शुभचन्द्र प्रणीत ज्ञानार्णव, आचार्य सोमदेव द्वारा रचित योग मार्ग एवं उपाध्याय यशोविजय द्वारा निर्मित अध्यात्मसार, पातंजल योग टीका, इनके अतिरिक्त अन्यान्य जैन आचार्यों तथा विद्वानों द्वारा रचित ध्यान-स्तव, ध्यान-शतक, ध्यान-दीपिका आदि ग्रन्थों का शोधात्मक दृष्टि से परिशीलन कर जैन परंपरा में उत्तरोत्तर विकासशील ध्यान का जो विवेचन किया है, वह वास्तव में जैन योग के संदर्भ में उनका महत्त्वपूर्ण कृतित्व है।

उनके इस सारस्वतः उपक्रम में, शोध-कार्य में मुझे भी उन्हें सहयोग करने का, मार्ग दर्शन देने का अवसर प्राप्त हुआ है, जो मेरे लिए हर्ष का विषय है। भारतीय विद्या के अन्तर्गत योग-विशेषतः जैन योग मेरा अत्यन्त प्रिय विषय है, जिस पर मैं लगभग अर्द्ध शताब्दी से अध्ययनरत हूँ।

साध्वीजी ने प्रस्तुत विषय पर अहर्निश परिश्रम करते हुए जो महत्त्वपूर्ण शोध-कार्य किया है, वह उनके अपने साधना-प्रवण जीवन के लिए तो श्रेयस्कर है ही, ध्यान-योग के क्षेत्र में गहन अध्ययन एवं अनुसंधान करने वालों के लिए भी वास्तव में प्रेरणास्पद है। साध्वीजी को अपनी गुरुणीवर्या

महासती जी श्री उमराव कुंवर जी म. सा. "अर्चना" जैसी परम विदुषी और योग साधिका की छत्रच्छाया प्राप्त है, यह उनका सौभाग्य है।

मैं आशा करता हूँ कि वे अपनी गुरुणीमैया के तत्त्वावधान में ध्यान तथा साधना के क्षेत्र में उत्तरोत्तर विकास करती जाएं।

एम. ए. (त्रय), पी. एच. डी., काव्यतीर्थ, विद्यामहोदधि
पूर्व प्रोफेसर - मद्रास युनिवर्सिटी, चैन्नई तथा
प्राकृत रिसर्च इन्स्टीट्यूट, वैशाली
सरदार शहर - 331413

❖ रणजीतसिंह कूमट

महासती श्री उदितप्रभा जी म. सा. 'ऊषा' ने "जैन धर्म में ध्यान का ऐतिहासिक विकास क्रम" पर शोध ग्रन्थ लिख कर साहित्य और साधना दोनों की अपूर्व सेवा की है। "ध्यान" वीतरागता प्राप्त करने की साधना का अभिन्न ही नहीं शीर्षस्थ अंग है। तप के बारह भेदों में प्रथम छः बाह्य तप कहलाते हैं और बाकी के छः तप आन्तरिक तप कहलाते हैं जिनमें स्वाध्याय, ध्यान व कायोत्सर्ग शामिल हैं। आभ्यान्तर तप ही साधना का मूल अंग है और जब तक साधक अपने अन्तर में डुबकी नहीं लगाता, बाह्य साधना समुद्र के किनारे पर सीप और कंकर इकट्ठे करने के समान है। यह एक विडम्बना है कि वर्तमान में प्रचलित जैन साधना पद्धति में ध्यान की अपेक्षा व्रत, उपवास आदि बाह्य तप पर अधिक जोर है न कि ध्यान व कायोत्सर्ग पर। साधक ध्यान व कायोत्सर्ग से आत्मानुभूति करता है, स्व-बोध, समाधि व प्रज्ञा प्राप्त करता है और इस प्रकार जीवन का लक्ष्य साधता है। ध्यान जैन साधना का अभिन्न अंग प्रारम्भ से ही रहा है इस बात को भगवान ऋषभदेव के काल से सिद्ध करने का प्रयत्न किया परन्तु ऐतिहासिक प्रमाण जुटाना संभव नहीं है। आगम काल के साहित्य व मूर्ति कला से प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि जैन साधना में ध्यान की परम्परा रही है और इस पर काफी जोर भी था। आगम साहित्य में प्रथम अंग "आचारांग सूत्र" के नवम अध्याय में वर्णित महावीर की साधना से प्रमाणित होता है कि ध्यान साधना ही उनकी प्रमुख साधना थी और वह साधना कितनी ही कष्टप्रद, दुरुह, पीडाकारी और विरोधीजन के बीच रही हो भगवान महावीर ने अपनी समाधि, स्मृति और सहनशीलता को नहीं छोड़ा और काया को वोसरा कर समाधिस्थ रहे। निम्न उद्धरण महावीर के ध्यान को पूर्णतः उजागर करता है :-

अवि झाइ से महावीरे, आसणत्थे अकुक्कुए झाणं
उड्डअहे तिरियं च, पेहमाणे समाहिपडिण्णे।

आचारांग सूत्र अध्याय 9 उद्देश्या 4 गाथा 67

अर्थ:- वे महावीर उत्कृष्ट आसनों में स्थित हो अविरत स्थिर ध्यान करते थे। (शरीर में ही) उर्ध्व, अधो, और तिर्यग देखते हुए समाधिस्थ और अप्रतिज्ञ

रहते थे।

आचारांग का नवम अध्याय ही नहीं, समूचा आचारांग सूत्र ध्यान व अप्रमत्तता के बारे में है और बौद्ध धर्म की विपश्यना और जैन धर्म के ध्यान में साम्यता के बाबत उद्धरण सहित “जिनवाणी” व “स्वाध्याय संदेश” में लेखक ने प्रस्तुत किया है। गहन अध्ययन से स्पष्ट होगा कि आचारांग में ध्यान के बाबत जितना लेखन है वह किसी अन्य आगम में नहीं है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि इसकी गहराई में हम जा न सके और उत्तरकाल में योग दर्शन से प्रभावित हो नई ध्यान शैली का विकास किया और आचारांग के सूत्रों को भूल गये। मैं महासतीजी के लेखन से और अधिक सहमत नहीं हो सकता जब उन्होंने यह लिखा कि “आचारांग जैसे प्राचीन स्तर के आगमों में आत्मसजगता या साक्षी भाव की जिस ध्यान विधि के संकेत उपलब्ध होते हैं वह ध्यान विधि कालक्रम में विस्मृत होती गई और मुख्य रूप से चित्त की एकाग्रता को ही आधार बनाकर ध्यानविधि का विकास किया गया।” यह बात तत्त्वार्थसूत्र में दी गई ध्यान की परिभाषा व उसके भेद, लक्षण, आलम्बन आदि के विवेचन से स्पष्ट है। आगमोत्तर काल में विविध आचार्यों द्वारा विकसित ध्यान पद्धतियों पर पातंजलि के योग दर्शन व तान्त्रिक साधना विधियों का प्रभाव रहता है।

“महावीर से महाप्रज्ञ तक” के साहित्य का अध्ययन, शोधन व समालोचन कर महासतीजी ने न केवल अपनी अध्यवसायिता व कठिन परिश्रम का परिचय दिया है, अपनी अन्तर्दृष्टि व गहन अन्वेषण का भी परिचय दिया है। बुद्ध धर्म व वैदिक धर्म का तुलनात्मक अध्ययन कर विशाल दृष्टि का भी परिचय दिया है। ध्यान किसी एक सम्प्रदाय की बपौती नहीं है। ध्यान के द्वारा कोई भी आत्मोपलब्धि, सजगता, समता, सहिष्णुता, करुणा, मुदिता आदि गुणों की प्राप्ति कर प्रज्ञा, समाधि व वीतरागता प्राप्त कर सकता है। ध्यान पद्धति के विकास में जैन, बुद्ध एवं योग दर्शन का योगदान रहा है और ध्यान पूरी भारतीय संस्कृति की थाती बन गया है। महासतीजी भाग्यशाली हैं कि उन्हें आध्यात्मयोगिनी आर्या उमरावकुंवरजी महाराज की नेश्राय में अध्ययन व शोध करने का अवसर मिला इसलिए उन्हें अलौकिक मार्गदर्शन मिला और अनुपम कृति समाज की सेवा में समर्पित की। उनका अनेकानेक साधुवाद।

सी - 303 डैफोडिल, हीरानन्दानी गार्डन, पवई,
मुम्बई - 400076, फोन - 022 - 25706525

सुगम आधार

❖ डॉ. जीधराज जैन

पू. साध्वीजी श्री उदितप्रभा जी म. सा. 'ऊषा' ने "ध्यान" का आद्योपांत सर्वक्षण करके, हमें ध्यान की 2600 वर्षों से ज्यादा समय की यात्रा कराई हैं। "ध्यान" को कर्म-निर्जरा का एक उत्तम माध्यम माना गया है। आत्म-चिंतन करतेहुए जब ध्यान में निर्विकल्पता की स्थिति बनती है, तो आत्मा से कर्म मल हटता है और आत्मा विशुद्धावस्था में पहुंचती है।

ऐसे सशक्त माध्यम को साधारण जनता के लिए सुलभ व आसान बनाने के लिए, समय समय पर, उस काल के अनुसार, मनीषियों ने उसका चिंतन व विकास किया है। काल के लम्बे प्रवाह में ऐसे पड़ाव भी आये, जब यह माध्यम विस्मृत होता गया। अवनति के उस दौर में उसकी उपयोगिता व प्रायोगिकता गौण हो गई। फिर किसी साधक और सुधारक द्वारा इसको कथित "नये-रूप" में परोसा गया। इस प्रकार विकास के साथ, "प्रचार और प्रसार" की प्रबलता और कमजोरी के अनुरूप, यह माध्यम भी समय-समय पर उजागर और विस्तृत हुआ है।

अभी आवश्यकता थी, ध्यान के इस लम्बे सफर को संपूर्ण रूप से खोज निकालकर प्रस्तुत करने की। जिससे आज जो विभिन्न रूप में, विभिन्न दृष्टिकोण से, अलग-अलग रूप में व नाम से यह माध्यम प्रसारित हो रहा है, उसको समग्र रूप से समझा जा सके। इसके अनेक रूप में चल रहे अभियान में निहित एक रूपता व सापेक्षता को समझा जा सके।

उम्मीद है, उपसंहार में पू. साध्वी जी ने जो निष्कर्ष निकाला है, वो पाठकवृंद को इस समग्रता का दिग्दर्शन करायेगा। तथा ध्यान की विभिन्न नामों से पहचानी जाने वाली पद्धतियों को इस प्रकार विकसित करने में मदद करेगा कि यह माध्यम सर्वसाधारण के लिए, आत्मशोधन का एक आसान और सुलभ यान बन सके। हर स्कूल बच्चे को इसका आसान व प्रभावी अभ्यास कराया जा सके। आज की विकसित संचार-व्यवस्था में, उनकी जीवनचर्या का यह एक अनिवार्य अंग बन सके।

मुख्य बात है कि यह शोध-प्रबंध, भविष्य के शोधार्थियों के लिए, बहुत ही प्रामाणित और सुगम आधार बनेगा।

मेरी कल्पना के अनुसार, नवम अध्याय के बाद, यदि तुलनात्मक रूप से प्रस्तुत करने का एक और अध्याय रहता तो शोध प्रबंध की उपयोगिता बढ़ती। इस अध्याय में “प्रायोगिक” निष्कर्षों को समाविष्ट किया जा सकता था। फलस्वरूप भावी शोध के लिए कुछ क्षेत्र इंगित हो जाते। अभी “ध्यान” पर काफी प्रयोग चल रहे हैं। नये-नये वैज्ञानिक सिद्धान्तों का, तथा नई-नई शारीरिक और मानसिक जानकारियों का सहारा लिया जा रहा है। क्रमवार प्रायोगिक शोध भी हो रही हैं। उनकी स्थितियों का संकलन हो सके तो अच्छा है।

चूंकि विषय विकास-यात्रा का ही है, अतः आज की हो रही शोध को इसीलिए शायद छोड़ दिया गया है।

CE, FIE, FIIV
Jamshedpur

विषय सूची

बृहद् प्रथम : भारतीय संस्कृति में ध्यान परम्परा

1-48

- भारतीय संस्कृति की दो धाराएँ
- श्रमण संस्कृति
- प्राचीनता
- चातुर्याम धर्म - पंच महाव्रत
- मतमतान्तर
- आत्मविशुद्धि और समता की साधना
- निर्विकल्पता की उपलब्धि का माध्यम
- विभिन्न श्रमण परम्पराओं में ध्यान
- रामपुत्र की ध्यानसाधना और उसका बौद्ध और जैन परम्परा पर प्रभाव
- जैन परम्परा में ध्यान और तत्सम्बन्धी साहित्य
- ब्राह्मण संस्कृति
- वैदिक परम्परा में ध्यानविधि
- पातंजल योगदर्शन में धारणा, ध्यान और समाधि
- श्रीमद् भगवद्गीता में ध्यानयोग
- योगवाशिष्ठ में ध्यानयोग
- बौद्ध धर्म में ध्यान की परम्परा एवं ध्यानविषयक साहित्य
- बौद्ध धर्म का ध्यान सम्प्रदाय

- योग और ध्यान की भारतीय परम्परा
- आगम-कर्त्ता-अंगप्रविष्ट-अंगबाह्य
- आचारांग सूत्र और उसके व्याख्या साहित्य में ध्यान
- सूत्रकृतांग सूत्र में ध्यान सम्बन्धी निर्देश
- स्थानांग सूत्र में ध्यान सम्बन्धी विवेचना
- समवायांग सूत्र में ध्यान
- भगवती सूत्र और ध्यान
- प्रश्नव्याकरण सूत्र
- औपपातिक सूत्र
- उत्तराध्ययन सूत्र
- दशवैकालिक सूत्र
- दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र
- आवश्यक सूत्र
- आवश्यक निर्युक्ति

- पृष्ठभूमि - षट्खण्डागम की धवला टीका
- मूलाचार - भगवती आराधना - आचार्यकुन्दकुन्द - पंचास्तिकाय, समयसार, नियमसार, मोक्षपाहुड़
- कार्तिकेयानुप्रेक्षा
- योगसार
- द्रव्यसंग्रह

**खण्ड चतुर्थ : आचार्य उमास्वातिकृत, जिनभद्र गणि और
पूज्यपाद के ग्रन्थों में ध्यानविमर्श**

1-31

- आचार्य उमास्वातिकृत तत्त्वार्थसूत्र
- जिनभद्रगणिकृत ध्यानशतक
- पूज्यपाद - इष्टोपदेश, समाधितंत्र

खण्ड पंचम : आचार्य हरिभद्र सूरि के ग्रन्थों में ध्यान-साधना

1-39

- योगदृष्टि समुच्चय - इच्छायोग, शास्त्रयोग, सामर्थ्ययोग -
धर्मसंन्यास और योगसंन्यास, आठ योगदृष्टियाँ
- योगशतक - निश्चय योग - व्यवहार योग
- योगविंशिका
- योगबिन्दु
- पंचाशकप्रकरण

**खण्ड षष्ठ : आचार्य शुभचन्द्र, भास्करनन्दि व सोमदेव के
साहित्य में ध्यानविमर्श**

1-72

- आचार्य शुभचन्द्र : ज्ञानार्णव - ध्यानयोग - ध्यानसिद्धि-साध्यता/असाध्यता
द्वादश भावनाएँ - ध्यान का स्वरूप - ध्याता की योग्यता - ध्यान के भेद-
मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ्य भावना, ध्यानयोग्य स्थान, आसन, प्राणायाम
प्रत्याहार, धारणा - समुद्घात प्रक्रिया। त्रितत्व - शिव, गरुड़, कामतत्त्व।
- आचार्य भास्करनन्दि : ध्यानस्तव
- आचार्य सोमदेव कृत : योगमार्ग
- आचार्य सोमदेव कृत : यशस्तिलकचम्पू

खण्ड सप्तम : आचार्य हेमचन्द्र, योगप्रदीपकार व सकलचन्द्र
गीर्ण के साहित्य में ध्यानसम्बन्धी निर्देशन 1-63

- योगशास्त्र : ध्यान का अनुपम ग्रन्थ
- योगप्रदीप : गागर में सागर
- 'ध्यानदीपिका' : संकलनग्रन्थ

खण्ड अष्टम : यशोविजय और आनन्दघन के साहित्य में
ध्यानसाधना 1-31

- उपाध्याय यशोविजय
- अध्यात्मसार
- अध्यात्मोपनिषद्
- ज्ञानसार
- आनन्दघन
- आनन्दघन पदावली
- अन्य पद

खण्ड नवम : आधुनिक चिन्तक और ध्यानसाधना 1-48

- श्रीमद् राजचन्द्र
- विपस्सना ध्यान पद्धति
- आचार्य तुलसी का मनोनुशासन
- समीक्षण ध्यान
- 'महासती श्री उमरावकुंवर 'अर्चना' म.सा. का मुद्राध्यान
- आचार्य शिवमुनि का ध्यानयोग
- आचार्य महाप्रज्ञ का प्रेक्षाध्यान

उपरोक्त 1-13

सहायक ग्रन्थ-सूची 1-6

खण्ड : - प्रथम

भारतीय संस्कृति में ध्यान परम्परा

- भारतीय संस्कृति की दो धाराएँ
- श्रमण संस्कृति
- प्राचीनता
- चातुर्याम धर्म - पंच महाव्रत
- मतमतान्तर
- आत्मविशुद्धि और समता की साधना
- निर्विकल्पता की उपलब्धि का माध्यम
- विभिन्न श्रमण परम्पराओं में ध्यान
- रामपुत्र की ध्यानसाधना और उसका बौद्ध और जैन परम्परा पर प्रभाव
- जैन परम्परा में ध्यान और तत्सम्बन्धी साहित्य
- ब्राह्मण संस्कृति
- वैदिक परम्परा में ध्यानविधि
- पातंजल योगदर्शन में धारणा, ध्यान और समाधि
- श्रीमद् भगवद्गीता में ध्यानयोग
- योगवाशिष्ठ में ध्यानयोग
- बौद्ध धर्म में ध्यान की परम्परा एवं ध्यानविषयक साहित्य
- बौद्ध धर्म का ध्यान सम्प्रदाय

खण्ड:-प्रथम

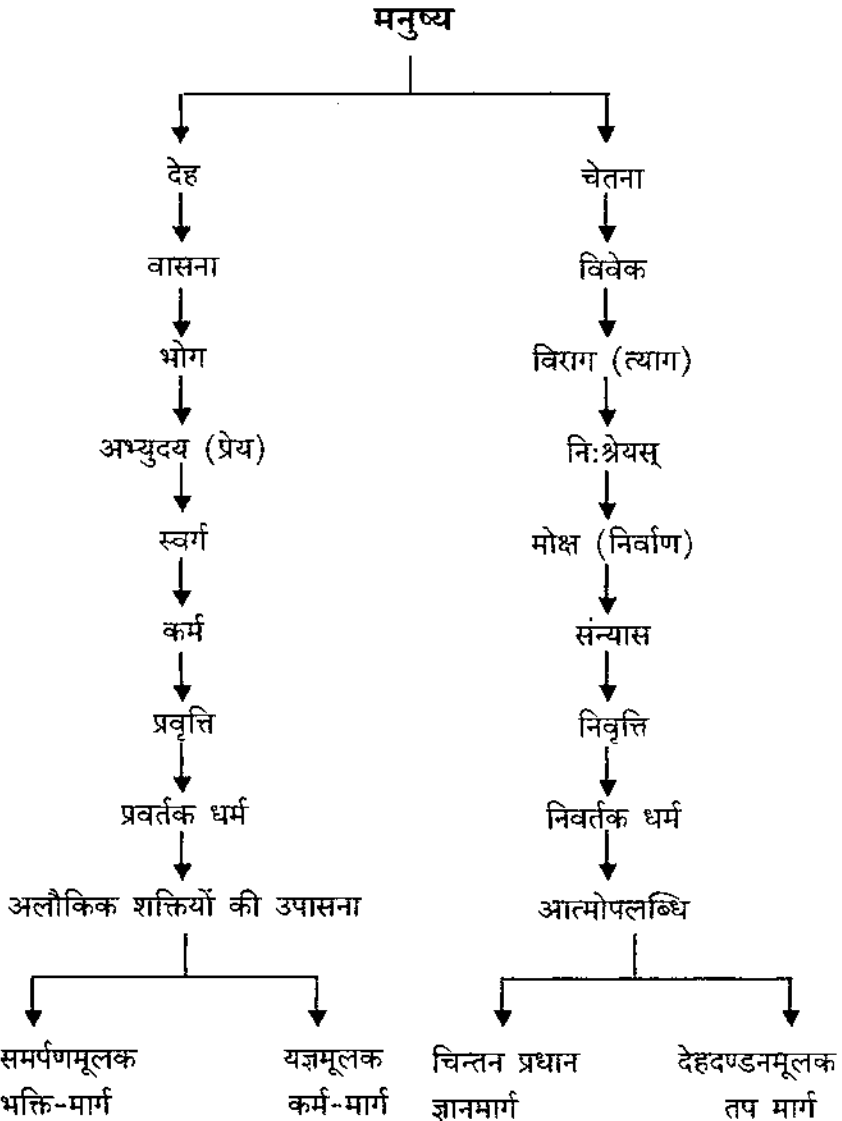
भारतीय संस्कृति में ध्यान की परम्परा

भारतीय ऋषियों, दार्शनिकों और चिन्तकों का लक्ष्य स्थूल जीवन का निदर्शन कभी नहीं रहा। उन्होंने जीवन की सूक्ष्मतम, अतल गहराइयों में अपनी प्रज्ञा के सहारे प्रवेश किया, जिसके परिणामस्वरूप अध्यात्म दर्शन अस्तित्व में आया। उन्होंने स्थापित किया कि मात्र देह का संरक्षण, उसका परिपोषण-संवर्द्धन और उससे उत्पन्न सुख ही परम सत्य नहीं है। उन्होंने देह में सन्निविष्ट आत्मतत्त्व की गरिमा का साक्षात्कार कर उसकी महिमा प्रकट की।

आत्ममूलक चिन्तनधारा जब शाश्वत कर्मधारा के साथ संयुक्त हो जाती है तब जीवन में उस तत्त्व की निष्पत्ति होती है जिसे संस्कृति कहा जाता है।

भारतीय संस्कृति की दो धाराएँ

संस्कृति का विकास जीवनदृष्टि के आधार पर होता है। भारत में भोगमूलक और त्यागमूलक जीवनदृष्टियों के आधार पर क्रमशः दो संस्कृतियों वैदिक और श्रमण का विकास हुआ। वैदिक धारा भोगमूलक प्रवृत्ति मार्ग की संपोषक रही है जबकि श्रमण धारा त्यागमूलक निवृत्तिपरक साधना पर बल देती रही है। इन दोनों धाराओं का सुन्दर विवेचन डॉ. सागरमल जैन ने अपने लेख 'श्रमण एवं वैदिक धारा का विकास एवं पारस्परिक प्रभाव' में किया है। उसी आधार पर यहाँ इन दोनों धाराओं के विकास और उनके धार्मिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक प्रदेयों की तालिका प्रस्तुत है जो इनकी दृष्टि-भिन्नता को सिद्ध करती है।



प्रवर्तक धर्म	निवर्तक धर्म
(1) दार्शनिक प्रदेय	
1. जैविक मूल्यों की प्रधानता	1. आध्यात्मिक मूल्यों की प्रधानता
2. विधायक जीवनदृष्टि	2. निषेधक जीवनदृष्टि
3. समष्टिवादी	3. व्यष्टिवादी
4. व्यवहार में कर्म पर बल, फिर भी भाग्यवाद एवं नियतिवाद का समर्थन	4. व्यवहार में नैष्कर्म्य का समर्थन, फिर भी दृष्टि पुरुषार्थपरक
5. ईश्वरवादी	5. अनीश्वरवादी
6. ईश्वरीय कृपा पर विकास	6. वैयक्तिक प्रयासों पर विश्वास, कर्मसिद्धान्त का समर्थन।
7. साधना हेतु बाह्य साधनों पर बल	7. साधना हेतु आन्तरिक विशुद्धता पर बल।
8. जीवन का लक्ष्य स्वर्ग/ईश्वर के सान्निध्य की प्राप्ति	8. जीवन का लक्ष्य मोक्ष/निर्वाण की प्राप्ति
(2) सांस्कृतिक प्रदेय	
9. वर्णव्यवस्था और जातिवाद का जन्मना आधार पर समर्थन	9. जातिवाद का विरोध, वर्णव्यवस्था का केवल कर्मणा आधार पर समर्थन
10. गृहस्थ जीवन की प्रधानता	10. संन्यास जीवन की प्रधानता
11. सामाजिक जीवनशैली	11. एकाकी जीवनशैली
12. राजतंत्र का समर्थन	12. जनतंत्र का समर्थन
13. शक्तिशाली की पूजा	13. सदाचारी की पूजा
14. विधि-विधानों एवं कर्मकाण्डों की प्रधानता	14. ध्यान और तप की प्रधानता
15. ब्राह्मण संस्था (पुरोहित वर्ग) का विकास	15. श्रमण संस्था का विकास
16. उपासना मूलक दृष्टि	16. समाधिमूलक दृष्टि

श्रमण संस्कृति

श्रमण परम्परा का भारतीय संस्कृति में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रमण शब्द श्रम् धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है - परिश्रम करना, उद्योग करना। पालि प्राकृत भाषा में यह शब्द 'समण' है, जो सम् धातु से निर्मित है। ये शब्द ही संकेत करते हैं कि श्रमण श्रम, शम और सम के धरातल पर स्थित है। 'श्रम' शब्द का अर्थ पुरुषार्थ, उद्यम या आत्म-पराक्रम है। 'शम' का अर्थ निर्वेद या वैराग्य है। 'सम' का अर्थ समता, समत्व अथवा सर्व भूतों को आत्मवत् समझना है। इस प्रकार श्रमण शब्द एक ऐसे अध्यात्म - कर्मयोगी का सूचक है जिसके जीवन में अपने परम लक्ष्य को प्राप्त करने का न केवल उत्साह ही होता है वरन् उस दिशा में अग्रसर होने का पुरुषार्थ या सतत उद्यम भी होता है। ऐसा साधक आत्मोन्मुख होता है। वह भौतिक उत्कर्ष को अपना परम लक्ष्य नहीं मानता, उसे सांसारिक जीवन की एक आवश्यकता मात्र समझता है। अतः उसके मन में भोग, वासना, एषणा इत्यादि से विरक्ति होती है। वह जो भी करता है इनमें आसक्ति न रखते हुए करता है। ऐसे साधक की दृष्टि में प्राणि-जगत् में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं होता। उसके हृदय में समत्व का अगाध सागर लहराता रहता है। सभी प्राणियों के प्रति उसकी स्नेह, समानता की दृष्टि होती है, अपनी ओर से किसी को पीड़ा पहुँचाने में उसकी जरा भी मानसिकता नहीं होती। अपने सामर्थ्य से जितना, जैसा बन सकता है वह उनका हित ही साधता है।

दार्शनिक दृष्टि से उसकी यह मान्यता होती है कि अपने उत्थान और पतन का वह स्वयं ही उत्तरदायी है। अपना हित या अहित करना उसके अपने हाथ में है। वह कर्म सिद्धान्त पर अटल विश्वास करता है।

ऐसे आत्मपुरुषार्थ शील, निर्वेदसम्पन्न, समत्व-भावोपपन्न सत्पुरुषों द्वारा सेवित, आचारित, संप्रसारित, क्रियान्वित चिन्तनधारा 'श्रमण संस्कृति' के नाम से अभिहित हुई है। इसमें किसी ईश्वर को सृष्टि के रचयिता, पालनकर्ता, संहर्ता आदि के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने श्रम व सत्कर्मों से स्वयं ईश्वर बन सकता है। वह ईश्वर के प्रसाद पर निर्भर नहीं है बल्कि उसका स्वयं का पुरुषार्थ उसे उत्कर्ष की चरम स्थिति तक पहुँचा सकता है। उसका मूल लक्ष्य है आत्मचिन्तन, भेद-विज्ञान तथा कर्मक्षय हेतु साधना। चाहे ब्राह्मण हो

या क्षत्रिय, वैश्य हो या शूद्र सभी को समान रूप से आत्मचिन्तन करने एवं मुक्ति प्राप्त करने का अधिकार है।¹ आगमों में स्पष्टरूप से कहा गया है कि मनुष्य कर्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होता है।² कोई भी व्यक्ति मात्र गोत्र अथवा धन से श्रेष्ठ नहीं होता, उसकी श्रेष्ठता तो उसके उत्तम कर्म, विद्या, धर्म और शील से है। आत्मा स्वरूपतः निर्मल और निर्विकार है। कर्म उसके मूल स्वरूप को आवृत कर देते हैं। आत्मा के इस विकार भाव को दूर करने के लिए शुद्ध भावपूर्वक समता की साधना अपेक्षित है।

श्रमण संस्कृति की प्राचीनता

श्रमण संस्कृति के उद्भव और उसकी प्राचीनता के सन्दर्भ में यहाँ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। इतना निश्चित है कि श्रमण संस्कृति वैदिक संस्कृति के बाद की संस्कृति नहीं है। सिन्धु घाटी के उत्खनन में प्राप्त कुछ यौगिक मुद्राएँ, वैदिक साहित्य में प्रयुक्त ब्राह्मण, वातरशना मुनि, श्रमण आदि शब्द, वेदों और पुराणों में ऋषभदेव के नामोल्लेख तथा चर्या और क्रिया-प्रक्रिया से स्पष्ट है कि श्रमण संस्कृति वैदिक संस्कृति की पूर्ववर्ती है। यद्यपि वैदिक साहित्य से प्राचीन कोई श्रमण साहित्य उपलब्ध नहीं है, इसलिए भले ही कोई उसे पूर्ववर्ती न माने, पर समकालीन तो अवश्य ही मानना पड़ेगा।³

पालि साहित्य में समणों के चार प्रकार बताये गये हैं -

1. मग्गजिन - साधना के मार्ग को भली-भाँति जानने वाले,
2. मग्गदेसिन - उसका उपदेश करने वाले,
3. मग्गजीविन - जीवन में उसे क्रियान्वित करने वाले और
4. मग्गइसिन - मार्ग के तत्त्वदर्शन को आत्मसात् करने वाले।⁴

1. उत्तराध्ययन सूत्र तथा

कम्मं विज्जा च धम्मो च सीलं जीवितमुत्तमं।

एवेनमच्चा सुज्झन्ति न गोतेन धनेन वा ॥ विसुद्धिमग्ग ॥ 1 ॥

उद्धृत - अमर भारती-श्रमण संस्कृति अंक मार्च-अप्रैल 1971

2. उत्तराध्ययन सूत्र 25.33

3. जैनजन्म इन बुद्धिस्ट लिटरेचर, प्रथम अध्याय, डॉ. भागचन्द्र जैन भास्कर

4. सूत्र निपात 828

तत्त्वदर्शन में मतभेद उत्पन्न होने के फलस्वरूप अनेक दृष्टियों का प्रादुर्भाव हुआ। बौद्ध दर्शन में इन सभी दृष्टियों का संकलन बासठ प्रकार की मिथ्यादृष्टियों (मिच्छादिदृष्टि) के रूप में किया गया है। जैन साहित्य में इनकी संख्या 363 बताई गयी है।⁵ ठाणांग सूत्र में श्रमणों के पाँच भेद निर्दिष्ट हैं- निगण्ठ (जैन), सक्क (बौद्ध), तापस, गेरुय और परिव्राजक।⁶ सूतनिपात में ये भेद यों मिलते हैं - तित्थिय, आजीविक और निगण्ठ। इन्हें वादसील कहा गया है।⁷

श्रमण संस्कृति में जैन और बौद्ध दो प्रवाह प्रमुख हैं। विन्टरनिट्स और डॉ. हर्मन याकोबी ने भी इनका उल्लेख किया है। जैन और बौद्ध धर्म श्रमण संस्कृति की प्रमुख शाखायें हैं। इनके धार्मिक एवं सामाजिक चिन्तन में समता और समन्वयात्मकता की प्रतिष्ठा हुई है।

बौद्ध धर्म से भी जैन धर्म प्राचीन है। बौद्धपिटकों में बौद्ध धर्म का विरोध करने के प्रसंगों में तथा बौद्ध धर्म को अंगीकार करने के प्रसंगों में निर्ग्रन्थों का उल्लेख हुआ है। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि बौद्धधर्म जैनधर्म का परवर्ती है।

बौद्ध साहित्य में श्रमण परम्परा के छह सम्प्रदायों का एवं उनके आचार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। उन्हीं छह में चातुर्याम संवर के प्रवर्तक के रूप में भगवान महावीर का निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र के नाम से उल्लेख किया गया है। भगवान महावीर के अतिरिक्त अक्रियावाद के प्रवर्तक के रूप में आचार्य पूरणकश्यप, नियतिवाद के प्रवर्तक के रूप में मंखल्लिगोसाल, उच्छेदवाद के प्रवर्तक के रूप में अजित केशकम्बलि, अन्योन्यवाद के प्रवर्तक के रूप में प्रकृथ कात्यायन तथा निक्षेपवाद के प्रवर्तक के रूप में संजय वेलट्टिपुत्त का वर्णन किया गया है।

बौद्ध साहित्य में इनका जो वर्णन मिलता है उससे इनके सिद्धान्तों पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। ये सब श्रमण संस्कृति में इसलिए स्वीकृत थे क्योंकि ये तपश्चरण, कायक्लेश, कष्ट-सहन, ध्यान आदि में विश्वास करते थे और वैदिक परम्परा में स्वीकृत ईश्वर के सृष्टि-कर्तृत्व, यज्ञ-याग, कर्म-काण्ड आदि में विश्वास नहीं करते थे।

5. सूत्रकृतांगसूत्र 1.1.11

6. स्थानांग सूत्र 9.56

7. सूतनिपात, 381

इनके सिद्धान्तों के प्रतिपादक ग्रन्थ आज प्राप्त नहीं हैं। सम्भव है, इनका भी साहित्य रहा हो और उत्तरोत्तर अनुयायियों के घटते जाने से और फिर न रहने पर सार-सँभाल के अभाव में नष्ट हो गया हो।

श्रमण परम्परा और नहीं तो ऐतिहासिक दृष्टि से ऋषभदेवकालीन तो है ही। ऋषभदेव के बाद तेबीस तीर्थकर और हुए, जिन्होंने इस परम्परा के विकास में अपना योग दिया। इन तीर्थकरों में विशेष रूप से पार्श्वनाथ की परम्परा के उल्लेख पालि-त्रिपिटक में उपलब्ध होते हैं। वहाँ 'सामण्ण-फलसूत्त' में पार्श्वनाथ के चातुर्याम संवर का उल्लेख है पर उसका विवेचन नहीं। किन्तु 'अंगुत्तर निकाय' में इस सम्बन्ध में आये हुए उल्लेख से चातुर्याम संवर का कुछ स्पष्टीकरण हो जाता है।⁸ स्थानांगसूत्र⁹ आदि आगमों से भी इसका समर्थन स्पष्ट रूप से होता है। अतः श्रमण-साधना में जैनसाधना, बौद्धसाधना से पूर्ववर्ती सिद्ध होती है।

चातुर्यामधर्म-पंच महाव्रत

जैन परम्परा में भगवान ऋषभदेव से महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थकरों की संयममूलक साधना का क्रम तो वस्तुतः एकसा ही रहा है किन्तु शाब्दिक दृष्टि से वहाँ चातुर्याम धर्म और पंच महाव्रत धर्म के रूप में कथनभेद दृष्टिगोचर होता है। प्रथम तीर्थकर भगवान ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थकर भगवान महावीर के शासनकाल में पंच महाव्रत-मूलक धर्म प्रचलित रहा। प्राणातिपातवर्जन - अहिंसा, मृषावादवर्जन - सत्य, अदत्तादानवर्जन - अचौर्य, अब्रह्मवर्जन - ब्रह्मचर्य तथा परिग्रहवर्जन - अपरिग्रह के रूप में प्रसृत रहा। द्वितीय तीर्थकर भगवान अजितनाथ से तेबीसवें तीर्थकर भगवान पार्श्वनाथ तक चातुर्याम धर्म संप्रवृत्त रहा।

दोनों में तत्त्वतः समानता थी किन्तु चातुर्याम धर्म में चौथे याम में चौथे और पाँचवें महाव्रत का समावेश किया गया। अतः ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह दोनों को एक ही याम में परिगृहीत किया गया। तदनुसार स्त्री को भी एक प्रकार का परिग्रह ही माना गया। ऐसा क्यों हुआ, इस सम्बन्ध में 'उत्तराध्ययन सूत्र' में बड़ी ही सुन्दर चर्चा

8. अंगुत्तरनिकाय भा. 3 पृ. 276-77

9. स्थानांग सूत्र 266

आयी है। भगवान महावीर के समय भगवान पार्श्वनाथ की चातुर्याम परम्परा के श्रमण भी विद्यमान थे। एक बार ऐसा प्रसंग बना - भगवान महावीर के प्रमुख गणधर गौतम और पार्श्व परम्परा के प्रमुख सन्त केशी स्वामी का मिलन हुआ। दोनों में इस सम्बन्ध में विचार-विमर्श हुआ। गौतम ने वहाँ बड़ा ही सुन्दर समाधान दिया। उन्होंने बताया कि प्रथम तीर्थंकर के समय लोग ऋजु - जड़ होते हैं - अर्थात् बहुत सरल होते हैं। इन्हें हर किसी बात को बहुत ही स्पष्ट और विस्तृत रूप में समझाना होता है। इसलिए इन्हें समझाने के उद्देश्य से पाँचों व्रतों का पृथक् - पृथक् उपदेश किया गया। अन्तिम तीर्थंकर के समय लोग वक्रजड़ होते हैं। वे किसी विषय का स्पष्ट उल्लेख-विवेचन न होने पर कुछ अवाञ्छित मार्ग निकाल लेने का प्रयास कर सकते हैं। वे ऐसा न कर सकें, अतएव भगवान महावीर ने पाँच महाव्रतों का पृथक्-पृथक् अति स्पष्ट रूप से उपदेश दिया, विश्लेषण किया। द्वितीय से तेबीसवें तीर्थंकर तक के लोग 'ऋजु प्राज्ञ' कहे गये हैं। वे स्वभाव से ही सरल होते हैं। साथ-ही-साथ प्रज्ञाशील भी होते हैं। संक्षेप में उपदिष्ट विषय को भी भली-भाँति समझने में सक्षम होते हैं। अतः मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के शासनकाल में चातुर्याम धर्म का उपदेश दिया जाता रहा। अभिप्राय यह है कि चातुर्याम धर्म और पंच महाव्रतों में तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है, केवल कथनभेद है।

कतिपय मतमतान्तर

उक्त छह शास्ताओं के अतिरिक्त कुछ छोटे-मोटे शास्ता और भी थे जो अपने-अपने मत का प्रचार-प्रसार समाज में कर रहे थे। 'ब्रह्मजाल सुत्त' के बासठ दार्शनिक मत इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। इन्हें गंभीर, दुर्बोध आदि कहा गया है।

'सूत्रकृताङ्ग' में दार्शनिक मत-मतान्तरों की संख्या 363 बताई गई है। ये 363 मत मुख्यतया चार भागों में विभाजित किये गये हैं - क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और वैनयिक। इनके अतिरिक्त यज्ञ, भूत, प्रेत, पशु आदि की भी पूजा की जाती थी। कई ऐसे सम्प्रदाय भी थे जो ब्राह्मण संस्कृति के और श्रमण संस्कृति के कुछ-कुछ सिद्धान्तों को मानकर चलते थे।

'औपपातिक सूत्र' में वानप्रस्थों, प्रव्रजित श्रमणों और परिव्राजकों आदि का उल्लेख हुआ है। उनकी चर्या न तो सर्वथा ब्राह्मण संस्कृति के सिद्धान्तों से संगति

रखती थी और न ही श्रमण संस्कृति का पूरी तरह अनुसरण करती थी। वे साधक बाह्य शुद्धि में विश्वास करते थे तथा साथ-ही-साथ तपस्या आदि में भी प्रवृत्तिशील थे। श्रमणों की तरह पाद-विहार करते थे। उनके अपने-अपने समुदाय थे।¹⁰

‘औपपातिक’ में अम्बड़ नामक एक परिव्राजक का वर्णन आया है जो अपने समय का, अपनी परम्परा का अत्यन्त प्रसिद्ध व्यक्ति था। कहा गया है कि उसके सात सौ अन्तेवासी थे। ऐसा भी उल्लेख हुआ है कि दाता के अभाव में जल न मिलने के कारण उन सभी ने आमरण अनशन द्वारा अपने प्राणों का विसर्जन किया।¹¹

‘सूत्रकृतांग’ में पंच महाभूतवाद, एकान्तवाद, तज्जीवितच्छरीरवाद, अकारकवाद, आत्मषष्ठवाद तथा क्षणिकवाद का उल्लेख हुआ है।¹²

‘ब्रह्मजाल सुत्त’ में और ‘सूत्रकृतांग’ में निर्दिष्ट ये दार्शनिक मत एक-दूसरे के पूरक कहे जा सकते हैं। इनमें अधिकांश सम्प्रदाय श्रमण संस्कृति के धरातल पर खड़े हुए हैं और प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से किसी-न-किसी प्रकार श्रमण परम्परा से प्रभावित हैं।

आचार नियमों के यत् किञ्चित् भेद के आधार पर ये भिन्न-भिन्न मत, वाद या समुदाय अस्तित्व में आये। अपने-अपने प्रभावित क्षेत्रों में व्याप्त भी रहे, किन्तु शनैः शनैः उनका अस्तित्व लुप्त होता गया और मुख्यतः जैन और बौद्ध परम्पराओं में ही श्रमण संस्कृति पोषित होती रही।

‘भागवत’ आदि हिन्दू ग्रन्थों में ऐसे साधकों की परम्परा का उल्लेख है जो वन, गिरि-कन्दरा, श्मशान भूमि आदि एकान्त स्थान को आवास हेतु स्वीकार करके वहाँ ध्यान-साधना करते थे। इनका सामाजिक लोगों से स्पष्ट पार्थक्य दृष्टिगोचर होता था। इनमें से अनेक तो निर्वस्त्र रहते थे और जटाजूट धारण करते थे। आहार की दृष्टि से इनका जीवन तितिक्षापूर्ण था। यह परम्परा ‘तापस’ नाम से प्रसिद्ध हुई। तापसों में ब्राह्मण और श्रमण संस्कृति का मेल था। ‘सूत्रकृतांग’ एवं ‘औपपातिक सूत्र’

10. औपपातिक सूत्र पृ. संख्या 125-135

11. वही, पृ. सं. 136-141

12. सूत्रकृतांग सूत्र ,1/1, पृ. 20/38

में ऐसे विविध तापसों का उल्लेख है।¹³

प्राचीन वाङ्मय में अवधूत शब्द का प्रयोग भी है। अवधूत शब्द उन साधकों के लिए प्रयुक्त हुआ जो लौकिक सुविधाओं से सर्वथा विमुख रहकर अनासक्त जीवन व्यतीत करते थे और एकान्त में ध्यान-साधना करते थे। 'भागवत' में ऋषभदेव का एक अवधूत साधक के रूप में वर्णन किया गया है।¹⁴ 'भागवत' में ही भरत के घोर तितिक्षामय जीवन का एक अवधूत साधक के रूप में चित्रण हुआ है। 'भागवत' के ग्यारहवें स्कन्ध में दत्तात्रेय का भी एक ऐसे ही साधक के रूप में वर्णन है।¹⁵

बौद्ध त्रिपिटक एवं जैनागमों में भी यत्र तत्र अवधूत साधकों का उल्लेख है। बौद्ध साधकों में धूतांग भिक्षुओं और उनकी साधना का विवरण मिलता है। मज्झिमनिकाय¹⁶ में बुद्ध की तपोमय चर्या का जैसा उल्लेख है, वैसे ही 'आचारांग सूत्र' में महावीर की चर्या वर्णित है। भगवान महावीर जब लाढ़ देश में विद्या करते थे तब वे घास-कंटकादि का कठोर स्पर्श, शीतस्पर्श, भयंकर गर्मी का स्पर्श, डाँस और मच्छरों का दंश इन नाना प्रकार के दुःखद स्पर्शों (परीषहों) को सदा सम्यक् प्रकार से सहन करते थे।

वहाँ अनार्य लोग उन पर डण्डों से आघात करते थे तथा उन पर शिकारी कुत्ते छोड़ देते थे जो उन्हें काट खाते। वहाँ के लोग रूखा-सूखा खाने वाले थे अतः उनके स्वभाव में भी बड़ी कठोरता तथा रुक्षता थी। वहाँ विचरण करने वाले श्रमण लाठी तथा नालिका लेकर विचरण करते थे।¹⁷

'आचारांग सूत्र' के षष्ठ अध्यायन का नाम धूताध्ययन है। इसमें साधक की उस चर्या का वर्णन है जहाँ वह लौकिक भाव से मुड़कर अध्यात्म भाव में अभिरत रहता है। बौद्ध वाङ्मय के अन्तर्गत 'विसुद्धिमग्ग' में कष्टमय साधना का वर्णन है, उसे धूतांग कहा गया है।

13. औपपातिक सूत्र 74

14. श्रीमद् भागवत स्कंध 5.3.20 पत्र सं. 7

15. वही, 11.6.25-30, 32-35 पत्र सं. 13, 44

16. मज्झिमनिकाय, महासीहनाद सुत्तं - 1/12 पृ. 96

17. आचारांग सूत्र 1.9.3.293-295

‘धूत’ शब्द के सम्बन्ध में मुनि राकेश जी की मान्यता है कि सम्भवतः प्रयत्नलाघव की प्रक्रिया के अनुसार अवधूत शब्द के संक्षिप्तीकरण में केवल ‘धूत’ शब्द ही अवशेष रह गया हो।¹⁸

पतंजलि के ‘योगसूत्र’ में योगियों का वर्णन है। चित्तवृत्तियों के निरोध हेतु प्रयत्नशीलता, जो आत्मा को अन्ततः अपने स्वरूप में अवस्थित कराती है, एक योगाभ्यासी की साधना-यात्रा है।

पतंजलि ने विदेहयोगी का उल्लेख भी किया है। उनके अनुसार विदेहयोगी उन्हें कहा जाता है जो वितर्कानुगत और विचारानुगत समाधि सिद्ध करके शरीर से असंग अर्थात् देहभाव से विमुक्त होते हैं।

इस परम्परा में हठयोग का उल्लेख भी प्रासंगिक है। हठयोग के आदि आचार्य आदिनाथ या शिव माने जाते हैं। मन्थान, भैरव, सिद्ध, बुद्ध, कंथड़ी, कोरंटक, सुरानन्द, सिद्धपाद, चरपटी, निरंजन, कपाली आदि ने हठयोग की साधना से ही आत्मसिद्धि प्राप्त की।¹⁹

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रकट होता है कि निस्सन्देह श्रमण संस्कृति भारतवर्ष की एक अत्यन्त गौरवशील संस्कृति रही है, जो प्रागैतिहासिक काल से ही भारत के विविध अंचलों में फलती-फूलती रही है। श्रमण संस्कृति की विचारधारा वैदिक संस्कृति की विचारधारा से भिन्न है। वैदिक संस्कृति प्रवृत्ति-प्रधान है जबकि श्रमण संस्कृति श्रम, शम एवं सम से आप्लावित निवृत्ति प्रधान है। वैदिक संस्कृति में यज्ञ-याग आदि कर्म-काण्ड तथा पूजा-उपासना आदि का प्राधान्य है। श्रमण संस्कृति आध्यात्मिक अभ्युदय, परम कल्याण तथा शान्ति आदि हेतु संयम, व्रत एवं तपश्चरण पर आधारित है।

जैन परम्परा बौद्ध परम्परा से मिलतीजुलती एक सर्वथा स्वतंत्र पृथक् परम्परा है। त्रिपिटक-साहित्य का परिशीलन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि तथागत बुद्ध ने अनेक स्थलों पर श्रमण भगवान महावीर को ‘निगंथ नाथपुत्त’ आदि नाम से सम्बोधित किया है।

18. जैन योग की परम्परा पृ. 4

19. हठयोग प्रदीपिका 6-9

छठी शताब्दी ई. पूर्व के प्रथम चरण तक तो श्रमण संस्कृति जैन संस्कृति के ही पूर्व रूप में विकसित थी। अनन्तर तथागत बुद्ध के कारण इसकी एक धारा बौद्ध धर्म के रूप में प्रवाहित हो चली और कालान्तर में जैन और बौद्ध दोनों के लिये ही श्रमण संस्कृति शब्द व्यवहृत होने लगा। इसका प्रमुख कारण था कि दोनों महापुरुष महावीर और बुद्ध समकालीन थे और दोनों की विचार-धाराओं में बहुत अंशों में समानता थी।

श्रमण परम्परा प्रारम्भ से ही तप और त्याग मूलक रही। उपलब्ध वाङ्मय से ज्ञात होता है कि ध्यान-साधना वस्तुतः श्रमण परम्परा की तपश्चर्या का ही एक रूप था। लगभग सभी श्रमण धारार्ये अपनी साधना-विधियों में समाधि और ध्यान-साधना को महत्त्व देती थीं। श्रमण और तापस की दैनिक चर्या में तप का महत्त्वपूर्ण स्थान था। 'ऋषिभाषित सूत्र' में गर्दभाल (दगभाल) के अध्ययन में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि जो स्थान शरीर में मस्तक का है, वृक्ष के लिए जड़ का है वही स्थान समस्त मुनिधर्म में ध्यान का है।²⁰ इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्रमण परम्परा मूलतः ध्यान - साधना मूलक रही। गर्दभाल ऋषिवर और उनके शिष्य संजय का उल्लेख 'उत्तराध्ययन सूत्र' के 18 वें अध्याय में मिलता है। वहाँ उनकी साधना का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि वे तपोधनमुनि काम्पिल्य नगर के केशव उद्यान में स्वाध्याय और ध्यान से युक्त होकर धर्मध्यान की साधना करते थे। इससे यह स्पष्ट है कि गर्दभाल ऋषि की जो साधना पद्धति थी उसमें ध्यान का महत्त्वपूर्ण स्थान था।²¹

'ऋषिभाषित' में गर्दभाल ऋषि के द्वारा ध्यान के महत्त्व को स्पष्ट करना और उनके शिष्य संजय के द्वारा ध्यान की साधना में निरत रहना यह सूचित करता है कि श्रमण साधना में ध्यान एक महत्त्वपूर्ण पक्ष था। जैन और बौद्ध ग्रन्थों में जहाँ ऋषियों की दिनचर्या का उल्लेख है वहाँ उनकी ध्यान-साधना का उल्लेख अवश्य

20. इसिभासियाइं 22/14

सीसं जहा सरीरस्स, जहा मूलं दुमम्म य।

सव्वस्स साधुधम्मस्स, तहा ज्ञाणं विधीयते ॥

21. उत्तराध्ययन सूत्र 18.4

अह केसरम्मि उज्जाणे, अणगारे तवोधणे।

सज्झायज्झाणं संजुत्ते, धम्मज्झाणं झियायइ ॥

है। जैन परम्परा में 'उत्तराध्ययन सूत्र' में मुनि की दिनचर्या का उल्लेख किया गया है। उसमें स्पष्ट रूप से यह बताया गया है कि मुनि दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करें, द्वितीय प्रहर में ध्यान, तृतीय प्रहर में भिक्षाचर्या और चतुर्थ प्रहर में फिर स्वाध्याय करें। इसी प्रकार रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर में ध्यान, तृतीय प्रहर में निद्रा एवं चतुर्थ प्रहर में पुनः स्वाध्याय करें। इस प्रकार श्रमण साधकों और तापसों में ध्यान-साधना की प्रवृत्ति मुख्य थी। भगवान महावीर और भगवान बुद्ध ने अपने साधनात्मक जीवन का अधिकांश समय ध्यान में ही व्यतीत किया था। वस्तुतः श्रमण साधना या तापस साधना में ध्यान को सर्वोपरि माना गया है। क्योंकि श्रमण परम्परा में आत्मविशुद्धि का जो मार्ग प्रतिपादित है उसके लिए स्वाध्याय और ध्यान दो आवश्यक तत्त्व माने गये हैं। 'उत्तराध्ययन सूत्र' में यह प्रश्न किया गया है कि कायोत्सर्ग (ध्यान) से जीव को क्या प्राप्त होता है? इसके उत्तर में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि कायोत्सर्ग के द्वारा आत्मा अतीत और वर्तमान के दोषों की विशुद्धि करता है और इस विशुद्धि के द्वारा अन्त में वह प्रशस्त ध्यान को प्राप्त हो कर सुखपूर्वक विचरण करता है।²² इससे यही फलित होता है कि आत्मविशुद्धि और आत्मशान्ति का यदि कोई सफल मार्ग हो सकता है तो वह मार्ग ध्यान का ही है।

आत्मविशुद्धि और समता की साधना

श्रमण परम्परा का मुख्य लक्ष्य आत्मविशुद्धि रहा है। आत्मविशुद्धि से तात्पर्य है - चित्त में उठने वाली इच्छाओं, आकांक्षाओं, कषायों और वासनाओं के संस्कारों को समाप्त करना। संक्षेप में कहा जाय तो राग और द्वेष जन्म तनावों से आत्मा को मुक्त रखना ही उसकी विशुद्धि है। राग और द्वेष के निमित्त से हमारी चेतना का समत्व भंग होता है और चित्त में तनाव उत्पन्न होता है। वस्तुतः तनाव से मुक्त और समता से संयुक्त आत्मा की अवस्थिति ही श्रमण साधना का मुख्य लक्ष्य है। दूसरे शब्दों में कहें तो श्रमण साधना का मुख्य लक्ष्य विकल्पजाल से तनावयुक्त बने हुए चित्त को निर्विकल्पता की ओर ले जाना है। विकल्पों की मूल कारण इच्छाएँ और आकांक्षाएँ हैं। यदि चित्त को निर्विकल्प बनाना है तो इच्छाओं और आकांक्षाओं से मुक्त होना होगा। इच्छाओं और आकांक्षाओं से मुक्त होने के लिए राग-द्वेष को समाप्त करना

होगा। वस्तुतः राग और द्वेष में भी राग, आसक्ति या तृष्णा का तत्त्व ही प्रधान होता है। द्वेष का जन्म तो राग की पूर्ति में होने वाली बाधाओं के कारण होता है।

भारतीय संस्कृति की तीनों धाराओं जैन, बौद्ध और हिन्दू का मुख्य लक्ष्य किसी-न-किसी रूप में एक ही रहा है। जैन साधना का लक्ष्य है - व्यक्ति राग और द्वेष से मुक्त हो। क्योंकि उसमें राग और द्वेष को ही कर्मबन्ध अथवा आत्मा की अविशुद्धि का कारण माना गया है। बौद्ध दर्शन में कहा गया है कि चित्त की विशुद्धि या निर्विकल्पता के लिए तृष्णा से मुक्त होना आवश्यक है। हिन्दू परम्परा में आत्मा की विशुद्धि के लिए आसक्ति का परित्याग आवश्यक माना गया है।

‘गीता’ के अनुसार आसक्त चित्त की सभी क्रियाएँ बन्धन का कारण होती हैं और अनासक्त चित्त की सभी क्रियाएँ विमुक्ति की दिशा में ले जाती हैं। इसका तात्पर्य यही है कि आत्मविशुद्धि अथवा समता की साधना के लिए चित्तवृत्ति को राग-द्वेष, तृष्णा या आसक्ति से विमुक्त बनाना है।

निर्विकल्पता की उपलब्धि का माध्यम

चित्त को निर्विकल्प बनाने के लिए उसकी एकाग्रता आवश्यक होती है। क्योंकि जब तक चित्त में इच्छाएँ, आकांक्षाएँ और वासनाएँ उठती रहती हैं तब तक वह एकाग्र नहीं हो पाता। इन इच्छाओं, वासनाओं और आकांक्षाओं के वैविध्य के कारण चित्त अनेक भागों में बँट जाता है। ‘आचारांग सूत्र’ में कहा गया है कि इच्छाओं और आकांक्षाओं से युक्त चित्त विभिन्न छेदों वाली चलनी के समान होता है। यह बिखरा हुआ चित्त ही हमारी अशान्ति और तनाव का कारण होता है। इससे ही आत्मा की समता भंग होती है। जितनी आकांक्षाएँ और इच्छाएँ होती हैं, चित्त उतने ही रूप ले लेता है अतः चित्त को एकाग्र करने की आवश्यकता है। यद्यपि कभी-कभी वासनागत चित्त भी एकाग्र हो जाता है किन्तु उसकी इस एकाग्रता में निर्विकल्पता नहीं होती है। जैन परम्परा में आर्त ध्यान में भी कभी-कभी चित्त की एकाग्रता देखी जाती है किन्तु वह एकाग्रता समता या आत्म-विशुद्धि में सहायक नहीं होती। अतः एकाग्रता के साथ-साथ निर्विकल्पता आवश्यक है। निर्विकल्पता की साधना के लिए चित्त को ऐसे विषय पर केन्द्रित किया जाता है

जिससे उसमें तनाव उत्पन्न न हो। इसी निर्विकल्पता की सिद्धि हेतु की जाने वाली चित्त की एकाग्रता को ध्यान कहा जाता है।

विभिन्न श्रमण परम्पराओं में ध्यान

ध्यान की प्रारम्भिक साधना हेतु श्रमण परम्परा में तीन तत्त्व आवश्यक माने गये हैं - (1) शारीरिक स्थिरता, (2) वाणीगत मौन और (3) चित्त को विकल्पों से दूर करने के लिए किसी विषय या वस्तु पर उसे केन्द्रित करना। चित्त की एकाग्रता को विकसित करने के लिए ध्यान की विभिन्न विधियाँ खोजी गई हैं। किसी बिन्दु विशेष पर ध्यान को केन्द्रित करने से त्राटक ध्यानविधि का विकास हुआ। 'आचारांग सूत्र' के नवम अध्याय में भगवान महावीर के द्वारा इस प्रकार की ध्यान साधना का उल्लेख है। उसमें कहा गया है कि वे तीर्थ की भित्ति पर दृष्टि को केन्द्रित करके ध्यान करते थे।²³ ध्यान के दूसरे रूप का उल्लेख श्वास पर चित्त को केन्द्रित करने की विधि के रूप में मिलता है। प्राचीन जैन ग्रन्थों में श्वासोच्छ्वास पर ध्यान केन्द्रित करने को कहा गया है। इसे ही बौद्ध परम्परा में आनापानसती के रूप में बताया गया है। वर्तमान में भी विपश्यना का प्रारम्भिक बिन्दु आनापानसती है। आचारांग में ध्यान का एक तीसरा रूप शारीरिक क्रिया के अतिरिक्त चित्त को एकाग्र करना है। ध्यान का यह रूप ही आगे चलकर लोकविपश्यना या लोकप्रेक्षा के रूप में विकसित हुआ। जैन टीकाकारों ने 'लोक' का एक अर्थ शरीर भी माना है। इस प्रकार त्राटक साधना के अतिरिक्त श्वास प्रेक्षा, शरीर प्रेक्षा और विचार प्रेक्षा के संकेत भी प्राचीन जैन आगमों में और बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में उपलब्ध होते हैं।

रामपुत्र की ध्यान-साधना और उसका बौद्ध और जैन परम्परा पर प्रभाव

श्रमण परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। श्रमण साधक दैनिक जीवनचर्या में ध्यान साधना को विशेष महत्त्व देते थे। महावीर और बुद्ध के पूर्व भी अनेक ऐसे श्रमण साधक थे जो ध्यानसाधना की विशिष्ट विधियों के न केवल ज्ञाता थे, अपितु अपने सान्निध्य में अनेक साधकों को ध्यान की उन विधियों का अभ्यास भी करवाते थे। इन आचार्यों की ध्यान-साधना की अपनी-अपनी विशिष्ट विधियाँ थीं, ऐसे संकेत

23. आचारांग सूत्र 1.9.45

भी मिलते हैं। बुद्ध अपने साधनाकाल में ऐसे ही एक ध्यानसाधक श्रमण आचार्य रामपुत्र के पास स्वयं ध्यानसाधना के अभ्यास के लिए गये थे। रामपुत्र के सम्बन्ध में त्रिपिटक साहित्य में यह भी उल्लेख है कि भगवान बुद्ध ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् भी अपनी साधना की उपलब्धियों को बताने हेतु उनसे मिलने के लिए उत्सुक थे, किन्तु तब तक उनकी मृत्यु हो चुकी थी।²⁴ इस प्रकरण से इस सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि बौद्ध परम्परा में विपश्यना की जो विधि आज तक सुरक्षित रही है वह रामपुत्र से पूर्णतः अप्रभावित रही होगी। यह तो स्वीकार किया जा सकता है कि बौद्ध परम्परा में इस विधि में कुछ परिष्कार हुए होंगे किन्तु विपश्यना की यह विधि बौद्ध परम्परा की मौलिक विधि हो, यह कहना कठिन है। उसके समरूप उल्लेख आचारांग और अन्य जैन आगमों में भी मिलते हैं।

इससे यह फलित होता है कि रामपुत्र की यह विधि जैन परम्परा में समानांतर रूप से विकसित होती रही है। आगम साहित्य में रामपुत्र का उल्लेख हमें तीन स्थानों पर मिलता है। सर्वप्रथम **सूत्रकृतांग**²⁵ में रामपुत्र का उल्लेख है और उनका ऐसे ऋषि के रूप में उल्लेख है जो आचार के स्तर पर निर्ग्रन्थ परम्परा से भिन्न होते हुए भी मान्य रहे हैं। रामपुत्र का दूसरा उल्लेख '**अंतगडदशाओ**'²⁶ में रामपुत्र नामक अध्ययन के रूप में मिलता है। किन्तु खेद है कि वर्तमान '**अंतगडदशाओ**' में यह अध्ययन अनुपलब्ध है। किन्तु '**स्थानांग सूत्र**' में दस दशाग्रन्थों का उल्लेख करने के पश्चात् प्रत्येक ग्रन्थ के अध्यायों की सूची दी गई है। वहाँ '**अन्तगडदशाओ**' के एक अध्ययन का शीर्षक रामपुत्र है। विद्वानों का ऐसा मानना है कि '**अन्तगडदशाओ**' की प्राचीन विषय वस्तु में परिवर्तन हुआ है और किन्हीं अज्ञात कारणों से वह अध्ययन वहाँ से विलुप्त हो गया। रामपुत्र का तीसरा उल्लेख **ऋषिभाषित**²⁷ में मिलता है। ऋषिभाषित में रामपुत्र को अर्हत् ऋषि कहा गया है। मात्र यही नहीं उनके उपदेश को भी सार रूप में प्रस्तुत किया गया है। वे कहते हैं कि "मैं असमाधित अशुभलेश्या वाला हूँ,

24. Dictionary of Pali Proper Names, By J. P. Maial Sekhar Vol. 1 P. 382-83

25. सूत्रकृतांग सूत्र 1.3.4.2-3

26. स्थानांग 10.133 इसमें अन्तकृतदशा की प्राचीन विषयवस्तु का उल्लेख है।

27. इसिभासियाई अध्याय 23

गण्ड - राग - द्वेषमय दुःखमरण रूपी गाँठ (ब्रण) से पीड़ित हूँ। दुःखमरण के ग्रन्थिबन्धन से जीर्ण (शिथिल) हो रहा हूँ। इस ग्रन्थि का मैं नाश करूंगा, दुःख-मरण का नाश करके रहूंगा। अतः दुःख-मृत्यु रूपी गाँठ का नाश करके ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आसेवना करूंगा। ज्ञान से जानकर, दर्शन से देखकर, संयम से संयमित होकर, तप से अष्टविध कर्मरज मैल को झड़का कर, आत्मा को शोधित कर अनादि-अनन्त दीर्घमार्ग वाले चतुर्गति रूप संसार की अटवी को पार कर शिव, अचल, अरुज, अक्षय, अव्याबाध, पुनः जन्मरहित सिद्धगति नामक स्थान को प्राप्त कर भविष्य में शाश्वत काल पर्यन्त मैं वहाँ स्थिति करूंगा।'²⁸

‘ऋषिभाषित’ में इस उपदेश को देखकर स्पष्ट रूप से यह लगता है कि रामपुत्र के विचारों का जैन परम्परा के साथ अत्यन्त नैकदृय था। जैन परम्परा के समान उन्होंने भी अष्टकर्म का उल्लेख किया है। अष्टकर्म से विमुक्ति के बाद सिद्ध अवस्था के स्वरूप का उनका चित्रण भी जैन परम्परा के ‘शक्रस्तव’ के पाठ से साम्य रखता है। रामपुत्र के इस अध्ययन के पूर्व वाले अध्ययन में तो ध्यान की महिमा का विस्तृत उल्लेख हुआ है और यह बताया गया है जिस प्रकार शरीर में सिर का स्थान महत्त्वपूर्ण है उसी प्रकार साधना में ध्यान का स्थान महत्त्वपूर्ण है।²⁹

ऐसा लगता है कि वर्तमान युग में विपश्यना की जो पद्धति प्रचलित है, उसे दृष्टिगत रखते हुए जैन परम्परा में जैन आगम साहित्य को आधार बनाकर जो प्रेक्षाध्यानविधि का विकास हुआ है वह विधि अपने मूल रूप में कहीं-न-कहीं भारतीय श्रमण परम्परा के महाश्रमण रामपुत्र की ध्यान-साधना विधि का ही आंशिक रूप से संस्कारित स्वरूप है। यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि वर्तमान में ऋषिभाषित में उपलब्ध एक अध्याय को छोड़कर जैन और बौद्ध साहित्य में अथवा उपनिषद्-साहित्य में रामपुत्र की ध्यान साधना विधि का विशेष विवरण देने वाला अंश या कोई स्वतंत्र ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। फिर भी जो संकेत उपलब्ध हुए हैं उनके आधार पर निर्विवाद रूप में यह नहीं माना जा सकता है कि जैन और बौद्ध परम्परा में जो ध्यान साधना विधियाँ रही हैं वे रामपुत्र की ध्यानसाधना विधि से पूर्णतः अप्रभावित रही हों, अग्रिम पृष्ठों

28. वही, अ. 23

29. वही, अ. 22.14

में यह विवेचन करेंगे कि जैन और बौद्ध परम्पराओं में इस साधना विधि का विकास कैसे हुआ।

जैन परम्परा में ध्यान और तत्संबंधी साहित्य

जैन धर्म मुख्य रूप से साधनापरक धर्म है। उसके साहित्य में आचार पक्ष की ही प्रमुखता देखी जाती है। जैन आगम साहित्य को मुख्य रूप से चार अनुयोगों में (विभागों में) वर्णित किया गया है : द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, धर्मकथानुयोग, चरणानुयोग।

ज्ञान और साधना का पक्ष मुख्य रूप से चरण-करणानुयोग के अन्तर्गत आता है। जैन आगमों में आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, भगवती, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि ग्रन्थ चरण - करणानुयोग से संबंधित माने गये हैं। इन ग्रन्थों में यथाप्रसंग ध्यान और कायोत्सर्ग का विवेचन उपलब्ध है। वैसे ध्यान और कायोत्सर्ग जैन परम्परा में अभ्यन्तर तप के अन्तर्गत आते हैं। इन ग्रन्थों में और विशेष रूप से उन प्रसंगों में जहाँ अभ्यन्तर तपों का वर्णन हुआ है वहाँ ध्यान और कायोत्सर्ग संबंधी विशेष चर्चा हुई है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि मूल आगमों में ध्यान और कायोत्सर्ग को अलग-अलग बताया है। वस्तुतः जैन परम्परा में ध्यान चित्त की एकाग्रता और निर्विकल्पता की साधना है तो कायोत्सर्ग देह के प्रति निर्ममत्व की साधना है। चित्त के विकल्पों के मूल में कहीं-न-कहीं ममत्व का भाव निहित होता है। अतः निर्ममत्व की साधना के बिना निर्विकल्पता की साधना संभव नहीं है। इस संबंध में गहन विवेचना की दृष्टि से आगमों की व्याख्या के रूप में लिखे गये निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका ग्रन्थ महत्वपूर्ण हैं। निर्युक्ति साहित्य में विशेष रूप से 'आवश्यक निर्युक्ति' इस संबंध में विशेष प्रकाश डालती है। निर्युक्तियों के अतिरिक्त भाष्य, चूर्णि और टीका साहित्य में भी ध्यान और कायोत्सर्ग संबंधी विवेचन उपलब्ध होते हैं जिनकी चर्चा आगे यथाप्रसंग की जाएगी।

यहाँ जैन परम्परा के ध्यान संबंधी साहित्य का सूचनात्मक आकलन प्रस्तुत है -

सर्वप्रथम आचारांग सूत्र में साक्षीभाव की साधना के रूप में ध्यान - साधना के निर्देश विकीर्ण रूप में प्राप्त होते हैं किन्तु ये संदर्भ जैन परम्परा की प्राचीन ध्यान

पद्धति को जानने के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। 'विपश्यना' और 'प्रेक्षा' इसी के विकसित रूप हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में अभ्यन्तर तप के भेदों का जो उल्लेख उपलब्ध होता है उस पर उत्तराध्ययन की टीकाओं में विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। कायोत्सर्ग को, जो ध्यान का ही एक अग्रिम चरण है, जैन परम्परा में छह आवश्यक कर्तव्यों में माना गया है। अतः आवश्यक सूत्र पर लिखी गई आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यक चूर्णि आदि में इस संबंध में विस्तृत प्रकाश डाला गया है। आवश्यक सूत्र पर अनेक टीकायें लिखी गई हैं, वे सभी कायोत्सर्ग के संबंध में विस्तार से प्रकाश डालती हैं। इसी प्रकार स्थानांग और समवायांग तथा उनकी टीकाओं में भी ध्यान के प्रकार, लक्षणों और आलम्बनों आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है।

आगमों के पश्चात् आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र के नवम अध्याय में ध्यान पर विशेष प्रकाश डाला है, यद्यपि मूल सूत्रों में जो विवेचन है वह स्थानांग और समवायांग के अनुरूप ही है।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का विशेषावश्यक भाष्य यद्यपि षडावश्यक की विवेचना की दृष्टि से ही लिखा गया था किन्तु संयोग से विशेषावश्यक भाष्य सामायिक की विवेचना तक ही सीमित रह गया। संभवतः यही कारण रहा होगा कि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने ध्यान जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर अलग से एक ग्रन्थ की रचना की जो ध्यानशतक - ज्ञाणाज्झयण के नाम से जाना जाता है। संभवतः ध्यान के संबंध में यह प्रथम स्वतंत्र रचना है।

जिनभद्रगणि के इस 'ध्यान शतक' या 'ज्ञाणाज्झयण' से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे जैन परम्परा की ध्यान साधना विधि के एक मर्मज्ञ साधक एवं विवेचक थे।

पूज्यपाद देवन्दि का समाधितंत्र आध्यात्मिक अनुभूतियों का अजस्र स्रोत है। इष्टोपदेश में भी पूज्यपाद ने गहरी डुबकियाँ लगायी हैं। उसे पढ़ने वाला कोई भी व्यक्ति अध्यात्म से तादात्म्य किए बिना नहीं रह सकता। पूज्यपाद योगानुभूति की परम्परा के आदि स्रोत हैं।

आचार्य हरिभद्र सूरि वे पहले मनीषी हैं जिन्होंने योग को एक स्वतंत्र विषय के रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने संस्कृत में योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिन्दु तथा प्राकृत

में योगशतक (जोगसयण) और योग-विंशिका (जोगविहाण वीसिया) नामक ग्रन्थ लिखे। इन ग्रन्थों में अनेक प्रकार से जैनयोग का बड़ा सूक्ष्म विश्लेषण हुआ है, फिर भी रचनाकार को सन्तुष्टि प्राप्त न होने से उन्होंने पातंजल योगसूत्र में वर्णित योग-साधना और उसकी विशेष परिभाषाओं के साथ जैन योग साधना की तुलना की है।³⁰

‘योगबिन्दु’ में योग की भूमिका पर विचार करते हुए अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता, वृत्तिसंक्षय ये पाँच प्रकार बताये। साथ ही योग के अधिकारी के अपूर्वबन्धक, सम्यक्दृष्टि, देशविरति और सर्वविरति ये चार विभाग किये। ‘योगदृष्टिसमुच्चय’ में उन द्वारा निरूपित-आविष्कृत मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कांता, प्रभा एवं परा नामक आठ योगदृष्टियाँ योग के क्षेत्र में निःसन्देह उनके मौलिक चिंतन की देन हैं।³¹

‘योगशतक’ में योग के निश्चय और व्यवहार ये दो भेद किये गये हैं। ‘योगविंशिका’ में धर्मसाधना के लिए की जाने वाली साधना को योग की संज्ञा से अभिहित किया गया है और योग के स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन और अनालम्बन ये पाँच भेद बतलाये हैं।

आचार्य हरिभद्र के पश्चात् आचार्य हेमचन्द्र इस परम्परा में मील के पत्थर सिद्ध हुए। उनके द्वारा प्रणीत योगशास्त्र एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसमें पातंजल योगसूत्र के अष्टांगयोग की तरह श्रमण एवं श्रावक जीवन की आचार-साधना का उल्लेख है। साथ ही इसमें आसन, प्राणायाम आदि का भी वर्णन है। पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान के चार भेदों का भी बड़ा गम्भीर विवेचन किया गया है। पिण्डस्थ ध्यान की उन्होंने पार्थिवी, आग्नेयी, वायवी, वारुणी तथा तत्त्वभू नामक पाँच धारणाओं का प्रतिपादन किया है। इसमें पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु तथा आत्मस्वरूप के आधार पर ध्यान करने का बड़ा विलक्षण विश्लेषण है।³²

‘ज्ञानार्णव’ आचार्य शुभचन्द्र की प्रसिद्ध रचना है। इसमें प्राणायाम और

30. योगबिन्दु 419-420

31. योगदृष्टिसमुच्चय 21.186

32. योगशास्त्र 7.10.25

ध्यान के स्वरूप और भेद, पिण्डस्थ ध्यान की धारणाओं के अतिरिक्त शिवतत्त्व, गरुड़तत्त्व और कामतत्त्व के रूप में ध्यान का गहन निरूपण किया गया है।

आचार्य सोमदेव सूरि ने भी योग के विषय में योगमार्ग ग्रन्थ लिखा है। यशस्तिलकचम्पू के 39 वें और 40 वें कल्प में भी उन्होंने योगविषयक चर्चा प्रशस्त पद्धति से की है।

आचार्य भास्करनन्दि ने अपनी लघुकृति 'ध्यानस्तव' में ध्यान का सुव्यवस्थित व क्रमबद्ध वर्णन किया है। आचार्य सकलचन्द्र ने 'ध्यान दीपिका' की रचना की है लेकिन इस ग्रन्थ के परिशीलन और पर्यवेक्षण से ऐसा प्रतीत होता है कि यह एक संकलनात्मक ग्रन्थ है। इसमें जो अर्द्धभागधी की गाथाएँ आयी हैं वे अधिकांशतः आचार्य हरिभद्रसूरि रचित योगशतक से ली गई हैं। संस्कृत के कतिपय श्लोक आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव व हेमचन्द्र के योगशास्त्र से उद्धृत हैं। इस ग्रन्थ में ध्यान की आवश्यक भूमिका के रूप में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य भावनाओं का वर्णन है। तत्पश्चात् अनित्यादि द्वादश भावनाओं का विवेचन है।

जैन साहित्य में योगप्रदीप नामक कृति सुप्रसिद्ध है। इस लघु कृति में रचयिता ने योग जैसे गंभीर विषय पर संक्षेप में जो प्रकाश डाला है वह वास्तव में गागर-में-सागर भरने जैसा उपक्रम है। यह सारभूत संग्राहक कृति है। इसका मुख्य विषय आत्मस्वरूप का दर्शन या साक्षात्कार है। आत्मा अपने शुद्ध परमात्मभाव के रूप में किस प्रकार परिणत हो सकती है तथा कैसे सर्वसंकल्पवर्जित परमात्मपद को प्राप्त कर सकती है इस विषय का प्रस्तुत कृति में विशेष रूप से निरूपण हुआ है। उपाध्याय यशोविजय जी ने अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद्, योगावतारबत्तीसी, पातंजलयोगसूत्रवृत्तिः, योगविंशिका टीका, योगदृष्टि की सञ्ज्ञाय आदि ग्रन्थों का प्रणयन किया। अध्यात्मसार में जैन परम्परा में विश्रुत ध्यान के विविध भेदों का समन्वयात्मक वर्णन है। अध्यात्मोपनिषद् में योगवासिष्ठ और तैत्तिरीय उपनिषद् के महत्त्वपूर्ण उद्धरण देकर जैन दर्शन के साथ तुलना की गयी है। योगावतारबत्तीसी में पातंजलयोगसूत्र में जो योगसाधना का वर्णन है, उसका जैनदृष्टि से विवेचन किया गया है। उन्होंने जैन दृष्टि से पातंजल योगसूत्र पर भी एक लघुवृत्ति लिखी है। अध्यात्मयोगी आनन्दघन कृत 'चौबीसी' व उनके स्फुट पदों में तथा योगिराज श्रीमद्

राजचन्द्र के साहित्य में भी ध्यान संबंधी तत्त्वों पर चिन्तन किया गया है।

आचार्य तुलसी के 'मनोनुशासनम्' में जैन योग का एक नयी शैली से प्रतिपादन हुआ है।

वर्तमान में प्रचलित विपश्यना ध्यानसाधना, प्रेक्षाध्यान साधना, समीक्षण ध्यानसाधना, ध्यानयोग व ध्यानमुद्रा पर भी अग्रिम अध्यायों में विस्तृत चर्चा करेंगे।

ब्राह्मण संस्कृति

सांस्कृतिक दृष्टि से भारत में मुख्य रूप से दो धाराएँ संप्रवाहित हुईं, जिन्हें ब्राह्मण और श्रमण के नाम से अभिहित किया जाता है। ब्राह्मण शब्द अपने मूल अर्थ में जातिवाचक नहीं है। यह ब्रह्म से सम्बद्ध है। ब्रह्म शब्द का प्रारम्भिक अर्थ यज्ञ है, यज्ञ का संबंध वेदों से है। यज्ञ संबंधी वैदिक कर्मकाण्ड से जब मानव मन को संतोष नहीं मिला तो उसने वेदान्त का विकास किया और ब्रह्म शब्द को उस परमसत्ता से जोड़ा जो सम्पूर्ण अस्तित्व के मूल में निहित है।

वेद का अर्थ अनुभूति या ज्ञान है। वेदों से ही वेदान्त के ज्ञान - मार्ग का विकास हुआ। इस प्रकार कर्मकाण्ड ज्ञानमार्ग में रूपान्तरित हुआ और कहा गया 'ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः' ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती। वेदान्त का यही मुख्य स्वर है। कहा गया है -

श्लोकार्थेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः ।

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः ॥

इस श्लोक का आशय यह है कि ब्रह्म, जीव तथा अविद्या या माया मुख्यतः ये तीन तत्त्व हैं। ब्रह्म परात्पर, परम ज्योतिर्मय, शक्तिमय, आनन्दमय सर्व व्यापक तत्त्व है। जीव वास्तव में ब्रह्म ही है, किन्तु अविद्या के कारण वह अपने को पृथक् मानता है।

वेदान्त में एक उदाहरण दिया गया है - अंधकार का समय है। एक व्यक्ति मार्ग पर चल रहा है, मार्ग में एक रस्सी पड़ी है, उसे ठीक-ठीक दिखाई न देने के कारण वह सर्प प्रतीत होती है। उसके कदम वहीं रुक जाते हैं। वह सर्प के भय से

आगे नहीं बढ़ता। ज्योंही अँधेरा मिट जाता है, प्रकाश हो जाता है उसे साफ-साफ यह दिखाई देने लगता है कि वह तो भ्रमवश रस्सी को साँप समझ रहा था। वह झट से आगे बढ़ जाता है। यही बात जीव के लिए है। जिस प्रकार रज्जु में सर्प की भ्रान्ति मिट जाने पर पथिक आगे की ओर बढ़ने लगता है उसी प्रकार अविद्या, अज्ञान के मिटने पर जीव का अपने को ब्रह्म से भिन्न मानने का भ्रम दूर हो जाता है और वह उस ओर बढ़ने लगता है।

ऐसा कहा जाता है कि जहाँ व्यक्ति को किसी विषय का यथार्थ बोध हो जाता है तो अनिवार्यतः उसकी क्रिया तदनु रूप बन जाती है, अन्यथा वह ज्ञान केवल कथन या भाषा तक ही सीमित होता है, अन्तरात्मा को नहीं छूता है। जो आत्मा को, आत्मिक विकास को, आध्यात्मिक सुख को परम श्रेयस्कर जाने, माने, पर यदि उसके दैनंदिन क्रियाकलाप में भौतिक सुख-समृद्धि की वांछनीयता का उद्यम दिखाई दे तो उसका आध्यात्मिक ज्ञान कथनी से आगे नहीं जाता। ज्ञान की सार्थकता इसी में है कि वह क्रियान्वित भी हो। अतः उससे भी एक साधना विधि का विकास हुआ।

वैदिक परम्परा में ध्यान विधि

श्रमण परम्परा की ध्यान साधना विधि से वैदिक परम्परा भी अप्रभावित नहीं रही। डॉ. सागरमल जैन आदि कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक मानना है कि जिस परम्परा का मूल उत्स उपनिषदों में है वे उपनिषद् मूलतः श्रमण परम्परा के ही ग्रन्थ हैं और श्रमण और वैदिक परम्परा के अधिकाधिक समन्वित रूप हैं। कठोपनिषद् में कहा गया है कि यह आत्मा सत्य, तप, सम्यक् ज्ञान और ब्रह्मचर्य से प्राप्त होती है। इस शरीर के अन्तर्गत जो ज्योतिर्मय शुद्ध आत्म तत्त्व रहा हुआ है उसको क्षीणदोष अर्थात् - विकल्प और वासनाओं से रहित चित्त वाले यतिगण प्राप्त करते हैं।

सत्येन तपसा लभ्यश्च एष आत्मा

सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यं, अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ।

इस प्रकार उपनिषद् काल से ही हिन्दू परम्परा में जिस साधनाविधि का विकास हुआ वह किसी- न-किसी रूप में श्रमणधारा से प्रभावित है। भारतीय श्रमण धारा

का वैशिष्ट्य यह रहा है कि उसने बाह्य क्रियाकाण्डों के स्थान पर आध्यात्मिक विशुद्धि हेतु जिस तप और ध्यान साधना का विकास किया था, वे तत्त्व हिन्दू परम्परा में भी यथावत् स्वीकृत रहे हैं।

वैदिक परम्परा में अध्यात्म और ज्ञान मार्ग के प्रस्तोता के रूप में वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों और आरण्यकों के बाद उपनिषदों का क्रम आता है। वेदों में स्पष्ट रूप से किसी ध्यान विधि का उल्लेख नहीं मिलता, यद्यपि अनेक स्थानों पर उनमें योग शब्द का उल्लेख हुआ है; किन्तु योग शब्द सर्वत्र ही योगसाधना या ध्यानसाधना का सूचक हो, ऐसा नहीं माना जा सकता। अनेक संदर्भों में योग शब्द युक्ति या जोड़ के अर्थ में आया है। कुछ वेद मंत्र अवश्य ऐसे हैं जिनमें योग शब्द साधना का वाचक प्रतीत होता है। कुछ प्रसंगों में चित्तवृत्तियों की एकाग्रता अथवा उन्हें अन्तर्मुखी बनाने की प्रार्थना के रूप में भी योग शब्द प्रयुक्त हुआ है। सामान्यतया वेद मूल में कर्मकाण्डपरक ही अधिक रहे हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ भी मूलतः यज्ञ-याग संबंधी कर्मकाण्डों से भरे हुए हैं।

आरण्यकों में अन्तर्मुखी साधना के कुछ सूत्र अवश्य उपलब्ध होते हैं। इनका वास्तविक अर्थ में विकास उपनिषदों में ही देखा जाता है। उपनिषदों को हम कालक्रम के आधार पर दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। प्राचीन उपनिषद् और परवर्ती उपनिषद्। यद्यपि प्राचीन उपनिषदों यथा ईश, केन, कंठ, मुण्डक, बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, एतरेय, छान्दोग्य, श्वेत आदि में अध्यात्मपरक अनेक सूत्र उपलब्ध होते हैं, फिर भी ध्यान साधना विधि का स्पष्ट उल्लेख कहीं भी प्राप्त नहीं होता। ये उपनिषद् मूलतः इन्द्रिय-निग्रह एवं मनोनिग्रह, आत्मानुभूति एवं आत्मस्वरूप आदि की चर्चा तक ही सीमित हैं। फिर भी इन्द्रिय और मन से ऊपर उठकर आत्मानुभूति की दिशा में जो साधनापरक संदर्भ इनमें उपलब्ध हैं वे किसी-न-किसी रूप में ध्यानसाधना से संबंधित माने जा सकते हैं।

प्राचीन उपनिषदों में छान्दोग्योपनिषद् में यह कहा गया है कि हृदय की एक सौ एक नाड़ियाँ हैं उनमें से एक मस्तक की ओर जाती है। उसके द्वारा ऊपर की ओर जाने वाला जीव अमरत्व को प्राप्त होता है। शेष नाड़ियाँ उत्क्रमण का कारण होती हैं।³³ इस प्रसंग में ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषद् काल में चित्तवृत्तियों को एकाग्र

करने के रूप में ध्यान की कोई प्रक्रिया रही होगी।

‘छान्दोग्य’ का उपर्युक्त प्रसंग कहीं-न-कहीं षट्चक्र का भेदन करते हुए ब्रह्मरन्ध्र में स्थित होने की बात अवश्य करता है।

प्राचीन उपनिषदों में श्वेताश्वतरोपनिषद् ऐसा उपनिषद् है जिसमें ध्यान साधना के स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध हैं। उसके प्रथम अध्याय के 14वें श्लोक में कहा गया है³⁴ कि अपने देव को अरणि और प्रणव उत्तराग्नि करके ध्यानरूप मन्थन के अभ्यास से गूढ़ रूप से रहे हुए परमात्मा को देखें।

इसी प्रकार द्वितीय अध्याय के आठवें-नौवें श्लोक में ध्यान साधना की एक समग्र विधि का निर्देशन हुआ है।³⁵ उनमें कहा गया है कि सिर, ग्रीवा और वक्षस्थल इन तीनों को उन्नत रखते हुए शरीर को सीधा रखकर मन के द्वारा इन्द्रियों को हृदय में सन्निविष्ट कर विद्वान् ओंकार रूप नौका के द्वारा सम्पूर्ण प्रवाहों को पार कर जाता है। इस प्रकार उपनिषदों में श्वेताश्वतरोपनिषद् स्पष्ट रूप से न केवल ध्यान का उल्लेख करता है अपितु ध्यानविधि का भी निर्देश करता है।

परवर्ती उपनिषदों शीर ‘ध्यानबिन्दु उपनिषद्’ एक ऐसा उपनिषद् है जिसकी विषयवस्तु ध्यान से संबंधित है। इसमें न केवल ध्यान का विवेचन हुआ है अपितु प्राणायाम आदि का भी विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। यह उपनिषद् यम और नियम को छोड़कर आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन छह अंगों का उल्लेख करता है।³⁶ साधना के इन छह अंगों का उल्लेख न केवल ध्यानबिन्दूपनिषद् में हुआ है अपितु अमृतनादोपनिषद् में भी मिलता है।³⁷ इसी प्रकार क्षुरीयोपनिषद् में भी इन्हीं षड्भागों का विवेचन उपलब्ध है। इससे ऐसा लगता है कि

34. श्वेताश्वतरोपनिषद् 1.14

35. वही, 2.8.9

36. ध्यानबिन्दूपनिषद् 4।

आसनं प्राणनिरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।

ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट् ॥

37. अमृतनादोपनिषद्

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽपधारणा।

तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते ॥

पातंजल योगसूत्र में जो अष्टांग योग का उल्लेख है वह या तो इन्हीं उपनिषदों का एक अग्रिम चरण है अथवा इन उपनिषदकारों ने यम और नियम को छोड़कर इन षड्भागों को ही अपना विषय बनाया है।

इन प्रमुख परवर्ती उपनिषदों के अतिरिक्त भी कुछ अन्य उपनिषदों में ध्यान संबंधी उल्लेख मिल जाते हैं किन्तु विस्तार भय से यहाँ उन सबकी चर्चा नहीं कर रहे हैं।

उपनिषदों के पश्चात् स्मृतियों का क्रम आता है। स्मृतियों में मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति में ध्यान संबंधी उल्लेख उपलब्ध होते हैं।

मनुस्मृति में बताया गया है कि प्राणायाम द्वारा शारीरिक दोषों को नष्टकर धारणा के द्वारा पूर्वजन्मार्जित तथा वर्तमान तक के सारे पापों को दूर कर देना चाहिए तथा प्रत्याहार के द्वारा संयोग या संसर्ग प्राप्त होने पर भी उनसे दूर रहकर नवीन दोष या किल्बिष उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए और अधिक देर तक धारणा-ध्यान सम्पन्न हो जाने पर, योगी के अन्तःकरण के सर्वथा शुद्ध हो जाने पर जो जीव के शेष बचे दुर्गुण होते हैं, वे सब नष्ट होकर ऐश्वर्य अर्थात् ईश्वर के सभी गुण उसे प्राप्त हो जाते हैं।³⁸

महर्षि का कथन है कि चित्त की वृत्तियों का सम्यक् निरोधकर ध्यानयोग के द्वारा सूक्ष्म आत्मा को अपने हृदय के अन्तर्गत परमात्मा में अवस्थित देखना चाहिए।³⁹ इसके लिए वेदान्त या आत्म तत्त्व का बार - बार श्रवण, मनन, चिन्तन और समाहित होकर ध्यान करना चाहिए। सारांश यह है कि शरीर के अन्तर्गत परमात्मा को स्थित देखना चाहिए। इसके अधिक सूक्ष्म स्वरूप को स्पष्ट करते हुए महर्षि बतलाते हैं कि मनुष्य के हृदय के अन्तर्गत एक नाडीकन्द है, जहाँ से हिताहितसंज्ञक बहत्तर हजार छोटी-बड़ी नाड़ियाँ निकलकर मनुष्य के सम्पूर्ण शरीर में मन, प्राण, रक्त आदि का संचार करती हैं। उस नाडीकन्द के अन्तर्गत चन्द्रमा एक तेजोमय मण्डल है, जिसके अन्तर्गत सूक्ष्म जीवात्मा निर्वात दीपशिखा के समान स्थित होकर सबका संचालन करता है। उस प्रकाशमय ज्योतिपुञ्ज का योगी को निरन्तर ध्यान करना चाहिए। इससे धीरे - धीरे धारणा, ध्यान एवं समाधि की सिद्धि हो जाती है। योग - साधना द्वारा यह साक्षात्कार सम्पन्न हो जाने पर जीव क्रमशः जीवन्मुक्ति, विदेहस्थिति और कैवल्य

38. मनुस्मृति 6.72

39. याज्ञवल्क्य स्मृति 3.4.64

प्राप्त कर सर्वथा कृतकृत्य हो जाता है और उसका संसार में पुनः आगमन नहीं होता।⁴⁰

महर्षि याज्ञवल्क्य ने योग साधना के शारीरिक प्रकार का भी उल्लेख किया है। तदनुसार किसी एकान्त एवं पवित्र स्थान में कुश, मृगचर्म और उसके ऊपर वस्त्र बिछाकर पद्मासन लगाकर बैठना चाहिए। ठोड़ी को कण्ठकूप में स्थिर कर, जिह्वा को उलटकर तालु में स्थित कर लें तथा होठों को बंद कर लें। दाँतों का परस्पर स्पर्श न करें। इस प्रकार निश्चल बैठकर पैंतालीस बार चुटकी लगाने तक साधक को पूरक, कुम्भक एवं रेचक प्राणायामों का अभ्यास करना चाहिए। सम्पूर्ण इन्द्रियों को उनके विषयों से सर्वथा मुक्तकर चित्त को कहीं भी अन्यत्र नहीं जाने देना चाहिए, इससे वह धारणा एवं ध्यान करने में सक्षम हो जाता है। साधक को अपने चित्त को शुद्ध आत्मा में स्थित करना चाहिए और हृदय में दीपशिखा के तुल्य भगवान के निश्चल रूप का ध्यान करना चाहिए।

पतंजल योग दर्शन में धारणा, ध्यान और समाधि

योगसाधना का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ योगसूत्र है। यह महर्षि पतंजलि द्वारा रचित है, जिसे उन्होंने योग का अनुशासन ही माना है। महर्षि पतंजलि का योगसूत्र समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद तथा कैवल्यपाद नामक चार पादों में विभक्त है। उपनिषदों में भी 'योग' का उल्लेख है। यथा 'तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्' अर्थात् योग वही है जहाँ इन्द्रियाँ स्थिर रूप से साधक के वश में हो जाती हैं, किन्तु इस विषय को एक स्वतंत्र दर्शन के रूप में स्थापित करने का श्रेय महर्षि पतञ्जलि को प्राप्त है।

योग शब्द युज् धातु से - घञ् प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। संस्कृत व्याकरण में युज् धातु के दो अर्थ हैं - संयोग⁴¹ (जोड़ना) एवं समाधि⁴² भारतीय योगदर्शन में योग शब्द दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

प्रायः सभी योगचिन्तकों ने योग का अर्थ समाधि के रूप में किया है। बौद्ध

40. वही, 3.4.108-109

41. रुधादिगणी, 'युज्' धातु, युजिरयोगे, सिद्धान्तकौमुदी (रुधादिगण)

42. दिवादिगणी, 'युज्' युज् समाधिश्चित्तवृत्तिनिरोधः सिद्धान्त कौमुदी (दिवादिगण)

विचारकों ने भी योग का अर्थ समाधि ग्रहण किया है। महर्षि पतंजलि ने योग का अर्थ समाधि किया है अर्थात् चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है।⁴³ इनके ग्रन्थ में योग के आठ अंगों - यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का निर्वचन उपलब्ध है। इनमें प्रथम पाँच बहिरंग तथा अन्तिम तीन अन्तरङ्ग साधन कहे गये हैं। बहिरंग साधन यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार की सहायता से अंतरंग साधन धारणा, ध्यान और समाधि द्वारा निरुद्ध चित्त में अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार होता है।

धारणा, ध्यान एवं समाधि इन तीन योगांगों का अत्यधिक महत्त्व इसलिए है कि साधक या योगी इन्हीं के सहारे दैहिक भाव से छूटता हुआ उत्तरोत्तर आत्मोत्कर्ष या आध्यात्मिक अभ्युदय की उन्नत भूमिका पर आरूढ़ होता जाता है।

पतंजलि ने धारणा का लक्षण करते हुए कहा है - आकाश, सूर्य, चन्द्र आदि देह के बाहरी देश स्थान हैं तथा हृत्कमल, नाभिचक्र आदि भीतरी देशस्थान हैं। इनमें से किसी एक देश में चित्तवृत्ति लगाना धारणा है।⁴⁴

भाष्यकार व्यास देशबन्ध के संबंध में लिखते हैं - नाभिचक्र, हृदयकमल, मस्तक, ज्योतिपुंज, नासिकाग्र, जिह्वाग्र आदि स्थानों पर या किसी बाह्य विषय पर चित्तवृत्ति का टिकाव धारणा है।⁴⁵

व्यास ने अपने भाष्य में चित्तबन्ध के जो आधार बतलाये हैं, उनमें नाभिचक्र और हृदयकमल अभ्यन्तर आधार हैं। ये देह के भीतर स्थित हैं। मस्तक, नासिका का अग्रभाग तथा जिह्वा का अग्रभाग ये देहगत बाह्य आधार हैं। सूर्य, चन्द्र आदि प्रकाशपुंज केहातिरिक्त बाह्य आधार हैं।

निष्कर्ष यह है कि चित्त को किसी एक ध्येय पर एकाग्र करना ही धारणा है⁴⁶ और योगसाधना की दृष्टि से यह आवश्यक तत्त्व है, क्योंकि एकाग्रता के अभाव

43. पातंजल योगदर्शन 1.2

44. वही

45. व्यास भाष्य पृ. 277

46. (क) सद्दृष्टि द्वात्रिंशिका 24.18 (ख) द्वा. द्वा. पत्र संख्या 149 चित्तस्य धारणादेशे प्रत्ययस्यैकतानता।

में समाधि की पूर्णता प्राप्त नहीं हो सकती।

पातंजलि ने ध्यान का लक्षण बताते हुए लिखा है - “तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्”⁴⁷ उस देश विशेष में, जिसमें साधक ने धारणा को सिद्ध किया है, चित्त का निरन्तर सदृशप्रवाह ही ध्यान कहा जाता है। एकतानता से तात्पर्य है चित्त की एकाग्रता, ऐसा वाचस्पति मिश्र का मत है⁴⁸, भाष्यकार ने भी वृत्त्यन्तर से अबाधित सदृश प्रवाह को ही ध्यान माना है।⁴⁹

जिस प्रकार ध्यानावस्था में चित्त की पूर्ण एकाग्रता धारणा पर विजय प्राप्त किये बिना असंभव बतायी गयी है उसी प्रकार अन्तिम योगांग समाधि के लिए ध्यान पर विजय प्राप्त करना भी साधक के लिए अनिवार्य है।

पातंजल योग में व्याख्यात धारणा, ध्यान और समाधि का जैनयोगसम्मत ध्यान में समावेश हो जाता है।

चित्त की एकरूपता / एकाग्रता / स्थिरता हेतु चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध अपेक्षित है। वृत्तियों के प्रकारों के बारे में योगसूत्र में उल्लेख है। (वृत्तयः पञ्चतव्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः) वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं, इनमें कोई क्लिष्ट होती है, जैसे राग-द्वेषादि और जो अविद्या आदि पाँचों क्लेशों की नाशक और गुणाधिकार की विरोधी विवेक ख्यातिरूप वृत्ति होती है, वह अक्लिष्ट कहलाती है। पाँच वृत्तियों के नाम हैं⁵⁰ प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति।

जिनके द्वारा मनुष्य अनेक प्रकार का ज्ञान अर्जित करता है, वे प्रमाण हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द आदि प्रमाण कहलाते हैं। मिथ्याज्ञान विपर्यय कहलाता है। विविध कल्पनाओं को विकल्प कहा जाता है। नींद निद्रा है तथा स्मृति स्मरण है, जो प्रमाणादि चारों वृत्तियों से प्रभावित रहती हैं।⁵¹ इन वृत्तियों के अतिरिक्त अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि पाँच क्लेशों के निरोध का भी वर्णन

47. योगसूत्र 3.2

48. एकतानतेकाग्रता तत्त्ववैशारदी पृ. 279

49. व्यास भाष्य पृ. 279 (सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तेण परामृष्टो ध्यानम्।)

50. पातंजलयोगदर्शन 1.6

51. वही, 1.10

किया गया है।⁵²

समस्त वृत्तियों और क्लेशों के निरोध के लिए यहाँ दो साधन व्यवहृत हुए हैं - अभ्यास और वैराग्य।⁵³ वैराग्य दशा में भी कभी मन बहिर्मुखी हो सकता है, किन्तु निरन्तर अभ्यास से वह अन्तर्मुखता की ओर मुड़ जाता है।⁵⁴ मन की स्थिरता का बार-बार प्रयास अभ्यास⁵⁵ तथा लौकिक-अलौकिक विषयों के प्रति ममत्व का न होना वस्तुतः वैराग्य कहलाता है।⁵⁶

ध्यान प्रक्रिया से अभ्यास और वैराग्य सधता है। वास्तव में, विषयी मन को निर्विषय बनाना ध्यान की उच्चतम अवस्था है।⁵⁷

वह ध्यान ही समाधि हो जाता है, उस समय केवल ध्येय स्वरूप का ही भान होता है और अपनी वृत्तियों का अभाव हो जाता है। ध्यान करते-करते जब योगी का चित्त ध्येयाकार को प्राप्त हो जाता है और वह स्वयं भी ध्येय में तन्मय-सा बन जाता है, ध्येय से भिन्न अपने आप का ज्ञान उसे नहीं-सा रह जाता है, उस स्थिति का नाम समाधि है।⁵⁸ ध्यान में ध्याता, ध्यान और ध्येय यह त्रिपुटी रहती है। समाधि में केवल ध्येय वस्तु ही रहती है अर्थात् ध्याता, ध्यान, ध्येय इन तीनों की एकता - सी हो जाती है।

धारणा, ध्यान और समाधि में परस्पर इतना ही भेद समझना चाहिए कि दो घण्टे पर्यन्त ध्येय रूप विषय में चित्तवृत्ति को लगाए रखना धारणा, चौबीस घण्टे पर्यन्त एकतान चित्त से ध्येय का चिन्तन करना ध्यान तथा द्वादश दिन पर्यन्त निरन्तर ध्यान को ध्येयाकार कर देना समाधि कही जाती है। यही बात स्कन्द पुराण में भी कही गई है⁵⁹ पाँच नाड़िका (घटिका) काल पर्यन्त चित्तवृत्ति की स्थिति धारणा, 60 नाड़िका

52. वही, 1.11

53. वही, 1.12

54. भगवद् गीता 6.35

55. (क) पातंजल योगसूत्र 1.13, (ख) योगवासिष्ठ 6.2/67/43

56. वही, 1.15

57. सांख्यदर्शन 6.25 (महर्षिकपिल)

58. पातंजल योगदर्शन 3.3

59. स्कन्द पुराण-धारणा पञ्चनाडीका, ध्यानं स्यात् षष्टिनाडिकम्।

दिनद्वादशकेनैव, समाधिरभिधीयते ॥

काल पर्यन्त चित्तवृत्ति की स्थिति ध्यान तथा द्वादश दिन पर्यन्त चित्तवृत्ति की स्थिति समाधि कही जाती है। बारह दिन पर्यन्त जो चित्तवृत्ति की एकाग्रता रूप समाधि है, वह पूर्ण समाधि है।

योगपरम्परा विषयक ब्रह्मविज्ञान नामक ग्रन्थ में त्रिपुटी के विश्लेषण में कहा गया है कि लगातार एक ही विषय को अनन्यमनस्क भाव से देखना धारणा है। धारणा का काल ढाई घंटा रहता है। जब चित्त अबाध गति से एकदेश उपरान्त भी स्थिर रहता है तो ध्यान आरम्भ हो जाता है; जब अनन्य विषयक चित्त छह घंटे तक अबाध गति से स्थिर रहे तो उसकी ध्यान संज्ञा बनती है। इसके आगे समाधि प्रारंभ होती है जिसमें अभ्यासी स्वरूपशून्य हो जाता है और केवल ध्येय अर्थ ही भासित होता है। यह स्थिति बारह घंटे बनी रहे तब उसकी समाधि संज्ञा होती है।⁶⁰

यहाँ छह घंटे तक अबाधित गति से ध्यान के रूप में मन के स्थिर रहने का जो कथन किया गया है, वह विचारणीय है। अबाधगति का तात्पर्य यदि यह माना जाय कि ध्यान का सातत्य या नैरन्तर्य छह घंटे तक अविच्छिन्न रूप में बना रहता है तो यह जैनयोग में स्वीकृत ध्यान-काल से संगत नहीं होता क्योंकि वहाँ उसका अनवच्छिन्न काल अन्तर्मुहूर्त माना गया है। अबाधगति का एक तात्पर्य यह भी हो सकता है कि ध्यानयोगी स्वीकृत ध्यान की एक धारा के टूटते ही तत्काल नये रूप में पुनः ध्यान प्रारंभ कर देता है। यों प्रति अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् इस क्रम के चलते रहने में कोई बाधा नहीं आती, बाह्य दृष्टि से वहाँ ध्याता की ध्यान गति अबाधित ही परिलक्षित होती है। अन्तर्वृत्ति सूक्ष्म ध्यान क्रम की भग्नता तो स्वानुभूति गम्य है। यदि मन की चंचलता को दृष्टि में रखते हुए सोचा जाय तो यह संभव नहीं लगता कि बीच-बीच में टूटे बिना छह घंटे तक एकतानता के रूप में ध्यान स्थिति पा सके। किन्तु उत्तरोत्तर टूटते-जुड़ते जाते ध्यान के ताने-बाने के आधार पर वह दीर्घकाल व्यापी भी हो सकता है।

साधनाक्रम की दृष्टि से समाधि की दो अवस्थाएँ स्थिर की गयी हैं - सम्प्रज्ञात समाधि और असम्प्रज्ञात समाधि⁶¹। जिस समाधि के द्वारा संशय - विपर्ययादि से रहित

60. ब्रह्मविज्ञान पृ. 878

61. योगसूत्र. 1.17.18

भाज्य (ईश्वर और पच्चीस तत्त्व) का स्वरूप जाना जाता है उसे सम्प्रज्ञात समाधि और जिसमें किसी ज्ञेय का ज्ञान नहीं होता उसे असम्प्रज्ञात समाधि कहा गया है। दूसरे शब्दों में उन्हें क्रम से सबीज समाधि और निर्बीज⁶² समाधि भी कहा गया है। सम्प्रज्ञात समाधि के चार भेद हैं - सवितर्क, सविचार, सानन्द और सस्मित। जब स्थूल महाभूतों और इन्द्रियों को विषयरूप से ग्रहण करके पूर्वापर के अनुसंधानपूर्वक शब्द व अर्थ के उल्लेखभेद के साथ भावना की जाती है तब सवितर्क समाधि होती है। इसी आलम्बन में जब पूर्वापर के अनुसंधान और शब्दोल्लेख के बिना भावना प्रवृत्त होती है तब निर्वितर्क समाधि होती है।

जहाँ ध्येय पदार्थ सूक्ष्म हो वहाँ उक्त दोनों की संज्ञा सविचार और निर्विचार समाधि है।

निर्बीज समाधि में समस्त क्लेश-कर्मों के बीज नष्ट हो जाते हैं। इस अवस्था तक पहुँचते - पहुँचते साधक की समस्त वृत्तियों का पूर्ण रूप से निरोध हो जाता है, फलस्वरूप उसका चित्त शांत, निश्चल और निस्पृह होता है। चित्तवृत्ति के निरोध से द्रष्टा/आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।⁶³ ध्यान की परम स्थिति को प्राप्त हो जाता है।

महर्षि पतंजलि ने सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात द्विविध समाधि को योग में परिगणित किया है⁶⁴ इसी दृष्टि से 'चित्तवृत्ति निरोध' यह योग का लक्षण किया है। सम्प्रज्ञात योग में कतिपय चित्तवृत्तियाँ होती हैं तथा असम्प्रज्ञात में चित्तवृत्तियों का सर्वथा निरोध हो जाता है। उभयविध योग में योग के लक्षण के समन्वय हेतु सूत्र में सर्व पद का समावेश सूत्रकार ने नहीं किया है।

भाष्यकार व्यास के अनुसार असम्प्रज्ञात समाधि में सर्व चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है तथापि सम्प्रज्ञात समाधि में विवेक-ख्यातिरूप सात्त्विक वृत्ति विद्यमान रहती है, अतः भाष्यकार ने "सर्वशब्द का ग्रहण सूत्र में न होने से सम्प्रज्ञात भी योग है",

62. सबीज और निर्बीज ध्यान का उल्लेख उपासकाध्ययन (622-23) में भी हुआ है।

63. योगसूत्र 1.3

64. योगसूत्र, 1.17, 18, 46. 51

ऐसा निर्देश किया है।⁶⁵

एकाग्र एवं निरुद्ध भूमिगत वृत्तिनिरोध ही योग है। चित्त की प्रत्येक भूमिगत वृत्ति निरोध नहीं है। निरुद्ध भूमिगत वृत्तिनिरोध, वृत्तियों का पूर्ण निरोध होने से असम्प्रज्ञात समाधि का साक्षात् साधन होने से योग ही है, तथापि एकाग्र भूमिगत वृत्तिनिरोध की कारणता को स्पष्ट करते हुए व्यास लिखते हैं, यतचित्त में सद्भूत पदार्थ (अर्थात् ध्येय) को प्रद्योतित करने से, क्लेशों को क्षीण करने से, कर्मों के बन्धन अर्थात् कर्माशय को शिथिल करने से तथा असम्प्रज्ञात समाधि में भी सहायक बनने से सम्प्रज्ञात योग कहा जा सकता है।⁶⁶

वाचस्पति मिश्र योग के विरोधी तत्त्वों-क्लेश एवं विपाकाशय को उत्पन्न करने वाली चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग मानते हैं।⁶⁷ ऐसा मानने से सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात दोनों समाधियोग शब्द में परिगणित होते हैं।

भोजदेव ने अपनी वृत्ति राजमार्तण्ड में चित्त की एकाग्र अवस्था में बहिर्वृत्ति निरोध होने से इसे योग माना है तथा निरुद्ध भूमि में सर्ववृत्तियों और संस्कारों का लय होने से योग की संभावना व्यक्त की है।⁶⁸

दोनों ही भूमियों में चित्त का एकाग्रता रूप परिणाम रहता है।

विज्ञानभिक्षु 'योगलक्षण' के इस सूत्र के साथ अग्रिम सूत्र को सम्मिलित कर अर्थ करते हैं। उनके अनुसार चित्त की वृत्तियों का निरोध जो द्रष्टा को वास्तविक स्वरूप में अवस्थित कराने का हेतु हो, वही योग कहा जा सकता है, अन्य नहीं,⁶⁹ इस प्रकार सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दोनों समाधियों का अन्तर्भाव सूत्रगत योग शब्द में हो जाता है।

इस साधना पद्धति के सात अंग बताये गये हैं। षष्ठ कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि। घेरण्ड संहिता और हठयोग प्रदीपिका

65. व्यास भाष्य, 1.2 पृ. 9

66. वही, 1.1 पृ. 1

67. तत्त्ववैशारदी, 1.2 पृ. 10

68. भोजवृत्ति, 1.2 पृ. 3

69. योगवार्तिक 1.2, पृ. 13

हठयोग के प्रमुख ग्रन्थ हैं।

हठयोग में इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, गांधारी, हस्तजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहु तथा शंखिनी आदि का उल्लेख है।⁷⁰

चौरासी आसन सिद्धि प्राप्त करने में विशेष सहायक माने गये हैं। उनमें भी सिद्धासन, पद्मासन, भद्रासन, वज्रासन, स्वस्तिकासन, सिंहासन, गोमुखासन, वीरासन, मत्स्यासन, मयूरासन, कुक्कुटासन, गरुडासन आदि प्रमुख हैं।⁷¹

हठयोग में नाडीशुद्धि के लिए प्राणायाम का महत्त्व भी स्वीकार किया गया है।

जैन परम्परा में हठयोग को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है। इसका कारण यह है कि हठयोग के द्वारा किया गया नियन्त्रण न तो स्थायी लाभ देता है और न ही इससे आत्मशुद्धि होती है। मुक्ति की प्राप्ति में भी इसका महत्त्व स्वीकार नहीं किया गया है।

श्रीमद्भगवद्गीता में ध्यानयोग

भारतीय वाङ्मय में श्रीमद्भगवद्गीता का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'गीता' महाभारत युद्ध के मैदान में उपदिष्ट योगविषयक ग्रन्थ है। युद्ध के प्रांगण में श्रीकृष्ण अर्जुन को प्रेरित करते हुए कहते हैं कि "तस्माद् योगी भवार्जुन" अर्थात् हे अर्जुन ! तुम योगी बनो।

जब अपने युद्धोन्मुख सुहृज्जनों को देखकर अर्जुन का हृदय व्यथित हो उठता है तब श्रीकृष्ण ने दयार्द्र हृदय व अश्रुपूर्ण नेत्रों से युक्त विषण्णवदन अर्जुन को युद्ध के लिए प्रेरित करते हुए जो आध्यात्मिक उपदेश दिया, वह गीता का प्रमुख अभिध्येय रहा है। श्रीकृष्ण अर्जुन को योगी बनाना चाहते हैं अतः वे अर्जुन से कहते हैं - "तस्माद् योगी भवार्जुन। अर्थात् तुम योगी बनो।"⁷² गीता में योग का विभिन्न पक्षों में उल्लेख हुआ है। उसमें योग का स्वर कभी कर्म के साथ, कभी भक्ति के साथ और कभी ज्ञान के साथ सुनाई देता है।⁷³

70. गोरक्ष संहिता 26-27

71. घेरण्ड संहिता 3. 3-6

72. श्रीमद् भगवद्गीता 6.46

73. गीता रहस्य (पं. बालगंगाधरतिलक) भाग दो की शब्द सूची।

गीता के सभी अध्यायों में योग की चर्चा हुई है किन्तु छठे अध्याय में विशेष रूप से योग और योगी के स्वरूप पर चिन्तन हुआ है।

गीता में स्थितप्रज्ञ के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि हे पार्थ ! मनुष्य जब मनोगत सब इच्छाओं को त्यागकर अपने आप अपने में ही सन्तुष्ट होता है तब उसे स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। स्थित-प्रज्ञ मुनि दुःखों में उद्विग्न न होकर सुख की ओर निःस्पृहता रखता हुआ राग, भय और क्रोध से रहित होता है।⁷⁴ आगे वहाँ और भी कहा गया है कि विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है और काम से क्रोध, क्रोध से मूढ़ भाव, मूढ़ भाव से स्मृति विभ्रम, स्मृति विभ्रम से बुद्धि अर्थात् ज्ञान शक्ति का नाश हो जाता है और बुद्धिनाश से वह स्वयं नष्ट हो जाता है।⁷⁵

छठे अध्याय में योग के स्वरूप का वर्णन करते हुए पहले से नवें श्लोक तक कर्मयोग का वर्णन हुआ है। वहाँ बताया है कि जो समता कर्मयोग से प्राप्त होती है, वही समता ध्यानयोग से भी प्राप्त होती है। ध्यानयोग की प्रेरणा देते हुए कहा गया है कि मन और इन्द्रियों को नियन्त्रित करके आशा और परिग्रह से रहित होते हुए एकान्त स्थान में अकेले स्थित होकर आत्मचिन्तन करना चाहिए।

यथायोग्य आहार-विहार और कर्मों में उचित प्रवृत्ति करने वाले और यथायोग्य शयन तथा जागृत रहने वाले व्यक्ति के दुःखों का नाश करने वाला योग होता है। जिस समय स्वाधीन हुआ चित्त आत्मा में ही अवस्थित होता है तब समस्त कामनाओं की ओर से निःस्पृह हो जाने पर उस योगी को योग से युक्त कहा जाता है।⁷⁶

ध्यानयोगी अपने द्वारा अपने आप में सुख का अनुभव करता है और इस सुख में स्थित हुआ वह कभी किञ्चित् मात्र भी विचलित नहीं होता है। जिस सुख को पाकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और परमात्म प्राप्ति रूप जिस अवस्था में स्थित योगी बड़े भारी दुःख से भी चलायमान नहीं होता।⁷⁷ उसका

74. गीता, 2, 55-56

75. वही, 2.62, 63

76. वही, 6. 17-20

77. वही, 6.21-22

नाम योग है। वह समस्त दुःखों का नाशक है, ऐसा जानकर योगी को विरक्त चित्त से उसमें संलग्न होना चाहिए। संकल्प से उत्पन्न होने वाली सम्पूर्ण कामनाओं का पूर्णरूप से त्याग करके मन से इन्द्रियसमूह को नियन्त्रित करके, धैर्यपूर्वक संसार से धीरे-धीरे उपरत होता हुआ मन को आत्मस्वरूप में स्थिर करता है, फिर कुछ भी चिन्तन नहीं करता है। यदि मन अस्थिर है फिर विषयों में चंचल हुआ है तो उसे रोककर परमात्मा में ही निरुद्ध करें।⁷⁸

सर्वव्यापी अनन्त चेतन में एकीभाव में स्थिति रूप योग से युक्त आत्मा वाला तथा सबको समभाव से देखने वाला योगी आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में स्थित और सम्पूर्ण भूतों को अपने स्वरूप में स्थित देखता है। जो समभाव में स्थित होकर राग-द्वेषादि से शून्य, पूरे विश्व में अपनी आत्मा के समान ही सबके सुख-दुःख की भावना करता है और सर्वत्र परमात्मा को निरन्तर देखता है वही सर्वश्रेष्ठ योगी है।⁷⁹

ध्यानी योगी कौन हो सकता है, इसके लिए गीता के 18वें अध्याय में स्पष्ट विवेचन है -

विशुद्ध बुद्धि से युक्त, सात्विक और नियमित भोजन करने वाला, शब्दादि विषयों का त्याग करने वाला, एकान्त देश का सेवन करने वाला, सात्विक धारणा शक्ति के द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियों का संयम करके मन, वाणी और शरीर को वश में करने वाला, अहंकार, बल, घमंड, काम - क्रोध और परिग्रह का त्याग करने वाला, ममता रहित शान्तियुक्त, ध्यान योग में परायण पुरुष, सच्चिदानन्द ब्रह्मन् (आत्मा) में अभिन्न भाव से स्थित होने का पात्र होता है।⁸⁰

श्रीमद्भगवद्गीता पवित्र एवं प्रभावशाली ग्रन्थ है। इसमें पद-पद पर योग के द्वारा भगवत्साक्षात्कार का ही आनन्द प्राप्त होता दिखता है। इसमें ध्यान विधि की चर्चा करते हुए कहा गया है कि शुद्ध एवं पवित्र भूमि पर आसन स्थापित कर उसके ऊपर बैठकर चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में रखते हुए मन को एकाग्र करके अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योग का अभ्यास करे। योग में स्थिर होकर,

78. वही, 6.23-26

79. वही, 6.29-30

80. वही, 18, 51-53

स्थिरतापूर्वक काया, सिर और ग्रीवा को सीधे अचल धारण करके अन्य दिशाओं को न देखते हुए अपनी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखे।⁸¹

योगवाशिष्ठ में ध्यानयोग

महर्षि वशिष्ठ ने भगवान श्रीराम को योग का जो उपदेश किया था वह सभी योगशास्त्रों में अद्वितीय है, उसका संग्रह महर्षि वाल्मीकि ने 'महाराामायण' नाम से किया और वही योगवाशिष्ठ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह भारतीय दर्शनशास्त्र और अध्यात्मविद्या का सर्वोत्तम उच्च कोटि का ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में आद्योपान्त योग ज्ञान के सभी अंगों का विस्तार से वर्णन हुआ है, किन्तु उपशम प्रकरण के छत्तीसवें सर्ग में ध्यान का वर्णन किया गया है। वहाँ ध्यान के पर्याय रूप में समाधि का प्रतिपादन हुआ है। बुद्धि, अहंकार, चित्त, कर्म, कल्पना, स्मृति, वासना, इन्द्रियाँ, देह पदार्थ आदि को मन के रूप में ही माना गया है।⁸²

समाधि का लक्षण बताया है - जो गुणों का समूह है, गुणात्मक तत्त्व है वह समाधि है एवं जो पर पदार्थों को अनात्मरूप देखते हुए अपने आपको केवल इनका साक्षीभूत चेतन जानता है और जिसका चित्त स्वभावसत्ता में लगकर शीतल हो गया है वह समाधिस्थ कहलाता है⁸³ योगवाशिष्ठ में योग शब्द का अर्थ है - संसार सागर से पार होने की युक्ति⁸⁴।

योग के तीन प्रभेद किये गये हैं -⁸⁵

1. एक तत्त्व की दृढ़ भावना - एक तत्त्व धनाभ्यास।
2. प्राणों का निरोध और
3. मन की शान्ति - मनोनिरोध।

एक तत्त्व की दृढ़ भावना से मन शान्त होकर आत्मा में विलीन हो जाता

81. वही, 6, 10-13

82. योगवाशिष्ठ 6.1.14-17, 6.7.11, 6.139.1, 3.110.46

83. वही, उपशम प्रकरण अध्याय - 36/10

84. वही, निर्वा. पू. 13.3

85. योगमनोविज्ञान पृ. 12

है और प्राणों का स्पन्दन स्वयं ही रुक जाता है।⁸⁶ एक तत्व का दृढ़ अभ्यास तीन प्रकार से किया जाता है ब्रह्मभावना, अभाव भावना और केवली भावना।⁸⁷

प्राणनिरोध

जैसे पंखे का हिलना बंद होते ही हवा का चलना बन्द हो जाता है उसी प्रकार प्राणों की गति रुक जाने पर मन भी शान्त हो जाता है। प्राणों का स्पन्दन रुकने से मन शान्त हो जाता है और मन के शान्त हो जाने पर संसार का लय हो जाता है।⁸⁸

प्राण क्या है ? प्राणों की प्रगति किस प्रकार होती है ? और प्राणायाम कैसे किया जाता है, इन विषयों की चर्चा योगवासिष्ठ में विस्तार से हुई है।

मन की शान्ति

मन के निरोध द्वारा साधक अपनी इच्छाओं का पूरी तरह से शमन कर लेता है।⁸⁹ मन को शान्त करने के उपाय-बिना उचित युक्ति के मन को जीतना कठिन है।⁹⁰ मन को शान्त करने की अनेक युक्तियाँ हैं -

ज्ञानयुक्ति, संकल्पयुक्ति, भोगों से विरक्ति, वासनात्याग, अहंभाव का नाश, कर्तृत्व भाव का त्याग, सर्वत्याग, समाधि का अभ्यास, लयक्रिया आदि।

बौद्ध धर्म में ध्यान की परम्परा एवं ध्यान विषयक साहित्य

बौद्ध धर्म में निर्वाण-प्राप्ति के लिए दो साधनों से सम्पन्न होने का विशेष रूप से निर्देश किया है। उनमें पहला साधन शीलविशुद्धि और दूसरा चित्तविशुद्धि है। शीलविशुद्धि का अर्थ सत्कर्मों के अनुष्ठान से आचार और व्यवहार विषयक शुद्धि प्राप्त करना है। शीलविशुद्धि की प्रक्रिया का विवेचन हमें अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। किन्तु चित्तविशुद्धि का संदेश आचार्यों के द्वारा मौखिक रूप में दिया जाता

86. योगवासिष्ठ निर्वा. पृ. 68.48

87. वही, स्थिति 4.53

88. योगवासिष्ठ 5.78. 15-6

89. वही, 5.8

90. वही, उप. पृ. 91-34

रहा है। इसलिए उसका विवेचन 'विसुद्धिमग्ग' जैसे बहुत ही कम ग्रन्थों में प्राप्त होता है। विनयपिटक, सुत्तपिटक एवं अभिधम्म पिटक ये तीन बौद्ध धर्म के आधारभूत ग्रन्थ हैं। सुत्तपिटक के अनेक सूत्रों में भगवान बुद्ध ने समाधि की शिक्षा दी है। आगे चलकर आचार्य बुद्धघोष ने 'विसुद्धिमग्ग' नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमें इस विषय का सुन्दर प्रामाणिक रूप में वर्णन है। हीनयान की दृष्टि से उसमें ध्यान योग का विस्तार से विवेचन हुआ है। महायान - सूत्रालंकार तथा योगाचार में, दसभूमिशास्त्र में ध्यान योग का निरूपण हुआ है।

बौद्ध साधना में ध्यान के साथ ही समाधि, विमुक्ति, समथ, भावना, विसुद्धि, विपस्सना, अधिचित्त, योग, कम्मट्ठान, पधान, निमित्त, आरम्भण आदि शब्दों का भी उपयोग और विश्लेषण हुआ है। इनमें ध्यान और समाधि प्रमुखतः पारिभाषिक शब्द माने गये हैं। भगवान बुद्ध ने चित्तशुद्धि के लिए ध्यान का प्रतिपादन किया है। पालिभाषा में ध्यान को 'ज्ञान' कहा जाता है। इसकी व्युत्पत्ति 'ज्ञायति' क्रिया से हुई है, जिसका अर्थ होता है - चिन्तन करना अथवा भावना करना। बुद्धघोष ने इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार से की है -

ज्ञायति उप-निज्जायति - ज्ञानं।

इमिना योगिनो ज्ञायन्तीति - ज्ञानं।⁹¹

ध्यान का दूसरा अर्थ वृत्तियों को जलाना भी किया गया है।

पच्चनीका धम्मे ज्ञायतीति ज्ञानं अथवा

पच्चनीक धम्मे दहति गोचरं वा चिन्तेतीति अत्थो ॥⁹²

समाधि (सम् + आ + धा) शब्द का प्रयोग चित्त की एकाग्रता (चित्तस्स एकगता) या समता के संदर्भ में किया गया है।⁹³ बुद्धघोष ने इस परिभाषा में 'कुसल' शब्द और जोड़ दिया है - कुसल चित्तेकगता। यहाँ "सम्मा समाधीति यथा समाधि, कुसल समाधि।"⁹⁴ कहकर बुद्धघोष ने स्पष्ट करने का

91. समन्तपासादिका, पृ. 145-146

92. वही, पृ. 145-46

93. धम्मसंगणि, पृ. 10

94. विसुद्धिमग्ग पृ. 4

प्रयत्न किया है कि समाधि का संबंध शुभ भावों को एकाग्र करने से है।

उपर्युक्त परिभाषा से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि समाधि में सिर्फ कुशल कर्मों से ही संबंध है जबकि ध्यान कुशल और अकुशल दोनों ही भावों से सम्बद्ध है। अतः ध्यान का क्षेत्र समाधि की अपेक्षा विस्तृत है। बौद्ध साधना पद्धति में ध्यान का अर्थ किसी विषय पर चिन्तन करना है⁹⁵ परन्तु अभ्यास के बिना कुछ भी संभव नहीं है, चित्त का अभ्यास ही ध्यान है।⁹⁶ बाह्य विषयों की आसक्ति से मुक्त होना ही ध्यान है।⁹⁷

बौद्ध योग में समाधि को प्राप्त करने के लिए ध्यान का प्रतिपादन किया गया है।⁹⁸

बुद्धघोष ने ध्यान को दो भागों में विभक्त किया है :

1. जो चित्त की विषयभूत वस्तु पर निकट से चिन्तन करता है, वह ध्यान (आरम्भण उप-नि-ज्ज्ञान), और।
2. ध्येय वस्तु के लक्षणों की परीक्षा करने वाला ध्यान (लक्खण-उप-नि-ज्ज्ञान)।

इनमें से प्रथम आरम्भण-उपनिज्ज्ञान आठ प्रकार का है। चार रूपावचर ध्यान और चार अरूपावचर ध्यान। इन्हें समापत्ति भी कहा जाता है। उपचार समाधि की प्रारम्भिक भूमिका है और शेष उसकी विकसित अवस्थाएँ हैं। लक्खण उपनिज्ज्ञान के तीन भेद हैं - विपस्सना, मग्ग और फल। विपस्सना में प्रज्ञा, ज्ञान और दर्शन होता है। साधारणतः त्रिपिटक में विपस्सना का प्रयोग समथ के साथ मिलता है- समथो च विपस्सना।⁹⁹

95. समन्तपासादिका, पृ. 145-146

96. ध्यान सम्प्रदाय पृ. 81

97. दि सूत्र ऑव-वे लेग, पृ. 47

98. दीर्घनिकाय 1.2, पृ. 28-29

99. दीर्घनिकाय, 3 पृ. 273, मज्झिमनिकाय 1. पृ. 495

संयुक्तनिकाय, पृ. 360 इत्यादि।

इसमें विषयवस्तु के लक्षणों पर विचार किया जाता है। 'मग्ग' में उसका कार्य पूर्ण होता है और उसकी निष्पत्ति फल में होती है। इसी को लोकोत्तर ध्यान कहते हैं जो निर्वाण का विशिष्ट रूप माना जाता है।¹⁰⁰

विपस्सना में सात प्रकार की विशुद्धि पायी जाती है - शील विशुद्धि, चित्त विशुद्धि, दृष्टि विशुद्धि, कङ्खा वितरण विशुद्धि, मग्गामग्ग ज्ञान-दर्शन-विशुद्धि, परिषदा ज्ञान दर्शन विशुद्धि तथा ज्ञान दर्शन विशुद्धि।¹⁰¹

ध्यान का भेद - भेदाङ्ग विवाद का विषय रहा है। सुत्तपिटक में ध्यान के चार भेद मिलते हैं, जबकि अभिधम्म पिटक में उसे पाँच भागों में विभाजित किया गया है। रूपावलम्बन पर चित्त की ये विभिन्न अवस्थाएँ हैं जो क्रमशः इस प्रकार हैं -

1. वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता से सहित प्रथम ध्यान।
2. प्रीति, सुख और एकाग्रता से सहित द्वितीय ध्यान।
3. सुख और एकाग्रता से सहित तृतीय ध्यान।
4. एकाग्रता से सहित चतुर्थ ध्यान।¹⁰²

ध्यान के उक्त प्रकारों में क्रमशः एक-एक गुण कम होता जाता है - अर्थात् - प्रथम ध्यान में सुत्त परम्परा की दृष्टि से वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता ये पाँचों अंग विद्यमान रहते हैं। द्वितीय ध्यान में वितर्क और विचार को छोड़ शेष गुण उपस्थित रहते हैं। तृतीय ध्यान में प्रीति नहीं रहती और चतुर्थ ध्यान में सुख का अभाव होकर मात्र एकाग्रता रह जाती है। 'विसुद्धिमग्गो' में इनकी विस्तार से व्याख्या की गई है।

'अभिधर्म परम्परा' में रूपावचर ध्यान पाँच माने जाते हैं।

उपेक्षा-एकाग्रता सहित पंचम रूपावचर ध्यान भी बताया गया है।¹⁰³

100. स धम्म पकासिनी, पृ. 196

101. अभिधम्मत्थ संग्रह, कम्मट्टान संग्रह

102. विसुद्धिमग्ग परिच्छेद - 4

103. अभिधम्मत्थ संग्रहो 1.17

यहाँ कुशल चित्त का संबंध रूपावचर, अरूपावचर एवं लोकुत्तर चित्तों से ही है।¹⁰⁴ कुशल चित्त के आलम्बन को कम्मट्ठान भी कहा गया है। कम्मट्ठानों की संख्या बौद्ध धर्म में चालीस कही गयी है - दस कसिण (कृष्ण), दस अशुभ, दस अनुस्मृति, चार ब्रह्मविहार, एक संज्ञा, एक व्यवस्थान तथा चार आरूप्य हैं। इनकी प्राप्ति में बाधक तत्त्व हैं- पाँच कामच्छन्द, व्यापाद, थीनमिद्ध, उद्धच कुक्कुच्च एवं विचिकिच्छा, इनका उपशम क्रमशः समाधि, प्रीति, वितर्क, सुख और विचार से होता है।¹⁰⁵

अरूपावचर ध्यान

रूपावचर ध्यान की चतुर्थ अथवा पंचम अवस्था के बाद यद्यपि निर्वाण का साक्षात्कार संभव है फिर भी साधक निर्वर्ण और निराकार आलम्बन पर ध्यान करता है, यही अरूपावचर ध्यान है। इसकी चार अवस्थायें होती हैं।

1. आकाशानञ्चायतन - इसमें साधक अनन्त आकाश पर विचार करता है।
2. विज्ञानानञ्चायतन - इस अवस्था में अनन्त आकाश स्थूल प्रतीत होने लगता है और विज्ञान सूक्ष्म लगने लगता है।
3. आकिञ्चन्यायतन - इस अवस्था में आकिञ्चन्यायतन पर कुछ नहीं, 'शून्य शून्य', ध्यान किया जाता है।
4. नैव संज्ञा-असंज्ञा आयतन - इस अवस्था में भवसंज्ञान की अनन्तता पर न संज्ञा और न असंज्ञा आरम्भण पर ध्यान किया जाता है।¹⁰⁶

इसके अतिरिक्त बौद्ध ध्यान की विधियाँ जापान (जेन - झान) बर्मा, थाईलैण्ड, तिब्बत, चीन, कोरिया इत्यादि की बौद्ध परम्पराओं में भी पाई जाती हैं।

हीनयान में ध्यान

ध्यान का उपयोग लक्ष्य की सिद्धि के लिए होता है। हीनयान और महायान

104. वही, नवनीत टीका

105. विसुद्धिमग्ग, पृ. 95

106. (क) विसुद्धिमग्ग परिच्छेद 10 तथा 3 (ख) अभिधम्मत्थ संगहो 1.11

में लक्ष्य की सिद्धि में ही पूर्णतः भेद दृष्टिगोचर होता है। हीनयान में निर्वाण-प्राप्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य बताया गया है। अर्हत् पद-प्राप्ति द्वारा वह सिद्ध होता है। अर्हत् केवल अपने क्लेश की निवृत्ति की अभिलाषा रखता है। वह अपने को अपने में ही सीमित रखता है। निर्वाण की प्राप्ति चित्त के राग आदि क्लेशों को दूर करने से होती है। इस कार्य में साधक को ध्यानयोग से यथेष्ट सहायता प्राप्त होती है। ध्यान से प्राप्त समाधि के बिना साधक का मन वासनामय जगत् का अतिक्रमण नहीं कर सकता। वह रूप धातु में नहीं जा सकता। समाधि द्वारा साधक रूप धातु में जा सकता है। चार ध्यानों का संबंध रूप धातु से है। इनमें से प्रत्येक आयतन के साथ ध्यान का संबंध है। प्रथम में आकृष्य की अनन्तता का, द्वितीय में विज्ञान की अनन्तता का, तृतीय में अकिञ्चनता की अनन्तता का और चतुर्थ में भवसंज्ञान की अनन्तता का ध्यान किया जाता है। चौथे आयतन को भवाग्र कहा जाता है। साधक स्थूल जगत् से अपने ध्यान का आरम्भ करता है और उसके बल पर सूक्ष्म जगत् में संप्रविष्ट होता है। जगत् उसके लिए स्वल्प, सूक्ष्म बनता जाता है, इस ध्यानक्रम से वह एक बिन्दु पर पहुँचता है जहाँ जगत् की समाप्ति होती है। वही बिन्दु भवाग्र कहा गया है। वहाँ पहुँचने के पश्चात् उसे निर्वाण में कूदने में, निमग्न हो जाने में जरा भी देर नहीं लगती। निर्वाण की प्राप्ति होते ही साधक अर्हत् पद पा लेता है, वह कृतकृत्य हो जाता है। इस प्रकार ध्यान तद्जनित समाधि, निर्वाण का अनन्य हेतु है।¹⁰⁷

महायान में ध्यान

महायान का लक्ष्य हीनयान से भिन्न है। उसका अन्तिम उद्देश्य बुद्धत्व की प्राप्ति है। यह एक जन्म के व्यापार पर अवलम्बित नहीं है। अनेक जन्मों पर्यन्त पुण्य-संभार का संचय करता हुआ साधक ज्ञान-संभार की प्राप्ति करता है, अत्यधिक ज्ञानसंपन्न होता है। महायान सम्प्रदाय में साधक को सबसे पहले बोधि चित्त को ग्रहण करना होता है। जैन दर्शन में जिसे सम्यक्बोधि या सम्यक्ज्ञान कहा गया है, बोधिचित्त का वही आशय है। जब साधक को बोधिचित्त की प्राप्ति हो जाती है तो उसे पारमिताओं का अभ्यास करना होता है, जिसे उसकी आवश्यक चर्या कहा गया है। पारमिता में पारम्+इता ये दो शब्द हैं। पारम् का अर्थ 'परिपूर्णता' और इता का

अर्थ 'पहुँचा हुआ' है। पूर्णत्व को पारमिता कहा जाता है। पालि भाषा में इसके लिए पारमी शब्द का प्रयोग हुआ है। पारमिताओं के दान, शील, नैष्कर्म, प्रज्ञा, वीर्य, शान्ति, सत्य, अधिष्ठान, मैत्री, उपेक्षा ये नाम हैं।¹⁰⁸

ऐसा कहा जाता है कि इन्हीं पारमिताओं के द्वारा शाक्यमुनि तथागत बुद्ध ने 550 बार विविध रूपों में जन्म लेकर सम्यक् संबोधि की लोकोत्तर संपत्ति अधिगत की। ऐसा भी माना जाता है कि पारमिताओं का अनुष्ठान केवल मनुष्य-जन्म में ही हो, यह आवश्यक नहीं, जातक ग्रन्थों से यह प्रकट है कि बुद्ध ने तिर्यच योनि में भी जन्म लेकर पारमिताओं का परिशीलन किया। जैन दर्शन के अनुसार सम्यक्दृष्टि साधक की वह भव-परम्परा, जिसमें वह अपने पूर्वार्जित कर्मों का भोगक्षय करता हुआ उत्तरोत्तर आत्मोज्ज्वलता की ओर प्रयाण करता है, पारमिताओं से तुलनीय है।

ज्ञान - संभाग का अधिगम होने से वह प्रज्ञा-पारमिता का अधिकारी बनता है। प्रज्ञा पारमिता का तात्पर्य प्रकृष्ट, उत्तम, साधनापरक ज्ञान का अभ्युदय है। उसके बिना बुद्धत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है, प्रज्ञा पारमिता तक पहुँचने के लिए समाधि की अत्यन्त आवश्यकता है। एतदर्थ साधक को अनेक भूमियाँ पार करनी पड़ती हैं। महायान सूत्रालंकार में वे प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुक्ति, दुरङ्गमा, अचला, साधुमती, धर्ममेध्या के नाम से ये अभिहित हुई हैं।¹⁰⁹

महायान के सिद्धान्तानुसार बुद्धत्व पद की प्राप्ति के साधना-मार्ग में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। भूमिकाओं को पारकर साधक समाधि की स्थिति में पहुँचता है। बौद्ध दर्शन के अनुसार ध्येय विषय दो प्रकार का माना गया है वस्तुरूप तथा कल्पनामात्र। वस्तुरूप स्थूल है। कल्पनामात्र सूक्ष्म है, वह बाह्य वस्तुरूप नहीं होता। वस्तु के स्वरूप की अपेक्षा वस्तु की प्रतीति या कल्पना पर चित्त लगाने से समाधि की अवस्था उत्पन्न होती है। उसके लिए 10 अनुस्मृतियों का निरूपण किया गया है- बुद्धानुस्सति, धम्मनुस्सति, संघानुस्सति, शीलानुस्सति, यागानुस्सति, देवतानुस्सति, मरणानुस्सति, कामगतानुस्सति, आनापानानुस्सति, उपस्समानुस्सति। इन अनुस्मृतियों में क्रमशः बुद्ध, धर्म, संघ के गुणों पर शील, त्याग, देवलोक, मृत्यु, कायमिश्रित

108. वही, पृ. 125

109. वही, पृ. 336-337

विविध प्रकार के मल, अंग - प्रत्यंग, एकान्त स्थान में बैठकर श्वास -प्रश्वास पर ध्यान तथा उपशम रूप निर्वाण पर ध्यान किया जाता है।

यहाँ आनापान नामक नवम अनुस्मृति विशेष ध्यान देने योग्य है। विपश्यना के रूप में जिस ध्यान पद्धति का विस्तार हुआ है उसके मूल में यही अनुस्मृति है।

बौद्धों ने अष्टांग योग के स्थान पर षडंगयोग को मान्यता दी है। ये छह अङ्ग इस प्रकार हैं - प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति और समाधि। बौद्धों के एक सम्प्रदाय के अनुसार चित्त ही एकमात्र सत्य है। अतः चित्त की एकाग्रता के लिए 'ज्ञाण' साधना विहित है। बौद्धों की यह ध्यान साधना हठयोग की पद्धति के समान है।

इस प्रकार बौद्ध धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों में ध्यान साधना संबंधी साहित्य उपलब्ध होता है। यह एक विशेष महत्त्वपूर्ण बात है कि बौद्ध धर्म में आगे चलकर एक ऐसे सम्प्रदाय का विकास हुआ जो ध्यान सम्प्रदाय (झेन सम्प्रदाय) के नाम से जाना जाता है। यहाँ उसका किंचित् परिचय आवश्यक प्रतीत होता है।

बौद्ध धर्म का ध्यान सम्प्रदाय

28वें आचार्य बोधिधर्म ने सन् 520 या 526 ईसवी में चीन जाकर वहाँ ध्यान सम्प्रदाय (चान-त्सुंग) की स्थापना की। बोधिधर्म की मृत्यु के बाद भी चीन में उनकी परम्परा चलती रही। उनके उत्तराधिकारी इस प्रकार हुए :-

1. हुइ-के (सन् 506-593 ईसवी)
2. सेंग-त्सन् (मृत्यु सन् 606 ईसवी)
3. ताओ-हसिन (सन् 580-651 ईसवी)
4. हुंग्-जेन (सन् 601-674 ईसवी)
5. हुइ-नेंग (सन् 638-713 ईसवी)

चीन से यह साधना-तत्त्व जापान गया। येई-साइ (सन् 1141-1215)

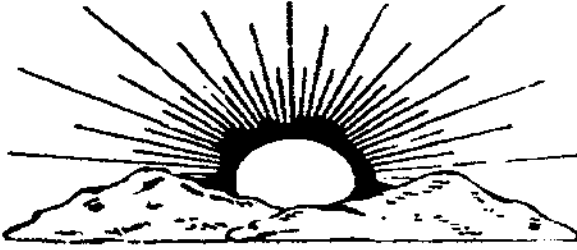
नामक जापानी भिक्षु ने चीन में जाकर इसका अध्ययन किया और फिर जापान में इसका प्रचार किया। जापान में इसकी प्रधान तीन शाखाएँ हैं। पहली शाखा रिजई नाम की है जिसके प्रवर्तक चीनी महात्मा रिजई थे। इसमें येई-साइ, दाए-ओ (सन् 1235-1308), देतो (सन् 1282-1336), क्वजन (सन् 1277-1360 ईसवी), हेकुमिन (सन् 1685-1768) जैसे विचारक ध्यानयोगी हुए। दूसरी शाखा सातो नाम की है। इसकी स्थापना येई-साइ के बाद उनके शिष्य दो गेन् (सन् 1200-1253) ने की। इसका सम्बन्ध चीनी महात्मा हुइ-नेंग के शिष्य चिंग-यू-आन् और उनके शिष्य शिहू-ताउ (सन् 700-790) से रहा है। तीसरी शाखा ओबाकु नाम की है। इसकी स्थापना इंजेन (सन् 1592-1673) ने की। इसके प्रवर्तक चीनी महात्मा हुआइ पो थे जिनका समय 9वीं शती है और जो हुई-नेंग की शिष्य परम्परा की तीसरी पीढ़ी में थे। यह शाखा बुद्ध के नाम-जप से मुक्ति-प्राप्ति संभव मानती है।¹¹⁰

वस्तुतः ऐसा लगता है कि ध्यान का बीज भारत से ही चीन और जापान गया, वहाँ पर अंकुरित, पल्लवित एवं फलित हुआ और जन-मानस में घुलमिल गया। ध्यान केवल अध्यात्म तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि इसने पूरे जीवन-प्रवाह में अपना ओज और तेज बिखेरा है। येइ-साइ की एक पुस्तक क्रोजन गोको कुरोन (ध्यान के प्रचार के रूप में राष्ट्र की सुरक्षा) ने ध्यान को वीरत्व और राष्ट्र-सुरक्षा से भी जोड़ दिया है। जापानी सिपाहियों में ध्यान का व्यापक प्रचार है। मनोबल, अनुशासन, दायित्व बोध और अन्तःनिरीक्षण के लिए वहाँ ध्यानाभ्यास आवश्यक माना जाता है। जापान ने स्वावलम्बी बनकर जो प्रगति की है, उसके मूल में ध्यान की यह ऊर्जा अवश्य प्रवाहित है। आज पश्चिमी राष्ट्रों में भी ध्यान का आकर्षण बढ़ा है। यह इसी ध्यान तत्त्व का प्रसार है, चाहे इसकी प्रेरणा उन्हें सीधी भारत से मिली हो, चाहे चीन - जापान के माध्यम से।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कालक्रम में न केवल श्रमण परम्परा में अपितु हिन्दू परम्परा में भी ध्यान एक महत्त्वपूर्ण साधना विधि के रूप में उभर कर सामने आया है। भारतीय आध्यात्मिक साधना विधि में ध्यान का लक्ष्य मनुष्य को तनावों से मुक्त कर आत्मिक शान्ति प्रदान करना है। प्रत्येक आध्यात्मिक साधना विधि का यह एक

110. ध्यानसम्प्रदाय - डॉ. भरतसिंह उपाध्याय

महत्त्वपूर्ण अंग रहा है। भारतीय संस्कृति में निवृत्ति मूलक श्रमणधारा में ध्यान का उद्भव हुआ। यहीं से अपनी यात्रा प्रारम्भ करते हुए भगवान बुद्ध और भगवान महावीर की साधनाविधि में प्रविष्ट हुआ। दूसरी ओर उपनिषद् काल से यह हिन्दू साधना विधि का भी एक आवश्यक अंग बना। कालक्रम में ध्यानविधि आदि में परिशोधन होते रहे और उसके परिणाम स्वरूप अनेक ध्यान विधियों का विकास हुआ।



खण्ड : - द्वितीय

प्राचीन जैन अर्धमागधी वाङ्मय में ध्यान

- योग और ध्यान की भारतीय परम्परा
- आगम-कर्त्ता-अंगप्रविष्ट-अंगबाह्य
- आचारांग सूत्र और उसके व्याख्या साहित्य में ध्यान
- सूत्रकृतांग सूत्र में ध्यान सम्बन्धी निर्देश
- स्थानांग सूत्र में ध्यान सम्बन्धी विवेचना
- समवायांग सूत्र में ध्यान
- भगवती सूत्र और ध्यान
- प्रश्नव्याकरण सूत्र
- औपपातिक सूत्र
- उत्तराध्ययन सूत्र
- दशवैकालिक सूत्र
- दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र
- आवश्यक सूत्र
- आवश्यक निर्युक्ति

खण्ड:-द्वितीय

प्राचीन जैन अर्धमागधी वाङ्मय में ध्यान

मोक्ष, परिनिर्वाण या मुक्ति साधक का परम लक्ष्य है। यह वह स्थिति है जहाँ आत्मा सर्वथा दुःखविमुक्त परम शान्त, सच्चिदानन्द स्वरूप, बन्धनविमुक्त होकर सर्वथा परमात्म स्वरूप बन जाती है। संसारी जीव अनादि काल से कर्मबद्ध है। कर्मों के पौद्गलिक आवरणों द्वारा जीव का ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं आनन्दमय स्वरूप आवृत रहता है। जब तक ये आवरण बने रहते हैं, जीव अपनी शुद्ध स्वाभाविक स्थिति से दूर रहता है, वैभाविक स्थिति में बना रहता है, तब तक जन्म-मरण के चक्र में भ्रमण करता रहता है। ये बन्धन तभी समाप्त होते हैं जब साधना द्वारा जीव समस्त कर्मों को क्षीण कर डालता है। इसलिए कहा गया है- **कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।¹**

कर्मक्षय के लिए संवर और निर्जरा मूलक साधना का जैनदर्शन में विशद विवेचन प्राप्त होता है। पूर्व संचित और वर्तमान में बँधने वाले कर्मों का सर्वथा अपगम हो जाने से आत्मा की कर्ममुक्तता सिद्ध होती है। क्षण-प्रतिक्षण आत्मप्रदेशों के साथ संश्लिष्ट होने वाले कर्मों के अवरोध हेतु आत्मा का जो अन्तःपराक्रम घटित होता है उसे संवर कहा जाता है। सरोवर में जिस प्रणालिका से वर्षा आदि का जल भरता रहता है वह उस प्रणालिका को रोक देने के बाद बन्द हो जाता है, यही स्थिति संवर की है। कर्मों के आने के मार्ग को आस्रव कहा गया है वह संवर से रुक जाता है। जैन साहित्य में यह श्लोक बहुत प्रसिद्ध है-

आस्रवो बन्धहेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम् ।

इतीयमार्हती दृष्टिरन्यत् सर्वप्रपञ्चनम् ॥

अर्थात् आस्रव बन्ध का हेतु है तथा संवर मोक्ष का कारण है। जैनदर्शन का यही सारभूत दृष्टिकोण है और तो सब विस्तार मात्र है।

1. तत्त्वार्थ सूत्र 10.3 पृ. 235

इस श्लोक में मुख्यतः यह तत्त्व प्रतिपादित किया गया है कि जब कर्मों के आने का प्रवाह बन्द हो जाता है, आत्मप्रदेशों के साथ अभिनव कर्मों का संश्लेष नहीं होता है तो आत्मा को एक मार्ग प्राप्त हो जाता है जिससे उसकी उन्नति का क्रम निर्धारित हो जाता है।

इस श्लोक में जो कहा गया है इसमें एक बात और योजनीय है। संवर द्वारा नूतन कर्मों का आना तो अवरुद्ध हो जाता है किन्तु जीव द्वारा पहले बाँधे हुए कर्म अथवा आत्म-संश्लिष्ट कर्म जब तक क्षीण नहीं होते तब तक उसकी बन्धन से सर्वथा मुक्ति नहीं हो पाती। संचित कर्मों के क्षय के लिए तपश्चरण मूलक साधना-पथ का विधान किया गया है। उससे कर्मों का निर्जरण होता जाता है। दीवाल पर गीली मिट्टी के लगे हुए कण जैसे धूप से सूख कर झड़ते जाते हैं उसी प्रकार तपश्चरण द्वारा संचित कर्म, आत्मसंश्लिष्ट कर्म पुद्गल निर्जीर्ण होते जाते हैं। इस तत्त्व को जैनदर्शन में निर्जरा कहा गया है। इसी तत्त्व के आधार पर आत्मपुरुषार्थ साध्य साधना-पथ का बहुमुखी विकास हुआ।

निर्जरा तत्त्व के बारह भेदों में ग्यारहवाँ ध्यान है। वैसे तो निर्जरा के सभी भेद कर्मक्षय की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, आचरणीय हैं, किन्तु इनमें ध्यान का अत्यन्त महत्त्व है क्योंकि ध्यान साधक को एक ऐसी पवित्र भूमिका प्रदान करता है, जिसके परिणामस्वरूप निर्जरा तत्त्व के अन्तर्गत प्रतिपादित सभी तपों को क्रमशः साधने की मानसिकता उत्पन्न होती है। यही कारण है कि ध्यान का विवेचन आगमों तथा उनकी निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, वृत्ति, टीका आदि व्याख्या साहित्य के ग्रन्थों में विशेष रूप से हुआ है। इतना ही नहीं, ध्यान पर स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना भी हुई।

योग और ध्यान की भारतीय परम्परा :

भारत में ध्यान साधना के क्षेत्र में महर्षि पतंजलि के 'योगसूत्र' का विशेष महत्त्व है। उन्होंने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का अष्टांग योग के रूप में प्रवर्तन किया। इनमें पहले पाँच शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास आदि के प्रमार्जन हेतु प्रयोजनीय हैं तथा अन्तिम तीन धारणा, ध्यान, समाधि अन्तःप्रमार्जन एवं विशोधन के हेतु हैं।

दैहिक, मानसिक एवं कायिक विकास की दृष्टि से पतंजलि की यह साधना पद्धति काफी आकर्षक बनी। लोगों का, विशेषतः जिज्ञासु और मुमुक्षु जन का इस ओर विशेष रूप से ध्यान गया। इसमें उनकी रुचि भी विशेष रूप से बढ़ती गई। इस साधना पद्धति का केन्द्र आत्मा है। अपने आन्तरिक उद्यम से ही यह सिद्ध होती है। इसलिए अन्यान्य धर्मों के विज्ञानों, आचार्यों का भी ध्यान गया। फलस्वरूप बौद्ध धर्म आदि श्रमण परम्परा के समुदायों में भी इस ओर विशेष अभिरुचि उत्पन्न हुई। अपने साधना तत्त्वों को यथासंभव इस पद्धति द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयास हुआ।

लगभग पाँचवीं-छठी शताब्दी में भारत के पूर्वांचल बिहार में बौद्ध साधकों में साधना की एक योगानुगत विशेष शैली का प्रादुर्भाव हुआ। वज्रयान, सिद्धयान या सहजयान के रूप में वह प्रसिद्ध है। इसे बौद्ध धर्म की महायान साधना के क्षेत्र में उत्तरवर्ती विकास कहा जा सकता है। वे साधक जो इसमें निष्णात हो जाते थे, वे सिद्ध कहे जाते थे। इसी कारण इसे सिद्धयान कहा गया। वज्र की भाँति यह साधना का अति कठोर पथ था इसलिए इसकी वज्रयान संज्ञा हुई। सहजता या स्वाभाविकता मूलक होने से इसे सहज यान कहा गया।

इनकी साधना में हठयोग का भी समन्वय था। इनका साहित्य दोहाकोश, चर्यागीति के रूप में पूर्वी अपभ्रंश में प्राप्त होता है। दोहाकोशों में उन्होंने अत्यन्त सरल शैली में अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। चर्यागीतियों में गेय पदों द्वारा अपनी अनुभूतियाँ प्रगट की हैं। सरहपा, कणहपा, तिलोपा आदि इस परम्परा के मुख्य साधक हुए हैं। यह परम्परा आगे चलकर विकारग्रस्त हो गई। नाथयोगियों की परम्परा में हठयोग का प्राधान्य था। गोरखनाथ इस परम्परा के महान् योगी थे जिन्होंने भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भ्रमण कर योग का प्रचार किया। योगियों के लिए ये ब्रह्मचर्य पर बहुत अधिक बल देते थे। उनके 'गोरक्ष पद्धति' आदि अनेक ग्रन्थ सुप्रसिद्ध हैं।

आचार्य एवं मनीषी सन्त सदैव बड़े व्यापक दृष्टिकोण वाले रहे हैं। उन्होंने अपने सिद्धान्तों के अनुरूप उन सभी बातों को स्वीकार करने से कभी परहेज नहीं किया जो जन-जन के आत्म-कल्याण के रूप में सहायक हों। इसका कारण यह है कि जैन दर्शन ऐसा मानता है कि सम्यक्त्वी द्वारा परिगृहीत मिथ्याश्रुत भी सम्यक्श्रुत

हो जाता है। इसका आशय यह है कि यदि ग्राहक सम्यक् ज्ञान, सद्बुद्धि सद्चिन्तन युक्त हो तो वह अपनी परम्परा से भिन्न मान्यताओं से भी किसी सद्बस्तु को गृहीत करता है तो उसके लिए वह उपादेय है। ऐसा करने में सैद्धान्तिक दृष्टि से कोई बाधा नहीं आती। इस तात्त्विक मान्यता ने जैन धर्म एवं दर्शन को अत्यन्त व्यापक विस्तार पाने का अवसर प्रदान किया है।

भगवान महावीर ने जन-जन के कल्याण के लिए अपने सिद्धांतों के प्रसार हेतु प्राकृत भाषा को स्वीकार किया, जो उस समय धार्मिक क्षेत्र में शास्त्रीय भाषा के रूप में स्वीकृत नहीं थी। निम्नांकित श्लोक से यह स्पष्ट होता है :

बाल-स्त्री-वृद्ध-मूर्खाणां, नृणां चारित्रकांक्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः, सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः ॥²

भगवान महावीर ने बालक, स्त्री, वृद्ध एवं अशिक्षित उन सभी लोगों पर जो चारित्र की आकांक्षा करते हैं, अनुग्रह करते हुए उनके कल्याण के लिए प्राकृत भाषा में धर्म के सिद्धान्तों का उपदेश दिया।

“भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ”³

इत्यादि उक्तियाँ इसी भाव की द्योतक हैं। भगवान महावीर ने भाषा के क्षेत्र में एक बड़ी क्रान्ति की। यहाँ इसका उल्लेख करने का यही आशय है कि प्राणिमात्र के हित के लिए, आध्यात्मिक उत्थान के लिए अपने सिद्धान्तों के अनुरूप किसी भी विधा को स्वीकार करने में जैन परम्परा के महापुरुष कभी उदासीन नहीं रहे।

यही बात योग के क्षेत्र में भी योजनीय है। जैनाचार्यों के मन में निस्सन्देह यह चिन्तन उभरा हो कि यदि अपने धर्म व दर्शन के आत्मशुद्धिमूलक कर्मक्षयकारक सिद्धांतों को योगसाधना के रूप में प्रस्तुत करें तो उनके आध्यात्मिक अभियान में एक नया आयाम जुड़ सकता है। इस क्षेत्र में सबसे पहले पादन्यास करने वाले महामहिम आचार्य श्री हरिभद्रसूरि थे। वे स्वभाव से ही महान् उत्क्रान्तचेता थे। विद्वान् ब्राह्मण कुल में उनका जन्म हुआ था। वेद-वेदांग आदि विभिन्न शास्त्रों के वे पारगामी विद्वान्

2. दशवैकालिक वृत्ति पृ. 223

3. समवायांग सूत्र 34.22, 23

थे। एक विशेष प्रसंगवश प्रेरित होकर उन्होंने जैनधर्म - दर्शन को आत्मसात् किया। इतना ही नहीं वे उसमें तन्मय हो गये। अनेकानेक विषयों पर उन्होंने ग्रन्थों की रचना की। यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय यह है कि जैन साधना पद्धति को योग की विधा में ढालने का उन्होंने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया, वह जैन इतिहास में सदा स्वर्णाक्षरों में लिखा रहेगा। उन्होंने इस संबंध में अपना मौलिक चिन्तन प्रकट करते हुए स्वतंत्र रूप से योग पर 'जैनयोग' की संस्कृत एवं प्राकृत में रचना की। हरिभद्र जैनयोग के संप्रतिष्ठापक कहे जा सकते हैं। इस परम्परा को उत्तरवर्ती अनेक जैनाचार्यों और लेखकों ने वृद्धिगत किया। किन्तु जहाँ तक ध्यान-साधना का प्रश्न है, वह जैन परम्परा में अतिप्राचीन काल से स्वीकृत रही है। महावीर की ध्यानसाधना का उल्लेख आचारांग जैसे प्राचीनतम जैनागम में आज भी सुरक्षित है। जैन दर्शन की चतुर्विध ध्यान की अवधारणा अपनी मौलिक है। स्थानांग, समवायांग आदि आगमों में इन चारों ध्यानों के लक्षणों, अवलम्बनों एवं उपप्रकारों का विस्तृत उल्लेख मिलता है।

यद्यपि जैन ध्यान-साधना पद्धति को हरिभद्र, शुभचन्द्र, हेमचन्द्र आदि ने अन्य परम्पराओं से कुछ तत्त्वों को ग्रहण कर पल्लवित एवं पुष्पित किया है, फिर भी उनकी मूल दृष्टि आगम पर ही आधारित रही है।

आगम :

आगम शब्द की व्युत्पत्ति 'आ' उपसर्ग पूर्वक - 'गम्' धातु में 'घञ्' प्रत्यय लगाने से होती है।⁴ इसके अनेक अर्थ बनते हैं। जैसा-जैसा प्रसंग होता है वैसा-वैसा अर्थ आगम शब्द से ग्रहण कर लिया जाता है। उदाहरणार्थ - लताओं पर नये पत्तों का निकलना भी आगम कहलाता है, जैसे - "लतायां पूर्णलूनायां प्रसूनस्य आगमः कुतः"। शब्द रूप में अक्षरों का आना भी आगम कहलाता है। प्रस्तुत प्रसंग में आगम का अर्थ है - परम्परागत धार्मिक सिद्धान्त ग्रंथ।

पुरातन जैन आचार्यों ने आगम शब्द की अनेकविध व्याख्याएँ की हैं। जैसे 'आगम्यन्ते मर्यादयाऽवबुद्ध्यन्ते यथा अनेनेत्यागमः'⁵ अर्थात् जिससे वस्तु तत्त्व

4. संस्कृत हिन्दी कोश, ले. वामन शिवराम आपटे पृ. 139-40

5. रत्नाकरावता रिकावृत्ति

का परिपूर्ण ज्ञान हो, वह आगम है। **आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनं आगमः**⁶ आप्त वचन से उत्पन्न अर्थज्ञान आगम कहा जाता है। जिससे उचित दिशा व विशेष ज्ञान उपलब्ध होता है, उसे आगम या श्रुतज्ञान कहते हैं।⁷

आगमों के कर्ता :

तीर्थंकर केवल अर्थरूप में उपदेश करते हैं और गणधर उसे ग्रंथबद्ध या सूत्रबद्ध करते हैं।⁸ अर्थात्मक ग्रंथ के प्रणेता तीर्थंकर होते हैं। एतद् अर्थ ही आगमों में यत्र-तत्र (तस्स णं अयमङ्गे पण्णते) ऐसा पाठ प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार जैन आगमों को तीर्थंकर प्रणीत कहा जाता है,⁹ यह भी ज्ञातव्य है कि जैन आगमों की प्रामाणिकता केवल गणधर कृत होने से ही नहीं है, अपितु उसके अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर की वीतरागता एवं सर्वार्थसाक्षात्कारित्व के कारण है। जैन अनुश्रुति के अनुसार गणधर के समान ही अन्य प्रत्येकबुद्ध निरूपित आगम भी प्रमाण रूप होते हैं।¹⁰ गणधर केवल द्वादशांगी की ही रचना करते हैं। अंगबाह्य आगमों की रचना स्थविर करते हैं।¹¹

आगमों का विभाजन :

आचार्य देवर्द्धिगणिक्षमा-श्रमण ने आगमों को अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य इन दो भागों में विभक्त किया है।¹² अंगप्रविष्ट और अंग-बाह्य का विश्लेषण करते हुए जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण ने तीन हेतु बतलाए हैं-

अंगप्रविष्ट वह श्रुत है :

1. जो गणधरों के द्वारा सूत्र रूप से बनाया हुआ होता है।
2. जो गणधरों के द्वारा प्रश्न करने पर तीर्थंकर के द्वारा प्रतिपादित होता है

6. स्याद्वादमंजरी श्लोक 38 टीका

7. विशेषावश्यक भाष्य गा. 559

8. प्रमाणनय तत्त्वालोक 4,1

9. नंदीसूत्र गा. 40

10. मूलाचार गा. 5-80 (ख) जय धवला पृ.153

11. विशेषावश्यक भाष्य गा. 550 (ख) बृहत् कल्पभाष्य गा. 144

12. अहवा तं समासओ दुविहं पण्णत्तं तंजहा - अंग पविट्ठं अंगबहिरिंच नंदी सूत्र 43

3. जो शाश्वत सत्त्यों से संबंधित होने के कारण ध्रुव एवं सुदीर्घकालीन होता है।¹³

एतदर्थ ही समवायांग¹⁴ में स्पष्ट कहा है - द्वादशांग भूत गणितिक भी नहीं था, ऐसा नहीं है, नहीं है, 'नहीं होगा' ऐसा भी नहीं है। वह था, है, और होगा। वह ध्रुव है, नियत है, शाश्वत है, अक्षय है और नित्य है।

अंगबाह्य श्रुत वह होता है -

1. जो स्थविर कृत होता है।
2. जो बिना प्रश्न किए तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित होता है।

आचार्य अकलंक ने कहा है कि आरातीय आचार्यों के द्वारा निर्मित आगम अंग-प्रतिपादित अर्थ के निकट या अनुकूल होने के कारण अंगबाह्य कहलाते हैं।¹⁵

11 अंग, 12 उपांग, 4 मूल तथा 4 छेद एवं 1 आवश्यक इस प्रकार कुल 32 आगमों को स्थानकवासी, तेरापंथी सम्प्रदायों में प्रामाणिक माना गया है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में इनके अतिरिक्त दस पइन्ना (प्रकीर्णक) तथा महानिशीथ, जीतकल्प, ओघ निर्युक्ति एवं पिण्ड निर्युक्ति सहित 45 आगम मान्य हैं।

आगमों में ध्यान किस रूप में उल्लिखित है, आगामी पृष्ठों में उसका विवेचन प्रस्तुत है -

आचारांग सूत्र और उसके व्याख्या साहित्य में ध्यान :

जैन धर्म में ध्यान की परम्परा प्रागैतिहासिक काल से चली आ रही है। ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वप्रथम 'आचारांग' में महावीर के ध्यान संबंधी अनेक संदर्भ उपलब्ध होते हैं। भगवान महावीर को 'ध्यानयोगी' विशेषण से भी विभूषित किया गया है।

13. विशेषावश्यक भा. गा. 552

14. समवायांग, समवाय 148

15. अकलंक, तत्त्वार्थराज वार्तिक 1/20

आचारांग प्रथम श्रुतस्कंध के उपधान सूत्र नामक नवम अध्ययन में भगवान महावीर की ध्यान - साधना संपृक्त चर्चा का जो वर्णन आया है वह बड़ा ही मार्मिक है। वे अपने ध्यान में कितने दृढ़ निष्प्रकम्प और प्रबल थे, यह उस वर्णन से व्यक्त होता है। ध्यान के अनेक आलम्बन होते हैं। भगवान महावीर कभी- कभी एक-एक प्रहर पर्यंत तिर्यक् भित्ति पर अपनी आँखों को एकाग्रकर अन्तरात्मा के ध्यान में लीन रहते। भित्ति पर ध्यान में एकाग्र उनके नेत्रों को देखकर भयभीत बने हुए बच्चे 'अरे ! यह कौन है? मारो इसे मारो !' यों कहकर चिल्लाने लगते।

जब कभी भगवान किसी गृहस्थ या अन्य तीर्थिक जन-संकुल स्थान पर ठहरे हुए होते तो उन्हें देखकर कामविह्वल नारियाँ उनसे कामयाचना करतीं। किन्तु वे भोग को कर्मबन्ध का हेतु मानते हुए कदापि अब्रह्मचर्य की ओर नहीं झुकते। वे अन्तरात्म भाव में गहनतया संप्रविष्ट होकर ध्यान में तन्मय रहते। कभी ठहरने हेतु किन्हीं गृहस्थों का स्थान प्राप्त हो जाता तो वे गृहीजनों के साथ जरा भी घुलते-मिलते नहीं थे। वे उनके संपर्क-संसर्ग का परित्याग करते हुए धर्मध्यान में सर्वथा निमग्न रहते। किसी के द्वारा कुछ पूछे जाने पर भी वे कुछ नहीं बोलते। यदि उन्हें बोलने को बाध्य किया जाता तो वे स्थान का परित्याग कर अन्यत्र चले जाते परन्तु अपने ध्यान का कदापि अतिक्रमण नहीं करते।

जो लोग उन्हें अभिवादन, नमन या प्रणमन करते, उनके प्रति वे आशीर्वचन नहीं बोलते और अनार्य स्थानों में जहाँ लोग उन्हें डण्डों से ताड़ित करते, उनके बाल नोंच लेते, अंग-भंग करने का यत्न करते किन्तु वे उन्हें अभिशाप नहीं देते। भगवान की यह ध्यानमयी साधना अन्य साधकों के लिए सुगम नहीं थी।¹⁶

भगवान महावीर उत्कटिक आदि ध्यानों, चित्त आसनों में अवस्थित होकर चित्त को स्थिर कर ध्यान करते। वे ऊर्ध्व, अधः, तिर्यक् लोक में विद्यमान जीवादि पदार्थों के द्रव्यत्व, पर्यायत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व आदि को ध्यान का विषय अथवा आलम्बन बनाते। वे अध्यात्म से असम्बद्ध विषयों के संकल्प से दूर रहते हुए ध्यानपूर्वक आत्मसमाधि में ही केन्द्रित रहते।

वे क्रोध आदि कषायों को शान्त कर आसक्ति का परिवर्जन कर, शब्द एवं

रूप के प्रति मूर्च्छा रहित बनकर ध्यान-निरत रहते। छद्मस्थ काल में धर्ममूलक उत्तम अनुष्ठान में पराक्रमशील रहते हुए उन्होंने एक बार भी प्रमाद का सेवन नहीं किया।¹⁷

आचारांग सूत्र की शीलांकाचार्य टीका में, आचारांग चूर्णि एवं आवश्यक चूर्णि में भगवान महावीर की ध्यानसाधना के संदर्भ में विवेचन करते हुए बताया गया है कि वे मुख्यतया ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक में विद्यमान जीव-अजीव आदि तत्त्वों का आलम्बन कर ध्यान करते थे।

ऊर्ध्वलोक के अन्तर्गत आकाशदर्शन, अधोलोक के अन्तर्गत भूलोकदर्शन, मध्यलोक के अन्तर्गत तिर्यक् भित्ति दर्शन, इन लोकों में विद्यमान तत्त्वों का आलम्बन लेकर भगवान ध्यान करते थे। क्योंकि लोकचिन्तन में उत्साह, पराक्रम और चेष्टा या सक्रियता का आलम्बन आधार होता है। ऊर्ध्वगति, अधोगति एवं तिर्यक् गति के हेतु बनने वाले भावों का लोकत्रय के दर्शन से परित्याग कर लिया जाता है।

नेत्रों को निर्निमेष विस्फारित, उद्घाटित रखते हुए ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक के बिन्दु पर स्थिर करने से तीनों लोकों को परिज्ञात किया जा सकता है।¹⁸

और भी कहा गया है - भगवान महावीर निष्कषाय तथा आसक्तिरहित, शब्द एवं रूप आदि में मूर्च्छाशून्य आत्मसमाधि में अभिरत होकर ध्यान करते थे। ध्यान के संदर्भ में उनका समय, स्थान या वातावरण विशेष का कोई आग्रह नहीं था।

वृत्तिकार के अनुसार भगवान महावीर ने छद्मस्थ अवस्था में कषायादि प्रमादों का सेवन नहीं किया। चूर्णिकार ने इस संदर्भ में विशेष रूप से भगवान की छद्मस्थ अवस्था में अस्थिक ग्राम में एक बार अन्तर्मुहूर्त के अतिरिक्त निद्रारूप प्रमाद के सेवन करने का उल्लेख किया है।¹⁹ प्रमाद के पाँच भेदों में मद-विषय-कषाय, निद्रा और

17. आचारांग सूत्र 1.9 107-108

18. (क) आचारांग शीला. टीका, पत्रांक 315

(ख) आचारांग चूर्णिमूल पाठ टिप्पण सूत्र 320

(ग) आवश्यक चूर्णि पृ. 324

19. चूर्णि (1) (क) आचारांग शीला, टीका पत्रांक 315

(ख) आचारांग चूर्णि मूलपाठ टिप्पण सूत्र 321

विकथा में केवल निद्रारूप प्रमाद का ही अन्तर्मुहूर्त पर्यंत उनके द्वारा सेवन किया गया। इसका आशय यह है कि उन्होंने किसी भी अन्य प्रमाद का जरा भी सेवन नहीं किया।

‘आचारांग सूत्र’ के नवम अध्ययन की 15वीं गाथा की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि भगवान महावीर पेढाल नामक ग्राम में कोल्लाग नामक चैत्य में तीन दिनों के उपवास में थे। वे कायोत्सर्ग की मुद्रा में अवस्थित थे। उनका शरीर आगे की ओर कुछ झुका था। उनकी दृष्टि एक पुद्गल पर निमेष रहित थी।

इस मुद्रा में उन्होंने एक रात्रि महामुद्रा की आराधना की।²⁰

भगवान महावीर के तपश्चरण की यह विशेषता थी कि वे अत्यधिक कठोर तप करते हुए भी अपनी समाधि अर्थात् उच्चतम ध्यानावस्था के प्रति सदैव सजग रहते थे।²¹

सूत्रकृतांग सूत्र में ध्यान संबंधी निर्देश :

द्वादशांगी के द्वितीय अंग ‘सूत्रकृतांग सूत्र’ के षष्ठ अध्ययन के ‘महावीरत्थवो’ (वीरत्थुइ) में भगवान महावीर के ध्यान का संकेत रूप में जो उल्लेख हुआ है वह बहुत ही महत्वपूर्ण है। भगवान धर्मध्यान की परिसीमाओं को पारकर शुक्ल ध्यान की आराधना में संलग्न थे।

“शोधयत्यष्टप्रकारकर्ममलं शुचं वा क्लमयतीति शुक्लम्” जो कर्ममल का शोधन करने वाला है तथा शोक को और विषाद को मिटा डालता है उसे शुक्ल ध्यान कहा जाता है। भगवान महावीर की ध्यान आराधना में शुक्लध्यान के ऐसे ही स्वरूप का दर्शन होता था।

जब बाह्य अभिनिवेश मिट जाते हैं तो मन में चंचलता उत्पन्न होने के हेतु नष्ट हो जाते हैं। मन स्थिरता प्राप्त कर लेता है। यही कारण है कि भगवान महावीर के ध्यान को हंस, फेन, शंख और इन्दु के समान परम शुक्ल एवं अत्यन्त उज्ज्वल बताया गया है। वे अनुत्तर ध्यान के आराधक कहे गये हैं।²² अनुत्तर शब्द परम

20. आचारांग चूर्णि पृ. 300/301

21. आचारांग वृत्ति पत्र 312

22. सूत्रकृतांग सूत्र 1.6.16 युवाचार्य श्री मधुकर मिश्रीमल जी म.

उच्चावस्था का द्योतक है - “नास्ति उत्तरं यस्मात् तद् अनुत्तरम्” अर्थात् जिससे आगे बढ़कर और नहीं होता उसे अनुत्तर कहा जाता है। भगवान महावीर की ध्यान-आराधना अनुत्तर कोटि की थी।

सूत्रकृतांग सूत्र के संस्कृत टीकाकार महान् विद्वान् आचार्य शीलांक ने इस गाथा की व्याख्या करते हुए भगवान महावीर के ध्यान का विशेष रूप से विश्लेषण किया है। उन्होंने लिखा है कि जिससे उत्तर, प्रधान या श्रेष्ठ अन्य धर्म नहीं होता वैसे अनुत्तर धर्म को भलीभाँति प्ररूपित कर, प्रकाशित कर भगवान उत्तम ध्यान ध्याते थे। भगवान को जब ज्ञान-सर्वज्ञत्व, या केवलज्ञान उत्पन्न हो गया तब वे योगनिरोध काल में काययोग का निरोध करते हुए शुक्ल ध्यान के तृतीय भेद सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान में संलग्न होते थे। जब योगों का निरोध हो गया तब वे शुक्ल ध्यान के चौथे भेद व्युपरतक्रियानिवृत्ति में अभिरत हुए थे। आगमकार इसी तथ्य का दिग्दर्शन कराते हुए प्रतिपादन करते हैं कि जो ध्यान अत्यन्त उज्ज्वल-निर्मल, स्वच्छ पदार्थ की तरह शुक्ल है, जिससे दोष अपगत हैं, जो निर्दोष है, सुवर्ण के सदृश निर्मल है अथवा जो अपाण्ड अपद्रव्य रहित जल के फेन - झाग की ज्यों अत्यन्त विशद है, मल रहित है, शंख एवं चन्द्र के समान एकान्त रूप से अवदात शुक्ल तथा शुभ्र है; वह शुक्लध्यान कहा जाता है। भगवान शुक्ल ध्यान के उक्त दो भेदों की साधना में निरत रहते थे।²³

सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के ‘वीर्य’ नामक अष्टम अध्यायन के अन्त में पण्डितवीर्य, प्रज्ञाशील, आत्मपराक्रमी साधक के आदर्श अनुप्राणित जीवन के सम्बन्ध में गाथाएँ आयी हैं जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। दूसरी गाथा के पहले दो चरण “ज्ञाणजोगं समाहृष्टं कायं विउसेज्ज सव्वसो” साधक की ध्यान परायणता के द्योतक हैं। कहा गया है कि साधक ध्यानयोग को सम्यक् आहत कर, स्वायत्त कर पूर्णरूपेण अपनी काय का व्युत्सर्ग करे। यहाँ साधक के साधनागत अन्यान्य कर्तव्यों का उल्लेख करने के साथ उसके ध्यानयोगी होने का विशेष संकेत है। ध्यान के सम्यक् ग्रहण करने का तात्पर्य यह है कि वह चिर अभ्यास द्वारा ध्यान में परिपक्वता, दृढ़ता, स्थिरता प्राप्त करे और उसमें उतनी ऊर्ध्वगामिता प्राप्त कर ले कि फिर उसे अपनी देह का भी भान न रहे।

23. सूत्रकृतांग 1.6.16 (शीलांकाचार्य कृत टीका) पृ. 355

यहाँ एक बात और विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि ध्यानयोग को सम्यक् समाहृत करने का यहाँ यह अभिप्राय है कि ध्यानाभ्यास से पूर्व उसे देहशुद्धि, श्वासशुद्धि, भावशुद्धि की दृष्टि से यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि की साधना भी, जितनी ध्यानसाधना में अपेक्षित है, उतनी करनी चाहिए।

योग का पहला अंग यम है जिसके अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्म, अपरिग्रह का समावेश है। इन पाँचों यमों का जीवन में अपने सामर्थ्य के अनुसार अभ्यास करना आवश्यक है। यद्यपि सामान्य साधक के जीवन में यह सम्पूर्णतः सध नहीं पाता क्योंकि इनकी सम्पूर्णता तो तब सध पाती है जब मानसिक, वाचिक, कायिक, कृत, कारित, अनुमोदना पूर्वक इनकी आराधना हो। किन्तु इनमें निष्ठाशील होना, जीवन में इनके अनुसरण में विश्वास रखना तो सभी के द्वारा शक्य है।

इसी प्रकार नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार के सम्बन्ध में ज्ञातव्य है। इनका भी यथाशक्य अभ्यास किया ही जाना चाहिए। इस प्रकार तन, मन और भाव की निर्मलता सध जाने पर ध्यानयोग का सम्यक् अवलम्बन हो जाता है।

जैनयोग के स्वनामधन्य संप्रतिष्ठित आचार्यश्री हरिभद्रसूरि ने 'योगबिन्दु' में पूर्वसेवा के नाम से कुछ ऐसी बातों का उल्लेख किया है जो योग और ध्यान साधना के पूर्व जीवन में उतारी जानी चाहिए।²⁴ जब तक मन में अहिंसा, करुणा, मैत्री, समता, मृदुता, नम्रता जैसे निर्मल, कोमल भाव अवस्थित न हों फिर भी कोई व्यक्ति सीधा ही ध्यान जैसी उच्च साधना में संलग्नता का पुरुषार्थ करे तो वह कैसे सफल हो सकता है? सूत्रकार के द्वारा जो, 'सम्यक्' समाहृत, पद लिखा गया है, इसमें इसी प्रकार का भाव अन्तर्निहित है।

खेद का विषय यह है कि आज ध्यानयोग के उपक्रम तो बहुत चलते हैं किन्तु ध्यानाभ्यास के पूर्व जैसी कायिक, मानसिक तैयारी होनी चाहिए उस पर बहुत कम लक्ष्य दिया जाता है। यही कारण है कि क्षण भर के लिए जब तक साधक ध्यान में बैठता है, तब तक शान्ति मिलती है, उठने पर विलुप्त हो जाती है।

ये सन्दर्भ इस तथ्य के परिचायक हैं कि आध्यात्मिक साधकों यानी संयमियों

के जीवन में ध्यान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग रहा है।²⁵

टीकाकार आचार्य शीलांक ने 'ज्ञाणजोगं' पद का विवेचन करते हुए लिखा है कि चित्त का निरोध करना असत् विषयों से उसे रोकना, धर्म का चिन्तन करना आदि को ध्यान कहा जाता है। उसमें मन, वचन एवं शरीर द्वारा विशेष रूप से संलग्न होना, उससे जुड़ना ध्यानयोग है। ध्यानयोग का अच्छी तरह उपादान कर, उसे ग्रहण कर, अकुशल अशुभ योग में - प्रवृत्तियों में जाते शरीर आदि का निरोध कर उसे उस ओर न जाने दे।²⁶

यहाँ 'ज्ञाणजोगं समाह्वुं' पद का अर्थ टीकाकार ने चित्त-वृत्ति का निरोध किया है। पतंजलि ने 'योगसूत्र' में साधक द्वारा चित्तवृत्तियों का सम्पूर्णतः निरोध किया जा सके, यह सम्भव नहीं माना है। अतः उनको अशुभ से मोड़कर शुभ चिन्तन पर एकाग्र किया जाता है तब धर्मध्यान की स्थिति बनती है। इसलिए एक मात्र निरोध का विधान व्यावहारिक दृष्टि से क्रियाभ्यास के साथ संगत प्रतीत नहीं होता।

स्थानांग सूत्र में ध्यान सम्बन्धी विस्तृत विवेचना :

द्वादशांगी का तीसरा अंग 'स्थानांग सूत्र' है। इसमें संख्या क्रम से विभिन्न विषयों का स्थानों के रूप में विवेचन है। एक-एक पदार्थ का जिसमें वर्णन है वह प्रथम स्थान है। इसी क्रम से उत्तरोत्तर वर्णन हुआ है। इसके चतुर्थ स्थान में चार ध्यानों का विवेचन है। वहाँ उनके प्रकार, लक्षण, आलम्बन और अनुप्रेक्षा का वर्णन हुआ है। ध्यान के चार प्रकार - आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान हैं।²⁷

यहाँ ज्ञातव्य यह है कि यद्यपि आर्त और रौद्र ध्यान साधना में अनुपयोगी और विघ्नकारक हैं किन्तु यहाँ उनका जो उल्लेख हुआ है वह ध्यान की अशुभ, शुभ एवं शुद्ध अवस्था को लक्षित कर हुआ है। अशुभ का परित्याग, शुभ और शुद्ध का स्वीकार साधक का लक्ष्य होता है। परित्याज्य या परिहेय वस्तु को भी जानना आवश्यक है। संसार में ज्ञेय, उपादेय और हेय तीन प्रकार के पदार्थ होते हैं, शुभ या अशुभ

25. सूत्रकतांग सूत्र 1.8.26

26. वही, 1.8.26 (शीलांकाचार्य कृत टीका) पृ. 414

27. स्थानांग सूत्र 4.1.60-72 पृ. 222-226

सभी पदार्थ ज्ञेय हैं। उनमें उपादेय वे हैं जो आत्मा का कल्याण करते हैं, हित साधते हैं। हेय वे हैं जो आत्मा को विकारग्रस्त बनाते हैं। यही कारण है कि यहाँ आर्त, रौद्र का भी वर्णन किया गया है ताकि उन्हें जानकर साधक उनका परित्याग करे।

आर्तध्यान :

व्रत यानी पीड़ा, दुःख उत्पन्न करने वाला आर्तध्यान है। आर्तपरिणामों में होने वाला चिन्तानिरोध आर्तध्यान है। यह चार प्रकार का है-

1. अमनोज्ञ (अप्रिय) वस्तु का संयोग होने पर उसके दूर करने का बार-बार चिन्तन करना।
2. मनोज्ञ (प्रिय) वस्तु का संयोग होने पर उसका वियोग न हो, ऐसा बार-बार चिन्तन करना।
3. आतंक (घातक रोग) होने पर उसके दूर करने का बार-बार चिन्तन करना।
4. प्रीतिकारक, कामभोग का संयोग होने पर उसका वियोग न हो, ऐसा बार-बार चिन्तन करना।

सांसारिक व्यक्ति का प्रायः यही चिन्तन रहता है कि उसे जीवन में ऐसा कुछ न देखना पड़े जो उसके लिए अप्रियकर हो। किन्तु कर्मपरिणामवश कब क्या स्थिति आ जाये, कोई नहीं जानता। जब किसी को अप्रिय वस्तु, स्थिति प्राप्त हो जाती है तो वह अत्यन्त व्याकुल हो उठता है और बार-बार उसके मन में यही आता है कि वह इस स्थिति से कैसे छूटे ? वह अत्यधिक अर्ति-आन्तरिक पीड़ा से कुंठित होता हुआ एक मात्र उसी में अपने मन को एकाग्र किये रहता है। यह एकाग्रता तो है किन्तु इसका लक्ष्य दूषित और विकृत है। अतः यह आत्मा के लिए अश्रेयस्कर है, अप्रशस्त है।

इसी प्रकार जब किसी को मनचाही वस्तु प्राप्त हो जाती है तब वह निरन्तर यही सोचता रहता है कि वह उससे कभी पृथक् न हो। क्योंकि प्रिय वस्तु का सदा संयोग बना रहे, यह हर कोई चाहता है। उसके मन में यह भीति बनी रहती है कि कहीं यह स्थिति चली न जाय। यह ध्यान भी पहले की भाँति आत्मा का अकल्याण करता है।

शरीर में कब क्या रोग उत्पन्न हो जाय, कब कौन सी विपत्ति आ पड़े, कौन

जानता है ! जब किसी के साथ ऐसा घटित हो जाता है अर्थात् जब वह रोगग्रस्त, पीड़ातुर या संक्लिष्ट हो जाता है तब उसे और कुछ नहीं सूझता, एक मात्र उसका मन इसी बात पर एकाग्र बना रहता है, टिका रहता है कि यह आतंकपूर्ण रुग्णता या कष्ट कैसे मिटे? इस एकाग्रता में व्यक्ति अपने आपको भूल जाता है। केवल उस आतंकपूर्ण परिस्थिति में ही उलझा रहता है। यह भी एक दोषपूर्ण मनोदशा, मानसिक एकाग्रता है। आत्मस्वरूप का जिनको भान नहीं होता वैसे कामभोगार्थी जन काम्य, भोग्य पदार्थों की प्राप्ति होने पर उन्हीं में उलझे रहते हैं। कहीं ये काम-भोग नष्ट न हो जाँय, एक मात्र यही भाव, यही एकाग्रता उनमें बनी रहती है।

ये चारों भेद अनुकूल, प्रतिकूल अथवा प्रिय, अप्रिय अवस्थाओं पर टिके हुए हैं। क्योंकि इन बिन्दुओं पर एकाग्रता बनती है, इसलिए ये ध्यान संज्ञा के अन्तर्गत तो आते हैं किन्तु ये सर्वथा अनुपादेय एवं परिहेय हैं।

आर्तध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं, जैसे - 1. क्रन्दनता 2. शोचनता 3. तेपनता 4. परिदेवनता। क्रन्दनता से तात्पर्य है क्रन्दन करना, ऊँची आवाज में कराहते हुए रुदन करना। जब अप्रिय अवस्था बनी रहती है, प्रिय अवस्था चली जाती है तब अज्ञ पुरुष की ऐसी ही स्थिति होती है। वह दैन्यभाव प्रकट करता हुआ शोक करता है, उसके नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगती है और वह करुणाजनक शब्दों में विलाप करता है। जब किसी में ये स्थितियाँ प्राप्त हों तब कहा जा सकता है कि वह आर्तध्यान की स्थिति में है। ये क्रन्दन, रुदन आदि क्रियायें अशुभ कर्मबन्ध की हेतु हैं।

रौद्रध्यान :

निरन्तर रुद्र या क्रूर कार्यों को करना, आरम्भ-समारम्भ में लगे रहना, उनको करते हुए जीवरक्षा का विचार न करना, झूठ बोलते और चोरी करते हुए भी पर-पीड़ा का विचार न करके आनन्दित होना, ये सर्व रौद्रध्यान के कार्य कहे गये हैं।

रौद्रध्यान के चार प्रकार :

1. हिंसानुबन्धी : निरन्तर हिंसक प्रवृत्तियों में तन्मयता कराने वाली चित्त की एकाग्रता।
2. मृषानुबन्धी : असत्य भाषण सम्बन्धी एकाग्रता।

3. **स्तेयानुबन्धी** : निरन्तर चोरी करने - कराने की प्रवृत्ति सम्बन्धी एकाग्रता।
4. **संरक्षणानुबन्धी** : परिग्रह के अर्जन और संरक्षण सम्बन्धी तन्मयता।

रौद्रध्यान के चार लक्षण :

1. **उत्सन्न दोष** : हिंसादि किसी एक पाप में निरन्तर प्रवृत्ति करना।
2. **बहुदोष** : हिंसादि सभी पापों में सदा संलग्न रहना।
3. **अज्ञानदोष** : कुशास्त्रों के संस्कार से हिंसादि अधार्मिक कार्यों को धर्म मानना।
4. **आमरणान्त दोष** : मरण काल तक भी हिंसादि करने का अनुताप न होना। रौद्र का अर्थ रुद्रता या क्रूरतापूर्ण आचरण है। हिंसा ऐसा कर्म है जिसे करते समय व्यक्ति अत्यन्त क्रूर होता है। उसमें करुणा या दया का भाव सर्वथा लुप्त हो जाता है। इसलिए वह निरन्तर वैसी प्रवृत्ति में संलग्न रहता है। वह कुत्सित, दोषपूर्ण या मिथ्याशास्त्रों के संस्कार के कारण हिंसादि पापपूर्ण कार्यों को धर्म मानता हुआ उनमें संलग्न रहता है। इन प्रवृत्तिमूलक चिह्नों या लक्षणों को देखने से यह परिज्ञात होता है कि अमुक व्यक्ति रौद्रध्यान की स्थिति में है।

आर्त्त, रौद्रध्यान के स्वरूप, लक्षण, दुष्परिणाम इत्यादि का जब भलीभाँति ज्ञान हो जाता है तब व्यक्ति उन पर गहराई से चिन्तन करता है, फलस्वरूप उसके मन में यह भावोद्रेक प्रकट होता है कि वह अपने आप को इनसे बचाये।

धर्मध्यान : धर्मध्यान चार प्रकार का कहा गया है,

- (1) आज्ञाविचय (2) अपायविचय (3) विपाकविचय (4) संस्थानविचय।

आज्ञा का अर्थ तीर्थंकर देव की धर्मदेशना या धर्मोपदेश है। विचय शब्द विचार का सूचक है। इस ध्यान में साधक जिनप्ररूपित तत्त्वों, सिद्धान्तों के चिन्तन-विमर्श में अपने आपको संलग्न करता है, अन्य सब ओर से उसकी दृष्टि हट जाता है। इसी में वह अपने को लीन बना देता है।

अपायविचय - अपाय का अर्थ पतन, संकट या विघ्न है। अथवा संसारी जीव के रूप में उत्पन्न होना आत्मा के लिए पतन रूप है। उसके कारणों पर, उससे बचने के उपायों पर चिन्तन में अपने को संलग्न करना अपायविचय है। जैनदर्शन कर्मवादी दर्शन है। मानसिक, वाचिक, कायिक प्रवृत्तियों द्वारा कर्म-पुद्गलों का बन्ध होता है। उनकी स्थिति के अनुसार उनका विपाक या परिपाक होता है, वे फल देते हैं। इस विषय पर अपने मन को संलीन करना **विपाकविचय** है। जैन दर्शन के अनुसार यह लोक पुरुषाकार है। यही अपने - अपने कर्मों के अनुसार जीवों के जन्म-मरण का आधार है। लोक के स्वरूप के चिन्तन में मन को समायोजित करना **संस्थानविचय** है।

इन चारों ही ध्यानों में जीव अपने अन्तःस्वरूप की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा प्राप्त करता है। इन चारों के भिन्न-भिन्न विषय ऐसे हैं जो आत्मा के साथ सीधे जुड़े हुए हैं। सर्वज्ञ वीतराग प्रभु की वाणी सर्वथा तथ्य, सत्य और विसंवादरहित है। इस पर चिन्तन करते रहने से मन में उसके प्रति सघन श्रद्धा का भाव उत्पन्न होता है जिससे आत्मा में उज्ज्वलता आती है। संसार में पतन के कारणों से अपने आप को दूर रखने के चिन्तन में एकाग्र होने से सहज ही मन में यह प्रेरणा जागती है कि वह ऐसे अशुभ-असत्-अपवित्र कार्य न करे, जिनसे उसे भवचक्र में भ्रमण करना पड़े।

कर्मों के विपाक पर चिन्तन से ही साधक के मन में यह अन्तर्भाव जागृत होता है कि उसे कर्म करते समय अत्यन्त जागरूक रहना चाहिए। ऐसे कर्म कभी न करें जिनके परिणाम-स्वरूप जीव को अनेक संकट-कष्ट झेलने पड़ें।

जब साधक लोक के विराट् स्वरूप के चिन्तन में अपने को नियोजित करता है तो उसे सहज ही यह भान होने लगता है कि इस लोक में उसका अस्तित्व कितना-सा है। वह किस बात का गर्व करे, वह तो इसके अतीव छोटे-से-छोटे भाग पर अवस्थित है। उसका अहंकार दूर होने लगता है। उसे अपना अस्तित्व-बोध प्राप्त होता है।

धर्मध्यान के चार लक्षण :

- (1) आज्ञारुचि (2) निसर्गरुचि (3) सूत्ररुचि (4) अवगाढरुचि।

जिस प्रकार आर्त और रौद्रध्यान के लक्षण निरूपित हुए हैं जिनसे उनकी पहचान होती है, उसी तरह धर्मध्यान की पहचान के लिए ये चार लक्षण प्रतिपादित हुए हैं।

आज्ञाविचय ध्यान में जिनप्रवचन के चिन्तन में एकाग्र होना बतलाया गया है। यहाँ उसकी पहचान की ओर संकेत है। जिन-आज्ञाविचय पर जो चिन्तन सतत जुड़ा रहता है उसे अपने ध्यान का विषय बना लेता है उसमें सहज ही जिनप्ररूपित तत्त्वों के विचार, चिन्तन-मनन में रुचि उत्पन्न होती है। उनके प्रति श्रद्धा का भाव उद्भूत होता है तथा भक्ति भाव का स्रोत उमड़ने लगता है। जब यह व्यक्ति में दृष्टिगोचर होता है तो यह ज्ञात हो जाता है कि यह जीव धर्मध्यान का आराधक है।

जब सर्वज्ञप्ररूपित तत्त्वों में अभिरुचि, विश्वास और भक्ति उत्पन्न हो जाती है तो उसके मन में धार्मिक कृत्यों के प्रति जो जिनवाणी में व्याख्यात हुए हैं, सहज ही रुचि उत्पन्न हो जाती है।

आगम भगवत् वाणी का प्रतिनिधित्व करते हैं क्योंकि जिनेन्द्र द्वारा अर्थरूप में भाषित और उनके प्रमुख अन्तेवासी गणधरों द्वारा शब्द रूप में संकलित आगम हमें वह बोध प्रदान करते हैं जिससे हमारी आत्मा का कल्याण होता है। धर्मध्यान के आराधक की सूत्र-आगम के पठन-पाठन और परिशीलन में अभिरुचि रहती है क्योंकि वह यह जानता है कि इससे उसको तत्त्वों का बोध प्राप्त होगा, जिससे धार्मिक कृत्यों को भलीभाँति साध पाने का यथार्थ पथ प्राप्त हो सकेगा। चौथे लक्षण में अवगाढ़ रुचि शब्द आया है, यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। पठन-पाठन, चिन्तन-मनन तब सार्थक्य पाता है जब आराधक उनमें डूब जाता है, निमग्न हो जाता है, वैसा होने से उसे तत्त्वदर्शन सम्यक् आत्मसात् हो जाता है। धर्मध्यान के आराधक में ऐसा भी भाव बना रहता है कि वह सूत्रानुशीलन में तन्मयता प्राप्त कर ले।

धर्मध्यान के चार आलम्बन :

1. वाचना 2. प्रतिपृच्छना 3. परिवर्तन 4. अनुप्रेक्षा।

आलम्बन का अर्थ आधार या टिकाव है। किसी भी पदार्थ की अवस्थिति के लिए आधार या आलम्बन की नितान्त आवश्यकता रहती है। वीतरागदेव की आज्ञा पर चिन्तन, उसमें अभिरुचि और उसमें निमग्न हो जाने की भावना के पनपने के चार आधार हैं।

पहला आधार वाचना है। वाचना का अर्थ पढ़ना, समझपूर्वक पढ़ना है।

प्रज्ञाशील जनों की तो और बात है, साधारण व्यक्ति को अपने पठन में कहीं भी शंका, जिज्ञासा हो तो उसे ज्ञानी गुरुजन से उनका निवारण करना, समाधान पाना अपेक्षित है। प्रतिपृच्छना का यही अभिप्राय है।

श्रुत, शास्त्र या विद्या तभी भलीभाँति अधिगत होती है, जब उसकी बार-बार आवृत्ति की जाय, अभ्यास किया जाय। ऐसा करने से उसका तात्पर्य अच्छी तरह हृदयंगम हो जाता है। अभ्यास नहीं करने से विद्या विष के तुल्य हो जाती है अर्थात् वह अध्येता के लिए उपयोगी नहीं रहती। अपरिपक्व या अधूरा ज्ञान हानिप्रद भी होता है। जिस तरह पाचन न होने से भोजन विष जैसा प्रभाव करता है उसी प्रकार अपरिपक्व या अधूरा ज्ञान हानिप्रद होता है।

पुनरावर्तन का भाव मूल वाणी को बार-बार आवर्तित करते हुए उसे हृदय में जमा लेना, कंठस्थ कर लेना है। उससे आगे की भूमिका उसके अर्थ का अनुप्रेक्षण कर उस पर चिन्तन-मनन करने की है। चौथे आलम्बन अनुप्रेक्षा का यही आशय है।

धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ :

- (1) एकत्वानुप्रेक्षा (2) अनित्यानुप्रेक्षा (3) अशरणानुप्रेक्षा (4) संसारानुप्रेक्षा।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आगमकार ने आर्त्त, रौद्र ध्यान का जो परिचय कराया है वह ज्ञेयत्व, हेयत्व की दृष्टि से है, अर्थात् उन्हें जानना चाहिए और उनका परित्याग करना चाहिए।

धर्मध्यान का परिचय उपादेयत्व की दृष्टि से है अर्थात् उसे स्वीकार करना चाहिए, उसका अभ्यास करना चाहिए, उसमें तन्मय होना चाहिए। अतएव उनके लक्षणों के साथ-साथ उनके आलम्बनों का कथन किया गया और उनकी अनुप्रेक्षाओं का भी विधान किया गया जो एकत्व, अनित्यत्व, अशरणत्व तथा संसारानुप्रेक्षा के रूप में चार प्रकार की हैं। ये अनुप्रेक्षाएँ साधक के ध्यानोपक्रम को सुदृढ़ और सशक्त बनाती हैं।

यह तथ्य है कि जीव अकेला ही जन्म लेता है, स्वकृत कर्मानुरूप सुखमय, दुःखमय फल भोगता है और अकेला ही वह संसार-सागर में परिभ्रमण करता है। इस अनुप्रेक्षा की उपादेयता यह है कि मानव बड़ा दिभ्रान्त रहता है, वह समझता है मैं अकेला नहीं हूँ। मेरे कितने सम्पन्न सम्बल पारिवारिक मित्रजन हैं। इस अज्ञानजनित

भ्रान्ति के स्वरूप वह आत्मबोध खोये रहता है और धार्मिक चिन्तन में संलग्न होने में न उसकी रुचि होती है तथा न उस ओर कभी वह समुद्यत होता है। यदि मानव जीवन की क्रिया-प्रक्रिया पर विचार करें तो हमें आज लगभग ऐसा ही दिखलाई पड़ता है। इस भ्रम और अज्ञान को दूर करने में एकत्वानुप्रेक्षा अत्यन्त प्रेरणास्पद है। उपाध्याय विनयविजय जी ने कितना सुन्दर लिखा है :

“एक उत्पद्यते तनुमान्, एक एव विपद्यते !
एक एव हि कर्म चिनुते एकैकः फल-मश्नुते !!”²⁸

अर्थात् प्राणी अकेला ही उत्पन्न होता है, वह अकेला ही विपन्न होता है, कष्ट पाता है, मरण पाता है, वह अकेला ही कर्मों का संचय करता है और अकेला ही उनका फल भोगता है।

सांसारिक मानव में एक बड़ी मानसिक दुर्बलता यह है कि वह भौतिक पदार्थों को सांसारिक उपादानों को जो नश्वर हैं, नित्य मानता है इसलिए धन-वैभव, साधन-सामग्री इत्यादि में मोहमूढ़ बना रहता है। सही मार्ग पर वह तभी आ सकता है जब उसके मन में यह भाव बद्धमूल हो जाय कि ये सांसारिक भौतिक पदार्थ विनश्वर हैं, अनित्य हैं। इस प्रकार का अनुप्रेक्षण, चिन्तन-मन्थन सांसारिक पदार्थों के साथ विद्यमान उसकी आसक्ति को दूर करता है। अनित्यानुप्रेक्षा का यही अभिप्रेत है।

सांसारिक व्यक्ति की यह मान्यता देखी जाती है कि वह अपने परिवार, धन-सम्पत्ति तथा सुहृद्जनों को अपने लिए सुरक्षाकेन्द्र या शरण मानता है। उसका ऐसा विश्वास दृष्टिगोचर होता है कि इन सबके होते उसे कौन हानि पहुँचा सकता है। किन्तु उसका यह विश्वास सर्वथा मिथ्या है। कर्मजनित रोग, पीड़ा एवं दुःख को कोई भी नहीं बाँट सकता, कोई भी नहीं मिटा सकता। चाहे कोई अपने को हीरो से तौल दे किन्तु कर्मज व्याधि तो किसी के द्वारा मिटायी ही नहीं जाती। इसलिए सत्य और यथार्थ यह है कि प्राणी के लिए कोई भी शरणभूत नहीं है। वह नितान्त अशरण, असहाय और असुरक्षित है। यह अनुप्रेक्षण-चिन्तन साधक को धर्मध्यान में अभिरत, संलग्न बने रहने में स्फूर्ति प्रदान करता है। अशरणानुप्रेक्षा का यही अभिप्राय है।

यह संसार मनुष्य, नारक, देव, तिर्यचं रूप चार गतियों से युक्त है। संसार के सभी प्राणी विविध रूपों में इन्हीं चार गतियों में परिभ्रमण करते हैं। अपने-अपने कर्मों के अनुसार वे उत्पन्न होते हैं, देहावसान प्राप्त करते हैं, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों को झेलते हैं। यह अनादि काल से चला आ रहा है। भवचक्र बड़ा विषम एवं दुर्गम है। जो अपना वास्तविक स्वरूप न समझकर धर्मानुप्राणित नहीं होता वह इसी चतुर्गतिमय जागतिक जंजाल में अटका रहता है। **संसारानुप्रेक्षा** संसार के स्वरूप का बोध कराते हुए आत्मस्वरूपोन्मुख बनने की प्रेरणा प्रदान करती है।

धर्मध्यान द्वारा आत्मोत्थान के इस मौलिक दर्शन का उत्तरवर्ती आचार्यों ने अनेक रूपों में विस्तार किया, नये-नये आयाम इसमें जोड़े गए जिनका आकलन शोध-प्रबन्ध में आगे किया जायेगा।

शुक्लध्यान :

यह ध्यान आत्मा की सिद्धि का मूलमंत्र है। वैराग्य बल से धारावाही मनोयोगपूर्वक चिन्तन से विषय-कषायों का सम्बन्ध सर्वथा पृथक् हो जाता है। शरीर का छेदन-भेदन होने पर भी स्थिर हुआ चित्त लेश मात्र भी चलायमान नहीं होता, मेरु सम अटल रहता है, अपने आत्मस्वरूप, सत्चित् आनन्द को प्राप्त करता है यह शुक्ल ध्यान की स्थिति है। इसके चार भेद हैं :-

- (1) पृथक्त्ववितर्क विचार (2) एकत्ववितर्क अविचार
- (3) सूक्ष्मक्रिय अनिवृत्ति (4) समुच्छिन्न क्रिय अप्रतिपाती

स्थानांग सूत्र की वृत्ति में शुक्लध्यान के भेदों के संदर्भ में वितर्क और विचार का विवेचन करते हुए प्रतिपादित हुआ है कि श्रुतावलम्बी विकल्प वितर्क है। विचार का अभिप्राय परिवर्तन है जैसे पूर्वधर मुनि पूर्वश्रुत के अनुसार किसी एक द्रव्य का आलम्बन लेकर ध्यान करता है परन्तु उसके किसी एक परिणाम या पर्याय पर वह स्थिर या एकाग्र नहीं रहता, वह उसके विविध परिणामों या पर्यायों पर विचरण करता है। शब्द से अर्थ और अर्थ से शब्द पर विचरण करता है। मन - वचन और काय में से किसी एक दूसरे पर संक्रमण करता है, विविध दृष्टिकोणों से उस पर चिन्तन करता है। यह पृथक्त्व वितर्क विचार का स्वरूप है।²⁹

पृथक्त्ववितर्क विचार : इसमें अर्थ, व्यंजन और योग का विचार किया जाता है। एक शब्द को विचार कर दूसरे शब्द में प्रवृत्त होना शब्द संक्रमण है। एक योग को छोड़कर दूसरे योग में प्रवृत्त होना योग संक्रमण है। एक पदार्थ का विचार कर उसे छोड़ दूसरे पदार्थ में विचार का जाना अर्थ संक्रमण है। इसमें श्रुतज्ञान का आधार लेकर भिन्न - भिन्न दृष्टिकोणों से जड़ - चेतन, मूर्त - अमूर्त, उत्पाद, व्यय, पर्याय, द्रव्यों का चिन्तन-मनन किया जाता है।

महर्षि पतंजलि ने 'योगसूत्र' में सवितर्कसमापत्ति का जो वर्णन किया है³⁰ वह पृथक्त्ववितर्क विचार शुक्लध्यान से तुलनीय है। वहाँ शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों के विकल्पों से संकीर्ण सम्मिलित समापत्ति समाधि को सवितर्क समापत्ति कहा गया है।

जैन एवं पातंजल योग से सम्बद्ध इन तीनों विधाओं की गहराई में जाने से अनेक दार्शनिक तथ्यों का प्राकट्य सम्भव है।

एकत्व वितर्क अविचार शुक्लध्यान : बारहवें गुणस्थानवर्ती क्षीणमोही क्षपक - साधक की मनोवृत्ति इतनी स्थिर हो जाती है कि वहाँ न द्रव्य, गुण, पर्याय के चिन्तन का परिवर्तन होता है और न अर्थ, व्यंजन (शब्द) और योगों का ही संक्रमण होता है। किन्तु वह द्रव्य, गुण या पर्याय में से किसी एक के गम्भीर एवं सूक्ष्म चिन्तन में संलग्न रहता है और उसका वह चिन्तन किसी एक अर्थ, शब्द या योग के आलम्बन से होता है। उस समय वह एकाग्रता की चरम कोटि पर पहुँच जाता है और इसी दूसरे शुक्लध्यान की प्रज्वलित अग्नि में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म की सर्व प्रकृतियों को भस्म कर अनन्तज्ञान, दर्शन और बल-वीर्य का धारक सयोगी जिन बन कर तेरहवें गुणस्थान में प्रवेश करता है।

महर्षि पतंजलि द्वारा वर्णित निर्वितर्क समापत्ति एकत्व वितर्क अविचार से तुलनीय है पतंजलि लिखते हैं- जब स्मृतिपरिशुद्ध हो जाती है अर्थात् शब्द और प्रतीति की स्मृति लुप्त हो जाती है। चित्तवृत्ति केवल अर्थमात्र का ध्येय मात्र का निर्भास कराने वाली, ध्येय मात्र के स्वरूप को प्रत्यक्ष कराने वाली होकर स्वयं स्वरूप शून्य की तरह बन जाती है तब वैसी स्थिति निर्वितर्क समापत्ति से संज्ञित होती है।³¹

30. योगसूत्र 1.42

31. योगसूत्र 1.43

महर्षि पतंजलि के अनुसार यह विवेचन स्थूल ध्येय पदार्थों की दृष्टि से है, जहाँ ध्येय पदार्थ सूक्ष्म हों वहाँ उक्त दोनों की संज्ञा विचार और निर्विचार समाधि हो जाती है।³²

यह तुलना केवल बाह्य स्वरूप की दृष्टि से है। शुक्ल ध्यान की स्थिति इनसे और अधिक सूक्ष्म एवं अन्तःस्पर्शिनी होती है। स्थानांग सूत्र की संस्कृत वृत्ति में आचार्य अभयदेव सूरि ने एकत्ववितर्क अविचार संज्ञक शुक्लध्यान के दूसरे भेद का विरलेषण करते हुए कहा है कि उत्पाद आदि पर्यायों के एकत्व - अभेद वृत्ति से किसी एक पर्याय का चैतसिक एकाग्रता के साथ चिंतन करना, उस पर स्थिर होना एकत्व है। इस ध्यान में अर्थ, व्यंजन एवं योगों का संक्रमण नहीं होता। पवन रहित स्थान में सन्निहित दीपक जैसे स्पन्दनादि क्रियाओं से रहित होकर प्रकाश करता है, उसी भाँति आत्मा योगादि में संक्रमण न करते हुए ध्यान में समवस्थित रहती है।

इस ध्यान के परिणामस्वरूप मोहकर्म सर्वथा क्षीण हो जाता है। द्वादश गुणस्थानवर्ती साधक में यह ध्यान घटित होता है।³³

ःसूक्ष्मक्रिय अनिवृत्ति शुक्लध्यान : तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोगी जिन का आयुष्य जब अन्तर्मुहूर्त प्रमाणमात्र शेष रहता है और उसी की बराबर स्थिति वाले वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म रह जाते हैं तब वे सयोगी जिन बादर तथा सूक्ष्म सर्व मनोयोग और वचन योगों का निरोध कर सूक्ष्म काययोग का आलम्बन लेकर सूक्ष्मक्रियानिवृत्ति ध्यान ध्याते हैं। इस समय श्वासोच्छ्वास जैसी सूक्ष्म क्रिया शेष रहती है और इस अवस्था से निवृत्ति या वापिस लौटना नहीं होता है, अतः इसे सूक्ष्मक्रिय अनिवृत्ति कहते हैं।

समुच्छिन्न क्रिय अप्रतिपाती : यह शुक्लध्यान सूक्ष्म काययोग का निरोध होने पर चौदहवें गुणस्थान में होता है और योगों की प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव हो जाने से आत्मा अयोगी जिन हो जाता है। इस चौथे शुक्ल ध्यान द्वारा वे अयोगी जिन अघाति कर्मों की शेष रही 85 प्रकृतियों की प्रतिक्षण असंख्यात गुणित क्रम में निर्जरा करते हुए अन्तिम क्षण में कर्म-लेप से सर्वथा विमुक्त होकर सिद्ध परमात्मपद को प्राप्त

32. वही, 1.44

33. स्थानांगसूत्र (4.1.247) वृत्ति पृ. 191

कर लेते हैं। इस प्रकार शुक्लध्यान से योगक्रिया समुच्छिन्न (सर्वथा विनष्ट) हो जाती है और उससे नीचे पतन नहीं होता, अतः इसका समुच्छिन्नक्रिय अप्रतिपाती यह सार्थक नाम है।

शुक्लध्यान के चार लक्षण : शुक्लध्यान के सधने के चार लक्षण बतलाये गये हैं। वे हैं-

(1) अव्यथ (2) असम्मोह (3) विवेक और (4) व्युत्सर्ग।

शुक्लध्यान में अवस्थित आराधक अत्यधिक आत्मस्थिरता प्राप्त करता जाता है। इसलिए बाहर की प्रतिकूल परिस्थितियाँ इसे विचलित नहीं कर पाती हैं। वह किसी भी प्रकार की व्यथा या पीड़ा से, परीषहों से, परोत्पादित कष्टों से व्यथित नहीं होता, कदापि क्षुब्ध नहीं होता, 'अव्यथ' शब्द का यही भाव है।

साधना का मार्ग बड़ा कंटकाकीर्ण है। उसमें अनेकानेक विघ्न उपस्थित होते हैं। यदि साधक परिपक्व न हो तो वे उसे मोहमूढ बना देते हैं। मिथ्यात्वी देव आदि भी उसे ध्यान से विचलित करने का दुष्प्रयास करते हैं किन्तु शुक्लध्यान का आराधक यदि अन्तर्जागरूकता लिये होता है तो वह कदापि विमोहित नहीं होता। 'असम्मोह' इसी भाव का द्योतक है।

शुक्लध्यान के आराधक में उत्तम भेदविज्ञान की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। वह सभी संयोगों को अपनी आत्मा से सर्वथा भिन्न मानता है। ऐसा भेदविज्ञान जब हो जाता है, तब साधक में सहज ही अपनी विशुद्धावस्था में बने रहने की क्षमता आ जाती है। ऐसा होने के मूल में विवेक की पृष्ठभूमि है। जब विवेक अधिगत हो जाता है तब भेदविज्ञान निष्पन्न होता है।

साधक जब स्व-पर के भेद से सर्वथा अभिज्ञ हो जाता है तब जागतिक पदार्थों के प्रति यहाँ तक कि अपने देह के प्रति भी उसका ममत्व मिट जाता है। वह अपने देह के लिए उपयोगी वस्तुओं में भी सर्वथा आसक्तिशून्य बन जाता है। यह अत्यन्त निःसंगता की स्थिति है। अनासक्तिमय जीवन का यह उत्कृष्ट रूप है जो शुक्लध्यान में प्रतिफलित होता है। ये चतुर्विध लक्षण या साधक के जीवन की चार स्थितियाँ उसके शुक्लध्यानरत होने की पहचान हैं।

शुक्लध्यान के चार आलम्बन : (1) क्षान्ति (2) मुक्ति (3) आर्जव और (4) मार्दव, शुक्लध्यान के ये चार आलम्बन प्रज्ञप्त हुए हैं।

क्षान्ति का अर्थ क्षमाशीलता है। यह तब सधती है जब अनुकूल प्रतिकूल के भेद से व्यक्ति ऊँचा उठ जाता है। यहाँ **मुक्ति** का अर्थ लोभात्मक वृत्ति से ऊँचा उठना है। यह भी आत्मा की शुद्धत्वोपपन्न दशा है। **आर्जव** का अभिप्राय ऋजुता या सरलता है। **मार्दव** का आशय मृदुता या कोमलता है। इन चारों ही का अभिप्राय आत्मा की निर्मलता, पवित्रता एवं सात्विकता के साथ जुड़ा है। धर्मध्यान जैसे उच्च ऊर्ध्वगामी साधना पथ पर अग्रसर साधक सहजरूप में इनका अनुप्रेक्षण करते रहते हैं। ये आत्म-नैर्मल्य के वे रूप हैं जिनसे उसकी सहजता अभिव्यक्त होती है।

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ :

(1) अनन्तवृत्तितानुप्रेक्षा (2) विपरिणामानुप्रेक्षा (3) अशुभानुप्रेक्षा (4) अपायानुप्रेक्षा।

जीव अपने कर्मों के अनुसार दीर्घ काल तक संसार में परिभ्रमण करता रहता है। एक जीव संसार के समस्त पुद्गलों का जब किसी-न-किसी रूप में उपयोग कर लेता है तब उसे एक पुद्गलपरावर्त कहा जाता है। ऐसे अनन्त पुद्गलपरावर्तों में से उसे गुजरना होता है। जब वह चरम पुद्गल परावर्त में होता है तब कहीं स्वतः प्रेरित आत्म-पराक्रम के बल से मिथ्यात्व की ग्रन्थि को भग्न करने की दिशा में उन्मुख होता है। इस प्रकार का चिन्तन **अनन्तवृत्तितानुप्रेक्षा** है। यह शुक्लध्यान में संप्रवृत्त साधक में होती है।

संसार के विभिन्न पदार्थ विविध परिणमनों में से गुजरते हैं। परिणमनों का वैविध्य अनेकानेक रूप लिये रहता है। यह भी अन्तःचिन्तन की सूक्ष्म प्रक्रिया है जो **विपरिणामानुप्रेक्षा** में घटित होती है।

तत्त्वतः यह संसार, शरीर और भौतिक भोग-सुख अशुभ हैं। आत्मा के लिए वे अश्रेयस्कर और अकल्याणकारी हैं। सूक्ष्म, तलस्पर्शी दृष्टिकोण से ऐसा विचार करना **अशुभानुप्रेक्षा** है।

आत्म-विकास में अपाय, विघ्न, बाधा, अवरोध उत्पन्न करने वाले दोषों पर

जो राग - द्वेष के कारण उत्पन्न होते हैं, सूक्ष्म चिन्तन करना अपायानुप्रेक्षा है।

सूक्ष्म ध्यान गहन आन्तरिक अनुभूति का विषय है। यह सामान्य साधकों के नहीं सधता। उच्चतम गुणस्थानों को प्राप्त महान् अध्यात्मयोगियों के यह सधता है। जैसा ऊपर विवेचन किया गया है, इस ध्यान में योगी बहिर्जगत् से छूटता-छूटता अन्तर्जगत् में इतना लीन हो जाता है कि अन्ततः वह जीवन का परम साध्य परिनिर्वाण या मोक्ष अधिगत कर लेता है। यह योगी की साधना का परम श्रेयस्पूर्ण पर्यवसान है।

समवायांग सूत्र में ध्यान :

द्वादशांगी के चतुर्थ अंग 'समवाय' के चौथे समवाय में ध्यान के चारों भेदों का उल्लेख हुआ है।³⁴ इसी सूत्र में बत्तीसवें समवाय में बत्तीस योगसंग्रहों का वर्णन आता है। इनमें मुख्य रूप से उन तथ्यों का समाकलन है जो एक अध्यात्मयोगी साधक के जीवन में परिष्कार लाते हैं। इनके अन्तर्गत 'ध्यान संवरयोग' अट्ठाईसवाँ योगसंग्रह है। इसका अभिप्राय यह है कि साधक धर्मध्यान को स्वायत्त करने तथा शुक्लध्यान तक पहुँचने, उस दिशा में बढ़ने के लिए आस्रव द्वारों का संवरण करेगा।³⁵ आवश्यक निर्युक्ति में 'ध्यान संवर योग' का आशय 'सूक्ष्म ध्यान' है।

भगवती सूत्र और ध्यान :

द्वादशांगी के पाँचवें अंग 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' सूत्र में गौतम गणधर और भगवान महावीर के प्रश्नोत्तर के रूप में ध्यान का विशद विवेचन हुआ है। गौतम ने भगवान महावीर से पृच्छा की कि "भगवन् ! ध्यान क्या है? कितने प्रकार का है ?" भगवान ने उत्तर दिया, "गौतम ! ध्यान के चार प्रकार आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल हैं।"³⁶

इस आगम में इन चारों ध्यानों के स्वरूप, लक्षण आदि का वैसा ही वर्णन है जैसा स्थानांग सूत्र में है। विस्तार एवं पिष्टपेषण के भय से हम यहाँ उसकी चर्चा नहीं कर रहे हैं। भगवान इसी संदर्भ में अपनी अध्यात्म साधना के अन्तर्गत ध्यानात्मक प्रक्रिया व अनुभूति का विवेचन करते हुए अपने शिष्य गौतम गणधर से कहते हैं -

34. समवायांग सूत्र समवाय 4.20 पृ.11

35. समवायांग सूत्र समवाय 32 पृ. 93

36. भगवती सूत्र 25.7.509-513

“मैं छद्मस्थ अवस्था में था तब ग्यारह वर्ष का साधु पर्याय पालता हुआ निरन्तर दो-दो दिन के उपवास करता हुआ, तप एवं संयम द्वारा आत्मा को भावित, स्वभावाप्लुत करता हुआ, ग्रामानुग्राम विहरण करता हुआ सुंसुभार नगर पहुँचा। वहाँ अशोक वनखण्ड नामक उद्यान में अशोक वृक्ष के नीचे पृथ्वी पर स्थित शिलापट्ट के पास आया। दोनों पैर संहत किये - सिकोड़े, आसनस्थ हुआ, भुजाओं को लम्बा किया - फैलाया। एक पुद्गल पर दृष्टि स्थापित की। नेत्रों को अनिमेष रखा, देह को थोड़ा झुकाया। अंगों को, इन्द्रियों को यथावत् आत्मकेन्द्रित रखा। एक रात्रि की महाप्रतिमा स्वीकार की। यह क्रम आगे विहारचर्या में चालू रहा।”³⁷

भगवान के तपश्चरण का यह प्रसंग उनके ध्यान, मुद्रा, आसन, अवस्थिति आदि की ओर इंगित करता है। इसके आधार पर स्पष्ट रूप में तो कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु इतना अवश्य अनुमेय है कि उनके ध्यान का अपना कोई विशेष क्रम अवश्य रहा, जिसका विशद वर्णन हमें जैन आगमों में प्राप्त नहीं होता।

उपर्युक्त संदर्भों से यह व्यक्त होता है कि जैन साधना के अन्तर्गत साधक ध्यान का विशेष रूप से अभ्यास करते हैं। यह उनकी दैनंदिन चर्या का मुख्य भाग है। ध्यान के साथ-साथ आसन विशेष के भी प्रयोग होते रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरवर्ती काल में ध्यानसाधना का प्रयोग कम होता गया तथा अनशन आदि तप पर अधिक जोर दिया जाता रहा। सम्भव है ऐसी विशेष रचना भी रही हो, जिसमें ध्यान-विषयक सभी पक्षों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन हुआ हो किन्तु वह साहित्य सुरक्षित न रह सका हो। आचार्य भद्रबाहु के सम्बन्ध में यह उल्लेख है कि भगवान महावीर के निर्वाण के लगभग 160 वर्ष पश्चात् पाटलिपुत्र में आचार्य स्थूलिभद्र के नेतृत्व में आगमों की प्रथम वाचना हुई।

इस वाचना में बारहवाँ अंग ‘दृष्टिवाद’ किसी को स्मरण नहीं था। उसके ज्ञाता केवल आचार्य भद्रबाहु थे। वे उस समय नेपाल में ‘महाप्राण ध्यान’ की साधना कर रहे थे। वह ‘महाप्राण ध्यान’ क्या था इसका कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। सम्भवतः प्राणवायु के आधार पर ध्यान की कोई विशेष प्रक्रिया रही होगी।

आत्मा की (चेतना की) परिणति के तीन रूप बतलाये गये हैं-

(1) हीयमान, (2) अवस्थित और (3) वर्द्धमान

हीयमान वह परिणति है जो क्रमशः घटती जाती है। वर्द्धमान उसे कहा जाता है जो क्रमशः वर्द्धनोन्मुख होती है। अवस्थित उसे कहा जाता है जो हानि तथा वृद्धि से रहित होती है। अवस्थित परिणति में न तो हीयमानता होती है और न वर्द्धमानता होती है, उसमें अवस्थिता या स्थिरता होती है। हीयमान तथा वर्द्धमान परिणति में एकाग्रता नहीं सध पाती। केवल अवस्थितता में ही एकाग्रता प्रतिफलित होती है। ध्यान का सम्बन्ध एकाग्रता से है। इसलिए उसे अवस्थित परिणति से जोड़ा जा सकता है। भगवती सूत्र में भगवान महावीर और गणधर गौतम के प्रश्नोत्तरों के रूप में एक प्रसंग आया है। गौतम ने भगवान से पूछा - “भगवन् ! अवस्थित परिणति कितने समय तक हो सकती है ? उसका कालमान क्या है ?” भगवान ने समाधान करते हुए कहा, “गौतम ! अवस्थित परिणति कम-से-कम एक समय और अधिक-से-अधिक अन्तर्मुहूर्त तक हो सकती है।”³⁸ इसी आधार पर ध्यान का कालमान निर्धारित किया गया जिसका अनुसरण करते हुए उत्तरवर्ती आचार्यों ने उसे व्याख्यात किया है। ज्ञातव्य यह है कि ध्यान का सातत्य और नैरन्तर्य अन्तर्मुहूर्त से अधिक हो नहीं सकता, जो आज दिग्काल पर्यन्त सतत ध्यान निमग्नता का कथन किया जाता है वह आगमिक दृष्टि से यथार्थ नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् पुनः ध्यान का क्रम प्रारम्भ किया जा सकता है अर्थात् पूर्ववर्ती ध्यान से उसे जोड़ा जा सकता है। इस तरह आगे भी यह क्रम गतिशील रह सकता है। यों मध्यवर्ती व्यवधान पूर्वक दीर्घकालिक ध्यान भी हो सकता है। किन्तु अव्यवहित निरन्तर के रूप में वैसा नहीं होता। यह कथन सर्व साधारण की दृष्टि से है। उच्चतम गुणस्थानवर्ती साधकों पर लागू नहीं होता। उस कोटि के साधक आज प्राप्त भी नहीं हैं।

भगवती सूत्र के पश्चात् ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृतदशा और अनुत्तरौपपातिकदशा ये चार ग्रन्थ कथात्मक हैं। इनमें साधकों के ध्यान सम्बन्धी निर्देश को छोड़कर ध्यान-सम्बन्धी चर्चा का अभाव है। ‘उपासकदशा’ में कुण्डकौलिक आदि श्रावकों के ध्यान की विशेष चर्चा है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र :

द्वादशांगी का दसवाँ अंग सूत्र 'प्रश्नव्याकरण सूत्र' है। यह आस्रव विवेचन और संवर विवेचन द्वारों या भागों में विभक्त है। संवर द्वार में एक स्थान पर निर्ग्रन्थों की इकतीस उपमाएँ वर्णित हैं। उनमें "खाणुं चव उडुकाए" के रूप में बावीसवीं उपमा का उल्लेख हुआ है। स्थाणु का अर्थ सूखा ढूँठ होता है। जिस तरह वह ऊँचा उठा होता है उसी प्रकार निर्ग्रन्थ कायोत्सर्ग में स्थित रहते हैं। इस उपमा से सिद्ध होता है कि निर्ग्रन्थों द्वारा ध्यान और कायोत्सर्ग किया जाना विशेष गुण रहा है। कायोत्सर्ग ध्यान की वह उत्कृष्ट स्थिति है जहाँ साधक इतना आत्ममय हो जाता है कि उसको अपनी देह का भी भान नहीं रहता, मानों उसने देह का उत्सर्जन या परित्याग किया हो।³⁹

इन्हीं उपमाओं में "सुण्णागारा वणस्संतो णिवाय सरणप्पदीपज्झाणमिव णिप्प कंप्पे।" इसका यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार शून्य आगार में निर्वात - वायु रहित स्थान में जिस तरह दीप प्रज्वलित रहता है, उसी प्रकार निर्ग्रन्थ ध्यानावस्था में निष्प्रकम्प रहते हैं।⁴⁰ इस उपमा का यह आशय है कि निर्ग्रन्थ साधक प्रगाढ़ ध्यान के अभ्यासी होते हैं। वे अपने ध्येय में सर्वथा तन्मय होते हैं। इसलिए वे उसमें सुस्थिर, अविचल और निष्प्रकम्प रहते हैं। इस सूत्र में कर्मबन्ध के रूप में आस्रवों का और आस्रवनिरोध के रूप में संवरों का वर्णन है। इसलिए ध्यान का पृथक् रूप में विवेचन नहीं हुआ है क्योंकि ध्यान का सम्बन्ध निर्जरा तत्त्व के साथ है किन्तु ये दो उपमायें महाव्रती साधकों के अत्यन्त ध्यानाभ्यासी होने का संकेत करती हैं। इनसे यह प्रकट होता है कि 'ध्यानाभ्यास' साधु की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं में सम्मिलित रहा है।

इस सूत्र के तृतीय संवर द्वार सूत्र में अस्तेय व्रत की तृतीय भावना के अन्तर्गत संयमी साधक को दैहिक और मानसिक शुद्धिपूर्व शय्या-परिकर्म-वर्जन का विधान किया गया है। वहाँ उसे निरन्तर आत्मा के ध्यान में रत रहने, समितियों का पालन करने एवं रागद्वेष रहित होकर धर्म का आचरण करने का निर्देश किया गया है।⁴¹

अपरिग्रही संयमी साधक की ग्राम-नगर आदि में विहरण के अन्तर्गत किस

39. प्रश्नव्याकरण सूत्र 2.5.163 पृ. 250

40. वही, 2.5. 164 पृ. 251

41. वही, 2.3 पृ. 209

प्रकार की चर्चा रहे इस प्रसंग में कहा गया है कि जो जितेन्द्रिय, परिषह विजेता, निर्भीक, ज्ञानी - ध्यानी साधक अपरिग्रह भाव से आपन्न-युक्त होता हुआ निरतिचार निर्दोष चारित्र का धैर्य के साथ पालन करता है वह मुनि सदैव अध्यात्म ध्यान में निरत रहता हुआ रागादि से असंपृक्त होता है, धर्माचरण का यथावत् आचरण करता है।⁴²

पुनः विपाक सूत्र कथात्मक है।

उपांग साहित्य में औपपातिक, जीवाभिगम एवं प्रज्ञापना को छोड़कर शेष उपांगों में ध्यान सम्बन्धी निर्देश उपलब्ध नहीं हैं। अब हम तीन उपांगों में ध्यान सम्बन्धी चर्चा किस रूप में उपलब्ध है, यह देखने का प्रयत्न करेंगे।

औपपातिक सूत्र :

प्रथम उपांग 'औपपातिक सूत्र' में आभ्यन्तर तथा बाह्यतपमूलक आचार का अनुसरण करने वाले साधकों का वर्णन आया है। वहाँ छह आभ्यन्तर तपों के अन्तर्गत ध्यान, उसके भेद, लक्षण, आलम्बन, अनुप्रेक्षा आदि का विवेचन है। वह प्रायः उसी प्रकार का है जैसा 'स्थानांग सूत्र' में व्याख्यात हुआ है जिस पर पहले चर्चा की जा चुकी है।⁴³

प्रस्तुत सूत्र में एक स्थान पर भगवान महावीर के अनगारों की उत्कृष्ट धर्मारोधना का विवेचन हुआ है। वहाँ अपनी-अपनी अभिरुचि के अनुसार अनगार भिन्न-भिन्न रूप में धर्म की आराधना करते थे। इस पर बड़े ही नये - तुले शब्दों में सुन्दर रूप में प्रकाश डाला गया है। उसी के अन्तर्गत कहा गया है कि कुछ साधक अपने दोनों घुटनों को ऊँचा उठाए मस्तक को नीचा किये यों एक विशेष आसन में अवस्थित होते हुए ध्यान रूपी कोष्ठ में प्रविष्ट होते थे, ध्यानरत रहते थे।⁴⁴

इस विवेचन से यह प्रगट होता है कि भगवान महावीर के श्रमण संघ में अनेक ध्यानयोगी संत थे। उनकी ध्यानसाधना में विशेष अभिरुचि थी। ऐसा भी प्रकट होता है कि वे ध्यान में विशेष आसनों का भी उपयोग करते थे। ध्यानविशेष में आसनविशेष

42. प्रश्नव्याकरण सूत्र 2.5 पृ. 252

43. औपपातिक सूत्र 30 पृ. 49-50

44. वही, 31 पृ. 80

की भी अपनी उपयोगिता है। यहाँ 'उड्डजाणु अहोसिरा' पदों का जो प्रयोग हुआ है वह उनकी आसनगत स्थिति का द्योतक है। यहाँ प्रधानता तो ध्यान की ही है, आसन की उसमें सहकारिता रहती है। ध्यान और आसन की मुख्य - गौण स्थिति सदैव ध्यान में रखनी चाहिए।

उत्तराध्ययन सूत्र :

उत्तराध्ययन सूत्र का पहला अध्ययन 'विनय सूत्र' संज्ञक है। विनय शब्द बड़ा व्यापक है। वह विनम्रता के साथ - साथ धर्मसंगत आचार का भी द्योतक है। इस अध्ययन में संयती साधक को विनयशील पवित्र साधनामय आचार युक्त होने का विविध रूपों में उपदेश दिया है।

एक स्थान पर कहा गया है कि नव प्रवर्जित संयमी साधक को चाहिए कि वह कभी चाण्डालिक कर्म - चाण्डाल जैसे दूषित, निन्दित कर्म नहीं करे और उसे बहुत आलाप-संलाप, निरर्थक भाषण भी नहीं करना चाहिए। उसे चाहिए कि वह यथासमय अपने स्वाध्याय में लगा रहे, तत्पश्चात् वह एकाकी ध्यानाभ्यास करे।⁴⁵

आगमकार के इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि सावद्य कर्मों से बचते हुए अहिंसा के परिपालन, निरर्थक आलाप-संलाप के वर्जन और स्वाध्याय के परिशीलन के साथ-साथ ध्यानाभ्यास का भी एक संयमी साधक के लिए आवश्यक रूप में विधान रहा है। ध्यान दैनंदिन साधनामय जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग रहा है।

उत्तराध्ययन के अठारहवें अध्ययन में एक ध्यान योगी गर्दभाली नामक संयमी साधक का वर्णन आया है जो धर्मध्यान में अत्यन्त निमग्न थे। संजय नामक राजा ने जो आखेट हेतु वहाँ आया था, उनके सामने ही एक मृग को मार डाला। जब उसकी दृष्टि मौन ध्यानरत मुनि की ओर गई तो राजा भयभीत हो गया। मुनि अपने ध्यान में संलग्न रहे। उन्होंने राजा की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। पुनः राजा ने अपने पापपूर्ण कृत्य के लिए उनसे क्षमायाचना की। जब ध्यानयोगी साधक ने राजा के मन को दुष्कृत से पृथक् होकर सुकृत की ओर मुड़ते हुए देखा तो उसे धर्मोपदेश दिया। उसके परिणामस्वरूप वह राजा धर्मानुरागी बना और फिर उसने संयम-जीवन

स्वीकार कर लिया। ध्यान से विशुद्धिप्राप्त साधक के व्यक्तित्व में कितनी प्रभावकता आ जाती है, यह इसका उदाहरण है।⁴⁶

उत्तराध्ययन सूत्र के 26वें अध्ययन में श्रमणों की समाचारी - दिनचर्या का वर्णन हुआ है। उसके अन्तर्गत एकस्थान पर कहा गया है कि श्रमण दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर में ध्यान, तृतीय प्रहर में भिक्षाटन-भिक्षाचर्या करे तथा चतुर्थ प्रहर में पुनः स्वाध्याय करे।⁴⁷

दिन की भाँति रात्रिचर्या के सम्बन्ध में कहा गया है कि श्रमण रात के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय में ध्यान, तृतीय में निद्रा और चतुर्थ में पुनः स्वाध्याय करे।⁴⁸

जीवन दिवसों और रात्रियों का एक प्रलम्ब संकलन है। जीव द्वारा बद्ध आयुष्य के अनुरूप यह संकलन एक विशेष कालावधि तक विद्यमान रहता है। वैसे तो क्षण - क्षण का योग जीवन है। किन्तु स्थूल रूप में दिन और रात को उसकी इकाइयों के रूप में स्वीकार किया गया है। इसलिए साधु के लिए जब करणीयता का विषय निरूपित होता है तो दिनचर्या और रात्रिचर्या के रूप में ही उसे व्याख्यात किया जाता है।

दिनचर्या या रात्रिचर्या में उन्हीं कार्यों को विशेष रूप में गृहीत किया जाता है जो जीवन में सर्वाधिक आवश्यक होते हैं, उपयोगी होते हैं और अनुप्रेक्षणीय होते हैं।

आगमकार ने दिन को चार प्रहरों में विभक्त करते हुए जो चार मुख्य कार्य बताये हैं वे साधनामय जीवन के लिए सर्वथा अनिवार्य हैं। दिन और रात्रि दोनों के ही प्रथम प्रहर में आगमकार ने श्रमण के लिए स्वाध्याय करने का निर्देश दिया है। स्वाध्याय श्रुत के माध्यम से आत्मानुशीलन की वह उत्तम प्रक्रिया है जिससे जीवन में सत्संस्कार, शुभ भाव और सद् अध्यवसाय का उदय होता है। ये ही तो वे सत्त्व हैं जिनके आधार पर जीवन का यान भलीभाँति सफलतापूर्वक अपने लक्ष्य की ओर गतिशील रह सकता है।

दिन और रात्रि के दूसरे प्रहर में जो ध्यान का विधान किया गया है वह

46. वही, 18.4-18

47. उत्तराध्ययन सूत्र 26.12

48. वही, 26.18

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत ही समीचीन और उपयुक्त है क्योंकि स्वाध्याय द्वारा जब अन्तरात्मा में निर्मल भाव समुदित हो जाते हैं, तब दृष्टि को, मन को एकाग्र होने की पृष्ठभूमि प्राप्त हो जाती है। दूसरे शब्दों में, ध्यान के अनुरूप मानसिक भूमिका बन जाती है। अतएव द्वितीय प्रहर में ध्यान करने का उपदेश दिया गया है। जिस प्रकार स्वाध्याय प्रत्येक दिवस और प्रत्येक रात्रि का एक अपरिहार्य कार्य है, उसी प्रकार ध्यान भी अनिवार्यरूपेण करणीय है। स्वाध्याय और ध्यान को आत्मा की खुराक कहा जा सकता है। जिस प्रकार देह-निर्वाह हेतु भिक्षाचर्या द्वारा प्राप्त आहार और व्यवहारजनित ऊर्जा-क्षय की परिपूर्ति हेतु निद्रा आवश्यक है, उसी प्रकार जीवन में ध्यान भी परम आवश्यक है। उससे आन्तरिक ऊर्जा में नवीन शक्ति का संचार होता है, आध्यात्मिक आह्लाद का अनुभव होता है, संयम के पथ पर सफलतापूर्वक चलते रहने की शक्ति प्राप्त होती है और जीवन में दिव्यता की प्रतीति होती है।

प्रस्तुत सूत्र का 29 वाँ अध्ययन सम्यक् पराक्रम है। उसमें सम्यक्त्वमूलक आत्म-पराक्रम का किन-किन कारणों से किस-किस रूप में अभ्युदय होता है, उसका बड़ा ही सुन्दर विवेचन हुआ है। एक प्रसंग में भगवान महावीर के प्रमुख गणधर गौतम ने भगवान से जिज्ञासा की कि प्रभुवर! मन के एकाग्रसन्निवेश से अर्थात् मन की एकाग्रता से जीव क्या फल प्राप्त करता है ? भगवान ने उत्तर दिया कि मन के एकाग्र सन्निवेश से चित्तवृत्ति का निरोध होता है, चित्तवृत्ति स्थिर बनती है।⁴⁹

उत्तराध्ययन सूत्र के 30 वें अध्ययन में “तवमग्गर्इ” तपोमार्गगति के रूप में कर्मक्षय मूल तपश्चरण का विवेचन हुआ है। बाह्यतप और आभ्यन्तरतप के रूप में उसके दो भेद किये हैं। आभ्यन्तर तप के अन्तर्गत वहाँ ध्यान एवं कायोत्सर्ग की भी चर्चा आयी है कहा गया है कि -

अट्ठ रूद्धाणि वज्जिता, झाएज्जा सुसमाहिए।

धम्मसुक्काइं झाणाइं, झाणं तं तु बुहावए॥⁵⁰

आर्त्त एवं रौद्र ध्यान का परित्याग कर आत्मजागरूक साधक धर्म और शुक्ल ध्यान की आराधना करता है, यह उसका ध्यान रूप आन्तरिक तप है।

49. वही, 29.26 पृ. 501

50. वही 30.35

नवतत्त्व में निर्जरा के रूप में तप का ही विवेचन हुआ है। निर्जरा और तप लगभग एकार्थकता लिये हुए हैं। इनके बाह्य और आभ्यन्तर दो भेद हैं। ध्यान आभ्यन्तर तप में है। अनशन आदि बाह्य तप का सम्बन्ध विशेषतः दैहिक उपक्रमों के साथ है। आन्तरिक तप अन्तरात्मा से जुड़े हुए हैं। ध्यान अन्तरात्मा का परिशोधक है। इसलिए उसे आभ्यन्तर तपों में परिगणित किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र में लेश्याओं के स्वरूप, भेद, उपात्ता आदि का जहाँ विस्तृत विवेचन हुआ है वहाँ साधक के शुक्ल लेश्या में परिणत होने का उल्लेख आया है। लेश्याओं में सर्वोत्कृष्ट, परम शुद्ध शुक्ललेश्या है, जो आत्मा की निर्मलता, निष्कलुषता पवित्रता से संपृक्त है। जब साधक उसे प्राप्त कर लेता है तो वह आध्यात्मिक उत्कर्ष की पराकाष्ठा प्राप्त करता है। शुक्ललेश्या किस प्रकार उपात्त होती है इसे प्रकट करते हुए लिखा है कि जब साधक आर्त और रौद्र ध्यान का परित्याग कर देता है, धर्मध्यान की ओर क्रमशः बढ़ता हुआ शुक्लध्यान में लीन बनता जाता है, चित्त में सर्वथा विषाद रहित होता हुआ इन्द्रियों का दमन करता हुआ वह समिति और गुप्ति युक्त होता है, प्रशान्तता युक्त होता है तो वह शुक्ललेश्या में परिणत होता है।⁵¹

यहाँ शुक्ल लेश्या में परिणत होने के जिन हेतुओं का उल्लेख किया गया है उनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आर्त और रौद्र ध्यान का वर्जन कर धर्म-शुक्ल ध्यान में संलग्न होना है। यह ध्यान-संलग्नता इतनी प्रवाहकारी होती है कि अन्यान्य हेतु स्वयं ही सिद्ध हो जाते हैं। ऐसी पवित्र ध्यानावस्था में विद्यमान साधक का चित्त सहज ही प्रशान्त रहता है, साधक की इन्द्रियाँ और मन अनायास वशीभूत हो जाते हैं। समितियाँ और गुप्तियाँ भी सिद्ध हो जाती हैं। उच्चध्यान के सिद्ध होने से यह सब प्रतिफलित होता ही है। ध्यान की यह अपनी अनुपम विशेषता है।

दशवैकालिक सूत्र :

दशवैकालिक सूत्र में आत्मा के निर्मल स्वरूप के प्राकट्य के सम्बन्ध में कहा है कि जो त्राता समस्त प्राणियों का रक्षक-अहिंसक साधक, स्वाध्याय तथा ध्यान में रत रहता है, निष्पाप भाव युक्त तप में संलग्न रहता है उसके पूर्वकृत पापमल के नष्ट हो जाने से विशुद्धि होती है तथा उसे अपने निर्मल शुद्ध आत्मस्वरूप का

साक्षात्कार होता है।⁵²

दशवैकालिक सूत्र के चतुर्थ षड्जीवनिकाय अध्ययन के अन्त में बताया है कि - लोकालोक को जानने के बाद में केवलज्ञानी जिन मन, वचन, काया इन तीनों योगों का निरोध करें।⁵³

मन, वचन और काया द्वारा आत्मप्रदेशों में जो परिस्पन्दन होता है, उसे योग कहते हैं। यह योग जब शुभ कार्य में प्रवृत्त होता है, तब वह शुभ कर्मों का आस्रव करता है और जब वह अशुभ कार्य में प्रवृत्त होता है, तब वह अशुभ कर्मों का आस्रव करता है। सूत्रकार कहते हैं कि केवली जिन जीवन के अन्तिम क्षणों में योग प्रवृत्ति नहीं करते, वे योगों का निरोध करते हैं - अर्थात् चार अघातिया - वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र रूप जो कर्म अवशेष हैं, उन्हें भी नष्ट कर देते हैं। अनेक भवों से संचित जो कर्मांश हैं, उनका क्षय करने के लिए योग का निरोध करते हैं।

टीकाकार कहते हैं कि संसार-परिभ्रमण से उकताये हुए और अनन्तकालीन स्थायीरूप अपनी आत्मिक संपत्ति को चाहने वालों को धर्म और शुक्लध्यान तथा व्युत्सर्ग तप आदि द्वारा अपने शुभाशुभ कर्मों के क्षय करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

योगनिरोधजन्य स्थिरता प्राप्त हो जाने पर केवली जिन को किस फल की प्राप्ति होती है ? इस शंका का समाधान देते हुए आगे सूत्रकार कहते हैं कि योगों का निरोध करने पर केवली जिन के पूर्वसंचित कर्म नष्ट हो सकते हैं और तभी उन्हें सिद्धि अर्थात् सिद्ध गति की प्राप्ति हो सकती है।

टीकाकार कहते हैं कि इससे तो यही सिद्ध होता है कि अजीवसंबंधजन्य ईर्यापथिक और साम्परायिक क्रिया से सर्वथा रहित होने पर ही जीव को सिद्धगति प्राप्त होती है। क्योंकि जीव को क्रिया कराने वाली दो ही चीजें हैं - एक मन - वचन-काय रूप योग और दूसरी क्रोध-मान-माया-लोभरूप कषाय। केवली जिन ने जब इन दोनों कारणों का अभाव कर दिया तो क्रिया कैसे हो सकती है ? कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य की उत्पत्ति किसी भी तरह सिद्ध नहीं होती, यह बात सर्वसम्मत

52. दशवैकालिक सूत्र 8.63

53. वही, हिन्दी भाषा टीका सहितम् 4.23, 24

है और इसीलिए सिद्धावस्था में जीव अक्रिय ही रहता है। बल्कि यों कहना चाहिए कि सर्वथा अक्रियदशा का नाम ही सिद्धि या मोक्ष है। इससे जो लोग 'क्रियावान् रहते हुए भी मोक्ष हो जाता है' या 'सिद्ध जीव क्रिया करते हैं' यह मानते हैं, उनका निरसन करना ही शास्त्रकार का आशय है।

दशवैकालिक सूत्र के पंचम पिण्डैषणा अध्ययन में बताया है कि - साधु भिक्षा, आहार लेकर उपाश्रय में गुरु के समीप आकर गमनागमन की क्रिया का प्रायश्चित्त करने के लिए स्थिरचित्त होकर "इरियावहियाए" सम्पूर्ण सूत्र पढ़कर ध्यान करे। क्योंकि जब तक विधिपूर्वक ध्यान नहीं किया जायेगा तब तक अतिचारों की आलोचना नहीं हो सकेगी। इसलिए गमनागमन के बाद कायोत्सर्ग अर्थात् ध्यान करने का उल्लेख है।⁵⁴

प्रस्तुत संदर्भ से यह स्पष्ट होता है कि साधु आहार लाते ही भोजन नहीं करे अपितु सर्वप्रथम विधिपूर्वक ध्यान करे।

इसी संदर्भ में आगे बताया गया है कि "इरियावहियाए" ध्यान के अनन्तर ध्यान करता हुआ साधक क्या चिन्तन करे ? इस विषय में सूत्रकार (शय्यंभवाचार्य) ने बताया है कि - साधु भिक्षा लाने के पश्चात् गुरु के समक्ष कायोत्सर्ग करे, तब उस कायोत्सर्ग में गमनागमन (आने - जाने) की क्रिया करते समय तथा अन्न-पानी ग्रहण करते समय जो कोई अतिचार लगे हों, उन सबको सम्यक् प्रकार से स्मरण कर अपने विकार-शून्य हृदय में स्थापित करे। टीकाकार ने कहा है कि कायोत्सर्ग (ध्यान) की दशा में अविक्षिप्त चित्त होने से सभी वस्तुओं का विचार पूर्णरूपेण ठीक हो सकता है। अतः प्रत्येक वस्तु का विचार ध्यान वृत्ति से होना चाहिए।⁵⁵

इसी अध्ययन में आगे बताया है कि जिन सूक्ष्म अतिचारों की सम्यक्तया आलोचना न हुई हो और जो पूर्व कर्म तथा पश्चात् कर्म अर्थात् जो पहले या पश्चात् काल में दोष लगा हो तो आलोचक साधु पुनः प्रतिक्रमण कर "गोथरचरियाए" इत्यादि सूत्र का ध्यान करे और उसमें विस्मरण हुए अतिचारों का चिन्तन करे। टीकाकार ने बताया है कि जब सम्यक् प्रकार से चिन्तन किया जायेगा तभी सर्व प्रकार से

54. वही, " " 5.88

55. वही, " " 5.89

अतिचारों का स्मरण हो सकेगा। सम्यक् चिन्तन ही वास्तव में सर्वश्रेष्ठ वस्तु है। स्मरण रहे कि जैसा चिन्तन ध्यानावस्था में किया जा सकता है वैसा बिना ध्यानावस्था के प्रायः नहीं किया जा सकता। ध्यानावस्था में चित्तवृत्तियाँ चंचलता छोड़कर स्थिर हो जाती हैं, चित्त वृत्तियों की स्थिरता में ही सम्यक् चिन्तन संभव है।

दशाश्रुतस्कंध सूत्र :

दशाश्रुतस्कंधसूत्र में बारहवीं भिक्षु प्रतिमा के अन्तर्गत कायोत्सर्ग का वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि संयमी साधक किसी एक पौद्गलिक पदार्थ पर दृष्टि रखते हुए ध्यानपूर्वक उसे निष्पादित करे।⁵⁶

आवश्यक सूत्र :

आवश्यक सूत्र में अतिचारों की विशेष शुद्धि के लिए विधिपूर्वक कायोत्सर्ग के स्वरूप का वर्णन किया गया है। अन्त में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात का उल्लेख हुआ है। कायोत्सर्ग करने वाला साधक अपना मनःसंकल्प व्यवत करता हुआ कहता है कि जब तक मैं अरिहंत भगवन्तों को नमस्कार न कर लूँ तब तक एक स्थान पर स्थित हुआ मौन रखता हुआ धर्मध्यान में चित्त को स्थिर कर अपनी देह को सावद्य कार्यों से पृथक् करता हूँ। इस प्रकार देह का व्युत्सर्जन करता हूँ। यह बात कायोत्सर्ग में ध्यान के अन्तर्निवेश पर प्रकाश डालती है। अरिहंतों को वन्दन-नमन न करने तक ध्यान में अवस्थित रहने का जो उल्लेख हुआ है वह साधक को अन्तर्जगत् में ले जाने की एक विशेष प्रक्रिया का सूचक है। उससे प्रतिफलित उज्ज्वल निर्मल मनोभाव जब अरिहंतों के वन्दन-नमन में क्रियान्वित होते हैं तब वह वन्दन-नमन आत्मविकास की दृष्टि से बड़ा चामत्कारिक हो जाता है। ध्यान कायोत्सर्ग की इस प्रक्रिया में एक ऐसा वैशिष्ट्य जोड़ देता है जिससे साधक काय से अतीत होने के आन्तरिक उद्यम में सक्षम बनता है।⁵⁷ कायोत्सर्ग ध्यान का ही एक परिष्कृत रूप है। षडावश्यकों अर्थात् अनिवार्य रूप से करणीय छह कर्तव्यों में ध्यान या कायोत्सर्ग का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

56. दशाश्रुतस्कंध सूत्र भिक्षुप्रतिभा

57. आवश्यक सूत्र आगार सूत्र पृ. 15

आवश्यक निर्युक्ति में ध्यान :

आवश्यक निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) को जैन परम्परा में बहुत सम्मान और बहुमान प्राप्त है। इनका समय विक्रम की पाँचवीं-छठी शती है। आवश्यकनिर्युक्ति के कायोत्सर्ग नामक प्रकरण के आधार पर इन्हें एक सिद्धयोगी की प्रतिष्ठा दी जा सकती है। इस प्रकरण में कायोत्सर्ग का विशद विवेचन किया गया है। कायोत्सर्ग जैन साधना का एक अभिन्न अंग है, जिसके बिना ध्यान सिद्ध नहीं होता।

कायोत्सर्ग को अनुयोगद्वार में व्रण-चिकित्सा कहा गया है। सतत सावधान रहने पर भी प्रमाद आदि के कारण साधक की साधना में दोष लग जाते हैं, भूलें हो जाती हैं। इन भूलों रूपी जख्मों को ठीक करने के लिए कायोत्सर्ग एक प्रकार का मरहम है, जो अविचार रूपी धावों को ठीक कर देता है।

संयमी जीवन को अधिकाधिक परिष्कृत करने के लिए, प्रायश्चित्त करने के लिए, अपने आपको विशुद्ध बनाने के लिए, आत्मा को माया, मिथ्यात्व और निदान शल्य से मुक्त करने के लिए पापकर्मों के निर्घात के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है।⁵⁸ कायोत्सर्ग अन्तर्मुख होने की एक पवित्र साधना है।

षडावश्यक में कायोत्सर्ग को स्वतंत्र स्थान प्राप्त है, जो इस भावना को अभिव्यक्त करता है कि प्रत्येक साधक को प्रातः और संध्या के समय शरीर और आत्मा का भेदविज्ञान करना चाहिए। भिक्षु के लिए दिन में अनेक बार कायोत्सर्ग करने का विधान है।⁵⁹ कायोत्सर्ग करने के अनेक प्रयोजन हैं - प्रवृत्ति- निवृत्ति का सन्तुलन,⁶⁰ भयनिवारण,⁶¹ स्व-दोष दर्शन,⁶² कर्मक्षय,⁶³ कषाय-विजय,⁶⁴ अनिष्टनिवारण⁶⁵ आदि।

58. वही, तस्स उत्तरी का पाठ.

59. (क) दशवैकालिक सूत्र 10-13 (ख) दशवैकालिक चुलिका 2.7

60. आवश्यक निर्युक्ति गा. 1466

61. वही, गा. 1468

62. वही, गा. 1511

63. वही, गा. 1568

64. वही. 1471

65. वही, 1551

कायोत्सर्ग दो शब्दों से बना है - काया + उत्सर्ग अर्थात् शरीर को छोड़ना। काया के ग्यारह पर्यायवाची शब्द हैं - काय, शरीर, देह, बोदि, उपचय, उच्छ्रय, समुच्छ्रय, कलेवर, भस्त्रा, तनु और पाणु।⁶⁶ उत्सर्ग के पर्यायवाची शब्द ग्यारह हैं - उत्सर्ग, व्युत्सर्जन, उज्झन, अवकिरण, छर्दन, विवेक, वर्जन, त्यजन, उन्मोचना, परिशातना एवं शातना।⁶⁷

कायोत्सर्ग के दो प्रकार बताये गये हैं - 1. चेष्टा कायोत्सर्ग, 2. अभिनव कायोत्सर्ग।⁶⁸ चेष्टा कायोत्सर्ग दोषविशुद्धि के लिए किया जाता है। यात्रा, शौच, आदि के लिए बाहर आने-जाने में जो प्रवृत्ति होती है या निद्रा आदि में जो दोष लगता है उसकी शुद्धि के लिए यह किया जाता है और अभिनव कायोत्सर्ग दो स्थितियों में किया जाता है - दीर्घकाल तक आत्मचिन्तन के लिए आत्मशुद्धि के लिए साधक मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करता है और दूसरा संकट आने पर। जैसे - राजा, विप्लव, अग्निकाण्ड, दुर्भिक्ष आदि। चेष्टा कायोत्सर्ग से शरीर की चंचलता का निरोध होता है। अतः इसे कायिक ध्यान भी कहा गया है।⁶⁹

चेष्टा कायोत्सर्ग का काल उच्छ्वास पर आधारित है। विभिन्न स्थितियों में वह कायोत्सर्ग आठ, पच्चीस, सत्ताईस, तीन सौ, पाँच सौ और एक हजार आठ उच्छ्वास तक किया जाता है।

अभिनव कायोत्सर्ग का काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट एक वर्ष का है। बाहुबली⁷⁰ ने एक वर्ष तक कायोत्सर्ग किया था। दोष - विशुद्धि के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है, उस कायोत्सर्ग के पाँच प्रकार होते हैं - दैवसिक कायोत्सर्ग, रात्रिक कायोत्सर्ग, पाक्षिक कायोत्सर्ग, चातुर्मासिक कायोत्सर्ग और सांवत्सरिक कायोत्सर्ग।

कायोत्सर्ग तीन प्रकार से किया जा सकता है। खड़े होकर, बैठकर एवं

66. वही, 1460

67. वही, 1465

68. वही, 1466

69. वही, 1484, 1488

70. योगशास्त्र 3 पत्र 25

लेटकर।⁷¹ शारीरिक अवस्थिति और मानसिक चिन्तनधारा की दृष्टि से आचार्य भद्रबाहु ने कायोत्सर्ग के नौ प्रकार किये हैं।⁷² कायोत्सर्ग के भेदों में ध्यान की संलग्नता है। ध्यान से कायोत्सर्ग सुफलित होता है।

शारीरिक स्थिति		मानसिक विचार
1.	उत्सृत - उत्सृत	खड़ा धर्म - शुक्ल ध्यान
2.	उत्सृत	खड़ा न धर्म - शुक्ल, न आर्त - रौद्र, किन्तु चिन्तनशून्य दशा।
3.	उत्सृत - निषण्ण	खड़ा आर्त - रौद्र ध्यान।
4.	निषण्ण - उत्सृत	बैठा धर्म - शुक्ल ध्यान।
5.	निषण्ण	बैठा न धर्म - शुक्ल, न आर्त - रौद्र, किन्तु चिन्तनशून्य दशा।
6.	निषण्ण - निषण्ण	बैठा आर्त - रौद्र ध्यान।
7.	निपन्न - उत्सृत	लेटकर धर्म - शुक्ल ध्यान
8.	निषण्ण	लेटकर न धर्म - शुक्ल, न आर्त- रौद्र, किन्तु चिन्तनशून्य दशा।
9.	निपन्न निपन्न	लेटकर आर्त - रौद्र ध्यान।

‘आवश्यक चूर्णि’ में आचार्य जिनदास गणिमहत्तर ने कायोत्सर्ग के दो प्रकार बतलाये हैं -

1. द्रव्य कायोत्सर्ग और 2. भाव कायोत्सर्ग।

71. आवश्यक निर्युक्ति 1475

72. वही 1459-60

द्रव्य और भाव के भेद को समझाने के लिए आचार्यों ने चार भेद बतलाए हैं।⁷³

1. उत्थित - उत्थित
2. उत्थित - निविष्ट
3. उपविष्ट - उत्थित
4. उपविष्ट - निविष्ट

कायोत्सर्ग के उपर्युक्त नौ भेदों में मुख्य तीन ही शब्द हैं - उत्सृत, निषण्ण और निपन्न। इन तीनों के द्रव्य और भाव से चार - चार विकल्प किये जाते हैं। यथा द्रव्य से उच्छ्रित, भाव से उच्छ्रित, द्रव्य से अनुच्छ्रित, भाव से अनुच्छ्रित द्रव्य से अनुच्छ्रित, भाव से उच्छ्रित, द्रव्य से अनुच्छ्रित, भाव से अनुच्छ्रित। ऐसे ही निषण्ण और निपन्न के भी चार-चार विकल्प समझने चाहिए।

कायोत्सर्ग के इन भेदों में ध्यान का जिस-जिस रूप में समावेश हुआ है उससे यह स्पष्ट है कि वह कायोत्सर्ग का प्रवेशद्वार है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि कायोत्सर्ग की पवित्रता एवं विशुद्धि में धर्म ध्यान और शुक्लध्यान का ही स्थान है।

कायोत्सर्ग में स्वदोषों की यथाक्रम में आलोचना की जाती है, एवं जब तक गुरु कायोत्सर्ग सम्पन्न न करे तब तक श्वास-प्रश्वास को सूक्ष्म कर धर्म-शुक्ल ध्यान किया जाता है।⁷⁴ कायोत्सर्ग का परिमाण या अवधि भिन्न-भिन्न अवसरों के लिए भिन्न-भिन्न बताई गई है। उसकी अवधि या कालमान को श्वास के आधार पर श्लोक द्वारा निर्धारित किया जाता है।⁷⁵ श्वास के उच्छ्वास की लम्बाई या कालमान को श्लोक के चतुर्थांश के स्मरण से निश्चित किया गया है।⁷⁶ अतः कायोत्सर्ग के साथ श्वास की प्रेक्षा या श्वास का उपयोग भी जुड़ा हुआ है।

कायोत्सर्ग के अभ्यास से अनेक निष्पत्तियाँ होती हैं - धर्म का बोध, देह जाड्य शुद्धि, मति जाड्य शुद्धि, सुख-दुःख तितिक्षा, अनुप्रेक्षा और ध्यान-एकाग्रता के विकस में असाधारण लाभ की प्राप्ति होती है।⁷⁷

73. अमितगति श्रावकाचार 8.5 7-61

74. आवश्यक निर्युक्ति गा. 1514

75. वही, गा. 1544

76. वही, गा. 1553

77. कायोत्सर्गशतक गा. 13

आचार्य भद्रबाहु ने 'आवश्यकनिर्युक्ति' में कायोत्सर्ग के विशद विवेचन के अन्तर्गत ध्यान का प्रतिपादन किया है। क्योंकि कायोत्सर्ग के बिना ध्यान सिद्ध नहीं होता। आचार्य ने चित्त की एकाग्रता अथवा किसी एक आलम्बन पर चित्त को स्थिर करने या टिकाने को ध्यान कहा है।⁷⁸ साथ ही यह भी बताया गया है कि ध्यान मानसिक, वाचिक और कायिक तीन प्रकार का माना गया है। ध्याननिरत साधक 'मेरा शरीर अप्रकम्पित हो' इस संकल्प के साथ स्थिरकाय बनता है। यह कायिक ध्यान है। जब वह संकल्प के साथ अपने वचनयोग को स्थिर बनाता है तब उसके वाचिक ध्यान सधता है। जब वह अपने मन को एकाग्र करता है और वाणी को एवं शरीर को भी उसी लक्ष्य पर केन्द्रित करता है तब उसके कायिक, वाचिक एवं मानसिक तीनों प्रकार के ध्यान एक साथ निष्पन्न होते हैं।⁷⁹

इस ग्रन्थ में चार प्रकार के ध्यानों का उल्लेख भी हुआ है। वहाँ उसके शुभ और अशुभ दो भेद आख्यात किये गये हैं।⁸⁰ प्रथम दो ध्यान अशुभ हैं, वे संसार को बढ़ाने वाले हैं एवं अन्तिम दो शुभ हैं वे मुक्ति के हेतु हैं। अतः धर्म और शुक्लध्यान ही अधिकृत हैं। ध्यान का कालमान अन्तर्मुहूर्त है। ध्यानसाधना में ऊर्ध्वगामिता के दो रूप हैं - छद्मस्थ का ध्यान एवं वीतराग प्रभु का ध्यान। छद्मस्थ का ध्यान अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त मन की स्थिरता या चिन्तन की एकाग्रतामूलक होता है तथा जिन या वीतरागता का ध्यान कायिक स्थिरता रूप है।⁸¹

कायोत्सर्ग का अर्थ, प्रयोजन, विधि, भेद, फल, अभ्यासी की अर्हता, ध्यान और कायोत्सर्ग में संबंध जैसे विषयों पर प्रकाश डालते हुए अन्त में कहा गया है कि कायोत्सर्ग से सभी प्रकार के दुःखों से विमुक्ति होती है। संक्षेपतः कायोत्सर्ग मोक्षमार्ग के रूप में उपदिष्ट है।

आचार्य भद्रबाहु ने⁸² लिखा है - कायोत्सर्ग स्थिति में यदि भक्तिभाव से

78. आवश्यक निर्युक्ति गा. 1463

79. वही, गा. 1474, 1476-1478

80. वही, गा. 1495

81. वही (भाग 2) पृ. 71

82. वही गा. 1548

कोई चन्दन लगाए या कोई द्वेष के कारण वसौले से उसके शरीर का छेदन करे, चाहे जीवन रहे, चाहे मृत्यु का वरण करना पड़े, पर साधक देह में आसक्त नहीं होता है। वह सभी स्थितियों में सम रहता है। उसी का कायोत्सर्ग विशुद्ध होता है। कायोत्सर्ग के समय देव, मानव और तिर्यच संबंधी सभी प्रकार के उपसर्ग उपस्थित होने पर उन्हें अच्छी तरह से सहन करता है, उसी का कायोत्सर्ग वस्तुतः सही कायोत्सर्ग है।⁸³

जैसे कायोत्सर्ग में अवस्थित होने पर सारा शरीर दर्द करने लगता है, प्रत्येक अंग में एक प्रकार की वेदना होने लगती है, वैसे ही कायोत्सर्ग में साधक के आठों कर्म पीड़ित होते हैं और वे धीरे - धीरे नष्ट होने लगते हैं।⁸⁴ आचार्य भद्रबाहु ने कायोत्सर्ग के साधकों के लिए जिन तथ्यों का प्रतिपादन किया है, वे तथ्य साधक के अन्तस् में बल का संचार करते हैं और वह दृढ़ता के साथ कायोत्सर्ग में तल्लीन हो जाता है, पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वह मिथ्या आग्रह के चक्कर में पड़कर अपने जीवन को होम दे। क्योंकि सभी साधकों की स्थिति समान नहीं होती। कुछ साधक विशिष्ट होते हैं। वे कष्टों से घबराते नहीं, शेर की तरह दहाड़ते हुए आगे बढ़ते हैं पर कुछ दुर्बल साधक भी होते हैं। उनके लिए 'आवश्यक सूत्र' में आगारों का निर्देश है। जैसे कायोत्सर्ग में खांसी, छींक, डकार, मूर्छा आदि विविध व्याधियाँ हो सकती हैं। कभी शरीर में प्रकम्पन आदि भी हो सकता है तो भी कायोत्सर्ग भंग नहीं होता। किसी समय साधक कायोत्सर्ग में खड़ा है। उस समय मकान की दीवार या छत गिरने की स्थिति भी पैदा हो सकती है। मकान में या जहाँ पर खड़ा है वहाँ पर अग्निकांड भी हो सकता है। तस्कर और राजा आदि के भी उपसर्ग पैदा हो सकते हैं। उस समय कायोत्सर्ग से निवृत्त होकर साधक सुरक्षित स्थान पर जा सकता है। तथापि उसका कायोत्सर्ग भंग नहीं होता क्योंकि कायोत्सर्ग का मूल उद्देश्य समाधि है। यदि समाधि भंग होती है, आर्त्त और रौद्र ध्यान में परिणत होती है तो फिर वह कायोत्सर्ग नहीं है। कायोत्सर्ग में समाधि की अभिवृद्धि हो तो वह कायोत्सर्ग हितावह है। जिस कार्य को करने से समाधि की वृद्धि होती हो, आर्त्त और रौद्र ध्यान बढ़ते हों तो वह कायोत्सर्ग के नाम पर किया गया कार्य विवेकपूर्वक नहीं है। आचार्य ने तो यहाँ तक कहा है⁸⁵ कि साधक कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ा है और यदि किसी दूसरे

83. वही, गा. 1549

84. वही, गा. 1551

85. वही, गा. 1516

साधक को साँप आदि ने डस लिया हो ऐसी स्थिति में साधक को चाहिए कि वह समय के पूर्व ही कायोत्सर्ग खोल दे। क्योंकि किसी को सहयोग देने का प्रसंग उपस्थित हुआ हो, उसे उस समय सहयोग न देना अनुपयुक्त है। उस समय उसको सहयोग देना अधिक श्रेयस्कर है।

‘आवश्यकनिर्युक्ति’ में भगवान महावीर की साधना का वर्णन करते हुए उल्लेख हुआ है कि उनका साधना काल बारह वर्ष तेरह पक्ष का रहा। उसमें वे अनशन, आसन, ध्यान आदि की साधना में संलग्न रहे। इस अवधि में उन्होंने मात्र तीन सौ उनचालीस दिन (339) आहार-पानी ग्रहण किया तथा उत्कटिकासन, निषधा-कायोत्सर्ग प्रतिमायें आदि कई सौ बार आराधित कीं।⁸⁶

भगवान महावीर के जीवन-प्रसंगों के अन्तर्गत ‘आवश्यक चूर्णि’ में उल्लेख हुआ है कि भगवान महावीर विहार करते हुए मोराक सन्निवेश में पधारे, वहाँ दुईजंतक नामक परमतवादियों का एक आश्रम था। आश्रम का कुलपति भगवान महावीर के पिता सिद्धार्थ का मित्र था। भगवान महावीर ने एक रात्रि आश्रम में व्यतीत की। कुलपति के अनुरोध पर भगवान आस-पास के स्थानों में विचरण करते हुए चातुर्मास प्रवास हेतु आश्रम में आये, कुलपति ने उन्हें घास - फूस की कुटिया में ठहराया। भगवान महावीर वहाँ रहते हुए समग्र समय ध्यान में व्यतीत करने लगे।

पर्याप्त वृष्टि के अभाव में वन में गायों के खाने योग्य घास नहीं उगी थी; गायें आश्रम में आ जातीं तो उनको मार-पीट कर भगाने लगे। भगवान महावीर तो सदैव अपने ध्यान में ही तन्मय रहते थे। आश्रम के भीतर-बाहर कौन क्या कर रहा है, इस ओर उनका कदापि ध्यान नहीं जाता था। फलतः भगवान की पर्णकुटीर की घास गायें खाती रहतीं। भगवान की इस उपेक्षा की शिकायत तापसों ने कुलपति से की। इस पर कुलपति ने आकर भगवान से कहा - “कुमार ! अपने घोंसले की तो पक्षी भी रक्षा करता है आप राजकुमार होते हुए भी आश्रम की रक्षा नहीं कर सकते, बड़ा आश्चर्य है” भगवान ने कुलपति का कथन सुन कर विचार किया, “मेरे यहाँ रहने से आश्रमवासियों को कष्ट होता है।” वे आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा के पन्द्रह दिन व्यतीत होने पर वर्षाकाल में ही वहाँ से विहार कर गये। उस समय उन्होंने ‘अप्रीतिकर

स्थान में न रहना, नित्य ध्यान में तन्मय रहना, सदैव मौन रहना, हाथ में भोजन करना, गृहस्थों का विनय नहीं करना', ये पाँच प्रतिज्ञायें कीं। इनमें नित्य ध्यान में लीन रहने की दूसरी प्रतिज्ञा से यह व्यक्त होता है कि ध्यान उनकी जीवन-साधना का अनन्य अंग था।

जिस तरह नित्य प्रति पौद्गलिक देह के लिए भोजन अपेक्षित होता है, उसी तरह आध्यात्मिक जीवन के लिए वे ध्यान को परमावश्यक मानते थे।⁸⁷

भगवान महावीर के तीव्रतम तपोमय साधनामय जीवन के एक प्रसंग का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि जब वे दृढ़भूमि के पेढाल ग्राम में विहरणशील थे तब उन्होंने पौल्लास में त्रिदिवसीय उपवास किया। कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित हुए उनका शरीर आगे की ओर झुका हुआ था, दृष्टि एक पुद्गल पर सन्निविष्ट थी। नेत्र निर्निमेष थे। शरीर प्रणिहित सम्यक् अवस्थित था तथा इन्द्रियाँ गुप्त-वंशगत थीं, दोनों पैर परस्पर सटे थे। दोनों हाथ प्रलम्बित थे। इस मुद्रा में भगवान ने ध्यानाभिरत एक रात्रि में महाप्रतिमा की आराधना की।

एक अन्य प्रसंग में बताया गया है कि सानुवृष्टि ग्राम में भगवान ने भद्रा, महाभद्रा और सर्वतोभद्रा प्रतिमा की आराधना की। वे सोलह दिन-रात सतत ध्यानरत और उपवास युक्त रहे।⁸⁸

केवलज्ञान उत्पन्न होते समय भगवान किस अवस्था में विद्यमान थे, उनका उल्लेख करते हुए निर्युक्तिकार ने कहा है - भगवान उस समय उत्कटिकासन में स्थित थे। उनके द्विदिवसीय उपवास था। वे ध्यानान्तरिका में - गहनतम ध्यानमुद्रा में - ध्यानावस्था में वर्तमान थे।⁸⁹

'आवश्यकनिर्युक्त' में भगवान महावीर की साधना का जो वर्णन आया है, उससे प्रकट होता है कि उनकी ध्यानसाधना बड़ी ही दृढ़, उदग्र और सुस्थिर थी। वे किसी भी स्थिति में उससे चलित नहीं होते थे। वहाँ एक घटना का उल्लेख हुआ

87. वही, चूर्णि पृ. 271

88. वही,

89. वही

है। भगवान कुमारग्राम और छम्माणीग्राम नामक बहिर्वृत्ति स्थान में ध्यानस्थ खड़े थे। ग्वालों ने उन्हें अनेक प्रकार से उत्पीड़ित किया। हृदयद्रावक उपसर्ग किये, जिससे भयंकर वेदना हुई। किन्तु भगवान आत्मचिन्तन में लीन रहे। उन कष्टों को पूर्वकृत कर्मों का विपाक - फल समझते हुए समभावपूर्वक साधना में तन्मय रहे।⁹⁰

‘आवश्यकनिर्युक्ति’ में कतिपय अन्य प्रसंगों का भी उल्लेख हुआ है जहाँ अनेक प्रकार के विघ्नों बाधाओं, परिषहों तथा उपसर्गों के आने पर भी भगवान की सुदृढ़ ध्यानसाधना जरा भी व्याहत नहीं हुई। अत्यन्त कष्टप्रद विषम स्थितियों में भी वे अपने ध्यान में अविचल रहे।

जब भगवान ध्यानस्थ होते तो उन्हें सर्दी-गर्मी का भी ध्यान नहीं रहता था। हलिदुग नामक ग्राम के बाहर हलिदुग वृक्ष के नीचे वे ध्यानस्थ मुद्रा में खड़े थे। कड़कड़ाती सर्दी पड़ रही थी। कुछ यात्रियों ने उसी वृक्ष के नीचे विश्राम किया और सर्दी से राहत पाने हेतु अग्नि प्रज्वलित की। सूर्योदय से पूर्व ही उन यात्रियों ने तो वहाँ से प्रस्थान कर दिया किन्तु अग्नि की लपटों ध्यानस्थ खड़े महावीर के पैरों तक गईं, उनका शिष्य गोशालक तो आग की लपटों से घबराकर अन्यत्र चला गया पर महावीर ध्यान में लीन रहे।⁹¹ क्योंकि उनकी साधना भेद-विज्ञान की साधना थी, वे आत्म-साधना में लीन थे, उन्हें शरीर का कुछ भी भान नहीं था। शारीरिक कष्टों को कर्मनिर्जरार्थ सहन करना ही उन्होंने अपना ध्येय बना रखा था। शूलपाणियक्ष के द्वारा विभिन्न हाथी, पिशाच, सर्प आदि के रूप बनाकर आँख, कान, नासिका, सिर, दाँत, नख, पीठ इन सप्त स्थानों में दिये गये भयंकर उपसर्गों से निर्मित वेदनाएँ दी गईं। इन लोमहर्षक उपद्रवों की लम्बी शृंखलाओं को, वे सुमेरु की भाँति अडिग निश्चल रहकर समभाव से सहन करते रहे। अन्ततः शूलपाणियक्ष भगवान की साधना के सामने झुक गया।⁹² चण्डकौशिकसर्प ने भी भगवान महावीर पर विषैली फुंकार फेंकी व पैरों पर दंश दिया, किन्तु भगवान की प्रेमामृत की वर्षा ने उसे शान्त कर दिया।⁹³ शालीशीर्ष

90. (क) वही, (भाग 1) गा. 461 (ख) वही, गा. 525

91. (क) वही, 279, (मलयगिरि) (ख) वही, (हरिभद्र) 479 (ग) वही हरि भद्र टीका गा. 479 की चूर्णि

92. वही, गा. 464 एवं उसकी चूर्णि

93. वही, गा. 468

गाँव में कटपूतना के शीत परीषह को भगवान महावीर ने समता भाव से सहन कर परम अवधि ज्ञान प्राप्त किया।⁹⁴

भगवान महावीर वृद्धभूमि के पेढाल उद्यान के पोलास चैत्य में अष्टम तप की आराधना कर एक पुद्गल पर दृष्टि केन्द्रित कर ध्यानस्थ खड़े थे। उसी समय स्वर्गलोक में शक्रेन्द्र ने भगवान महावीर की साधना की प्रशंसा की। प्रशंसा को सुनकर संगम नामक देव भगवान महावीर की परीक्षा करने हेतु भूलोक में, जहाँ भगवान ध्यानस्थ थे, वहाँ आया। भगवान महावीर को अनेक उपसर्ग देने लगा। उसने शरीर के रोम - रोम में भयंकर वेदनाएँ दीं, फिर भी भगवान महावीर अपने ध्यान में अडिग स्थिर रहे। प्रतिकूल उपसर्गों में स्थिर देखकर संगम भगवान को अनुकूल उपसर्ग देने लगा। फिर भी भगवान को चलायमान होते न देखकर संगम आहत हो गया। उसने एक रात्रि में महा भयंकर बीस उपसर्ग किये, जो क्रमशः हैं-

1. धूलवर्षा की 2. कीड़ियाँ बनकर भगवान के शरीर को छेदा 3. डाँस बनकर दंश दिये। 4. कीड़े बनकर काटा 5. बिच्छू और 6. सर्प बनकर दंश दिये 7. नेवला और 8. चूहा बनकर काटा 9. हाथी और 10. हथिनी बनकर उछाला, रौंदा 11. पिशाच होकर खड्ग से खण्ड-खण्ड किये, 12. व्याघ्र बनकर फाड़ा 13. सिद्धार्थ और 14. त्रिशला बनकर करुण क्रन्दन किया। 15. पैरों पर खीर पकाई। 16. पक्षी बनकर मांस नौंचा। 17. खरबत से भगवान को उठा - उठा कर पटका 18. कलंक लीवात से चक्रवत् घुमाया 19. कालचक्र बनाकर आकाश में ले जाकर पटका। 20. तुम मेरे उपसर्गों से नहीं डिगे इसलिए वर मांगो, इत्यादि।

एक रात्रि में बीस उपसर्ग करने पर भी भगवान अविचल रहे।⁹⁵ इस प्रकार लगातार छह माह तक संगम उन्हें कष्ट देता रहा। मारणान्तिक वेदना व दारुण कष्टों को सहन करने से व निरन्तर ध्यानस्थ रहने से भगवान को दिव्य शक्ति की प्राप्ति हुई। उस दिव्य शक्ति के सामने अन्ततः मिथ्यादृष्टि संगमदेव को परास्त होकर स्वस्थान पर लौटना पड़ा।

94. वही, गा. 489 एवं उसकी चूर्णि

95. (क) वही, गा. 497-504 (ख) वही, गा. 506

उपसर्ग तीन प्रकार के होते हैं - जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। भगवान महावीर ने अपने साधना - काल में अनेक उपसर्गों एवं परीषहों को सहन किया। परीषह अनुकूल भी थे तो प्रतिकूल भी। उनमें जघन्य उपसर्ग कटपूतना व्यन्तरी का शीत परीषह और उत्कृष्ट कानों से कील निकालने का परीषह था। भगवान ने सभी परीषहों को समभाव से सहन कर कर्मनिर्जरा कर आत्मसमाधि प्राप्त की।⁹⁶ वस्तुतः जब भी किसी उपसर्ग की स्थिति होती भगवान ध्यान में आरूढ़ हो जाते। ध्यान की एकाग्रता के कारण वे दैहिक उपसर्ग भगवान के चित्त को विचलित नहीं कर सके।

‘आवश्यकनिर्युक्ति’ की ध्यान संबंधी गाथाओं की चूर्णि में जिनदास गणि महत्तर ने न केवल ध्यान को परिभाषित किया है अपितु चारों ध्यानों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए यह बताया है कि किस निमित्त से कौन सा ध्यान होता है।

ध्यान का स्वरूप :

जीवस्स एगग-जोगाभिणिवेशो ज्ञाणं।

अंतोमुहत्तं तीव्रयोगपरिणामस्स अवस्थानमित्यर्थः।

निर्वात स्थान में स्थिर दीपशिखा के समान निश्चल और अन्य विषयों के संकल्प से रहित केवल एक ही विषय का धारावाही चिन्तन ध्यान कहलाता है अर्थात् अन्तर्मुहूर्त काल तक स्थिर अध्यवसान एवं मन की एकाग्रता को ध्यान कहते हैं।

ध्यान के भेद :

ध्यान प्रशस्त और अप्रशस्त रूप से दो प्रकार का है। आर्त्त और रौद्र अप्रशस्त ध्यान हैं, अतः हेय हैं, त्याज्य हैं। धर्म तथा शुक्ल प्रशस्त ध्यान हैं, अतः उपादेय हैं, आदरणीय हैं।

आर्त्त आदि चारों ही ध्यानों का स्वरूप संक्षेप में स्मृतिस्थ रह सके, इसके लिए एक गाथा आचार्य जिनदास गणि महत्तर ने ‘आवश्यक चूर्णि’ के प्रतिक्रमाणाध्ययन में ‘उक्तंच’ के रूप में उद्धृत की है। गाथा संस्कृत और प्राकृत भाषा में सम्मिश्रित है और बड़ी ही सुन्दर है।

96. वही, चूर्णि गा. 524 की पृ. 293

हिंसाणुरंजितं रौद्रं, अदृटं कामाणुरंजितं ।
धम्माणुरंजियं धम्मं, सुक्कं ज्ञाणं निरंजणं ॥

अर्थात् हिंसा से अनुरञ्जित-रंगा हुआ ध्यान रौद्र और काम से अनुरंजित ध्यान आर्त कहलाता है। धर्म से अनुरंजित ध्यान धर्मध्यान है और शुक्लध्यान पूर्ण निरंजन होता है।

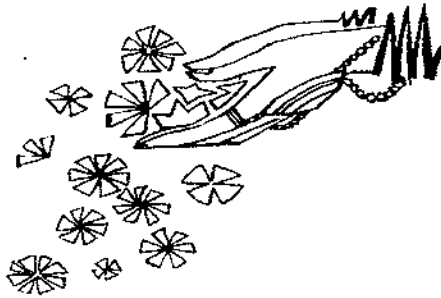
इस प्रकार जैन आगम साहित्य में आचारांग सूत्र में ध्यान का मुख्य लक्ष्य ज्ञाता - द्रष्टा भाव या साक्षीभाव में रहने का अभ्यास है। आचारांग में ध्यान वस्तुतः आत्मसजगता की स्थिति है जिसका उल्लेख बार - बार यह कह कर किया गया है कि साधक ! तू जान और देख। आचारांग के पश्चात् आगमों में विशेष रूप से चार ध्यानों का उल्लेख हुआ है और उसमें ध्यान के उप प्रकारों, लक्षणों, ध्यान के आलम्बनों और ध्यान की भावनाओं या अनुप्रेक्षाओं का उल्लेख विस्तार से मिलता है। इस संदर्भ में स्थानांग, समवायांग, औपपातिक सूत्र में विशेष वर्णन हमें प्राप्त होता है।

जैन आगम साहित्य में ध्यान का मुख्य लक्ष्य चित्त की निर्विकल्पता या आत्मा का आत्मा में अवस्थित होना ही है। दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है कि साधक आत्मा के द्वारा आत्मा की सम्प्रेक्षा करे। वस्तुतः ध्यान आत्मा के द्वारा आत्मा में सजग होने की प्रक्रिया ही है। कहा गया है कि साधक अतीत और अनागत विषयों के संबंध में कल्पनामुक्त होकर वर्तमान का अनुपश्यी हो। आत्मा का आत्मा में रमण करना ही ध्यान है। 'अप्पा अप्पम्मि रओ, इणमेव परं हवे ज्ञाणं' 97

इस प्रकार जैन आगम साहित्य में ध्यान एक क्रिया के रूप में नहीं अपितु एक आध्यात्मिक स्थिति के रूप में व्याख्यायित हुआ है। वह आत्मा में अवस्थित होने की व आत्मा में रमण करने की विधिविशेष माना गया है।

प्रस्तुत अध्याय में आगमों के साथ-साथ हमने निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाओं को भी समाहित करने का प्रयास किया है। इसका मुख्य कारण यह है कि आगमिक व्याख्या साहित्य में विषयवस्तु का चाहे विस्तार हुआ, किन्तु उसका मूल आधार आगम ही रहे हैं। आगमों में हमें ध्यानसाधना के आध्यात्मिक पक्ष के साथ-

साथ उसके विधि-विधान का भी उल्लेख मिलता है। आध्यात्मिक पक्ष में आत्म-अवस्थिति या आत्मरमण या आत्मसजगता को ही ध्यान कहा गया है। व्यवहार की अपेक्षा तो उन्होंने ध्यान के प्रकारों, लक्षणों, आलम्बनों और भावनाओं की चर्चा की है।



खण्ड : - तृतीय

शौरसेनी प्राकृत साहित्य में ध्यानयोग

- पृष्ठभूमि - षट्खण्डागम की धवला टीका
- मूलाचार - भगवती आराधना -
- आचार्य कुन्दकुन्द - पंचास्तिकाय,
समयसार, नियमसार, मोक्षपाहुड़
- कार्तिकेयानुप्रेक्षा
- योगसार
- द्रव्यसंग्रह

खण्ड:-तृतीय

शौरसेनी प्राकृत साहित्य में ध्यानयोग

प्राचीन जैन वाङ्मय प्राकृत भाषा में सन्निबद्ध है। श्वेताम्बर आगम अर्द्धमागधी प्राकृत में रचित हैं। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार वर्तमान अवसर्पिणी के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने अर्द्धमागधी भाषा में अर्थ रूप में धर्मदेशना दी। गणधरों द्वारा उसका शब्द रूप में संग्रथन हुआ। वे ही आगम परम्परा से चले आते हुए आज प्राप्त हैं। आगमों का विशुद्ध रूप यथावत् बना रहे इसके लिए आगम-वाचनार्थें हुईं। मथुरा में तीसरी-चौथी शती में हुई माथुरी वाचना के समय आगमों का एक शौरसेनी संस्करण हुआ। अर्द्धमागधी, मागधी और शौरसेनी के बीच की भाषा थी। उसमें कुछ तत्त्व मागधी के और कुछ शौरसेनी के मिश्रित थे। मागधी बोली का प्रचारक्षेत्र मगध दक्षिण बिहार और शौरसेनी बोली का प्रचारक्षेत्र पश्चिमी मध्य भारत था।

भगवान महावीर के समय में पूर्व भारत की बोलियों पर आधारित एक प्रकार से सम्पर्क भाषा अर्द्ध मागधी ही थी। क्योंकि मागधी और शौरसेनी दोनों का ही मिला-जुला रूप होने के कारण जिस प्रकार मागधी प्राकृत के क्षेत्र में निवास करने वाले लोगों द्वारा अर्द्धमागधी सरलता से समझी जाती थी उसी प्रकार वह शौरसेनी के क्षेत्र में निवास करने वाले लोगों द्वारा भी सहजतया समझी जाती थी।

अर्द्धमागधी प्राकृत में प्रणीत आगमवाङ्मय अंग, उपांग, छेद, मूल, आवश्यक, प्रकीर्णक आदि अनेक भेदों में विभक्त है। उनमें से अंग, उपांग आदि बत्तीस सूत्र ग्रंथ, सभी श्वेताम्बर संप्रदायों द्वारा स्वीकृत हैं। श्वेताम्बर मंदिरमार्गी सम्प्रदाय में प्रकीर्णकों के रूप में बत्तीस से अधिक पैतालीस आगमों, अधिकतम चौरासी (84) आगमों की भी मान्यता है। दिगम्बर परम्परा में भगवान महावीर द्वारा भाषित आगमों की मान्यता नहीं है किन्तु शौरसेनी आगमों (मथुरागम) के आधार पर रचित परवर्ती आचार्यों के ग्रंथ उन्हें आगमतुल्य मान्य हैं।

इन शौरसेनी आगमतुल्य ग्रंथों में कषायपाहुड़, षट्खण्डागम, मूलाचार, भगवती आराधना एवं आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथ समाहित हैं। लगभग तीसरी - चौथी शती के आस - पास गुणधर¹ नामक महान् आचार्य हुए। उन्होंने 'ज्ञानप्रवाद' नामक पाँचवें पूर्व की दसवीं वस्तु के आधार पर शौरसेनी प्राकृत में कषाय-पाहुड़ नामक महान् ग्रंथ की रचना की जो षट्खण्डागम के समकक्ष ही माना जाता है। आचार्य धरसेन का समय विक्रम की दूसरी शताब्दी से पाँचवीं शती के मध्य माना जाता है। इस सम्बन्ध में विद्वानों के अनेक मत हैं। इसी काल के समीपवर्ती आचार्य कुन्दकुन्द थे।

दिगम्बरों में आचार्य धरसेन के शिष्य पुष्यदंत और भूतबली द्वारा रचित षट्खण्डागम एक प्राचीन ग्रंथ है। यह माना जाता है कि आचार्य धरसेन को आंशिक रूप से पूर्वज्ञान था। संघ के अनुरोध पर मुनि पुष्यदंत और भूतबली को उन्होंने ज्ञान प्रदान किया, जिन्होंने षट्खण्डागम की, रचना की इसकी भाषा भी शौरसेनी प्राकृत है।

अर्द्धमागधी भाषा की विशेषता :

भारत के पश्चिमी भाग की लोकभाषा शौरसेनी प्राकृत में प्रचलित थी। मथुरा अचेल (दिगम्बर) परम्परा का मुख्य केन्द्र था। वह शौरसेनी भाषा-भाषी क्षेत्र का मध्यवर्ती स्थान रहा। उसके पारिषाश्विक भागों में प्राचीन काल में दिगम्बर मुनियों का अधिक विचरण हुआ। यही कारण है कि उन्होंने साहित्य-रचना में शौरसेनी प्राकृत को माध्यम के रूप में स्वीकार किया। पश्चिम भारत का वह भाग शूरसेन प्रदेश के नाम से विख्यात था। जिस प्रकार मगधप्रदेश के कारण वहाँ की भाषा का नाम मागधी पड़ा उसी प्रकार शूरसेन प्रदेश के कारण वहाँ की भाषा शौरसेनी कहलायी।

यद्यपि अर्द्धमागधी और शौरसेनी दोनों ही भाषायें मूलतः प्राकृत ही हैं किन्तु, स्थान-विषयक अन्तर के कारण उनमें शब्द, धातु, प्रकृति, प्रत्यय आदि के संदर्भ में कुछ-कुछ भिन्नता है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण के अन्त में मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी, पैशाची एवं चूलिका पैशाची का वर्णन किया है। वहाँ उन्होंने अर्द्धमागधी और शौरसेनी के जो लक्षण बतलाये हैं उससे उनकी भिन्नता प्रकट होती है। इन पर अर्द्धमागधी एवं महाराष्ट्रीप्राकृत का प्रभाव है।

1. जैन धर्म पृष्ठ 262

षट्खण्डागम की धवला टीका :

आचार्य भूतबली - पुष्पदन्त (प्रथम शताब्दी) विरचित षट्खण्डागम पर आचार्य वीरसेन स्वामी (9 वीं शताब्दी) द्वारा धवला नामक एक विस्तृत टीका रची गई है। षट्खण्डागम के वर्गणा नामक पाँचवें खण्ड 'कर्म अनुयोग द्वार' में दश कर्मभेदों के अन्तर्गत आठवें तपःकर्म का निर्देश करते हुए उसे छह आभ्यन्तर और छह बाह्य तप के भेद से बारह प्रकार का कहा गया है।²

ध्यान :

आचार्य वीरसेन ने अपनी टीका में आभ्यन्तर तप के पाँचवें भेद ध्यान की प्ररूपणा करते हुए तत्त्वार्थ- सूत्र³ के अनुसार ही यह कहा है कि उत्तम संहनन वाला जीव एक विषय की ओर जो चित्त को एकाग्र करता है उसे ध्यान कहते हैं। एकाग्रता का आलम्बन लेने वाला स्थिर मन है, उसका नाम ध्यान है।

ध्याता :

'धवला' में ध्याता का विचार करते हुए उसमें कौन - कौनसी विशेषतायें होनी चाहिए, इसे स्पष्ट करने के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण विशेषणों का उपयोग करते हुए कहा है कि उत्तमसंहनन से युक्त, ओघबली- प्रखर आत्मबल सहित, ओघसूर- अत्यधिक आध्यात्मिक शौर्य धैर्य समायुक्त और चौदह अथवा दस-नौ पूर्वों का धारक ध्याता ही ध्यान करने की अर्हता रखता है, उसे इतने पूर्वों का धारक क्यों होना चाहिए, इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि ज्ञान के बिना नौ पदार्थों का बोध न हो सकने से उसके ध्यान की उपपत्ति नहीं हो सकती है।⁴

वह ध्याता समस्त अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह का त्यागी होता है, क्योंकि जो क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, यान, आसन आदि बहिरंग परिग्रह और माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद आदि अंतरंग परिग्रह की आकांक्षा से घिरा है, उसके उच्चकोटिका धर्मध्यान या शुक्लध्यान नहीं हो सकता है।⁵

2. षट्खण्डागम 5, 4, 25-26 पु. 13 पु. 54

3. तत्त्वार्थ सूत्र 9.26

4. षट्खण्डागम, धवला टीका पृ. 64

5. वही, पु. 13, पृ. 65

ध्येय :

टीकाकार ने आगे क्रम प्राप्त ध्येय का निरूपण करते हुए अनेक विशेषणों से विशिष्ट वीतराग जिनेश्वर को, सिद्ध भगवन्तों को, जिनदेव द्वारा उपदिष्ट नौ पदार्थों को तथा बारह अनुप्रेक्षाओं आदि को ध्येय-ध्यान के योग्य कहा है।⁶

ध्यान के भेद :

धवला में ध्यान का निरूपण करते हुए उसके धर्म और शुक्ल इन दो भेदों का ही उल्लेख किया गया है।⁷ आर्त्त और रौद्र इन दो भेदों का नहीं। संभव है, तप का प्रकरण होने से आर्त्त व रौद्र इन दो अप्रशस्त ध्यानों की परिगणना न की गई हो। किन्तु तप का प्रकरण होने पर भी मूलाचार,⁸ तत्त्वार्थ,⁹ और औपपातिक सूत्र¹⁰ में उपर्युक्त आर्त्त और रौद्र को सम्मिलित कर ध्यान के पूर्वोक्त चार भेदों का ही उल्लेख किया गया है।

स्वयं वीरसेनाचार्य के शिष्य आचार्य जिनसेन ने भी अप्रशस्त और प्रशस्त इन दो भेदों का निर्देश करके उनमें अप्रशस्त को आर्त्त और रौद्र के भेद से दो प्रकार का तथा प्रशस्त को धर्म और शुक्ल के भेद से दो प्रकार का बतलाया है।

धर्मध्यान ध्येय के भेद से चार प्रकार का है : 1. आज्ञाविचय, 2. अपायविचय, 3. विपाकविचय और 4. संस्थानविचय।

1. आज्ञाविचय : आज्ञा, आगम, सिद्धान्त और जिनवचन ये समानार्थक शब्द हैं। इस आज्ञा के अनुसार प्रत्यक्ष व अनुमानादि प्रमाणों के विषयभूत पदार्थों का जो चिन्तन किया जाता है उसका नाम आज्ञाविचय है।¹¹

2. अपायविचय : मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग से उत्पन्न होने

6. वही, पु. 13 पृ. 69-70

7. वही, पु. 13 पृ. 70

8. मूलाचार 5.197

9. तत्त्वार्थसूत्र 9.28

10. औपपातिक सूत्र 20 पृ. 43

11. षट्खण्डागम, धवला टीका पु. 13 पृ. 71

वाले, जन्म - जरा, और मरण की पीड़ा का अनुभव करते हुए उनसे होने वाले अपाय का विचार करना, अपायविचय धर्मध्यान है।¹²

3. **विपाकविचय** : प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेदों से शुभ - अशुभ कर्मों के विपाक का स्मरण करना विपाकविचय है।¹³

4. **संस्थानविचय** : तीनों लोकों के आकार, प्रमाण एवं उनमें वर्तमान जीवों की आयु आदि का विचार करना संस्थानविचय है।¹⁴

कुछ आचार्यों के अनुसार धर्मध्यान असंयत सम्यक्दृष्टि से लेकर सूक्ष्मसांपराय तक सात गुण - स्थानों में होता है; जब कि कुछ आचार्य अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से ही धर्मध्यान की सम्भावना मानते हैं।¹⁵

शुक्लध्यान : कषायमल का अभाव होना ही शुक्लध्यान है,¹⁶ इसके चार भेद हैं :-

पृथक्त्ववितर्कवीचार, एकत्ववितर्कअवीचार, सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाती, समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती या व्युपरतक्रियानिवृत्ति।

1. **पृथक्त्ववितर्कवीचार** : पृथक्त्व का अर्थ है भेद, वितर्क का अर्थ है द्वादशांग श्रुत और वीचार का मतलब है अर्थ, व्यंजन और योग का बदलना। पृथक्त्व अर्थात् भेदरूप से वितर्क अर्थात् श्रुत का वीचार अर्थात् बदलना जिस ध्यान में होता है वह पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक प्रथम शुक्लध्यान है।

2. **एकत्ववितर्कवीचार** : एक के भाव को एकत्व कहते हैं, वितर्क द्वादशांग को कहते हैं और वीचार का अर्थ असंक्रान्ति है। अभेदरूप से वितर्क सम्बन्धी अर्थ, व्यंजन और योगों का अवीचार अर्थात् असंक्रान्ति जिस ध्यान में होती है वह एकत्ववितर्क अवीचार ध्यान है। इस ध्यान के द्वारा एक ही योग का आश्रय लेकर एक ही द्रव्य का

12. वही, पृ. 72

13. वही, पृ. 72

14. वही, पृ. 72

15. षट्खण्डागम : एक परिशीलन पृ. 512 - 513

16. षट्खण्डागम, धवलाटीका पु. 13 पृ. 73

ध्याता चिन्तन करता है। इसलिए इसको एकत्ववितर्कध्यान कहा गया है।

3. सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती : क्रिया का अर्थ योग है। वह जिसके पतनशील हो वह प्रतिपाती कहलाता है और उसका उल्टा अप्रतिपाती कहलाता है। जिसमें क्रिया अर्थात् योग सूक्ष्म होता है, वह सूक्ष्मक्रिय कहा जाता है और सूक्ष्मक्रिया होकर जो अप्रतिपाती होता है वह सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती ध्यान कहलाता है। यहाँ केवलज्ञान होने से श्रुतज्ञान का अभाव हो जाता है इसलिए यह अवितर्क है और अर्थान्तर की संक्रान्ति का अभाव होने से अवीचार है अथवा व्यंजन और योग की संक्रान्ति का अभाव होने से अवीचार है।

4. समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती : इस ध्यान में क्रिया अर्थात् योग सम्यक् प्रकार से उच्छिन्न हो जाता है अतः वह समुच्छिन्नक्रिय कहलाता है और समुच्छिन्नक्रिय होकर जो अप्रतिपाती हो वह समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती ध्यान है। यह श्रुतज्ञान से रहित होने से अवितर्क है। जीवप्रदेशों के परिस्पन्द का अभाव होने से अवीचार है अथवा अर्थ, व्यंजन, और योग की संक्रान्ति का अभाव होने से अवीचार है। चार कर्मों का विनाश इस ध्यान का फल है। सब कर्मों से मुक्त हुआ जीव एक समय में सिद्धि को प्राप्त होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि षट्खण्डागम मूलतः कर्मसिद्धान्त का ग्रंथ है। उसमें कर्म सिद्धान्त के साथ - साथ गुणस्थानों का भी संयोजन किया गया है और इसलिए उसमें गुणस्थानों की अपेक्षा से ध्यान का वर्णन है।

ज्ञातव्य है कि षट्खण्डागम और उसकी धवला टीका मुख्यतः धर्मध्यान और शुक्लध्यान की ही चर्चा करती है। उससे यह फलित होता है कि षट्खण्डागम और उसकी धवला टीका में साधनात्मक दृष्टि से ही ध्यान का विचार किया गया है। अतः उसमें आर्त और रौद्रध्यान का विशेष विचार नहीं है। पुनः ध्यान को गुणस्थानों के साथ जोड़ते हुए यह कहा गया है कि धर्मध्यान का प्रारम्भ अविरत सम्यक्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थान से सम्भव है और ग्यारहवें गुणस्थान तक हो सकता है। यहाँ ज्ञातव्य तथ्य यह है कि तत्त्वार्थ सूत्र में धर्मध्यान का प्रारम्भ अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थान से माना गया है। यह मतभेद विशेष रूप से विचारणीय है। इससे ऐसा लगता है कि षट्खण्डागम मूलतः कर्म सिद्धान्तिकों की परम्परा का अनुसरण करता है, यही कारण

है कि तत्त्वार्थसूत्र की श्लोकवार्तिक टीका में नवमें अध्याय के 36 वें सूत्र में अप्रमत्तसंयत “अप्रमत्तसंयतस्य” यह मूल पाठ भी नहीं दिया गया है। इस प्रकार धर्मध्यान के स्वामी को लेकर तत्त्वार्थसूत्र के भाष्यमान पाठ से श्लोकवार्तिक मान्य पाठ में अन्तर है। संक्षेप में षट्खण्डागम और धवला टीका की परम्परा और तत्त्वार्थ सूत्र के भाष्यमान की परम्परा भिन्न - भिन्न प्रतीत होती है।

मूलाचार :

मूलाचार दिगम्बर जैन परम्परा का श्रमणाचार विषयक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। यह शौरसेनी प्राकृत में रचित है। प्रथम मूल अंग आगम ‘आचारांग’ के आधार पर रचित होने के कारण यह मूलाचार के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसमें श्रमणों के आचार से सम्बद्ध विषयों का विस्तृत वर्णन है। मुनिधर्म की परम्परा दीर्घकाल पर्यन्त सुन्दर, समीचीन और उत्कृष्ट रूप में चलती रहे, इसलिए इस ग्रन्थ का प्रणयन हुआ।

संयमी साधक मुनिदीक्षा ग्रहण करते समय श्रमणाचार की शुद्ध परम्परा को जाने, एतदर्थ आचार्य वट्टकेर ने इसकी रचना की। इसमें श्रमण-निर्ग्रन्थों की आचार संहिता का विस्तृत सुव्यवस्थित विशद रूप में वर्णन है। यह अचेल परम्परा की एक प्राचीन एवं प्रामाणिक रचना है।

जिस प्रकार अन्यान्य प्राचीन आचार्यों तथा ग्रंथकारों का इतिहास हमें सुव्यवस्थित एवं प्रामाणिक रूप में प्राप्त नहीं होता है वही स्थिति आचार्य वट्टकेर के साथ भी है। परम्परा से ऐसा माना जाता है कि ये सम्भवतः चौथी-पाँचवीं शताब्दी के आस-पास हुए हों। कहा जाता है कि ये दक्षिण भारत में वट्टकेरी नामक स्थान के निवासी थे। वट्टकेर दिगम्बर परम्परा के मूलसंघ के प्रमुख आचार्य थे। ‘मूलाचार’ का अध्ययन-अनुशीलन करने से यह प्रतीत होता है कि ये बहुश्रुत, उच्चकोटि के सिद्धान्तवेत्ता मनीषी थे और उत्कृष्ट चारित्रवान धर्मनायक थे।

दिगम्बर तथा श्वेताम्बर परम्परा के कतिपय ग्रंथों में ‘मूलाचार’ की कुछ गाथायें समान रूप में प्राप्त हैं। इसका कारण यह है कि भगवान महावीर के पश्चात् निर्ग्रन्थ परम्परा जब श्वेताम्बर - दिगम्बर इन दो भागों में विभक्त हुई तब दोनों ही परम्पराओं के आचार्यों को श्रुत कंठस्थ रूप में प्राप्त था। संघ के दो भागों में विभाजन

से पूर्व की रचना होने के कारण सम्भव है इन गाथाओं का उपयोग दोनों ही परम्परा के आचार्यों ने प्रसंगानुसार अपनी रचनाओं में समानरूप से किया हो। इससे इस ग्रंथ की मौलिकता में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

ध्यान भी श्रमण - साधना का एक महत्वपूर्ण अंग है। वह निर्जरा के बारह भेदों के अन्तर्गत है। आचार्य वट्टकेर ने निर्जरा के विवेचन के प्रसंग में ध्यान का वर्णन किया है।

उन्होंने सबसे पहले आर्त-रौद्र ध्यान की चर्चा की है, उनके भेदों का उल्लेख किया है।¹⁷

आगे उन्होंने कहा है कि ये दोनों ध्यान भयोत्पादक हैं, उत्तम गति में प्रत्यूह-विघ्न रूप हैं। इनका परित्याग कर धर्मध्यान और शुक्लध्यान को सम्यक् रूप में स्वीकार करना चाहिए।¹⁸

इसके पश्चात् इन्होंने धर्मध्यान के चारों भेदों का निरूपण किया है। आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थानविचय संज्ञक भेदों का पृथक् - पृथक् विवेचन करते हुए इनकी विशेषताओं तथा आत्मशुद्धि मूलक निष्पत्तियों का उल्लेख किया है। साथ ही साथ ध्यान की परिभाषा हेतु अनुप्रेक्षाओं के अभ्यास का भी निर्देश किया है।¹⁹

तदनन्तर उन्होंने शुक्लध्यान के स्वरूप और भेदों का आख्यान किया है जो आत्मा के विशुद्ध स्वरूप के साथ संपृक्त है।²⁰

ध्यान की सुदृढ़ता और स्थिरता का संसूचन करते हुए ग्रंथकार ने प्रसंगोपात्ततया लिखा है कि जैसे गिरिराज मेरु पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशाओं से आती हुई वायु से प्रचालित नहीं होता, उसी प्रकार योगी नाना उपसर्गों के आने पर भी अकम्प भाव से निरन्तर ध्यान में निरत रहे।²¹

17. मूलाचार 5.197 - 199 पृ. 253 - 256

18. वही, 5.200 पृ. 257

19. वही, 5.201-206 पृ. 257-260

20. वही, 5.207-208 पृ. 261-262

21. वही, 9.118 पृ. 497

भगवती आराधना :

आचार्य शिवार्यकृत 'भगवती आराधना' में मुनियों की अनेक साधनाओं और वृत्तियों का विस्तृत वर्णन हुआ है। इसका रचनाकाल सम्भवतः पाँचवीं शताब्दी होना चाहिए। इसमें सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप आदि चार आराधनाओं की प्ररूपणा की गई है। इसमें लगभग 271 गाथाओं में चारों प्रकार के ध्यान का निरूपण हुआ है। कहा गया है कि रत्नत्रय का आराधक ही सम्यक् ध्यान कर सकता है। इसमें तप के अन्तर्गत ही आगम कथित ध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

इस ग्रन्थ पर अपराजितसूरि (अनुमानतः विक्रम की 9 वीं शताब्दी के पूर्व) के द्वारा 'विजयोदया' नामक टीका और पं. आशाधर (वि. 13 वीं शताब्दी) द्वारा 'मूलाराधना दर्पण' नामक टीका रची गई है। इसके अतिरिक्त आचार्य अमितगति (वि. 11 वीं शताब्दी) द्वारा संस्कृत में पद्यानुवाद भी किया गया है। आर्य जिननन्दिगणी, सर्वगुप्तगणी और आर्य मित्रनन्दी उनके विद्या एवं शिक्षा गुरु थे।²²

'भगवती आराधना' की विजयोदया टीका में राग-द्वेष और मिथ्यात्व के संपर्क से रहित होकर पदार्थ की यथार्थता को ग्रहण करने वाला जो विषयान्तर के संचार से रहित ज्ञान होता है उसे ध्यान कहा गया है। आगे एकाग्रचिन्तानिरोध को भी ध्यान कहा गया है।²³

ध्यान के चार भेद आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल हैं।

आर्तध्यान के चार भेद हैं - अनिष्टसंयोगज, इष्टवियोगज, परिषह (वेदना) जन्य और निदान ये संक्षेप में कषाय सहित आर्त ध्यान के भेद हैं।²⁴ 1. चोरी, 2 झूठ और 3. हिंसा का रक्षण तथा 4. विषय संरक्षण के लिए सतत चिन्तन। कषाय सहित रौद्रध्यान के ये चार भेद हैं।²⁵ ग्रन्थ में भक्तप्रत्याख्यान के भेदभूत सवीचार भक्त प्रत्याख्यान के प्रसंग में यह कहा गया है कि जो संसार परिभ्रमण के दुःखों से डरता है वह आर्त और रौद्र ध्यान का त्याग कर संक्लेश के विनाशक चार प्रकार

22. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश पृ. 485

23. भगवती आराधना विजयोदया टीका. 21 व 70 गा. 1693

24. वही गा. 1697

25. वही गा. 1998

के धर्म और चार प्रकार के शुक्लध्यान का ही चिन्तन किया करता है। वह परिषहों से सन्तप्त होकर भी कभी आर्त्त और रौद्र इन दुर्ध्यानों का चिन्तन नहीं करता।²⁶

सुगति अर्थात् उत्तम गति में इनको प्रतिबन्धक जानकर इनसे दूर रहता हुआ, सम्यक् बुद्धि - सम्पन्न क्षपक धर्मध्यान और शुक्लध्यान को ध्याता है।²⁷

ध्यान की सामग्री :

भगवती टीका में नाक के अग्र भाग पर दृष्टि को स्थिर करके एकविषयक परोक्ष ज्ञान में चैतन्य को रोककर शुद्ध चिद्रूप अपनी आत्मा में स्मृति का अनुसंधान करे, ध्यान की ऐसी सामग्री बतलायी है। यह ध्यान संसार से छूटने के लिए किया जाता है।²⁸

विषयों से इन्द्रियों को और मन को हटाकर वीर्यान्तराय से उत्पन्न हुए वीर्य परिणाम को स्थापित करके आत्मा में मन को लगाता है अर्थात् वीर्य परिणाम से अपनी शुद्ध आत्मा में मन को धारण करता है। फिर एक विषय में मन को रोककर आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय इन चार प्रकार के धर्मध्यान को ध्याता है।²⁹ तदनन्तर आज्ञाविचयादि चारों भेदों के पृथक् - पृथक् लक्षण, धर्मध्यान के आलम्बन आदि का वर्णन किया गया है।³⁰

धर्मध्यान के चतुर्थ भेद संस्थानविचय में सम्बद्ध बारह अनुप्रेक्षाओं का भी नाम निर्देश कर उनमें किस प्रकार क्या चिन्तन करना चाहिए, इसकी विस्तार से प्ररूपणा की गई है।³¹

आगे यह कहा गया है कि उक्त बारह अनुप्रेक्षाएँ धर्मध्यान की आलम्बनभूत हैं। ध्यान के आलम्बनों के आश्रय से मुनि उस ध्यान से च्युत नहीं होता। वाचना, पृच्छना, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा ये उक्त धर्मध्यान के आलम्बन हैं। लोक धर्मध्यान

26. वही गा. 1669-70

27. वही गा. 1699

28. वही गा. 1701

29. वही गा. 1702-03

30. वही, गा. 1705-09

31. वही, गा. 1710-73

के आलम्बनों से भरा हुआ है, ध्यान का इच्छुक क्षपक मन से जिस ओर देखता है वही उस धर्मध्यान का आलम्बन हो जाता है।³²

शुक्लध्यान :

धर्मध्यान में परिपूर्ण हुआ अप्रमत्त संयमी ही शुक्लध्यान ध्याने में समर्थ होता है क्योंकि प्रथम सोपान अर्थात् धर्मध्यान के नहीं होने पर दूसरा सोपान चढ़ना असम्भव है।³³

शुक्ल ध्यान के भी चार भेद हैं : (1) पृथक्त्ववितर्क वीचार (2) एकत्ववितर्क अवीचार (3) सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाती (4) समुच्छिन्न अप्रतिपाती।³⁴

चारों शुक्ल ध्यान में अन्तर :

आगे शुक्ल ध्यान के इन चारों भेदों का स्वरूप समझाया गया है।³⁵ टीकाकार ने इन चारों ध्यानों में अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है कि एकत्ववितर्कअवीचारशुक्ल ध्यान एक ही द्रव्य का आश्रय लेता है जबकि पृथक्त्ववितर्कवीचार में परिमित अनेक द्रव्यों एवं पर्यायों का आलम्बन लिया जाता है। तीसरा सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाती ध्यान और समुच्छिन्नक्रिय अनिवृत्ति शुक्लध्यान सभी वस्तुओं को विषय करते हैं क्योंकि केवलज्ञान का विषय सब द्रव्य और सब पर्याय हैं। पहले शुक्लध्यान का स्वामी उपशान्तमोह होता है, जबकि दूसरे शुक्लध्यान का स्वामी क्षीणकषाय माना गया है। तीसरे शुक्लध्यान का स्वामी सयोगकेवली कहा गया है जबकि चौथे शुक्लध्यान के स्वामी को अयोगकेवली कहा गया है। इस प्रकार द्रव्य, पर्याय एवं स्वामी की अपेक्षा दूसरा शुक्लध्यान विलाक्षण है एवं शेष तीनों ध्यानों से भिन्न है। इस भिन्नता के साथ - साथ इन ध्यानों में कुछ समानता भी है जैसे पहले शुक्लध्यान की तरह दूसरा ध्यान भी सवितर्क है।³⁶

32. वही, गा. 1774-76

33. वही, गा. 1871

34. वही, गा. 1872-73

35. वही, गा. 1874-83

36. (क) वही, विजयोदया टीका पृ. 837/4

(ख) वही, गा. 1778-79

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'भगवती आराधना' और उसकी विजयोदया टीका में मुख्यतः आगम परम्परा के अनुसार ही चारों ध्यानों, उनके प्रकारों आदि का विवेचन किया गया है। आगमिक धारा से इसकी समरूपता यही सिद्ध करती है कि भगवती आराधना के रचना और उसके टीकाकार मूलतः आगमिक धारा का ही अनुसरण करते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द :

आचार्य कुन्दकुन्द जैनधर्म के महान् प्रभावक महापुरुष माने गये हैं। दिगम्बर परम्परा में निम्नांकित मंगल श्लोक बहुत प्रसिद्ध है -

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी।

मंगलम् कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

इस श्लोक में गणधर गौतम के पश्चात् आचार्य कुन्दकुन्द का जो नामोल्लेख हुआ है उससे उनकी महत्ता स्पष्ट है। उनके सम्बन्ध में ऐसा प्रसिद्ध है कि विदेहक्षेत्र में जाकर वहाँ विहरणशील तीर्थंकर सीमंधर स्वामी की दिव्य ध्वनि सुनने का उन्हें सुअवसर प्राप्त हुआ था। उनका वास्तविक नाम पद्मनदी था। कोण्डकोण्डपुर के निवासी होने के कारण वे कोण्डकुण्डाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। उसी का परिवर्तित रूप कुन्दकुन्दाचार्य है। प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, समयसार, और नियमसार इनके अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने अनेक पाहुड़ों-प्राभृतों की रचना भी की। उनमें आठ पाहुड़ वर्तमान काल में उपलब्ध हैं। बोध प्राभृत की एक गाथा के अन्त में उन्होंने अपने की आचार्य भद्रबाहु का शिष्य बतलाया है। कर्नाटक में स्थित श्रवणबेलगोला के शिलालेखों में इनका यशस्वितापूर्ण वर्णन है। ये भद्रबाहु कौन थे और कुन्दकुन्द उनके साक्षात् शिष्य थे या परम्परागत शिष्य थे, इस पर विद्वानों में मतभेद है। हाँ, इतना निश्चित है कि कुन्दकुन्द श्रुतकेवली भद्रबाहु प्रथम के साक्षात् शिष्य नहीं थे, परम्परागत शिष्य ही हो सकते हैं। इनके काल को लेकर विद्वानों में मतभेद है। वह ईसा की प्रथम शती से छठी शती के मध्य रहा है।

पंचास्तिकाय :

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपनी महत्त्वपूर्ण कृति पंचास्तिकाय में ध्यान के सम्बन्ध में लिखा है कि जिसके राग, द्वेष, मोह और योग-परिकर्म-योगसेवन नहीं है, दूसरे

शब्दों में मन-वचन, एवं काय के सम्बन्ध में उपेक्षाभाव है उसके शुभ और अशुभ कर्मों को दग्ध करने वाली ध्यानमय अग्नि प्रकट होती हैं।³⁷

उनके अनुसार आत्मभाव में अर्थात् स्वभाव में अवस्थित संयमी साधक अन्य द्रव्यों के संयोग से रहित शुद्धात्मा का ध्यान ध्याता है, उसका वह ध्यान कर्मनिर्जरण का हेतु बनता है।³⁸

आचार्य कुन्दकुन्द ने ध्यान के प्रसंग में जो विवेचन किया है वह निश्चयनय और विशुद्ध आत्म - भावानुगामी के दृष्टिकोण से सम्बद्ध है। अतएव उन्होंने बाह्य उपचारों को अपने विवेचन में स्थान नहीं दिया है। इससे ध्यान की उच्च भूमिका प्राप्त करने की प्रेरणा मिलती है। यद्यपि उस उच्च भूमिका की सिद्धि सुगम तो नहीं है, बड़ी दुर्गम है, किन्तु साधक के मन में प्रेरणाजनित स्फूर्ति जागृत रहे तो उसके पुरुषार्थ को सम्बल प्राप्त होता है।

समयसार :

आचार्य कुन्दकुन्द ने 'समयसार' में संवर के विवेचन के अन्तर्गत ध्यान का वर्णन करते हुए लिखा है कि जो साधक सब प्रकार की आसक्तियों से मुक्त होकर अपनी आत्मा का आत्मा से ध्यान करता है वह कर्म तथा नोकर्म का चिन्तन नहीं करता, ऐसा चिन्तन करने वाला आत्मा के एकत्व का चिन्तन करता है। इस प्रकार आत्मा का ध्यान करता हुआ दर्शन और ज्ञानमय हो कर किसी से न जुड़ता हुआ वह स्वल्पकाल में ही कर्मों से प्रविमुक्त हो जाता है और आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करता है।³⁹

नियमसार :

आचार्य कुन्दकुन्द ने 'नियमसार' में प्रतिक्रमण के वर्णन के संदर्भ में ध्यान की चर्चा की है। उन्होंने लिखा है कि आर्त्त और रौद्र ध्यान का परित्याग कर धर्म तथा शुक्ल ध्यान का अभ्यास करता है वह आत्मा प्रतिक्रमण स्वरूप है। ऐसा जिनेन्द्र भगवान के द्वारा निरूपित सूत्रों, सिद्धान्तों में निरूपित हुआ है।⁴⁰

37. पंचास्तिकाय गा. 146 पृ. 210

38. वही, गा. 152 पृ. 219

39. समयसार गा. 188-189 पृ. 310

40. नियमसार गा. 89 पृ. 168

‘नियमसार’ पर श्रीपद्मप्रभमलधारीदेव द्वारा संस्कृत में विरचित तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीका में इस गाथा की व्याख्या करते हुए शुक्लध्यान के सम्बन्ध में निम्नांकित श्लोक उद्धृत किया गया है-

निष्क्रियं करणातीतं, ध्यानध्येयविवर्जितम् ।

अन्तर्मुखं तु यद्भयानं, तच्छुक्लं योगिनो विदुः ॥

जो क्रियारहित, करणातीत, ध्यान और ध्येय के भेद से विवर्जित एवं अन्तर्मुखीन होता है अध्यात्मयोगियों ने उसे शुक्लध्यान बतलाया है।⁴¹

आत्मा उत्तमार्थ परम उत्तम शुद्ध पदार्थ है उस समय आत्मभाव में स्थित संयमी साधक कर्म का घात-नाश करते हैं। आत्मभाव में स्थिति ध्यान रूप ही है। यही पारमार्थिक प्रतिक्रमण है - बहिर्मुखता से आत्मोन्मुखता की ओर प्रत्यावर्तन होना है।⁴²

ध्यान ही वस्तुतः समस्त अतिचारों का प्रतिक्रमण है। सबसे हटकर अपने आप में लौटना या स्थित होना ही ध्यान है।⁴³

संस्कृत टीकाकार ने इस गाथा का विवेचन करते हुए निम्नांकित श्लोक उद्धृत किया है-

शुक्लध्यानप्रदीपोऽयं यस्य चित्तालये बभौ ।

स योगी, तस्य शुद्धात्मा, प्रत्यक्षो भवति स्वयम् ॥

शुक्ल ध्यान रूपी दीपक चित्त रूपी आलय-घर में प्रकाशित होता है, उस योगी के शुद्धात्म भाव स्वयं प्रकाशित होता है।⁴⁴

मोह, राग, द्वेष आदि परभावों के विध्वंसक आत्मा के परम समाधिभाव का विश्लेषण करते हुए ग्रंथकार ने लिखा है - वचनोच्चारण क्रिया का परित्याग कर वीतराग भाव में अवस्थित होकर जो आत्मा का ध्यान करता है उसके परम समाधिभाव निष्पन्न होता है।⁴⁵

41. वही, (टीका) पृ. 169

42. वही, गा. 92 पृ. 174

43. वही, 92 पृ. 177

44. वही, टीका पृ. 178

45. वही, गा. 122 पृ. 247

संयम, नियम, तप पूर्वक तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान द्वारा जो आत्मा का ध्यान करता है उसे परमसमाधि सिद्ध होती है।⁴⁶

इस गाथा का विवेचन करते हुए टीकाकार ने समाधि के माहात्म्य को निम्नांकित श्लोक द्वारा सूचित किया है-

निर्विकल्पे समाधौ यो नित्यं तिष्ठति चिन्मये ।

द्वैताद्वैतविनिर्मुक्तमात्मानं तं नमाम्यहम् ॥

जो आत्मा निर्विकल्प, चिन्मय समाधि में संस्थित है, द्वैत और अद्वैत के भाव से निर्मुक्त है उस आत्मा को मैं नमन करता हूँ।⁴⁷

ध्यान से उद्भूत होने वाले समत्व से रहित साधक चाहे वन में निवास करें, चाहे कायक्लेश आदि करें, मात्र उपवास, अध्ययन, मौन आदि क्या उनको कल्याण कर सकते हैं।⁴⁸

आर्त रौद्र ध्यान के परित्याग का विशेष रूप में उपदेश करते हुए ग्रंथकार ने कहा है कि जो साधक आर्त एवं रौद्र ध्यान का नित्य वर्जन एवं त्याग करता है उसमें सामायिक रूप आत्मभाव स्थिर हो जाता है। केवलीप्रभु के शासन में ऐसा बतलाया गया है।⁴⁹

अन्तरात्मा और बहिरात्मा की भेद विवक्षा में ग्रंथकार ने कहा है कि जो श्रमण धर्मध्यान एवं शुक्ल ध्यान में परिणत होता है वह अन्तरात्मा-अन्तरात्मस्वरूप कहा जाता है। जो ध्यान से विहीन होता है वह बहिरात्मा - बहिरात्मस्वरूप है।⁵⁰

संस्कृत टीकाकार ने इस प्रसंग में निम्नांकित श्लोक उद्धृत किया है :-

कश्चिन्मुनिः सततनिर्मलधर्मशुक्ल -

ध्यानामृते समरसे खलु वर्ततेऽसौ ।

ताभ्यां विहीनमुनि को, बहिरात्मकोऽयं

पूर्वोक्तयोगिनमहं शरणं प्रपद्ये ॥

46. वही, गा. 123 पृ. 249

47. वही, टीका पृ. 250

48. वही, गा. 124 पृ. 250

49. वही, गा. 129 पृ. 260

50. वही, गा. 151 पृ. 304

संयमी साधक जो अनवरत निर्मल धर्मध्यान और शुक्लध्यान में निरत रहता है, वह समरसतामय ध्यानरूपी अमृत में वर्तनशील रहता है। जो संयमी साधक उन दोनों ध्यानों से विहीन है वह बहिरात्मा है ऐसे इन दोनों ध्यानों से युक्त योगी की मैं शरण स्वीकार करता हूँ।⁵¹

इस श्लोक में धर्म एवं शुक्लध्यान में संलग्न साधक की शरण ग्रहण करने का उल्लेख हुआ है। उससे इनकी श्रेयस्कारिता कल्याणकारिता सिद्ध होती है।

ध्यान की गरिमा दर्शाते हुए ग्रंथकार ने लिखा है कि यदि करने की शक्ति या पराक्रम हो तो साधक ध्यानमय प्रतिक्रमण ही करे। यदि वैसा करने की क्षमता से रहित हो तो उसे श्रद्धान ही करना चाहिए।

टीकाकार ने इस गाथा के विवेचन में निम्नांकित श्लोक उद्धृत किया है-

असारे संसारे कलिविलसिते पापबहुले,
न मुक्तिमार्गोऽस्मिन्ननघजिननाथस्य भवति ।
अतोऽध्यात्मं ध्यानं कथमिह भवेन्निर्मलधियां,
निजात्मश्रद्धानं भवभयहरं स्वीकृतमिदम् ॥

कलिकाल से प्रभावित इस असार संसार में परम पवित्र जिनदेव के मार्ग में उन्मुक्त रूप से लीन होना बड़ा कठिन है, अतः निर्मल बुद्धि पुरुषों के आध्यात्मिक ध्यान-धर्म और शुक्ल ध्यान कैसे सध पाये ? वैसा न हो सकने पर आवागमन के भय का नाश करने वाला आत्म-श्रद्धान ही स्वीकृत है।⁵²

आचार्य कुन्दकुन्द ने धर्मध्यान और शुक्लध्यान की उच्च भूमिकाओं का संस्पर्श करते हुए उसे जो विशेषण दिया है, वह आध्यात्मिक है, आत्मा के विशुद्ध स्वरूप को परिलक्षित कर है। वही ध्यान समाधि के रूप में परिणत हो जाता है जहाँ ध्याता, ध्यान और ध्येय अभिन्न बन जाते हैं, अभेदावस्था प्राप्त कर लेते हैं।

51. वही, टीका पृ. 305

52. वही, गा. 154 पृ. 308

पाहुड :

इस पाहुड में आचार्य कुन्दकुन्द ने ध्यान का वर्णन करते हुए कहा है कि बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के रूप में आत्मा के तीन प्रकार हैं। अन्तरात्मा के उपाय द्वारा बहिरात्म-भाव का त्याग कर साधक परमात्मभाव का ध्यान करे।⁵³

जो उत्तम चारित्र्य संपन्न साधक परद्रव्य से पराङ्मुख होकर षट्द्रव्य या निज स्वरूप का ध्यान करते हैं वे जिनेन्द्र प्रभु द्वारा निर्दिष्ट मार्ग में अनुरक्त होते हुए निर्वाण प्राप्त करते हैं।

जिनेन्द्र प्रभु के सिद्धान्तानुसार जो योगी अपने ध्यान में शुद्ध आत्मा को ध्याता है उस पर एकाग्र होता है वह निर्वाण प्राप्त करता है। उससे स्वर्ग लोक को प्राप्त करना तो क्या कठिन है।⁵⁴

यद्यपि शुभ राग रूप तप द्वारा स्वर्ग तो मिल जाता है, किन्तु आगे पारलौकिक शाश्वत सुख नहीं मिलता पर जो ध्यानयोग द्वारा स्वर्ग प्राप्त करते हैं, वे ही आगे उसका अवलम्बन लेते हुए शाश्वत पारलौकिक आध्यात्मिक सुख, परमानन्द प्राप्त कर सकते हैं।⁵⁵

शुभ राग पूर्वक अनशन आतापनादि जो बाह्य तप किये जाते हैं उनसे स्वर्ग प्राप्त होता है। उस तप का पर्यवसान वहीं तक रहता है, किन्तु जो ध्यान रूप आन्तरिक तप द्वारा स्वर्ग प्राप्त करते हैं, स्वर्ग-सुख की समाप्ति के पश्चात् भी ध्यान तप के संस्कार बने रहते हैं, वे उन्हें ऐसी साधना से जोड़ते हैं जिससे वे अन्ततः मोक्ष रूप परम सुख के अधिकारी बन जाते हैं।

समस्त कषायों के गौरव-मद, राग-द्वेष तथा मोह का परित्याग कर लोक व्यवहार से विरक्त होकर ध्यान में स्थित हुआ साधक आत्मा का साक्षात्कार करता है।⁵⁶

53. अष्टपाहुड : मोक्षपाहुड गा. 4 पृ. 273

54. वही, गा. 19-20 पृ. 282-283

55. वही, गा. 23 पृ. 285

56. वही, गा. 27 पृ. 287

जो संयमी साधक रत्नत्रय युक्त होता हुआ अपनी शक्ति के अनुसार तपश्चरण करता है वह शुद्ध आत्मा का ध्यान करता हुआ परम पद निर्वाण को प्राप्त करता है।

संयमी साधक मन, वचन और काय से वर्षा, शीत, उष्ण इन तीन कालयोगों को धारण कर माया, मिथ्या, निदान इन तीन शक्तियों से रहित होकर राग-द्वेष रूप दो दोषों को छोड़ता हुआ सर्वकर्मविनिर्मुक्त शुद्ध परमात्मा का ध्यान करता है।⁵⁷

जो साधक परमात्मा का ध्यान करता हुआ रहता है वह कर्मरूप मल का संचय करने वाले लोभ एवं कषाय से छूटता जाता है, नये कर्मों का वह बन्ध नहीं करता।

सुदृढ़ सम्यक्त्व से भावित मतियुक्त ध्यानयोगी दृढ़ चारित्र युक्त होता हुआ, आत्मा का ध्यान करता हुआ परमपद परमात्मपद प्राप्त करता है।⁵⁸

साधक आहार, आसन एवं निद्रा का विजय कर इन्हें वश में कर जिनेंद्र प्रभु के मत और गुरु के अनुग्रह से आत्मस्वरूप को जानता हुआ उसका ध्यान करे।

आत्मा चारित्र, दर्शन एवं ज्ञान युक्त है, गुरु के अनुग्रह से यह जानकर साधक को नित्य आत्मस्वरूप का ध्यान करना चाहिए।⁵⁹

जो आत्मा का ध्यान करते हैं, दृढ़ चारित्र युक्त हैं, जिनको दर्शनशुद्धि प्राप्त है - जिनका बाह्य एवं आभ्यन्तर दर्शन शुद्ध है, निश्चय ही वे निर्वाण प्राप्त करते हैं।⁶⁰

ध्यान की साध्यता के संदर्भ में ग्रंथकार ने लिखा है कि चारित्रमोह के प्रबल उदय के कारण जिनकी चर्या आचारमूलकक्रिया आवृत्त है, अप्रकट है, जो व्रतों एवं समितियों से रहित हैं, शुद्ध भाव से प्रभ्रष्ट हैं, अत्यन्त पतित हैं, वे कहते हैं कि अभी यह पंचमकाल है इसमें ध्यान-योग प्रकट नहीं होता। इस प्रकार कहने वाले सम्यक्त्व से और ज्ञान से रहित हैं, अभव्य हैं, सांसारिक सुखों को श्रेष्ठ जानकर उनमें आसक्त हैं इसलिए वे ऐसा कहते हैं कि यह ध्यान का काल नहीं है। जो पाँच महाव्रतों, पाँच

57. वही, गा. 43, 44 पृ. 298-299

58. वही, गा. 48-49 पृ. 302

59. वही, गा. 63-64 पृ. 312

60. वही, गा. 70 पृ. 316

समितियों, तीन गुप्तियों का पालन करने में मोहवश असमर्थ हैं, अज्ञानयुक्त हैं, वे ही इस प्रकार का कथन करते हैं कि ध्यान नहीं सध पाता।

भरत क्षेत्र में दुषमकाल-पंचम आरक में भी आत्मस्वभाव में स्थित संयमी साधक के धर्मध्यान सधता है। जो ऐसा नहीं मानता वह अज्ञानी है। धर्मध्यान के स्वरूप का उसे बोध ही नहीं है।

इस काल में भी जो संयमी साधक त्रिरत्न शुद्ध हैं, सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्धता से युक्त हैं, वे आत्मा का ध्यान कर इन्द्र या लोकान्तिक देव का पद प्राप्त करते हैं और वहाँ से च्यवन कर आगे निर्वाण को प्राप्त करते हैं।⁶¹

जो देव-गुरु के भक्त हैं, निर्वेद परम्परा-मोक्ष परिपाटी का विचिन्तन करते हैं ऐसे ध्यानरत सच्चारित्रनिष्ठ साधक मोक्षमार्ग में गृहीत किये गये हैं।⁶²

यह आत्मा पुरुषाकार में अवस्थित है, उसके मन, वचन, काय के योग निरुद्ध हैं, सभी अंग सुनिश्चल हैं, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्दर्शन से जो परिपूर्ण हैं, जिसे केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त है ऐसे आत्मस्वरूप का ध्यानयोगी ध्यान करता है, वह पापों का हनन करता है और वह राग-द्वेषात्मक विकल्पों द्रन्नों से रहित हो जाता है।⁶³

ध्यानानुरागी श्रावक सुनिर्मल मेरुवत्, निष्प्रकम्प, अचल, सम्यक्त्व को ग्रहण कर दुःख का क्षय करने के लिए सम्यग्दर्शन का ध्यान करें।

जो श्रावक सम्यक्त्व का ध्यान करता है वह सम्यक् दृष्टि प्राप्त कर लेता है। सम्यक्त्व में परिणत हुआ वह साधक अष्ट कर्मों का क्षय करता है।⁶⁴

ग्रंथकार ने यहाँ सम्यक्त्व प्राप्ति से अष्टकर्म क्षय तक का महत्वपूर्ण क्रम अतिसंक्षेप में प्रकट किया है। सम्यक्त्व दर्शन के ध्यान से जीवन में सत् श्रद्धान के रूप में उसकी परिणति होती है और वह ज्यों-ज्यों इस क्रम में आगे बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों कर्मों से आच्छादित उसका आत्मस्वरूप उद्घाटित होता जाता है। जब

61. वही, गा. 73-77 पृ. 318-320

62. वही, गा. 82 पृ. 323

63. वही, गा. 84 पृ. 325

64. वही, गा. 86-87 पृ. 326-327

ध्यानयोग का यह क्रम अभग्न और अव्याहत रूप में चलता जाता है तो अन्ततः आठों कर्म क्षीण हो जाते हैं।

आत्मा के परम शुद्ध स्वरूप का वर्णन करते हुए ग्रंथकार ने लिखा है - जिसको लोक में इन्द्र आदि भी नमन करते हैं, ध्यानयोग्य तथा स्तुति करने योग्य तीर्थंकर आदि भी जिसका ध्यान करते हैं, स्तुति करते हैं उस विशुद्धदेहस्थ आत्मा को क्यों नहीं जानते, उसके महत्त्व को क्यों नहीं समझते, वही तो नमन करने योग्य, ध्यान करने योग्य व स्तवन करने योग्य है।⁶⁵

इस गाथा में ग्रंथकार ने ध्यान के परम शुद्ध ध्येय-परमात्म स्वरूप को इंगित किया है, जो किसी भी प्रकार के बाह्य आलम्बन से भिन्न है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा :

कार्तिकेयानुप्रेक्षा शौरसेनी प्राकृत में रचित (लगभग छठी शती) अनुप्रेक्षा या भावना विषयक एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। यहाँ ध्यान का वर्णन करते हुए कहा गया है कि किसी एक वस्तु में चिन्तन का निरोध ध्यान कहा जाता है। वह अन्तर्मुहूर्त तक होता है और शुभ और अशुभ के रूप में दो प्रकार का है। उनमें प्रथम आर्त्तध्यान कषाय और दूसरा रौद्रध्यान अति तीव्र कषाय से होता है।⁶⁶ ये अशुभ ध्यान हैं। धर्म तथा शुक्ल शुभ और शुभतर ध्यान हैं। आगे ग्रन्थकार ने इन ध्यानों का विस्तार से विवेचन किया है।

धर्मध्यान की चर्चा करते हुए लिखा है-धर्म वस्तु का स्वभाव है। वह क्षमा आदि के रूप में दस प्रकार का है, रत्नत्रय धर्म है, जीवों की रक्षा करना धर्म है। जो ऐसे धर्म पर अपने मन को एकाग्र करता है तथा पाँच प्रकार के इन्द्रिय-विषय का वेदन नहीं करता, वैराग्ययुक्त होता है वैसे ज्ञानी के धर्मध्यान सधता है। जो आत्मबली, संयमी साधक राग-द्वेष को जीतकर विशुद्धता प्राप्त कर चुका हो, बाह्य संकल्पों से मानसिक एकाग्रता साध चुका हो, उसका चिन्तन शुभध्यानमय है।⁶⁷

65. वही, गा. 102-103 पृ. 336-337

66. कार्तिकेयानुप्रेक्षा 470-71-72

67. वही, 478-79-80

इसी तथ्य का आगे और विशुद्ध रूप में वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है कि जिसका आत्मस्वरूप उद्भासित हो चुका हो, जिसने ममत्व का नाश कर दिया हो, इन्द्रियों को जीत लिया हो, वह शुभ ध्यान में रत होता हुआ आत्मा के चिन्तन में संलग्न रहता है। जिसने सब प्रकार के विकल्पों का वर्जन कर दिया है, आत्मस्वरूप में मन का निरोध कर दिया है वह सुखपूर्वक आनन्दपूर्वक धर्म का चिन्तन करता है, यही उत्तम ध्यान है।⁶⁸

निरूपण करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है कि जहाँ आत्मगुण विशुद्धि प्राप्त कर लेते हैं वहाँ कर्मों का उपशम और क्षय हो जाता है। लेश्याएँ भी शुक्ल हो जाती हैं, वहाँ जो एकाग्रतामूलक चिन्तन होता है वह शुक्लध्यान कहा जाता है।

जिसके मोह का निःशेष रूप में विलय हो गया है, जिसके कषाय क्षीण हो गये हैं तथा अन्त समय में जो अपने स्वरूप में लीन होकर एकाग्र चिन्तन करता है वह शुक्लध्यान है।⁶⁹

मुख्यतया यह ग्रंथ अनुप्रेक्षाओं या भावनाओं पर लिखा गया है। इसमें द्वादश भावनाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है। दसवीं लोकानुप्रेक्षा के अन्तर्गत उन्होंने लोकवर्ती जीवनिकाय का विस्तार से वर्णन किया है। इससे प्रकट होता है कि जब अनुप्रेक्षाएँ सिद्ध हो जाती हैं तब व्यक्ति का मन जागतिक द्वन्द्वों और विकल्पों से दूर रहने की स्थिति प्राप्त कर लेता है। वैसा हुए बिना ध्यान कदापि सिद्ध नहीं हो पाता। अतएव अनुप्रेक्षाओं के अभ्यास के साथ ध्यानसाधना में जो साधक समर्पित होते हैं वे निर्विघ्नतया अपने आध्यात्मिक उद्यम में उत्तरोत्तर सफल होते जाते हैं और ध्यानसिद्धि प्राप्त कर अन्ततः वे परिनिर्वाण रूप में अपना लक्ष्य सिद्ध कर लेते हैं।

योगसार :

योगीन्दुदेव ने 'योगसार' के प्रारम्भ में ध्यान के सम्बन्ध में सिद्ध परमात्मा को नमस्कार करते हुए लिखा है - जिन्होंने शुद्ध ध्यान में स्थित होकर कर्ममल को जला डाला तथा उत्कृष्ट परमात्मपद को प्राप्त किया उन सिद्ध परमात्माओं को मैं नमन करता हूँ।⁷⁰

68. वही, 481-482

69. वही, 484-485

70. योगसार गा. 1 पृ. 1

इस पद्य का विवेचन करते हुए आध्यात्मिक सन्त श्री कानजीस्वामी ने लिखा है - प्रत्येक आत्मा शुद्ध चिदानन्द मूर्ति सिद्ध परमात्मा के समान ही है। प्रत्येक आत्मा को सर्वज्ञदेव ने सिद्ध समान ही देखा है। ऐसे शुद्ध चिदानन्द स्वरूप आत्मा में एकाग्रता ही निर्मल ध्यान है। निर्मल ध्यान से ही मोक्षमार्ग प्रारम्भ होता है और अन्त में शुद्ध दशा प्राप्त होती है। शुद्ध चैतन्य मूर्ति आत्मा की एकाग्रता के समय ही आंशिक धर्मदशा प्रकट होती है, वही सम्यग्दर्शन है।⁷¹

श्री योगीन्दुदेव ने कहा है - यदि चारों गतियों के भ्रमण से भयभीत हो तो परभावों का त्याग करो। निर्मल आत्मा का ध्यान करो जिससे मोक्ष के सुख को प्राप्त कर सको।⁷²

जो गृहस्थ के व्यापार में संलग्न है तथा हेय - उपादेय को जानते हैं और अहर्निश जिनेन्द्रदेव का ध्यान करते हैं, वे भी शीघ्र निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

शुद्ध भाव से जिनेन्द्र देव का स्मरण करो, उनका चिन्तन करो, ध्यान करो, ऐसा ध्यान करने से परमपद प्राप्त हो जाता है।⁷³

जो तीनों लोकों के प्राणियों द्वारा ध्यान करने योग्य जिनेन्द्रदेव हैं वह यह आत्मा ही है ऐसा निश्चय दृष्टि से कहा गया है। इस बात में जरा भी सन्देह नहीं है।⁷⁴

संग्रह :

सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्र विरचित द्रव्यसंग्रह (लगभग 11वीं शती) में भी शुद्ध आत्मपरक ध्यान का विश्लेषण करते हुए साधक को सम्बोधित कर कहा है कि निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार के उस मोक्षमार्ग की प्राप्ति का कारण ध्यान है। अतएव मुक्ति प्राप्ति के लिए ध्यान के अभ्यास की जहाँ- तहाँ प्रेरणा की गई है।⁷⁵

71. वही, पृ. 2

72. वही, गा. 5 पृ. 9

73. वही, गा. 18-19 पृ. 28, 32

74. वही, गा. 28 पृ. 38

75. द्रव्यसंग्रह गा. 47, 48

यदि तुम अपने चित्त को ध्यानसिद्धि में स्थिर करना चाहते हो तो दुःसह-विकल्पों में मूर्च्छित एवं अनुरंजित मत बनो। इस ग्रन्थ में ध्यान के आर्त्त आदि भेदों का निर्देश नहीं किया गया है पर वहाँ परमेष्ठिवाचक अनेक पदों के जपने⁷⁶ और पाँचों परमेष्ठियों के स्वरूप के विचार करने⁷⁷ की जो प्रेरणा की गई है उससे पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानों का कुछ संकेत मिलता है।

टीकाकार ब्रह्मदेव ने (वि. 11-12 वीं शती) आगम के अनुसार आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये चार भेद किये हैं।

आगे बताया है कि मन्त्र-वाक्यों में जो स्थित है वह पदस्थ ध्यान है, निज आत्मा का चिन्तन पिण्डस्थ ध्यान है, सर्वचिद्रूप का चिन्तन जिसमें होता है वह रूपस्थ ध्यान है और निरंजन का जो ध्यान है वह रूपातीत ध्यान है।⁷⁸ एकमात्र आत्मा, आत्मा में अपने स्वरूप में स्थिर हो सके। यही उत्कृष्ट ध्यान है।⁷⁹

इस प्रकार शौरसेनी आगमतुल्य साहित्य में षट्खण्डागम, मूलाचार, भगवतीआराधना आदि में ध्यान के चारों प्रकार आदि का उल्लेख मिलता है, किन्तु इन ग्रन्थों में विशेषता यह रही है कि आत्मविशुद्धि का हेतु धर्मध्यान और शुक्लध्यान को ही माना गया है।

इन ग्रन्थों में ध्यान को परिभाषित या व्याख्यायित करने की अपेक्षा वह आध्यात्मिक विकास - यात्रा में किस प्रकार सहायक है, इसका उल्लेख हुआ है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने तो अपने ग्रन्थों में ध्यान का प्रयोजन शुद्ध आत्मतत्त्व में अवस्थिति को माना है। उनका विवेचन निश्चय नय प्रधान है। दूसरे, वे स्वस्वरूप में अवस्थिति को ही ध्यान का लक्ष्य मानते हैं; ध्याता, ध्येय और ध्यान की त्रिपुटी के मूल में आत्मा को ही देखते हैं। उनके अनुसार आत्मा ही ध्याता है, शुद्ध आत्मतत्त्व ही ध्येय है और शुद्ध आत्म तत्त्व के स्वरूप में रमण करना ही ध्यान है। ध्याता, ध्येय

76. वही, गा. 49

77. वही, गा. 50-54

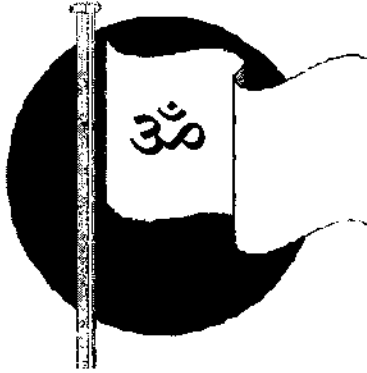
78. बृहद्द्रव्यसंग्रह 182-185

79. द्रव्यसंग्रह गा. 56

और ध्यान में तादात्म्य की यह चर्चा आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की विशेषता है। दूसरी बात जो आचार्य कुन्दकुन्द के ध्यान सम्बन्धी विवेचन में प्रमुख रूप से उभर कर सामने आती है वह यह कि वे ध्यान का साध्य निर्विकल्प दशा को मानते हैं और इसलिए धर्मध्यान की अपेक्षा शुक्लध्यान उनकी विवेचना का मुख्य विषय रहा है।

‘मूलाचार’ में ध्यान सम्बन्धी विवेचना अर्द्धमागधी आगम साहित्य के समान ही हुई है। मूलाचार और अर्द्धमागधी आगम साहित्य के ध्यान सम्बन्धी विवेचन में समरूपता है किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द ध्यान के सम्बन्ध में एक अलग ही दृष्टि प्रस्तुत करते हैं।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भावनाओं को ही या अनुप्रेक्षाओं को ही ध्यातव्य माना गया है। इस प्रकार शौरसेनी आगमतुल्य साहित्य में जहाँ एक ओर अर्द्धमागधी साहित्य के विवेचन से समरूपता प्रतीत होती है, वहीं कुन्दकुन्द आदि के ग्रन्थों में ध्यान के सम्बन्ध में परम्परागत दृष्टि से ऊपर उठकर आध्यात्मिक दृष्टि से विवेचन किया गया है।



खण्ड :

चतुर्थ

आचार्य उमास्वाति, जिनभद्र गणि
और
पूज्यपाद के ग्रन्थों में ध्यानविमर्श

आचार्य उमास्वातिकृत तत्त्वार्थसूत्र
जिनभद्रगणिकृत ध्यानशतक
पूज्यपाद - इष्टोपदेश, समाधितंत्र

खण्ड:- चतुर्थ

आचार्य उमास्वाति, जिनभद्र गणि और पूज्यपाद के ग्रन्थों में ध्यानविमर्श

आचार्य उमास्वाति कृत तत्त्वार्थ सूत्र :

जैन साहित्य में तत्त्वार्थसूत्र का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। परम्परा से जैन आगम अर्द्धमागधी प्राकृत में रचे गये सूत्र हैं जो साहित्यिक दृष्टि से सर्वाधिक प्राचीन कहे जा सकते हैं।

जैनों ने प्राकृत को अपनी धार्मिक भाषा के रूप में स्वीकार किया, क्योंकि यह महावीर के समय में लोकभाषा के रूप में प्रचलित थी। जैन तीर्थंकर तथा तदनुगामी आचार्य, मुनिगण जन-जन के उपकार के लिए ही उपदेश देना उपयोगी मानते थे।

श्वेताम्बर परम्परा में अर्द्धमागधी प्राकृत का शास्त्र-रचना की दृष्टि से उपयोग हुआ। दिगम्बर आचार्यों, सन्तों और लेखकों ने अर्द्धमागधी के स्थान पर शौरसेनी का उपयोग किया।

भारत में वैदिक परम्परा में शास्त्र-रचना की दृष्टि से संस्कृत का सर्वाधिक महत्त्व रहा। वैदिक और लौकिक के भेद से संस्कृत के दो रूप हैं। भेद का तात्पर्य इन दोनों भाषाओं की भिन्नता है। वैदिक संस्कृत में शब्द, धातु आदि के विकल्पों का बाहुल्य है। लौकिक संस्कृत अधिक परिमार्जित और व्याकरणनिष्ठ है। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् आदि वैदिक संस्कृत में रचित हैं। रामायण एवं महाभारत से लेकर उत्तरवर्ती साहित्य लौकिक संस्कृत में है।

दर्शनशास्त्रों की रचना लौकिक संस्कृत में ही हुई। भाषाशास्त्रीय दृष्टि से संस्कृत की अपनी यह विशेषता है कि उसमें अल्पतम शब्दों में विस्तृत भाव व्यक्त किये जा सकते हैं।

संस्कृत की इसी विशेषता को ध्यान में रखते हुए आचार्य उमास्वाति ने जैन तत्त्वों के निरूपण हेतु संस्कृत भाषा में तत्त्वार्थसूत्र की रचना की। सूत्रबद्ध शैली में ग्रन्थ रचने की संस्कृत में एक विशेष पद्धति रही है।

सूत्रशैली संक्षिप्ततम शब्दावली में अधिकतम आशय को व्यक्त करने की एक विशेष विधा रही है। आचार्य उमास्वाति ने इसी दृष्टिकोण से संस्कृत में यह ग्रन्थ रचा। ऐतिहासिक दृष्टि से जैन परम्परा में संस्कृत की यह पहली रचना है। यही एक मात्र ऐसा ग्रन्थ है जो कतिपय सूत्रों के भेद के साथ श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं द्वारा मान्य है।

ग्रन्थकार श्वेताम्बर परम्परा में उमास्वाति के नाम से और दिगम्बर परम्परा में उमास्वामी के नाम से विख्यात है। भारत के प्राचीन ग्रन्थकारों ने अपने ग्रन्थों में अपने जीवनवृत्त, समय आदि ऐतिहासिक तथ्यों का प्रायः उल्लेख नहीं किया है। इसलिए उनके काल-निर्धारण में बड़ी कठिनाई प्रतीत होती है। तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकार के संबंध में भी यही बात है। यद्यपि उन्होंने अपने ग्रन्थ के अन्त में प्रशस्ति अवश्य लिखी है किन्तु उसमें मात्र अपनी गुरुपरम्परा का ही उल्लेख किया है।

प्राचीन ग्रन्थकारों द्वारा अपना परिचय न दिये जाने के पीछे विद्वानों की यह मान्यता है कि वे बड़े ही निस्पृह और साधनाप्रवण थे। इसलिए वे अपना परिचय देने में जरा भी अभिरुचिशील नहीं रहे। संभवतः वे उसे मान का रूप समझते रहे हों। उनका एक मात्र यही भाव रहा कि लोग उनके द्वारा निरूपित तत्त्वों से लाभान्वित हों। सुप्रसिद्ध विद्वान् पं. सुखलाल संघवी ने 'तत्त्वार्थसूत्र' की प्रस्तावना में इस पर काफी ऊहापोह किया है। कुछ लोगों की ऐसी मान्यता है कि उमास्वाति आचार्य कुन्दकुन्द के शिष्य थे। किन्तु इस संबंध में कोई ठोस प्रमाण प्राप्त नहीं होते।

गृद्धपिच्छाचार्य विशेषण भी उनके नाम के साथ जुड़ा है। किन्तु गवेषणा करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह उनका नाम नहीं वरन् उनका विशेषण था। संभव है वे मयूर के पंखों की पिच्छी के स्थान पर गृद्ध के पंखों की पिच्छी रखते रहे हों।

आचार्य उमास्वाति का समय विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रथम से चतुर्थ शती के मध्य माना जाता है।

जैन दर्शन के अनुसार जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है। इसी को लक्षित कर आचार्य उमास्वाति ने इस ग्रन्थ की रचना की। इसलिए इसे मोक्षशास्त्र के नाम से भी अभिहित किया जाता है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार इस पर तत्त्वार्थाधिगम नामक स्वोपज्ञभाष्य भी है। तत्त्वार्थसूत्र पर अनेक श्वेताम्बर-दिगम्बर आचार्यों ने व्याख्या-ग्रन्थों की रचना की है जिनमें आचार्य पूज्यपाद द्वारा रचित सर्वार्थसिद्धि, भट्ट अकलंकदेव द्वारा प्रणीत तत्त्वार्थ राजवार्त्तिक तथा आचार्य विद्यानन्द द्वारा रचित-तत्त्वार्थ श्लोकवार्त्तिकालंकार नामक टीकाएँ बहुत महत्वपूर्ण हैं इनमें तत्त्वार्थसूत्र के विषयों का बहुत ही मार्मिक विश्लेषण है। श्वेताम्बर परम्परा में सिद्धसेनगणि और आचार्य हरिभद्र ने भी इस पर गंभीर टीकाएँ लिखी हैं।

इस ग्रन्थ के सूत्र बड़ी ही सरल, प्राञ्जल संस्कृत में रचित हैं, इससे प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार का संस्कृत भाषा पर असाधारण अधिकार था। यह ग्रन्थ दस अध्यायों में विभक्त है। इनमें नव तत्त्वों या सप्त पदार्थों का सूत्रशैली में विवेचन है।

ध्यान की परिभाषा :

तत्त्वार्थसूत्र में निर्जरा तत्त्व के अन्तर्गत ध्यान का उल्लेख है। वहाँ कहा गया है कि “उत्तमसंहननस्यैकाग्रचित्तानिरोधो ध्यानम्” अर्थात् उत्तम संहनन वाले व्यक्ति का किसी एक विषय में चिन्तन करने हेतु मन को एकाग्र करके निरुद्ध करना ध्यान है।¹ इस परिभाषा में कही गई एक बात बड़ी महत्वपूर्ण है। आचार्य उमास्वाति कहते हैं कि ध्यान को साधने के लिए व्यक्ति का दैहिक संहनन भी उत्तम कोटि का होना चाहिए। उत्तम संहनन में ‘भाष्य’ में दो संहनन स्वीकार किये गये हैं। वज्रऋषभनाराच संहनन और वज्रनाराचसंहनन। किन्तु दिगम्बर परम्परा में तीसरा नाराच संहनन भी उत्तम माना गया है।

क अधिकारी :

संहनन² जैन शास्त्रों का एक पारिभाषिक शब्द है, जो शरीर के जोड़ों की संरचना

1. तत्त्वार्थ सूत्र 9.27
2. (क) प्रज्ञापना सूत्र 23/299
(ख) स्थानांग सूत्र 6.3.494
(ग) कर्मग्रन्थ 1.38.39

के विशेष अर्थ में प्रयुक्त होता है। यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि ध्यान, जिसका संबंध मात्र मन के साथ है, दैहिक दृढ़ता से कैसे जुड़े? कुछ गहराई में जाएँ तो हमें प्रतीत होगा कि ध्यान के लिए मन की स्वस्थता और शक्तिमत्ता का बड़ा महत्त्व है। ध्यान करने में समर्थ मन के लिए जितने शारीरिक बल की आवश्यकता होती है, वह उक्त तीन संहननों से युक्त शरीरों में ही संभव है। मानसिक बल का एक प्रमुख आधार शरीर है और शरीरबल, शारीरिक संघटन पर निर्भर करता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि सबल-प्रबल देह का धनी स्वभावतः उच्च मनोबल का भी धनी होगा। पर इतना अवश्य है कि जिसका दैहिक स्वास्थ्य समृद्ध है, वह अस्वस्थकाय मनुष्य की अपेक्षा शीघ्र तथा अधिक सफल हो सकता है। अस्वस्थ एवं हीन संहनन वाले व्यक्ति में मन की स्थिरता इसलिए कम हो जाती है कि वह देह की कमियों-अल्पशक्तिमत्ता आदि के कारण जब-तब अस्थिर या विचलित होता रहता है।

यहाँ एकाग्रचित्तन के साथ उत्तम संहनन की जो चर्चा है, उसका आशय ध्यान के अनवरत साधने से है। ध्यान की चिरस्थिरता, अविचलता और अभ्यनता की दृष्टि से ही आचार्य ने ऐसा कहा है, अन्यथा यत्किञ्चित् एकाग्रचित्तन तो हर किसी को सधता ही है। पारिभाषिक रूप में जिसे उत्तम संहनन कहा गया है, वह आज किसी को प्राप्त नहीं है। वैसी स्थिति में आज ध्यान का अधिकारी कोई हो ही नहीं सकता किन्तु यदि ऐसा होता तो फिर आचार्य हरिभद्र, हेमचन्द्र, शुभचन्द्र आदि महामनीषी, जिन्होंने ध्यान पर काफी लिखा है, ऐसा क्यों करते ? सामान्यतः एकाग्रचित्तन मूलक साधना या ध्यान का अधिकारी अपनी शक्ति, मनोबल, संकल्पनिष्ठा के अनुसार प्रत्येक योगाभिलाषी, योगानुरागी पुरुष है। अतएव प्रशस्त दैहिक संहनन में ही ध्यान सधने से उनका अभिप्राय अनिरुद्ध ध्यान से है, वैसे संहनन के अभाव में ध्यान न सधने से तात्पर्य स्वल्प समयावधि युक्त ध्यान-साधना से है।

आचार्य पूज्यपाद ने तत्त्वार्थसूत्र पर अपने द्वारा रचित सर्वार्थसिद्धि नामक टीका में ध्यान के संबंध में विवेचन करते हुए लिखा है कि एकाग्र पद में आये हुए अग्र शब्द का अर्थ मुख है। जिसका एक अग्र होता है वह एकाग्र है अर्थात् किसी एक को सम्मुख रखकर अवस्थित होता है वह एकाग्र है। विभिन्न पदार्थों का अवलम्बन लेने से चिन्तन में परिस्पन्दन होता रहता है। वह अनेकमुखी होता है। उसे अन्य समग्र मुखों से लौटा कर एक अग्र अथवा एक विषय में नियमित सुस्थिर करना, टिकाना

एकाग्रचिन्तानिरोध कहा जाता है। यह ध्यान का स्वरूप है। मुहूर्त शब्द काल का विवक्षित परिमाण है। जो मुहूर्त के भीतर होता है उसे अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। अन्तर्मुहूर्त पद द्वारा काल की अवधि का निरूपण किया गया है। इतने काल के अनन्तर एकाग्र चिन्ता दुर्धर होती है।

टीकाकार ने यहाँ एक शंका उठाते हुए कहा है कि यदि चिन्ता के निरोध का नाम ध्यान है, तो निरोध तो अभाव रूप होता है इसलिए ध्यान खर-विषाण की तरह असत् ठहरता है।

इस शंका का समाधान करते हुए कहा गया है कि ध्यान के विषय में जो उक्त रूप में निरूपण किया गया है उसमें कोई दोष नहीं है क्योंकि अन्य चिन्ताओं की निवृत्ति की अपेक्षा वह असत् कहा गया है और अपने विषय रूप से प्रवृत्त होने के कारण वह सत् कहा जाता है।

इतना कहने के पश्चात् टीकाकार ने नैयायिक दृष्टि से अभाव तत्त्व का निरूपण करते हुए समाधान दिया है कि निरोध शब्द के प्रयोग में शंका को कोई स्थान नहीं है।³

भट्ट अकलंक देव ने अपने द्वारा रचित तत्त्वार्थवार्तिक (तत्त्वार्थराजवार्तिक) नामक टीका में ध्यान विषयक सूत्र का विश्लेषण करते हुए 'अग्र' शब्द के सम्बन्ध में लिखा है कि यह गत्यर्थक अंग धातु से बना है। इस अंग धातु का कर्मणि तथा अधिकरण में अथवा ऊणादि प्रकरण में 'रग' निपात होता है। व्याकरण में 'बज्जेन्द्राग्र' इस सूत्र से अंग का अग्र आदेश होता है। अतः अंग, मुख्य या लक्ष्य एकार्थवाची हैं।

अन्तःकरण के व्यापार को चिन्ता कहा जाता है। दूसरे शब्दों में पदार्थों में अन्तःकरण की वृत्ति को चिन्ता कहा जा सकता है।

अनियतक्रिया अर्थ का नियतक्रिया अकर्तृत्व में अवस्थान होना निरोध है। गमन, भोजन, शयन तथा अध्ययन आदि विविध क्रियाओं में अनियत रूप से भटकने वाली चित्तवृत्ति को एक क्रिया में अवरुद्ध कर देना, रोक देना निरोध है। जिसका अग्र, मुख या लक्ष्य एक होता है वह एकाग्र है। उस एक अग्र में चिन्ता का निरोध

एकाग्रचिन्तानिरोध है।

एकाग्रता में चिन्ता का निरोध कैसे होता है ? यह शंका उठा कर वार्तिककार ने उसका समाधान देते हुए कहा है कि दीपक की शिखा के सदृश वीर्य विशेष के सामर्थ्य से चित्तवृत्ति का एक स्थान में निरोध हो जाता है। जैसे बाधारहित, वायुरहित प्रदेश में प्रज्वलित दीपशिखा चंचल नहीं होती, स्थिर बनी रहती है, उसी प्रकार निराकुल चित्त एक लक्ष्य में विक्षेप के बिना स्थिर रहता है, अन्यत्र नहीं भटकता।

अग्र शब्द अर्थ का पर्यायवाची है। 'अङ्ग्यते अग्रम्' अंग धातु गमन अर्थ में भी है। तदनुसार जो गुण और पर्यायों को प्राप्त होता है वह अग्र-अर्थ है। 'एकं अग्रं' एक द्रव्य परमाणु या भाव परमाणु या अन्य किसी विषय (अर्थ) में चित्तवृत्ति को नियमित करना, केन्द्रित करना, स्थिर करना, एकाग्रचिन्तानिरोध है।

'ध्यान' शब्द का विश्लेषण करते हुए भट्ट अकलंक देव ने आगे लिखा है कि ध्यान शब्द विवक्षा के वश कर्तृ, कारण तथा भाव साधन है। ध्येय के प्रति अव्यापृत उदासीन भाव मात्र की विवक्षा होने पर 'ध्यातिर्ध्यानम्' के अनुसार वह भावसाधन हो जाता है। 'ध्यायतीति ध्यानम्' के अनुसार कर्तृसाधन भी अपेक्षाविशेष से होता है। जैसे छेदने वाले पुरुषकर्ता के धर्म का 'तलवार अच्छी तरह छेदती है,' इस प्रकार तलवार करण कर्ता के धर्म का अध्यारोप किया जाता है। उसी प्रकार ध्यान करने वाले आत्मा का ध्यान परिणाम ज्ञानावरणीय तथा वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम के अधीन है अतएव उसी ध्यान परिणाम को कर्ता कह दिया जाता है, अर्थात् पर्याय और पर्यायी (आत्मा) में भेदविवक्षा न करने से ध्यान कर्तृसाधन हो जाता है। जब पर्याय (ध्यान) और पर्यायी (आत्मा) में भेदविवक्षा से वर्णन किया जाता है तो ध्यान शब्द करण साधन हो जाता है। जैसे दाह, पाक, स्वेदन आदि क्रिया में प्रवृत्त अग्नि की औष्ण्य पर्याय में ही करण की कल्पना की जाती है उसी प्रकार आत्मा की ही पर्याय करण कहलाती है। अग्नि उष्णता के द्वारा जलाती है वैसे ही आत्मा के द्वारा ध्याया जाता है वह ध्यान है। यह करण साधन है। आत्मा ध्याती है वह ध्यान है, यह कर्तृ साधन है। 'ध्याति' मात्र ध्यान है, यह भावसाधन है।⁴

तत्त्वार्थ सूत्र की टीकाओं में 'श्लोकवार्तिक' में तपस्या के भेदों के निरूपण

4. तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) 9/28 पृ. 647-649

के प्रसंग में ध्यान का विस्तार से निर्देश हुआ है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक का वैशिष्ट्य यह है कि वह ध्यान के भेदों के साथ ध्यान के लक्षण और स्वामित्व के संदर्भ में विशेष रूप से चर्चा करता है। इस चर्चा में श्लोकवार्तिककार आचार्य विद्यानन्द ने न केवल जैनधर्मसम्मत प्रतिपादन ही किया है अपितु ध्यान के काल विवेचन के अन्तर्गत बौद्धों को पूर्वपक्ष के रूप में रखकर यह बताने का प्रयास किया है कि जो पहले समय में उत्पन्न हुआ है वही जब तीसरे समय में नष्ट हो जाता है तो ध्यान में स्थायित्व कैसे होगा? बौद्ध दर्शन में ध्यान के क्षणस्थायी होने से वस्तुतः ध्यान की अवस्था ही संभव नहीं होगी। इसलिए आचार्य विद्यानन्द कहते हैं कि ध्यान का काल अन्तर्मुहूर्त माने बिना ध्यान की सिद्धि ही संभव नहीं।

इस प्रकार आचार्य विद्यानन्द ने ध्यान की कालावधि का स्पष्टीकरण करते हुए बौद्धों के क्षणिकवाद का खण्डन किया है। ध्यान के चिन्तानिरोध लक्षण को स्पष्ट करते हुए विद्यानन्द ने वैशेषिक मत की भी समीक्षा की है। जैन दार्शनिकों का यहाँ उत्तर है कि वस्तुतः यहाँ एकाग्रचिन्तानिरोध का तात्पर्य किसी एक विषय पर चित्त को केन्द्रित करना है। अतः ध्यान अभाव रूप नहीं है। इस प्रकार तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में ध्यान के विविध आयामों की चर्चा करते हुए उन पर अन्य दार्शनिकों की प्रतिक्रिया को ध्यान में रखकर उनके समाधान का भी प्रयत्न किया गया है।⁵ इस संबंध में सुप्रसिद्ध जैन मनीषी पं. सुखलाल संघवी का ऐसा अभिमत है-

सामान्यतः क्षण में, एक क्षण में, दूसरे क्षण में, तीसरे ऐसे अनेक विषयों का अवलंबन करके प्रवृत्त ज्ञानधारा भिन्न-भिन्न दिशाओं में बहती हुई हवा में स्थित दीपशिखा की भाँति अस्थिर होती है। ऐसी ज्ञानधारा चिन्ता को विशेष प्रयत्नपूर्वक शेष विषयों से हटाकर किसी एक ही इष्ट विषय में स्थिर रखना अर्थात् ज्ञान-धारा को अनेक विषयगामिनी न बनने देकर एक विषयगामिनी बना देना ही ध्यान है। ध्यान का यह स्वरूप असर्वज्ञ (छद्मस्थ) में ही संभव है। इसलिए ऐसा ध्यान बारहवें गुणस्थान तक होता है।

सर्वज्ञत्व प्राप्त होने के बाद अर्थात् तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानों में भी ध्यान स्वीकार तो अवश्य किया गया है, पर उसका स्वरूप भिन्न है। तेरहवें गुणस्थान के अन्त

में जब मानसिक, वाचिक, कायिक योगव्यापार के निरोध का क्रम प्रारंभ होता है, तब स्थूल कायिक व्यापार के निरोध के बाद सूक्ष्म कायिक व्यापार के अस्तित्व के समय में सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नामक तीसरा शुक्लध्यान माना गया है और चौदहवें गुणस्थान की अयोगिपन की दशा में शैलेशीकरण के समय में समुच्छिन्न क्रियानिवृत्ति नामक चौथा शुक्ल ध्यान माना गया है। ये दोनों ध्यान उक्त दशाओं में चित्तव्यापार न होने से छद्मस्थ की भाँति एकाग्रचिन्ता-निरोध रूप तो हैं ही नहीं, अतः उक्त दशाओं में ध्यान को घटाने के लिए सूत्रगत प्रसिद्ध अर्थ के उपरान्त 'ध्यान' शब्द के अर्थविशेष का विशद वर्णन किया गया है कि केवल कायिक स्थूल विषयों के निरोध का प्रयत्न भी ध्यान है और आत्मप्रदेशों की निष्प्रकम्पता भी ध्यान है।

फिर भी ध्यान के विषय में एक प्रश्न रहता है कि तेरहवें गुणस्थान के प्रारंभ से योगनिरोध का क्रम शुरू होता है, तब तक की अवस्था में अर्थात् सर्वज्ञ हो जाने के बाद की स्थिति में क्या कोई ध्यान होता है ? यदि होता है तो कौन सा ? इसका उत्तर दो प्रकार से मिलता है। विहरमाण सर्वज्ञ की दशा में ध्यानान्तरिका कहकर उसमें अध्यानित्व ही मानकर कोई ध्यान स्वीकार नहीं किया गया है। सर्वज्ञ दशा में मन, वचन और काया के व्यापार संबंधी सुदृढ़ प्रयत्न को ही ध्यान के रूप में मान लिया है।

काल का परिमाण :

ध्यान अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक ही टिकता है, बाद में टिकाना कठिन है अतः उसका काल परिमाण अन्तर्मुहूर्त है।⁶

कई लोग श्वास-उच्छ्वास रोक रखने को ही ध्यान मानते हैं तथा अन्य कुछ लोग मात्रा से काल की गणना करने को ही ध्यान मानते हैं। परन्तु जैन परम्परा में यह कथन स्वीकार नहीं किया गया है, क्योंकि यदि सम्पूर्णतया श्वासोच्छ्वास क्रिया रोक ली जाय तो शरीर ही नहीं टिकेगा। मन्द या मन्दतर श्वास का संचार तो ध्यानावस्था में रहता ही है। इसी प्रकार जब कोई मात्रा से काल को गिनता है तो गिनने के काम में ही अनेक क्रियाएँ करने में लग जाने से उसके मन को एकाग्र के स्थान पर व्यग्र ही होना पड़ेगा। यही कारण है कि दिन, महीने और उससे अधिक समय तक ध्यान के टिकने की लोकमान्यता भी जैन परम्परा को ग्राह्य नहीं है, क्योंकि इतने समय तक

6. तत्त्वार्थ सूत्र 9.28 पं. सुखलाल संघवी टीका

एक ही ध्यान रहने से इन्द्रियों का उपघात ही हो जायेगा। अतः ध्यान को अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल तक बढ़ाना कठिन है। 'एक दिवस, एक अहोरात्र अथवा उससे अधिक समय तक ध्यान किया' - इस कथन का अभिप्राय इतना ही है कि उतने समय तक ध्यान का प्रवाह चलैता रहा। किसी एक आलम्बन का एक बार ध्यान करके पुनः उसी आलम्बन का कुछ रूपान्तर से या दूसरे ही आलम्बन का ध्यान किया जाता है और पुनः इसी प्रकार आगे भी ध्यान किया जाता है तो ध्यानप्रवाह बढ़ जाता है किन्तु एकाग्रचित्तानिरोध रूप ध्यान नहीं, क्योंकि चित्तनिरोध रूप ध्यान यदि इतना लम्बा सध जाये तो फिर मुक्ति होने में विलम्ब ही नहीं होगा। यह अन्तर्मुहूर्त का काल - परिमाण छद्मस्थ के ध्यान का है।

जिस आलम्बन पर ध्यान चलता है वह आलम्बन सम्पूर्ण द्रव्य रूप न होकर उसका एकदेश (एक पर्याय) होता है, क्योंकि द्रव्य का चिन्तन उसकी किसी-न-किसी पर्याय द्वारा ही सम्भव है।⁷

'भगवती सूत्र' में गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि अवस्थित परिणाम (ध्यान के परिणाम) कितने समय तक रहते हैं ? भगवान् कहते हैं - गौतम! कम-से-कम एक समय तक और अधिक-से-अधिक अन्तर्मुहूर्त तक।⁸

'स्थानांग सूत्र' में भी बताया है कि एक वस्तु (ध्येय) पर चित्त का अवस्थान अन्तर्मुहूर्त मात्र तक रहता है। छद्मस्थ और जिन (केवली भगवान्) के योगनिरोध (मन, वचन, काय की क्रिया को रोकना एवं उसे एक ध्येय पर अवस्थित करना) ही ध्यान है।⁹

सहनस का आधार :

यह सुज्ञात है कि ध्यान के लिए विशिष्ट आसन, समय तथा मनोवृत्ति की आवश्यकता होती है। आसन की स्थिर-सुखमय परिभाषा के बावजूद सामान्य आसन

7. वही, 9.27.28 पं. सुखलाल संघवी टीका
8. (क) भगवती सूत्र श. 25.6.150.20
(ख) योगप्रदीप 15.33
(ग) ध्यानशतक 3.
9. स्थानांगवृत्ति स्थान 4.1.247

में ध्यान संभव नहीं है। इसके लिए कुछ विशिष्ट आसन आवश्यक हैं। इन आसनों को विशिष्ट समय तक गृहीत किये रहने का अभ्यास चाहिए। यह अभ्यास केवल वे ही कर सकते हैं जिनके समुचित वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम है। इन आसनों के लिये शरीर स्वस्थ और सबल होना चाहिए। इसलिए शास्त्रों में उसी को ध्यान का अधिकारी बताया गया है जिनके शरीर का अस्थिबन्ध, स्नायुबन्ध एवं नाडीबन्धमूलक संहनन उत्तम कोटि का हो। चरम आध्यात्मिक विकास की दशा केवल असामान्य बलशाली शरीर से ही प्राप्त होती है।

सामान्य मनुष्य के संहनन पाँचवीं एवं छठी श्रेणी के होते हैं। आसन एवं प्राणायाम के अभ्यास से इनमें परिवर्तन संभव होता है क्योंकि इनसे शरीर की अन्तरंग ऊर्जा बढ़ जाती है। इससे चौथी व तीसरी संहनन श्रेणी में पहुँचकर ध्यान के अधिकारी हो सकते हैं। संहनन की उत्तमता के मानदण्ड से यह स्पष्ट है कि दिगम्बर परम्परा ध्यान की प्रक्रिया को अधिक कठोर मानती है, जबकि श्वेताम्बर परम्परा ध्यान की प्रक्रिया को अधिक व्यापक और प्रभावशाली बनाने की ओर अग्रसर रही है।

गुणस्थानों का आधार :

संहनन की विशेषता के अतिरिक्त आत्मिक विकास के चरणों (गुणस्थानों) के आधार पर भी शास्त्रों में ध्याता को अभिलक्षित किया गया है। कुमार कवि ने आरंभक, ध्याननिष्ठ एवं निष्पन्न योगी के रूप में ध्याताओं की तीन कोटियाँ बतायी हैं।

तत्त्वार्थसूत्रकार की मान्यता से धर्म्यध्यान चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सप्तम गुणस्थान तक होता है और शुक्लध्यान अष्टम गुणस्थान से प्रारम्भ होकर चतुर्दश गुणस्थान तक चलता है। शुक्लध्यान का पहला भेद-पृथक्त्ववितर्क विचार आठवें से ग्यारहवें गुणस्थान तक और दूसरा भेद एकत्ववितर्क अविचार बारहवें गुणस्थान में होता है। तीसरा भेद सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती तेरहवें गुणस्थान के अन्त में होता है और चौथा भेद-व्युपरत क्रियानिवर्ती चौदहवें गुणस्थान में होता है। प्रथम भेद के द्वारा मोहनीय कर्म का उपशम अथवा क्षय होता है। दूसरे भेद के द्वारा प्रमुख रूप से तीन घातिया कर्मों का क्षय होता है। तीसरे भेद के द्वारा सत्तास्थित कर्मों की सातिशय निर्जरा होती है और चौथे भेद के द्वारा समस्त कर्मों का क्षय होकर मोक्ष प्राप्त होता है।

इस प्रकार ध्यान के अधिकारी ऐसे सभी सामान्य एवं साधु व्यक्ति हो सकते

आचार्य उमास्वाति, जिनभद्र गणि और पूज्यपाद के ग्रन्थों में ध्यानविमर्श खण्ड : चतुर्थ

हैं जिनका शरीर पुष्ट एवं बलवान् हो एवं जो सात्त्विक वृत्तियों की ओर उन्मुख हों। शरीर की बलशालिता एवं मनोवृत्तियों की कोटि ध्यान की कोटि एवं योग्यता के मापदण्ड हैं।

ध्यान के भेद और उनका फल :

तत्त्वार्थसूत्र में आचार्यउमास्वाति ने ध्यान के चार भेद स्वीकार किये हैं।¹⁰

1. आर्त्तध्यान 2. रौद्रध्यान 3. धर्मध्यान और 4. शुक्लध्यान।

1. आर्त्तध्यान : अर्दन-अर्ति शब्द का अर्थ चिन्ता, पीड़ा, शोक, दुःख, कष्ट आदि है। इनके संबंध से जो ध्यान होता है, वह आर्त्तध्यान है।

2. रौद्रध्यान : रुलाने वाले को रुद्र-क्रूर कहते हैं, रुद्र का कर्म या कषायों से अतिरंजित जीव के क्रूर भाव रौद्र हैं और इनसे संबंधित तथा इनमें हर्षित होने वाली चित्त की वृत्ति रौद्रध्यान है।

3. धर्मध्यान : धर्म युक्त ध्यान अर्थात् चित्त (मन) की जिस वृत्ति में शुद्ध धर्म की भावना का विच्छेद न पाया जाय, वह धर्मध्यान है।

4. शुक्लध्यान : जिसके द्वारा कषायों का, कर्मों का क्षय हो, संसार का नाश हो, चतुर्गति में परिभ्रमण समाप्त हो ऐसी आत्मपरिणति शुक्लध्यान है अर्थात् जैसे मैल हट जाने से वस्त्र शुचि होकर शुक्ल कहलाता है उसी तरह निर्मल गुण रूप आत्मपरिणति भी शुक्ल कही जाती है।

प्रशस्त और अप्रशस्त ध्यान :

प्रथम दो ध्यान अपुण्यास्रव के कारण अप्रशस्त ध्यान हैं, हेय हैं, त्याज्य हैं और शेष दो ध्यान कर्मनिर्वहन में समर्थ होने से सुध्यान हैं, प्रशस्त हैं और उपादेय (ग्राह्य) हैं।¹¹

10. तत्त्वार्थ सूत्र 9.29

11. वही, 9.30

आर्त्त और रौद्र अशुभ बंध के हेतु हैं। इसलिए वे अनुपादेय एवं अश्रेयस्कर हैं। पर ध्यान की कोटि में तो आते ही है, क्योंकि मन की एकाग्रता चाहे किसी भी कारण से हो, वहाँ है।

आर्त्त और रौद्र ध्यान जब अनुपादेय एवं अश्रेयस्कर हैं तो उनके संबंध में विशेष जानने की क्या आवश्यकता है ? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है, किन्तु यहाँ विशेष रूप से समझने की बात यह है कि साधारणतः मनुष्य दुर्बल है। अशुभ या विकार की ओर उसका मन जल्दी से चला जाता है, सत् या शुभ की दिशा में आगे बढ़ने में, तन्मूलक चिंतन में धर्मध्यान में प्रवृत्त होने हेतु बड़ा अध्यवसाय और प्रयत्न पुरुषार्थ करना पड़ता है। अशुभमूलक आर्त्त-रौद्रध्यान से वह बचे इसलिए यह आवश्यक है कि वह जाने तो सही कि वे क्या हैं? सिद्धान्ततः जगत् में सभी पदार्थ, सभी बातें ज्ञेय-ज्ञातव्य या जानने योग्य हैं। ज्ञात पदार्थों या विषयों में जो हेतु हैं उनका परित्याग किया जाए तथा जो उपादेय हैं, उन्हें ग्रहण किया जाए। यही कारण है कि शास्त्रों में आर्त्त और रौद्रध्यान का यथाप्रसंग वर्णन उपलब्ध है।

अतएव प्रशस्त से पूर्व अप्रशस्त को जानना जरूरी है। अप्रशस्त की उपस्थिति में प्रशस्त का होना असंभव है। अप्रशस्त मन की अशुभ में एकाग्रता है। मन जब-तब अशुभ में एकाग्र रहेगा, तब तक शुभ में आ ही नहीं सकेगा। प्रशस्त ध्यान प्रकाश है, अप्रशस्त ध्यान अंधकार है।

आर्त्तध्यान :

आचार्य उमास्वाति ने आर्त्तध्यान के उत्पन्न होने के चार कारण बताये हैं।¹² तदनुसार-अप्रिय (व्यक्ति, वस्तु आदि) के संयोग होने पर उनके वियोग के लिए सतत चिन्ता करना पहला आर्त्तध्यान है।¹³

दुःख या कष्ट आने पर उसके दूर होने की निरन्तर चिन्ता करना दूसरा आर्त्तध्यान है।¹⁴

12. भगवती सूत्र श. 25.6.238

13. तत्त्वार्थ सूत्र 9.31

14. वही, 9.32

प्रिय वस्तु का वियोग हो जाने पर उसकी प्राप्ति के लिए सतत चिन्ता करना तृतीय आर्तध्यान है।¹⁵ अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए संकल्परत रहना, तदनुरूप चिन्तन करना चौथा आर्तध्यान है।¹⁶

आर्त शब्द से तात्पर्य है पीड़ा, कष्ट जिसके चिन्तन से दुःख उत्पन्न होता है। जब व्यक्ति बहुत पीड़ा या कष्ट में होता है तो उसका चिन्तन भी उसी के आस-पास केन्द्रित हो जाता है। आचार्य उमास्वाति ने जैसा प्रतिपादित किया है उसके अनुसार अनिष्ट का संयोग हो, इष्ट का वियोग हो, शरीर या मन में रोगादि पीड़ा हो, भोगाकांक्षा में जब चित्त निरन्तर अस्थिर और अशान्त रहता हो तब मन की, मानसिक चिन्तन की ऐसी स्थिति बनती है।

ये चारों ध्यान अज्ञानमूलक, तीव्र पुरुषार्थजन्य, पापप्रयोगाधिष्ठान, नाना संकल्पों से आकुल, विषय-तृष्णा से परिव्याप्त, धर्माश्रयपरित्यागी, कषाय स्थानों से युक्त, अशान्तिवर्धक, अकुशल कर्म के कारण, कटुक फल वाले, असाता के बन्धक और तिर्यच गति में ले जाने वाले हैं। ये चारों आर्तध्यान कृष्ण, नील और कापोतलेश्या वालों के होते हैं।

यह ध्यान प्रथम छह गुणस्थान तक के जीवों के होता है।¹⁷ प्रमत्तसंयत गुणस्थान में प्रमाद के तीव्र उद्रेक से निदान को छोड़कर शेष तीन आर्तध्यान कभी-कभी हो सकते हैं।

रौद्र ध्यान :

1. हिंसा, 2. असत्य, 3. चोरी और 4. विषयरक्षण के लिए सतत चिन्ता करना रौद्रध्यान है, जो अविरति गुणस्थान और देशविरतगुणस्थान में संभव है।¹⁸

जब कोई व्यक्ति किसी प्रकार की हिंसा करने को तत्पर होता है तो उसका मन अत्यंत क्रूर और कठोर बन जाता है और वह एक मात्र उसी हिंसामूलक ध्यान

15. वही, 9.33

16. वही, 9.34

17. वही, 9.35

18. वही, 9.36

में लगा रहता है। तत्त्वार्थवार्तिक में बताया है कि हिंसादि के आवेश और परिग्रह आदि के कारण देशविरत को भी रौद्रध्यान होता है। पर यह नरकादि गतियों का कारण नहीं होता, क्योंकि यह सम्यग्दर्शन के साथ है। संयत के रौद्रध्यान नहीं होता, क्योंकि रौद्र भावों में संयम रह ही नहीं सकता। हिंसानन्दी, अनृतानन्दी, स्तेयानन्दी और परिग्रहानन्दी ये चारों रौद्र ध्यान अतिकृष्ण नील और कापोत लेश्या वालों के होते हैं। ये प्रमादाधिष्ठान हैं और नरक गति को ले जाने वाले हैं। आत्मा इन अशुभ ध्यानों से संक्लिष्ट होकर, तप्त लौहपिण्ड जैसे जल को खींचता है, उसी तरह कर्मों को खींचता है।¹⁹

समवायांग सूत्र, भगवती सूत्र, स्थानांग सूत्र और औपपातिक सूत्र में भी रौद्रध्यान के चार प्रकार बताये हैं जो साधु के लिए सदैव त्याज्य हैं।

रौद्रध्यान आर्तध्यान से भी निकृष्ट ध्यान है। इसके कार्य हिंसा, असत्य, चोरी और विषयरक्षण नितान्त अशुभ होने से करने वाले की भावात्मकवृत्ति भीषण और क्रूर हो जाती है। विषय-भोग या भोग्य पदार्थों के संरक्षण के लिए भी व्यक्ति कठोर, क्रूर तथा उन्मत्त बन जाता है। उसका चिंतन अत्यंत रौद्र भावापन्न होता है अथवा दुर्धर्ष क्रोधावेश लिये रहता है।

धर्मध्यान और शुक्लध्यान प्रशस्त ध्यान हैं और आत्मलक्ष्यी हैं। शुक्लध्यान विशिष्ट ज्ञानी साधकों को सधता है। वह अन्तःस्थैर्य या आत्मस्थिरता की क्रमशः पराकाष्ठा की दशा है। धर्मध्यान उससे पहले की स्थिति है। वह शुभमूलक है। कुंदकुंद आदि महान् आचार्यों ने अशुभ, शुभ, शुद्ध इन तीन शब्दों का विशेष रूप से व्यवहार किया है। अशुभ पापमूलक, शुभ पुण्यमूलक तथा शुद्ध पाप-पुण्य से अतीत, निरावरण शुद्ध आत्मदशामूलक है। आर्त-रौद्र ध्यान अशुभात्मक, धर्मध्यान शुभात्मक और शुक्लध्यान शुद्धात्मक है।

धर्मध्यान :

‘तत्त्वार्थसूत्र’ में धर्मध्यान के आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय, ये चार भेद किये हैं।²⁰ यह धर्मध्यान अप्रमत्तसंयत के होता है। उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय गुणस्थान वाले जीवों के भी संभव है।

19. तत्त्वार्थ वार्तिक 9.35 पृ. 792

20. तत्त्वार्थ सूत्र 9.36

आज्ञाविचय :

विचय का अर्थ विचारणा, गहन विचारणा, सतत विचारणा है या चिन्तन भी है। आज्ञाविचय ध्यान में सर्वज्ञ-वाणी ध्यान के केन्द्र रूप में ली जाती है। किसी सूक्ष्म विषय में अपनी मतिमन्दता तथा योग्य उपदेशदाता के अभाव में स्पष्ट निर्णय की स्थिति न बन सके, उस समय वीतराग भगवान की आज्ञा को प्रमाण मान कर चित्त को उनकी वाणी या आज्ञा पर टिकाते हुए, एकाग्र करते हुए द्रव्य, गुण और पर्याय आदि की दृष्टि से तन्मयता और स्थिरतापूर्वक ध्यान करना आज्ञाविचय धर्मध्यान कहलाता है।

अपायविचय :

उपाय का विलोम अपाय है। उपाय प्राप्ति या लाभ का सूचक है। अपाय हानि, विकार या दुर्गति का घातक है। राग-द्वेष और मोह तथा उनसे उत्पन्न होने वाले दुःखों से या दुर्गति को सम्मुख रखकर जहाँ चिन्तन को एकाग्र किया जाता है वह अपायविचय धर्मध्यान कहलाता है अर्थात् हेय क्या है ? इसका चिन्तन करना।

विपाकविचय :

अनुभव में आने वाले कर्मफल रूप विपाकों में से कौन-कौन सा विपाक किस-किस कर्म से संबंधित है तथा अमुक कर्म का अमुक विपाक संभव है, इसके विचारार्थ मनोयोग लगाना विपाकविचय धर्मध्यान है। इस ध्यान द्वारा साधक में कर्मों से पृथक् होने, उन्हें निर्जीर्ण करने तथा आत्मभाव से संयुक्त होने की संस्फूर्ति का उद्भव होता है।

अपायविचय और विपाकविचय दोनों की दिशाएँ लगभग एक जैसी हैं। अन्तर केवल इतना सा है कि अपायविचय के चिन्तन का क्षेत्र व्यापक है और विपाकविचय का उसकी अपेक्षा सीमित है - कर्मफल तक अवस्थित है। इस ध्यान द्वारा साधक को कर्मविमुक्ति की यात्रा पर अग्रसर होने की प्रेरणा मिलती है।

संस्थानविचय :

लोकस्वरूप का विचार करने में मनोयोग लगाना संस्थानविचय धर्मध्यान है।

यह लोक उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। लोक के संस्थान, अवस्थिति या आकृति/आकार, उसकी रचना आदि विषय का जिस ध्यान में चिंतन किया जाता है उसे संस्थानविचय धर्मध्यान कहा जाता है।

संस्थानविचय ध्यान का फल है - इस लोक में नाना प्रकार के द्रव्य हैं। उनमें अनंत पर्याय परिवर्तित - नवाभिनव रूप में परिणत होते जाते हैं, पुराने मिटते जाते हैं, नये उत्पन्न होते जाते हैं। उन पर मनन, एकाग्र चिंतन करने से मन जो निरन्तर उनसे जुड़ा रहता है, राग-द्वेष आदि से आकुल नहीं होता। इस ओर से अनासक्त बनता जाता है। जागतिक पर्यायों का, जो अनित्य हैं, ध्यान करने से जगत् के अनित्यत्व का भान होता है, योगोन्मुख साधक का, आत्मरमण का भाव जागृत होता है।

धर्मध्यान द्वारा वैराग्यप्राप्ति होती है। यह ध्यान पर-पदार्थों पर अनासक्ति और आत्म-सुख में अनुराग-तत्परता उजागर करता है। उससे जो आत्मसौख्य/आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त होता है उसे केवल स्वयं के द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है।

अधिकारी :

धर्मध्यान के अधिकारी के विषय में तत्त्वार्थाधिगम सूत्र 9/37 में कहा है कि यह अप्रमत्तसंयत के ही होता है और बारहवें गुणस्थान तक संभावित है जबकि राजवार्तिककार कहते हैं कि अप्रमत्त गुणस्थान में ही धर्मध्यान मानने पर असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और प्रमत्तसंयत के धर्मध्यान के अभाव का प्रसंग आता है। असंयत सम्यग्दृष्टि आदि के सम्यग्दर्शन के प्रभाव से धर्मध्यान होता है अर्थात् सम्यग्दर्शनपूर्वक धर्मध्यान होता है अतः वह असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और प्रमत्तसंयत के भी होता है। यदि धर्मध्यान अप्रमत्त के ही होता है ऐसी अवधारणा की जाती है तो असंयतदि गुणस्थानों में धर्मध्यान की निवृत्ति का प्रसंग आता है।

अवधारणा :

उत्तम क्षमा आदि दस धर्मों से ओत-प्रोत होने के कारण यह धर्मध्यान कहलाता है। यह ध्यान उत्तम क्षमादि भावना वालों के ही अनित्य आदि अनुप्रेक्षाओं में जब बार-बार चिन्तन धारा चालू रहती है। तब वे ज्ञान रूप हैं किन्तु जब उन भावनाओं में एकाग्रचिन्तानिरोध होकर चिन्तनधारा केन्द्रित हो जाती है तब वह ध्यान

आचार्य उमास्वाति, जिनभद्र गणि और पूज्यपाद के ग्रन्थों में ध्यानविमर्श खण्ड : चतुर्थ
कहलाती है।

उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय में शुक्लध्यान माना जाता है, उनमें धर्मध्यान नहीं होता। दोनों मानना उचित नहीं है। क्योंकि आगम में श्रेणियों में शुक्लध्यान ही बताया है धर्मध्यान नहीं।

शुक्लध्यान :

मन सहज ही चंचल है। विषयों का आलंबन पाकर उसकी चंचलता बढ़ती जाती है। ध्यान का कार्य उस चंचल और भ्रमणशील मन को शेष विषयों से हटाकर किसी एक विषय पर स्थिर कर देना है।

ज्यों-ज्यों स्थिरता बढ़ती है, मन शांत और निष्प्रकम्प होता जाता है। शुक्लध्यान के अंतिम चरण में मन की प्रवृत्ति का पूर्ण निरोध होकर पूर्ण संवर हो जाता है अर्थात् समाधि अवस्था प्राप्त हो जाती है।

आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में शुक्लध्यान के चार भेद बताये हैं,²¹ जो इसके चार पाये कहलाते हैं : (1) पृथक्त्ववितर्कसविचार (2)

एकत्ववितर्क निर्विचार (3) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती (4) व्युपरत क्रिया निवृत्ति।

पृथक्त्ववितर्क विचार :

पूर्वगत श्रुत का अवलम्बन लेकर तथा किसी एक द्रव्य को ध्यान का विषय बनाकर उसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप भंगों को तथा मूर्त्तत्व-अमूर्त्तत्व पर्यायों पर अनेक नयों की अपेक्षा भेदप्रधान चिन्तन करता हुआ एक पर्याय से दूसरी पर्याय पर, एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर, मनोयोग से वचनयोग पर, वचनयोग से मनोयोग अथवा काययोग पर, इस प्रकार चित्तवृत्ति का परिवर्तन पलटना, बदलना आदि रूप ध्यान प्रथम शुक्लध्यान है।

एक पर्याय से दूसरी पर्याय पर चित्तवृत्ति का गमन अर्थसंक्रान्ति है। श्रुत के किसी भी एक शब्द से दूसरे शब्द पर चित्तवृत्ति का परिवर्तन व्यंजन-संक्रान्ति है। मन-वचन-काय के योगों पर परस्पर एक दूसरे- तीसरे पर चित्त की वृत्ति का गमन अथवा

21. वही, 9.41

परिवर्तन योग संक्रान्ति है। इस प्रकार संक्रमण होते रहने पर भी ध्येय द्रव्य एक ही रहता है। अतः उस अंश में मन की स्थिरता बनी रहती है। इस अपेक्षा से उसे ध्यान कहने में आपत्ति नहीं है। इस प्रकार से मन की वृत्ति का बदलते रहना, विचार कहलाता है। वितर्क श्रुत-ज्ञान को कहा जाता है। प्रथम शुक्लध्यान में वितर्क और विचार दोनों ही होते हैं और इनमें चित्तवृत्ति परिवर्तित होती रहती है।

एकत्व वितर्क अविचार :

शुक्ल ध्यान के इस दूसरे भेद में वितर्क यानी श्रुत का आलम्बन तो होता है, किन्तु विचार अर्थात् चित्तवृत्ति में परिवर्तन नहीं होता। किसी भी एक पर्याय पर चित्तवृत्ति निष्कंप दीपशिखा के समान स्थिर हो जाती है। अतः मन निश्चल और शांत बन जाता है। परिणामस्वरूप कर्मों के आवरण शीघ्र ही दूर होकर अरिहंत दशा प्रगट होती है।

एक ही ध्येय पर चित्तवृत्ति के स्थिर रहने के कारण इसे एकत्ववितर्कशुक्ल ध्यान कहा गया है। इसमें चित्त की वृत्ति अभेदप्रधान होती है।

प्रथम दोनों शुक्लध्यानों का आश्रय एक है अर्थात् उन दोनों का आरम्भ पूर्वज्ञानधारी आत्मा द्वारा होता है। इसीलिए ये दोनों ध्यान वितर्क -श्रुतज्ञान सहित हैं। दोनों के वितर्क का साम्य होने पर भी यह वैषम्य है कि पहले में पृथक्त्व (भेद) है, जबकि दूसरे में एकत्व (अभेद) है। इसी प्रकार पहले में विचार संक्रम है। जबकि दूसरे में विचार नहीं है। इसी कारण इन दोनों ध्यानों के नाम क्रमशः पृथक्त्ववितर्क - सविचार और एकत्ववितर्क निर्विचार है।

शुक्ल क्रियाप्रतिपाती :

जब सर्वज्ञ भगवान योगनिरोध के क्रम में अन्ततः सूक्ष्म शरीर योग का आश्रय लेकर शेष योगों को रोक देते हैं तब यह सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान कहलाता है, क्योंकि उसमें श्वास-उच्छ्वास के समान सूक्ष्म क्रिया ही शेष रह जाती है और उससे पतन भी आशंकित नहीं है।

शरीर चक्रियानिवृत्ति :

जब शरीर की श्वास - प्रश्वास आदि सूक्ष्म क्रियाएँ भी बन्द हो जाती हैं

आचार्य उमास्वाति, जिनभद्र गणि और पूज्यपाद के ग्रन्थों में ध्यानविमर्श खण्ड : चतुर्थ

और आत्मप्रदेश सर्वथा निष्प्रकम्प हो जाते हैं तब यह व्युपरतक्रियानिवृत्ति ध्यान कहलाता है। क्योंकि इसमें स्थूल या सूक्ष्म किसी भी प्रकार की मानसिक, वाचिक, कायिक क्रिया नहीं होती है और यह स्थिति बाद में नष्ट भी नहीं होती। इस चतुर्थ ध्यान के प्रभाव से समस्त आस्रव-बन्ध-निरोधपूर्वक शेष कर्मों के क्षीण हो जाने से मोक्ष प्राप्त होता है। तीसरे और चौथे शुक्लध्यान में किसी भी प्रकार के श्रुतज्ञान का आलंबन नहीं होता, अतः ये दोनों अनालंबन भी कहलाते हैं।

स्वामी विषयक कथन दो प्रकार से किया गया है - पहला गुणस्थान की दृष्टि से और दूसरा योग की दृष्टि से। गुणस्थान की दृष्टि से शुक्लध्यान के चार भेदों में से पहले दो भेदों के स्वामी ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान वाले ही होते हैं जो पूर्वधर भी हों।²² 'पूर्वधर' विशेषण से सामान्यतः यह अभिप्राय है कि जो पूर्वधर न हो पर ग्यारह आदि अंगों का धारक हो। उसके ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान में शुक्लध्यान न होकर धर्मध्यान ही होगा। इस सामान्य विधान का अपवाद यह है कि पूर्वधर होते हुए भी माषतुष, मरुदेवी आदि जैसी आत्माओं में भी शुक्लध्यान सम्भव है। शुक्लध्यान के शेष दो भेदों के स्वामी केवली अर्थात् - तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान वाले ही होते हैं।²³

योग की दृष्टि से तीन योगवाला ही पहले शुक्लध्यान का स्वामी होता है। मन, वचन और काय में से किसी भी एक योगवाला शुक्लध्यान के दूसरे भेद का स्वामी होता है। इस ध्यान के तीसरे भेद का स्वामी केवल काययोग वाला और चौथे भेद का स्वामी एक मात्र अयोगी होता है।²⁴

'तत्त्वार्थसूत्र' में निर्जरा तत्त्व के अन्तर्गत 27 से 46 वें सूत्र तक 20 सूत्रों में ध्यान का वर्णन हुआ है। उसमें ध्यान की आराधना, उसके भेद, फिर उनके अवान्तर भेदों के संक्षिप्त में लक्षण, ध्यान के अधिकारी, कालमान इत्यादि का संक्षेप में वर्णन किया है। इसे ध्यानयोग के उत्तरवर्ती विकास की पृष्ठभूमि कहा जा सकता है। इसी को लेकर विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में ध्यान का बहुमुखी विवेचन किया

22. वही, 9.39

23. वही, 9.40

24. वही, 9.42

है। ध्यान पर स्वतंत्र रूप में ग्रन्थों की जो रचनायें हुईं, वे भी 'तत्त्वार्थ सूत्र' में दिये गये विश्लेषण से अनुप्राणित हैं। अतिसंक्षेप में ध्यानविषयक ज्ञातव्य तथ्यों का इन 20 सूत्रों में जो विश्लेषण हुआ है, वह बहुत ही सारगर्भित है।

'तत्त्वार्थ सूत्र' में ध्यान सम्बन्धी विवेचन में श्वेताम्बर और दिगम्बर पक्षों में जो महत्त्वपूर्ण अन्तर देखा जाता है वह यह है कि जहाँ 'तत्त्वार्थ सूत्र' का 'संभाष्य तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' पाठ चारों ध्यानों के स्वामियों की चर्चा करते हुए धर्मध्यान का स्वामी अप्रमत्तसंयत को बताता है वहाँ दिगम्बर परम्परा को मान्य 'सर्वार्थसिद्धि' गत मूल पाठ में धर्मध्यान के प्रकारों की चर्चा ही की गई है, उसके स्वामी का उल्लेख नहीं किया गया। इस सम्बन्ध में डॉ. सागरमल जैन का कहना है कि वस्तुतः दोनों परम्पराओं के इस मूल पाठ में अन्तर का कारण यह है कि जहाँ दिगम्बर परम्परा में षट्खण्डागम का अनुसरण करते हुए यह माना है कि धर्मध्यान का स्वामी चौथे गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक का जीव हो सकता है ; वहाँ 'तत्त्वार्थ का' भाष्यमान पाठ सातवें गुणस्थान से धर्मध्यान की सम्भावना को बताता है। इस प्रकार आचार्यों ने उनके द्वारा मान्य आगम और 'तत्त्वार्थ सूत्र' के मूल पाठ में कोई विरोध न आ जाये इसलिए मूल पाठ से 'अप्रमत्तसंयत' शब्द को हटा दिया। यद्यपि श्वेताम्बर कर्मसिद्धान्त के ग्रन्थों में भी धर्मध्यान की सम्भावना चौथे गुणस्थान से मानी गयी है फिर भी श्वेताम्बर आचार्यों ने उस मूल पाठ को यथावत् रहने दिया और मात्र इस सम्बन्ध में आचार्यों के मतभेद का निर्देश है।

आचार्य जिनभद्र गणि कृत : ध्यानशतक

ध्यान पर प्राकृतभाषा में 'ध्यानशतक' नामक स्वतन्त्र कृति उपलब्ध है। इसमें 105 गाथाओं में ध्यान का विश्लेषण किया गया है।

इसका रचनाकाल लगभग छठी शताब्दी स्वीकार किया गया है। ध्यान पर प्राकृत में लिखी गई इस स्वतन्त्र रचना से यह विदित होता है कि साधना के क्षेत्र में ध्यान का महत्त्व क्रमशः बढ़ता गया है। ध्यान आन्तरिक तर्पों में से एक है तथा उनमें भी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, यदि यह कहा जाये तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। प्राचीन ग्रंथों के ग्रंथकारों के इतिहास के विषय में भारतीय साहित्य में बहुत नैराश्यपूर्ण स्थिति है। यह सूचित किया ही जा चुका है कि भारतीय लेखक अपने सम्बन्ध में

लिखने में प्रायः उदासीन रहे हैं। 'ध्यानशतक' भी इसी कोटि में आता है। इसके लेखक के विषय में कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। ग्रन्थ का नाम भी कुछ विवाद लिये हुए है। इस रचना की पहली गाथा में इसे 'ध्यानाध्ययन' कहा गया है। रचनाकार ने इसका नाम 'ज्ञाणज्झयणं' अर्थात् ध्यानाध्ययन लिखा है। 'ध्यानाध्ययन' शब्द यह सूचित करता है कि इस रचना में ध्यान के विषय में विवेचन हुआ है जिसके आधार पर साधक ध्यान का अभ्यास कर आत्मकल्याण कर सके। आचार्य हरिभद्रसूरि ने इस पर संस्कृत टीका लिखी है। सम्भव है, इसकी गाथाओं की संख्या को लक्षित कर जो सौ से कुछेक अधिक हैं इसे 'ध्यानशतक' नाम दे दिया गया हो। भारतीय साहित्य में सौ-सौ पदों की रचनाओं का एक विशेष क्रम वैदिक-जैन आदि विविध परम्पराओं में दृष्टिगोचर होता है। संभव है, उसी कोटि में इस ग्रंथ को परिगणित करते हुए इसका यह नामकरण हो गया हो।

इसके रचनाकार के सम्बन्ध में भी अनेक मान्यताएँ हैं। परम्परा से जिनभद्रगणिकामाश्रमण इसके रचयिता माने जाते हैं किन्तु सुप्रसिद्ध विद्वान् पं. दलसुखभाई मालवणिया आदि ने इस पर विशेष ऊहापोह करते हुए इसको श्रीजिनभद्रगणि द्वारा रचा जाना संदिग्ध माना है।

प्रस्तुत कृति में ध्यान के लक्षण, काल एवं स्वामी, ध्यान के भेद, उनका फल इत्यादि का प्रारंभ में निरूपण हुआ है। ग्रंथकार ने ध्यानकाल के समाप्त होने पर छद्मस्थ ध्यानाभ्यासियों में क्या घटित होता है, इस सम्बन्ध में लिखा है।²⁵ ध्यानपुरुष के अन्तर्मुहूर्त्त के पश्चात् ध्यानान्तर होता है। उसका चिंतन वहाँ पर नहीं रह पाता। आत्मगत-परगत बहुत सी वस्तुओं में संक्रमण-संचार होने पर भी उस ध्यान की प्रक्रिया दीर्घकाल तक गतिशील रह सकती है। यहाँ छद्मस्थ साधकों के अन्तर्मुहूर्त्त के पश्चात् जो ध्यानान्तर होने का निर्देश किया गया है, उसका अभिप्राय यह नहीं है कि उसके द्वारा स्वीकृत ध्यान से भिन्न कोई अन्य ध्यान होने लगे। यहाँ ध्यानान्तर से आस्रव भावना एवं अनुप्रेक्षामूलक चित्तस्थिति लेनी चाहिए। यह भी तभी घटित होता है जब अन्तर्मुहूर्त्त के पश्चात् भी ध्यान सक्रिय हो। यह क्रम आगे भी गतिशील रह सकता है। आत्मगत-परगत वस्तुओं में संक्रमण का जो उल्लेख किया गया है वहाँ आत्मगत का आश्रय अन्तर्मन आदि तथा परगत का अभिप्राय बहिरंग द्रव्यादि

है। अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् ध्यान की निरन्तरता अव्यवहित नहीं रहती। किन्तु मध्यवर्ती संक्रमण के साथ ध्यान का क्रम दीर्घकाल पर्यन्त चल सकता है।

आगे उन्होंने प्रत्येक ध्यान के प्रायः सभी पक्षों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। आर्तध्यान के प्रसंग में लेखक ने एक बात की विशेष रूप से चर्चा की है कि मुनि के आर्तध्यान की संभावना है या नहीं ? उन्होंने लिखा है कि मुनि राग एवं द्वेष के बीच में स्थित रहता है। इसका अभिप्राय यह है कि वह न किसी वस्तु को मनोज्ञ व इष्ट मानकर राग करता है और न किसी वस्तु को अमनोज्ञ व अनिष्ट मानकर द्वेष ही करता है। इसलिए उसके कोई वेदना का प्रसंग बनता है तो वह वस्तु-स्वरूप के चिन्तन में तत्पर होता हुआ उसे समत्व भाव के साथ सहन करता है। यही कारण है कि राग-द्वेष से रहित होने के कारण उसके किसी वेदना का वियोगविषयक अर्थात् वह वेदना रहित हो जाय ऐसा भाव या आर्तध्यान नहीं होता। किन्तु जिसका अन्तःकरण राग-द्वेष से क्लृप्ति होता है, उसके वह आर्तध्यान अवश्य होता है। जो मुनि प्रशस्त ज्ञान आदि को बढ़ाने वाले आलम्बन का आश्रय लेकर उस वेदना का अल्प सावद्युक्त उपचार करता है एवं निदान से रहित होता हुआ तप, संयममय प्रतिकार का सेवन करता है उसके निदानवर्जित धर्मध्यान ही होता है, आर्तध्यान नहीं होता।²⁶

ग्रंथकार ने आर्तध्यान से बचने की दृष्टि से संकेत रूप से जो उद्गार व्यक्त किये हैं वे ध्यानाभ्यासी मुनिवृन्द के लिए बड़े ही उपयोगी हैं। क्योंकि आर्त-रौद्र ध्यान साधना में विघ्नकारक हैं। मुनि में भी यदि प्रिय या अप्रिय स्थितियों के आने पर राग या द्वेष का भाव आसक्ति या निवृत्ति का भाव आ जाता है तो वह आर्तध्यान में चला जाता है। अतएव शारीरिक, मानसिक, प्रतिकूल वेदना की स्थिति में भी मुनि को आत्माभिमुख होते हुए निर्मल मानसिकता के साथ अनुवर्तन करना चाहिए।

धर्मध्यान का विवेचन करते हुए रचनाकार ने उसके बारह द्वारों की चर्चा की है जिनका अनुशीलन अनुसरण, एक ध्यानयोगी के लिए आवश्यक है। उन्होंने प्रतिपादित किया है कि (1) ध्यान की भावनायें (2) ध्यान के लिए समुचित देश या स्थान (3) समुचित समय (4) ध्यानानुरूप समीचीन आसन (5) ध्यान के आलम्बन (6) ध्यान का मनोनिरोध आदि के रूप में क्रम (7) ध्यान का विषय-

आज्ञा, अपाय, विपाक आदि ध्येय (8) ध्याता (9) ध्याता की योग्यता स्वरूप अनुप्रेक्षा ध्यान का व्यवहित होना (10) अनित्यत्व अशरणत्व आदि का अनुप्रेक्षण (11) धर्मध्यान की शुभलेश्या, धर्मध्यान के सम्यक् श्रद्धा आदि लिंग। (12) ध्यान का फल ये धर्मध्यान के बारह द्वार हैं। द्वार कहने का अभिप्राय है कि जैसे कोई व्यक्ति किसी भवन में प्रविष्ट होना चाहे तो उसे द्वारों में से होकर गुजरना पड़ता है, इसी प्रकार इन बारह द्वारों को अधिगत कर, स्वायत्त कर साधक धर्मध्यान के अभ्यास में लगता हुआ उत्तरोत्तर प्रगतिशील बन सकता है और आगे-से-आगे विकास करता हुआ यथासमय यथाक्रम शुक्लध्यान तक पहुँच सकता है।²⁷

आगे उन्होंने ध्यान के साथ भावनाओं का क्या सम्बन्ध है इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि ध्यान से पूर्व भावनाओं का अभ्यास करने से साधक ध्यान की योग्यता उत्पन्न करता है।

यों कहने का आशय यह है कि भावनाओं के अभ्यास से मानसिकता में ध्यान के अनुरूप विमल, सात्विक, पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है; क्योंकि भावनाओं का सम्बन्ध विशेषतः ज्ञान-दर्शन-चारित्र एवं वैराग्य के साथ जुड़ा है।

ध्यान के लिए वांछित या उपयुक्त स्थान का निर्देश करते हुए कहा है कि - संयतिसाधक, ध्यान के लिए ऐसे आसन का चयन करे जो युवती, पशु, नपुंसक तथा दुःश्चरित्र मनुष्य से रहित हो तथा एकांत हो।²⁸ यद्यपि ध्यान का सम्बन्ध आत्मा से है, ध्यान स्वाश्रित है किन्तु साधना का मार्ग बड़ा कंटकाकीर्ण है। साधक में यत्किंचित् मानवीय दुर्बलताएँ भी होती हैं जो उत्तेजक स्थितियों द्वारा उभर उठती हैं इसलिए मनुष्य के मन में विचलन पैदा करने वाले कारणों का उल्लेख लेखक ने किया है। ज्ञानीजन शास्त्रगत, अनुभूतिगत दोनों ही प्रकार से तत्त्वों का विवेचन करते हैं। अतएव वे अवांछित प्रसंगों या खतरों को टालने के लिए साधक को सावधान करना आवश्यक मानते हैं।

जिनका दैहिक संहनन और साधनाभ्यास प्राबल्य पा चुका हो उनके लिए इस प्रकार का कोई खतरा नहीं होता। इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा

27. वही, गा. 28, 29

28. वही, गा. 35

है कि जिन्होंने अपने योगों को स्थिर कर लिया है - मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियों को जो नियन्त्रित कर चुके हैं, जिनके मन से चंचलता का अपगम हो गया है वैसे साधक लोगों से व्याप्त परिपूर्ण ग्राम में, शून्य स्थान में या वन में कहीं भी ध्यान करें कोई अन्तर नहीं आता।²⁹

उपर्युक्त दोनों गाथाओं में कथित ध्यानाभ्यासी दो प्रकार के हैं, पहले वे हैं जो साधना की प्रारम्भकालीन स्थिति में होते हैं। दूसरे वे हैं जिनकी साधना परिपक्व हो जाती है।

साधक को ध्यान किस प्रकार की दैहिक अवस्था में करना चाहिए, इसका निर्देश करते हुए लिखा है -

“किसी भी सधी हुई शारीरिक अवस्था में, जिसमें ध्यान करते समय पीड़ा उत्पन्न न हो, साधक ध्यान करें, चाहे वे खड़े होकर कायोत्सर्ग अवस्था में अथवा बैठकर आसन विशेष में ध्यान करें।³⁰ इस गाथा में रचनाकार ने ध्यान के साथ आसनों का क्या सम्बन्ध है, इस पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। आसनों की इतनी उपयोगिता है कि वे ध्यान में सहायक बनें। अन्यथा वे योग के बहिरंग में आते हैं। असुविधा न हो तो वह जैसा जब अनुकूल समझे वैसे आसन आदि का यथेच्छ उपयोग कर सकता है। इससे यह भी प्रकट होता है कि जिन आसनों में स्थित होने से अंगों में खिंचाव हो, असुविधा हो वे आसन ध्यान में अप्रयोज्य हैं।

लेखक ने आगे निरूपित किया है कि ध्यान करते हुए साधक का यदि ध्यान उपरत हो जाय, चला जाय तो उसे अनित्यत्व आदि भावनाओं में उपरत होना चाहिए। उससे चित्त सद्भावान्वित होगा तथा ध्यान की भूमिका में पुनः अवस्थित होने में सफल होगा।³¹

धर्मध्यान के पश्चात् रचनाकार ने शुक्लध्यान का, उसके भेदों का बड़े ही नपे-तुले शब्दों में विवेचन किया है।

29. वही, गा. 36

30. वही, गा. 39

31. वही, गा. 65

चारों ही ध्यानों के विवेचन के पश्चात् लेखक ने ध्यान का फल बताया है। उन्होंने कहा है कि जिस प्रकार ध्यान से निश्चित रूप से मानसिक, कायिक योगों का तपन, शोषण और भेदन होता है, उसी प्रकार ध्यान योगी के कर्मों का भी तपन, शोषण और भेदन होता है।³²

यहाँ रचनाकार ने ध्यान की उज्ज्वल उत्कृष्ट स्थिति के सधते जाने पर क्या घटित होता है, इस पर प्रकाश डाला है।

ज्यों-ज्यों ध्यानयोगी अन्तर्जगत् में, आत्मस्वरूप में लीन होने लगता है, अन्तरात्म भाव से परमात्म-भाव की ओर अग्रसर होता जाता है तो मानसिक और कायिक योग, जो कर्म पुद्गलों के आकर्षण के उपादान हैं शोषित, अपगत, विनष्ट और क्षीण होते जाते हैं। कर्मक्षय तो आत्मा का परम लक्ष्य है जिसे साधने के लिए ध्यान का अभ्यास किया जाता है।

आगमों के पश्चात् ध्यानविषयक यह शतक पहली स्वतंत्र रचना है जिसमें ध्यान के चारों भेद, उनके कारण, परिचायक लिंग, ध्यान के स्वामी, धर्मध्यान के अधिकारी, आराधक, तदनु रूप समुचित स्थान, उपयुक्त काल, अपेक्षित आसन आदि की नियतता - अनियतता, धर्मध्यान के आलम्बन, धर्मध्यान - शुक्ल ध्यान का क्रम, धर्मध्यानगत ध्यातव्य विषय, उनके भेदों की व्याख्या, मोक्ष का स्वरूप, चतुर्विध शुक्लध्यान के ध्याता, धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान में संभावित लेश्यायें आदि पर प्रकाश डाला गया है।

ध्यानयोग विषयक उत्तरवर्ती साहित्य के विकास में निःसंदेह यह शतक, एक अपेक्षा आधारभूत कहा जा सकता है। दूसरी विशेषता यह है कि यह जैन परम्परा द्वारा स्वीकृत प्राकृत भाषा में रचा गया है, जो आर्ष-वाणी कही जाती है।

आचार्य पूज्यपाद :

आचार्य पूज्यपाद दिगम्बर जैन परम्परा के अत्यन्त प्रख्यात मनीषी, महान् ग्रन्थकार और धर्म प्रभावक महापुरुष थे। उनका समय विक्रम की छठी शताब्दी माना जाता है। उनका दीक्षा नाम देवनंदी था। तत्पश्चात् आप जिनेन्द्रबुद्धि के रूप में विख्यात

हुए। क्योंकि आपका बुद्धिप्रकर्ष बड़ा विलक्षण था। उनके चरणारविन्द देवताओं द्वारा भी पूजित थे। अतः ज्ञानीजनों ने उन्हें पूज्यपाद नाम से विभूषित किया। इनके द्वारा रचा गया 'जैनेन्द्र व्याकरण' जैनों का पहला संस्कृत व्याकरण है। इसके सूत्र बहुत सरल एवं संज्ञाएँ संक्षिप्त हैं। 'मुग्धबोध' के रचयिता पं. भोपदेव ने आठ प्रमुख संस्कृत व्याकरणों में 'जैनेन्द्र व्याकरण' का भी उल्लेख किया है। इन्होंने 'तत्त्वार्थ सूत्र' पर 'सर्वार्थसिद्धि' नामक टीका की रचना की। 'समाधितंत्र', 'इष्टोपदेश', 'दशभक्ति' नामक ग्रंथ इनके द्वारा रचे गये। वैद्यक, आयुर्वेद पर भी इन्होंने रचना की। दक्षिण का गंगवंशीय राजा दुर्विनीत इनका अनुयायी था।

आचार्य अकलंक ने 'तत्त्वार्थराजवार्तिक', आचार्य विद्यानन्द ने 'तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक' में इनकी 'सर्वार्थसिद्धि' नामक टीका के पदों का अनुसरण करते हुए इनके प्रति बड़ी श्रद्धा व्यक्त की है।

इनके द्वारा रचित **इष्टोपदेश** 51 पद्यों का एक छोटा सा ग्रंथ है। इष्ट का अर्थ - अभीप्सित या वांछित है। इसमें आत्मा के लिए वांछित, आत्मोन्नति में सहायक उपदेश समाविष्ट है। पंडित आशाधर ने इस पर संस्कृत में टीका लिखी है।

'समाधितंत्र' आत्मसमाधि हेतु उद्बोधक एक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक कृति है। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रंथकार ने अपने जीवन के अन्तिम भाग में इसकी रचना की। जब इनकी प्रवृत्तियाँ बाह्य विषयों से सर्वथा हटकर अन्तर्मुखी हो गई थीं। 'गीता' की भाषा में आप स्थितिप्रज्ञ जैसी स्थिति प्राप्त कर चुके थे। इस ग्रंथ में थोड़े ही शब्दों द्वारा सूत्र रूप में अपने विषय का जो प्रतिपादन किया गया है। वह वास्तव में सुन्दर है। प्रतिपादन शैली सुगम एवं हृदयस्पर्शी है। भाषा-सौष्ठव और भाव-सौकुमार्य बहुत ही उत्कृष्ट है। इस ग्रंथ में शुद्ध आत्मा के वर्णन की मुख्यता है। ग्रंथकार ने आगम, निर्युक्ति और स्वानुभव के आधार पर इस ग्रंथ का प्रणयन किया है। ग्रंथ के पढ़ने से ज्ञात होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द जैसे प्राचीन महापुरुषों के वाक्यों का बहुत कुछ अनुसरण किया गया है।

इष्टोपदेश :

एक प्रश्न उठाते हुए इन्होंने ध्यान का निरूपण प्रारम्भ किया - लिखा है कि

एक ओर चिंतामणि रत्न हो, एक ओर खल या काच का टुकड़ा हो और ध्यान द्वारा जब ये दोनों ही प्राप्त हों तो विवेकी आत्मा किसके प्रति आदर दिखाये ?³³

इस श्लोक द्वारा ग्रंथकार ने जो कहना चाहा है उसका आशय यह है कि ध्यान तो एकाग्रता मूलक है। वह एकाग्रता प्रशस्त पर भी हो सकती है और अप्रशस्त पर भी। जहाँ या जिस पर होगी उसका फल भी उसी प्रकार का होगा। इसलिए ध्यान मात्र को ही कैसे आदेय माना जा सकता है। जिस प्रकार वह उत्कृष्टतम वस्तु भी प्राप्त करा सकता है उसी प्रकार निकृष्टतम वस्तु की प्राप्ति का भी हेतु बन सकता है। इस प्रश्न का समाधान वे अग्रिम श्लोक में करते हैं।

उन्होंने लिखा है, “ऐहिक सांसारिक फल अनुकूलता इष्ट साधना में अनुरक्त जनों का ध्यान रौद्र एवं आर्त होता है। उसका परित्याग कर धर्म और शुक्त ध्यान की उपासना करणीय है।³⁴

प्रशस्त या उत्तम ध्यान आत्मपरक है। इस प्रकार ध्यान के विषय में प्रवेश कर उन्होंने आत्मा के स्वरूप का विवेचन किया है जिसका पूरा ध्यान करना वांछित है। लिखा है - आत्मा स्वसंवेदन द्वारा व्यक्त है। वह संसारीअवस्था में देहव्याप्त है। वह अविनश्वर है, द्रव्यार्थिक दृष्टि से नित्य है, अत्यन्त सुखमय है और लोक-अलोक का द्रष्टा है।³⁵

ध्यान किस प्रकार किया जाय, इसका निरूपण करते हुए उन्होंने लिखा है कि साधक अपनी इन्द्रियों को विषयों से रोककर चित्त की एकाग्रता से अपने ही द्वारा अपने में स्थित अपने आत्मस्वरूप का ध्यान करे।³⁶

ग्रंथकार के अनुसार यहाँ आत्मा ही ध्यान और ध्येय रूप है। तीनों यहाँ एक ही साथ समन्वित रूप में उपस्थित किये गये हैं। यह विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टिकोण है।³⁷

33. इष्टोपदेश श्लोक 19

34. वही, 20

35. वही, 21

36. वही, 22

37. वही, 23

ध्यान का संक्षेप में परिचय देकर उन्होंने आगे ज्ञान का वर्णन किया है।

ध्यान के उक्त विवेचन पर स्वयं शंका उपस्थित करते हुए ग्रंथकार ने लिखा है कि चटाई और चटाई का कर्ता, ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं तब ध्यान करने वाला और ध्येय इनका समन्वय, ऐक्य कैसे सिद्ध हो सकता है ? इस शंका का समाधान करते हुए लिखा है कि जब जीव ममत्वयुक्त होता है तो बद्ध होता है और जब ममत्वशून्य होता है तो मुक्त हो जाता है। इसलिए प्रयत्नपूर्वक निर्ममत्व भाव का विशेष रूप से चिन्तन करना चाहिए। साधक यों सोचे कि मैं एक हूँ, निर्मम हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञानी हूँ, सभी संयोगजनित भाव मुझसे बाह्य हैं। मेरे साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। प्राणियों द्वारा अनेकानेक दुःखों का झेला जाना - उनके सांसारिक संयोगों या सम्बन्धों पर आधारित है। मैं मानसिक, वाचिक, कायिक कर्मों द्वारा उनका सर्वथा परित्याग कर रहा हूँ। मेरी मृत्यु नहीं होती, फिर मुझे किसका भय है ! मुझे कोई व्याधि- रोग नहीं फिर किसकी व्यथा है, न मैं बालक हूँ, न वृद्ध और युवा ही हूँ। यह तो सब पौद्गलिक रूप है। मैंने मोह के कारण समस्त पुद्गलों का बार-बार भोग किया और अब मैंने उनको छोड़ दिया है, वे तो जूठन के समान हैं। मैं विज्ञ हूँ, आत्मस्वरूप का वेत्ता हूँ, फिर मुझे उनको पाने की स्पृहा-इच्छा क्यों हो।³⁸

उन्होंने आगे कहा है कि लोक के समान अज्ञ-अज्ञानी बनकर शरीर आदि दृश्यमान पदार्थों का उपकार करना छोड़कर अपनी आत्मा का ही उपकार करने में तल्लीन बनो।³⁹

यहाँ परोपकार-त्याग की बात कही गयी है, उस पर चिन्तन करना आवश्यक है। सांसारिकजन अपने शरीर, परिवार सम्बन्धी तथा अपने से जुड़े हुए पदार्थों की ओर ही दृष्टि गड़ाये रहते हैं। उन्हीं की वृद्धि, पुष्टि, सज्जा एवं शोभा में लगे रहते हैं यह आत्म-पराङ्मुखता है क्योंकि आत्मा ही शाश्वत पदार्थ है, शेष सब तो समय पाकर विलुप्त होने वाले हैं। अतएव उससे अर्थात् भौतिक जगत् का आकर्षण त्याग कर साधक अध्यात्मलीन बने, आत्मा का उत्थान करे।

ध्याता, ध्यान और ध्येय की एकता पर उठाये गये प्रश्न का ग्रंथकार ने अपनी

38. वही, श्लोक 26-30

39. वही, 32

शैली में समाधान किया है। शुद्ध स्वरूप की दृष्टि से आत्मा ही सब कुछ है, उसके अतिरिक्त जो भी पदार्थ हैं वे सब पर हैं, विभाव रूप हैं। जब स्वभाव की दृष्टि से साधक ध्यान में प्रवृत्त होता है तब सहज ही ध्याता - ध्यान और ध्येय का एकत्व फलित हो जाता है।

जब आत्मा प्रवृत्ति - निवृत्ति रूप सांसारिक व्यवहारदशा से हटकर अपने आत्मानुष्ठान में, स्वरूप की प्राप्ति में लीन हो जाता है तब उस आत्मनिष्ठ योगी को ध्यानयोग द्वारा परमानन्द की प्राप्ति होती है, वह समाधि अवस्था प्राप्त कर लेता है।⁴⁰

वह परमानन्द, आध्यात्मिक आनन्द निरन्तर आने वाले कर्मरूपी ईधन को नष्ट कर डालता है। वैसे आनन्द को प्राप्त अध्यात्म योगी, बाह्य दुःखों से बेभान रहता है और उनसे उसे जरा भी खेद नहीं होता।

समाधितंत्र :

आचार्य पूज्यपाद ने साधनाशील, ध्यानानुरत अध्यात्मयोगी का चित्रण करते हुए लिखा है कि समस्त इन्द्रियों का संयमन कर उनको अपने - अपने विषयों से आकृष्ट कर अपने में लीन कर जिस क्षण साधक अन्तरात्मभाव में, तन्मूलक ध्यानावस्था में स्थित होकर जिसका अन्तर्दर्शन करता है वही परमात्मा या परमात्मभाव है। वहाँ साधक का ध्यानमूलक अन्तरानुभूतिपरक चिन्तन आगे बढ़ता है और वह अनुभव करता है कि जो परमात्मा है, वह मैं ही हूँ। जो मैं हूँ वही परमतत्त्व है, वही परमात्मभाव है। मैं ही मेरे द्वारा उपासना करने योग्य हूँ और कोई उपास्य नहीं है। यही वास्तविक स्थिति है। मैं समस्त विषयों से अपने को पृथक् कर अपने द्वारा अपने में ही स्थित हूँ। मैंने परमात्म तत्त्वबोधमय स्थिति को प्राप्त कर लिया है। अतएव मैं ही परमानन्दमय परमशान्तिमय हूँ जो देह से परे सर्वथा पृथक्, पर अविनश्वर आत्मा को इस रूप में नहीं जानता, वह बाह्य दृष्टि से उत्कृष्ट तप करता हुआ भी निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकता।⁴¹

40. वही, 47-48

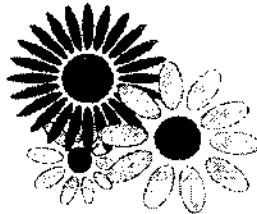
41. समाधितंत्र 30-33

जैनदर्शन में ध्यान पर सबसे पहला स्वतंत्र ग्रंथ सम्भवतः जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का 'ध्यानशतक' ही है। प्रस्तुत ग्रंथ में ध्यान के स्थल, ध्यान के काल, ध्यान की अवधि, ध्यान के आसन, ध्यान के अवलम्बन, ध्यान का विषय, ध्याता की योग्यता आदि सभी तत्त्वों पर सर्वांगीण प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत ग्रंथ 'तत्त्वार्थसूत्र' की टीकाओं के परवर्ती होने से हम यह कह सकते हैं कि जो विवेचन तत्त्वार्थ की टीकाओं में है वही विवेचन इसमें हुआ है। सम्भवतः वह प्रथम बार सुव्यवस्थित रूप में 'ध्यानशतक' में हमें उपलब्ध होता है।

दूसरी विशेषता इस ग्रंथ की यह है कि इसमें ध्यान के क्रमिक सोपानों पर आरोहण के पश्चात् साधक किस प्रकार आत्मस्वरूप में लीन होता है, इसका भी उल्लेख किया गया है।

पूज्यपाद ने अपने ध्यान सम्बन्धी विवेचन में मुख्य रूप से तीन बातें प्रस्तुत की हैं। प्रथम तो यह है कि ध्यान दो प्रकार के हैं - प्रशस्त और अप्रशस्त। साधक प्रशस्त ध्यान को ही अपनायें। दूसरे, ध्यान में हमारा लक्ष्य स्वरूप की उपलब्धि ही होना चाहिए। तीसरी में वे कुन्दकुन्द का अनुसरण करते हुए 'ध्याता, ध्येय और ध्यान में तादात्म्य हो', इस बात का प्रतिपादन करते हैं। अशुद्ध आत्मा ध्याता है, शुद्ध आत्मतत्त्व ध्येय है और शुद्ध आत्मतत्त्व के स्वरूप का चिन्तन करना ही ध्यान है। उन्होंने अपने दूसरे ग्रंथ में ध्यान के स्थान पर उपास्य, उपासक और उपासना के एकत्व पर बल दिया है और स्वस्वरूप में अवस्थिति को ही साधना का लक्ष्य बताया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आगमिक युग से प्रारम्भ होकर जैन ध्यान परम्परा में एक क्रमिक विकास हुआ है। परवर्ती आचार्यों ने यद्यपि आगमिक अवधारणाओं को अपना आधार बनाया है किन्तु उन्होंने संकेतों से आगे बढ़ते हुए एक युगानुकूल ध्यान विधि का विकास भी किया है।





खण्ड : - पंचम

आचार्य हरिभद्र सूरि के ग्रन्थों में ध्यान-साधना

- योगदृष्टि समुच्चय - इच्छायोग, शास्त्रयोग, सामर्थ्ययोग - धर्मसंन्यास और योगसंन्यास, आठ योगदृष्टियाँ
- योगशतक - निश्चय योग - व्यवहार योग
- योगविंशिका
- योगबिन्दु
- पंचाशक प्रकरण

खण्ड:- पंचम

आचार्य हरिभद्र सूरि के ग्रन्थों में ध्यान-साधना

आचार्य हरिभद्रसूरि जैन जगत् के महान् क्रान्तिकारी महापुरुष हुए हैं जिन्होंने जैन साधना, धर्म, दर्शन एवं संस्कृति के विकास में अद्भुत कार्य किया। उनका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था। वे चित्रकूट, चितउर चित्तौड़ के राजपुरोहित थे। वेद, वेदांग, व्याकरण, न्याय आदि विभिन्न विषयों के पारगामी विद्वान् थे। विशेष प्रसंगवश वे याकिनीमहतरा नामक जैन साध्वी से प्रेरित और प्रभावित होकर जैनधर्म की ओर उन्मुख हुए। बड़े ही निर्मल तटस्थ विचारों के धनी थे। उन्होंने जैनधर्म का मुनिजीवन स्वीकार किया और जैनशास्त्रों का गहन अध्ययन किया। अपने समय में जैन साधुओं में व्याप्त शिथिलाचार का उन्होंने घोर विरोध किया। उनका सम्बोध प्रकरण नामक ग्रन्थ इसका साक्ष्य है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने जैन आगमों पर टीकाएँ, अनेकान्तवाद, योगसाधना एवं आचार पर स्वतन्त्र ग्रन्थ, प्राकृत तथा संस्कृत में कथा-साहित्य इत्यादि विभिन्न विधाओं में विपुल साहित्य की रचना की। उन्होंने सुप्रसिद्ध बौद्धग्रन्थ 'न्यायबिन्दु' पर भी संस्कृत में टीका की जो बहुत महत्त्वपूर्ण है। इन सब के अतिरिक्त उनकी सबसे बड़ी देन जैनयोग को एक स्वतन्त्र विद्या के रूप में प्रतिष्ठापना है। उन्होंने देखा कि विभिन्न धार्मिक परम्पराओं में योग के माध्यम से विविध साधनोपक्रम गतिशील हैं। उन्होंने जैन आगम एवं दर्शनसम्मत साधनामूलक तत्त्वों को जैनयोग के रूप में बड़ी ही युक्तिपूर्ण पद्धति से प्रस्तुत किया। उन्होंने जैनयोग पर स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थों की रचना की।

उनके 'योगदृष्टिसमुच्चय' और 'योगबिन्दु' नामक दो ग्रन्थ संस्कृत में हैं तथा 'योगशतक', 'योगविशिका' नामक दो ग्रन्थ प्राकृत में हैं। उन्होंने 'धर्मबिन्दु',

‘शास्त्रवार्तासमुच्चय’ आदि अन्यान्य ग्रन्थों में भी योग की चर्चा की है। उन्होंने विभिन्न रूपों में जैन साधना क्रम को योग की पद्धति से प्रतिपादित किया है।

उन्होंने ‘योगदृष्टिसमुच्चय’ में जैनयोगसाधना का विस्तार से वर्णन किया है। नाना दृष्टियों के विवेचन से पूर्व उन्होंने इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग के रूप में योग के तीन भेदों का विवेचन किया है।¹

किसी भी कार्य में प्रवृत्त होने के पूर्व व्यक्ति के मन में सबसे पहले तद्विषयक इच्छा उत्पन्न होती है। इच्छा ही जब तीव्रता और उद्दीप्तता प्राप्त कर लेती है तब वह क्रियात्मक रूप में परिणत होती है। योग के सम्बन्ध में भी आचार्य हरिभद्र का ऐसा ही चिन्तन रहा। उन्होंने यह आवश्यक माना कि सबसे पहले साधक में साधना के प्रति तीव्रतम इच्छा उत्पन्न होनी चाहिए।

इच्छा योग :

इच्छा योग का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि जो साधक आत्म-साक्षात्कार की इच्छा लिये रहता है, जिसने आगमों में प्ररूपित अर्थ का, शास्त्रीय सिद्धान्तों का श्रवण किया है वैसा पुरुष इच्छा के प्राबल्य से योगमार्ग पर आरूढ़ होता है, किन्तु अपने आप में प्रमाद की विद्यमानता के कारण उसका योगमूलक उपक्रम विफल या अपूर्ण रहता है, उसे इच्छायोग कहा जाता है।²

ग्रन्थकार ने यहाँ तीन बातों पर प्रकाश डाला है कि एक ऐसा साधक जिसके मन में धर्म की आराधना, योग की साधना की अत्यधिक इच्छा है, जो शास्त्रों के अध्ययन का भी अभ्यासी है, किन्तु उसके मन में प्रमाद विद्यमान है; वह अध्यात्मयोग की आराधना में लगता है तो उसे योगसिद्धि तो नहीं हो पाती, किन्तु इच्छा की विद्यमानता के कारण उसे योग के क्षेत्र से बहिर्भूत भी नहीं माना जाता। उसका उपक्रम इच्छायोग कहा जाता है। यह योगसाधना की पहली कोटि है।

शास्त्रयोग :

शास्त्रयोग का विश्लेषण करते हुए उन्होंने व्यक्त किया है कि जो साधक प्रमाद

1. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक - 2, पृ. 1
2. वही, श्लोक - 3, पृ. 1

रहित होकर श्रद्धापूर्वक आगमज्ञानपूर्वक शास्त्र में निर्दिष्ट विधि के अनुरूप योग की आराधना करता है, उसका योग अविकल-अखण्ड रूप से गतिशील रहता है, उसे शास्त्रयोग कहा जाता है।³

यहाँ ग्रंथकार के विवेचन का आशय यह है कि वह साधक जिसके मन में योगाराधना की तीव्र इच्छा होती है और इच्छानुरूप वह जैसा उससे हो पाता है, योग की आराधना करता है, किन्तु जब तक शास्त्रीय दृष्टि साधक को प्राप्त नहीं होती है तब तक आराधना में समीचीनता नहीं आ पाती; वह व्यवस्थित रूप से नहीं सध पाती। उसमें विघ्न, प्रत्यवाय आदि आते रहते हैं इसलिए साधक की तीव्र उत्कंठा शास्त्रज्ञान को अधिगत करने का मोड़ लेती है। वह अत्यन्त श्रद्धापूर्वक शास्त्रों में प्रतिपादित अध्यात्मयोग विषयक तत्त्वों को अधिगत करता है। उसका बोध तीव्रता लेता है वह योगाभ्यास में प्रमाद नहीं करता। सावधानी या जागरूकता के साथ अपनी आराधना में अग्रसर होता जाता है। तब उसके द्वारा साध्यमान योग अविकलावस्था पा लेता है अर्थात् वह यथावत् रूप में गतिशील रहता है।

ग्रंथकार ने साधना में शास्त्राध्ययन को भी बहुत उपयोगी माना है क्योंकि शास्त्रों में ज्ञानीजन द्वारा वह मार्ग बताया गया है जो साधक के अभ्यास को बल देता है।

सामर्थ्य योग :

सामर्थ्य योग के स्वरूप का आख्यान करते हुए उन्होंने लिखा है कि शास्त्रों में जिनके प्रकटन का मार्ग बतलाया है, अध्यवसाय द्वारा जब उस अन्तःशक्ति का उद्रेक होता है, जागरण होता है, वह शक्ति प्रबलता पाती है तो साधक की अन्तरात्मा में उत्कृष्ट कोटि का योग प्रतिफलित होता है। जिसका विषय शास्त्र से भी अतिक्रान्त है अर्थात् वह ऐसी आध्यात्मिक अनुभूति से जुड़ा होता है जो शास्त्राध्ययन से प्राप्त नहीं होती, अनुभव से प्राप्त होती है क्योंकि आत्मा में अपरिमित पराक्रम और सामर्थ्य है। जब उसके आवरण विच्छिन्न हो जाते हैं तो वह सामर्थ्य प्रकट हो जाता है। उस सामर्थ्य द्वारा एक विलक्षण योग की सिद्धि होती है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार वही सामर्थ्य योग है। उन्होंने इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए आगे कहा है कि जिन कारणों से सिद्धि, चरम लक्ष्य या परम पद की प्राप्ति होती है, योगीजन उनका

3. वही, श्लोक - 4, पृ. 2

सूक्ष्म तात्त्विक स्वरूप केवल शास्त्रों के माध्यम से पूर्णतः नहीं जान पाते।

केवल शास्त्र द्वारा साक्षात् अनुभूति या इन्द्रियनिरपेक्ष ज्ञान का उद्भव सम्भव नहीं है। उससे सर्वज्ञता, परम सिद्धि की प्राप्ति नहीं हो पाती है। अतएव प्रातिभ ज्ञान अर्थात् असाधारण आत्मशक्ति से समुत्पन्न ज्ञान, आत्मानुभव या स्व संवेदन के अद्भुत प्रकाश तथा अनन्य तत्त्व चिन्तनात्मक दीप्ति से युक्त सामर्थ्य योग ही सर्वज्ञत्व एवं आत्मपूर्णता का वस्तुतः हेतु है। सामर्थ्य योग के सूक्ष्म स्वरूप या विशिष्टता का शब्दों द्वारा कथन नहीं किया जा सकता। सामर्थ्ययोग-धर्मसंन्यास और योगसंन्यास के रूप में दो प्रकार का है। कर्मों के क्षयोपशम से जो स्थिति उत्पन्न होती है वह धर्मसंन्यास है और शरीर आदि की प्रवृत्तियों का निरोध योग संन्यास है।

धर्मसंन्यास योग :

पहला 'धर्मसंन्यास योग' द्वितीय अपूर्वकरण अर्थात् ग्रन्थिभेद रूप प्रथम अपूर्वकरण के पश्चात् क्षपक श्रेणी-आरोहण में सिद्ध होता है अर्थात् साधक जब क्षपकश्रेणी में आरोहण करता है उस समय अत्यधिक तीव्र आत्मपराक्रम का उद्भव होता है। तब वह उपशम श्रेणी से आरोहण न कर क्षपक श्रेणी से आरोहण करता है। अपूर्वकरण आन्तरिक सामर्थ्य की प्रबलता लिये होता है। प्रबलता का पहला रूप ग्रन्थिभेद में परिणत होता है और दूसरा रूप क्षपकश्रेणी से यात्रा के रूप में प्रगट होता है। यह प्रक्रिया सामर्थ्ययोग के अन्तर्गत आती है क्योंकि इसमें आत्मा के पराक्रम या सामर्थ्य का प्रकटन होता है।

योगसंन्यास :

सामर्थ्ययोग का दूसरा भेद 'योगसंन्यास' आयोज्य कर्म के पश्चात् घटित होता है। जब वेदनीय कर्मों की स्थिति आयुष्य कर्म की अपेक्षा अधिक होती है तब सर्वज्ञ प्रभु उनका सामंजस्य करने हेतु कर्मों की उदीरणा करते हैं, जिससे समुद्घात द्वारा वे शीघ्र क्षीण किये जा सकें, इसे आयोज्य कर्म कहा जाता है। ऐसा होने से आगे योगसंन्यास सिद्ध होता है। इससे साधक अयोगावस्था पा लेता है। यह अवस्था ही सर्वोत्कृष्ट योग है क्योंकि यह आत्मा को मोक्ष से योजित करती है।⁴

4. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक. 5-11 पृ. 2-3

इस विवेचन में आचार्य हरिभद्र ने अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व - दर्शन की चर्चा की है। सामान्यतः जैनदर्शन में योग शब्द मानसिक, वाचिक, कायिक कर्मों या प्रवृत्तियों के लिए प्रयुक्त होता है। यहाँ इसका प्रयोग चित्तवृत्तियों के परिमार्जन के साथ आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्राप्त करने के अर्थ में है। आचार्य हरिभद्र दार्शनिक भाषा में कहते हैं कि जब समस्त योगों का, प्रवृत्तियों का अभाव हो जाता है तो परमोत्कृष्ट योग सिद्ध होता है। उसके सिद्ध होने का तात्पर्य है कि योगी को अब वह सब प्राप्त हो गया है जो उसका प्राप्य या लक्ष्य रहा है। सामर्थ्य योग की अन्तिम परिणति परम पद की उपलब्धि में होती है।

आचार्य हरिभद्र सूरि ने आठ योगदृष्टियों की परिकल्पना की है जो निम्नांकित हैं (1) मित्रा (2) तारा (3) बला (4) दीप्रा (5) स्थिरा (6) कान्ता (7) प्रभा तथा (8) परा। ये दृष्टियाँ उन्नत होते आत्मा के विशुद्धिक्रम पर आधारित हैं। उनकी मान्यता है कि साधना में दृष्टि वा दर्शन का सबसे अधिक महत्त्व है। जब तक दृष्टि का परिष्कार नहीं होता तब तक साधक के द्वारा अनुष्ठित किये जाने वाले उपक्रम अभीष्ट फलप्रद सिद्ध नहीं हो सकते। उन्होंने सबसे पहले दृष्टि का ओघदृष्टि एवं योगदृष्टि के रूप में विभाजन किया। ओघ का अर्थ प्रवाह है। संसारप्रवाह में पतित योगप्रवृत्ति यदि अध्यात्मोन्मुख नहीं हो, तो परोन्मुख ही बनी रहती है। उसको उन्होंने ओघदृष्टि के नाम से विख्यात किया है।

उन्होंने तरतमता के आधार पर ओघदृष्टि के वैविध्यपूर्ण स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है कि मेघों से परिपूर्ण रात्रि और उनसे रहित रात्रि, मेघयुक्त दिवस और मेघरहित दिवस, ग्रहपीडित दर्शक और ग्रहबाधा रहित दर्शक, बाल या अवयस्क दर्शक व वयस्क दर्शक, रुग्ण नेत्र आदि से उपहत या पीडित दर्शक, अनुपहत या अपीडित दर्शक आदि इन अपेक्षाओं से, भिन्न-भिन्न कारणों से जैसे वस्तु के देखने में तरतमता या न्यूनाधिकता होती है उसी प्रकार जागतिक प्रवाह में निपतित दृष्टि भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है।⁵

आचार्य ने यहाँ ओघदृष्टि की विविधता का जो विश्लेषण किया है, वह बड़ा ही सूक्ष्म है। संसार में अनेक प्रकार के लोग हैं। उनके देखने-सोचने का क्रम अनेक

प्रकार का है। विभिन्न स्थितियाँ उनके देखने-सोचने आदि में न्यूनता अधिकता लाती रहती है। इसी के अनुसार ओघदृष्टि के भी अनेकानेक रूप घटित होते हैं। सांसारिक या भौतिक जीवन में रचे-पचे लोगों में जितनी भिन्नता है उनकी चिन्तन- धाराओं में भी अनेकविध तरतमताओं के साथ विविधतायें हैं।

ओघदृष्टि में जो जीव पड़े रहते हैं, वे जब तक ओघदृष्टि से निकलते नहीं हैं तब तक अवन्नति के गर्त में ही पड़े रहते हैं। इतना ही नहीं, उनके पतन का क्रम उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। आचार्य हरिभद्र पतित जीवों को एक नया प्रकाशपूर्ण मार्गदर्शन देने हेतु योगदृष्टि का विधान करते हैं। जब तक जीव ओघदृष्टि से निकलकर योगदृष्टि में नहीं आते, तब तक कदापि उनका कल्याण नहीं होता। योगदृष्टियाँ आत्मा को उसके शुद्ध स्वरूप के साथ योजित करती हैं।

योगदृष्टियों के स्वरूप का विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा है कि उत्तम द्रष्टा की दृष्टि अपनी बोधात्मक ज्योति के वैशद्य के विकास की अपेक्षा तृण, गोमय तथा काष्ठ की अग्नि के कण, दीपक, रत्न, तारे, सूर्य तथा चन्द्र की आभा के तुल्य क्रमशः आठ दृष्टियों के विकास के रूप में प्रस्फुटित होती है।⁶

जिस प्रकार घास, कण्डे तथा काठ की अग्नि के कण क्रमशः प्रदीप्त होते हैं उनकी ज्योति आगे से आगे वृद्धिगत होती है, उनसे आगे क्रमशः दीपक से लेकर चन्द्र तक की आभा अधिक-से-अधिक उद्दीप्त होती जाती है; इसी क्रम से दृष्टियों का आत्मोर्कष की अपेक्षा उन्नयन होता जाता है। उन्होंने आगे बताया है कि जो साधक यम आदि योग के अंगों के अभ्यासी होते हैं, खेद, उद्वेग आदि दोषों से रहित होते हैं, जिनमें औरों के प्रति द्वेष नहीं होता, सद्तत्त्वों के प्रति जिज्ञासा का भाव होता है ऐसे साधक योग दृष्टियों को साधने के अधिकारी होते हैं।⁷

आचार्य हरिभद्र के समक्ष महर्षि पतंजलि के यम आदि आठ योगांग थे, उनके समक्ष पूर्वतन भगवद् तथा भदन्तभास्कर नामक दो आचार्यों के योग विषयक आठ-आठ तत्त्व भी थे। ऐसा प्रतीत होता है कि कभी इन दोनों आचार्यों के ये आठ-आठ तत्त्व साधना के क्षेत्र में मान्य और आदेय रहे हों। अतएव आचार्य हरिभद्र प्रत्येक

6. वही, श्लोक - 15 पृ. 5

7. वही, श्लोक - 16 पृ. 5

दृष्टि के साथ-साथ यथाक्रम इन तीनों से एक-एक तत्त्व भी लेते हैं। ज्यों-ज्यों एक-एक दृष्टि सिद्ध होती जाती है त्यों-त्यों इन तीनों आचार्यों द्वारा स्वीकृत तत्त्व, पक्ष या योगांग भी सिद्ध होते जाते हैं। आठों ही दृष्टियों के विश्लेषण में उन्होंने इस विद्या को प्रस्तुत किया है।

मित्रा दृष्टि :

इस दृष्टि का मित्रा नाम दिये जाने के पीछे सम्भवतः आचार्य हरिभद्रसूरि का ऐसा भाव रहा हो कि सबसे पहले साधक ज्यों ही योग के क्षेत्र में पदार्पण करे, उसके मन में संसार के सभी प्राणियों के प्रति मित्रता का भाव उत्पन्न हो। क्योंकि मित्रभाव का अन्तरात्मा में उदय होने पर हिंसा, द्वेष, वैमनस्य का नाश हो जाता है। इस दृष्टि में साधक का सत् श्रद्धानोन्मुख बोध उदित होने लगता है, किन्तु वह मन्दता लिये रहता है। इस दृष्टि में स्थित साधक अष्टांगयोग के पहले अंग-यम के प्रारम्भिक अभ्यास, इच्छा आदि को प्राप्त कर लेता है।

देवकार्य, गुरुकार्य और धर्मकार्य के सम्पादन में उसके खेद नामक आशय दोष का अपगम हो जाता है अर्थात् वह अखेद या अपरिश्रान्त भाव से उत्तम कार्यों में लगा रहता है। साथ-ही-साथ उसमें अद्वेष भाव पनपने लगता है अर्थात् जो व्यक्ति देवकार्य, गुरुकार्य व धर्मकार्य नहीं करते, उनके प्रति उसके मन में द्वेष या मात्सर्य भाव उत्पन्न नहीं होता।⁸

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आचार्य हरिभद्र ने इच्छायम, प्रवृत्तियम, स्थिरयम तथा सिद्धियम के रूप में यम को चार भागों में विभक्त किया है। अहिंसा आदि पाँच यमों के परिपालन में जब साधक के मन में इच्छा जागृत होती है तो वह चाहने लगता है कि मैं इनका जीवन में अनुसरण करूँ। इस मानसिक दशा को इच्छायम कहा गया है। यद्यपि तब तक साधक यमों के परिपालन में संलग्न नहीं होता किन्तु उन्हें अपनाने की आकांक्षा उसके मन में समुदित हो जाती है इसलिए इच्छा द्वारा इसने यम को स्वीकार कर लिया है, ऐसा घटित होता है।

इच्छा का अग्रिम रूप प्रवृत्ति है। जब इच्छा क्रियान्विति पा लेती है, तब वह

8. वही, श्लोक - 21, पृ. 6

प्रवृत्ति के रूप में परिणत हो जाती है। जब साधक अपने इच्छानुरूप यमों का अनुसरण करने लगता है तब उसकी आराधना प्रवृत्ति यम शब्द द्वारा अभिहित होती है।

किसी काम में व्यक्ति प्रवृत्त तो हो जाता है किन्तु उस पर जब तक स्थिर नहीं होता, तब तक यह आशंका बनी रहती है कि न जाने यह प्रवृत्ति कब तक गतिशील रहे? जब दीर्घकालीन दृढ़ अभ्यास द्वारा वह प्रवृत्ति स्थिरता पा लेती है तब उससे विचलित या च्युत होने की आशंका नहीं रहती है वैसी दशा को स्थिरयम कहा गया है। यदि साधक में स्थिरता बनी रहे, वह स्थिरतापूर्वक यमों के परिपालन में सन्नद्ध रहे, तो वह उन्हें सिद्ध कर लेता है, फिर वे कभी उससे छूटते नहीं। उसके जीवन में सहजता प्राप्त कर लेते हैं।

आचार्य हरिभद्र आगे लिखते हैं कि योग के वेत्ता यह भलीभाँति जानते हैं कि मित्रादृष्टि में स्थित साधक के लिए यह वांछनीय है कि वह मोक्षसिद्धि के अमोघ हेतु स्वरूप योगबीजों को स्वीकार करे।

अर्हतों के प्रति चित्त में शुभ, उत्तम भाव तथा मानसिक, वाचिक, कायिक शुद्धिपूर्वक प्रणमन आदि को अत्यन्त उत्कृष्ट योगबीज कहा गया है।⁹ ये योगबीज जीवन में कब निष्पन्न होते हैं, निपजते हैं, इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि बीजसिद्धि आदि की दृष्टि से आत्मा की विशिष्ट योग्यता के परिपाक के परिणामस्वरूप चरम पुद्गलपरावर्तन के समय में ही कुशल सात्त्विक सत्श्रद्धामय योग भी संशुद्ध होते हैं, उत्पन्न होते हैं।¹⁰

जैनदर्शन के अनुसार जीव द्वारा ग्रहण किये जाते, त्यागे जाते लोकव्याप्त समस्त पुद्गलों का जब एक बार संस्पर्श या उपयोग हो जाता है तो उसे एक पुद्गलपरावर्तन कहा जाता है। इस क्रम का अन्तिम आवर्त, जिसका भोग कर चुकने पर जीव को पुनः इस भवचक्र में नहीं आना पड़ता, चरम पुद्गलपरावर्तन कहा जाता है। यहाँ योगबीजों के संशुद्ध होने की जो बात कही गयी है वह तब घटित होती है जब साधक चरम पुद्गलपरावर्तन की स्थिति में होता है।

9. वही, श्लोक - 22-24, पृ. 7

10. वही, श्लोक - 24, पृ. 7

उन्होंने आगे लिखा है कि जिन मनुष्यों का भावमल, आन्तरिक मालिन्य अत्यन्त क्षीण हो जाता है उनमें योगबीज भी अचल होते हैं। जिन मनुष्यों की चेतना अव्यक्त होती है वे योगबीजों को प्राप्त नहीं कर पाते क्योंकि उन्हें प्राप्त करना बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य है।

अंतिम पुद्गलपरावर्तन में भावमल का नाश हो जाता है। जिनके ऐसा सिद्ध हो जाता है उनमें दुःखित प्राणियों के प्रति, अत्यधिक दयालुता, गुणीजनों के प्रति अमत्सरता, सभी जनों के प्रति समुचित शिष्ट-व्यवहार, सेवा का उदात्त भाव सहज ही प्रकट होता है।

इस प्रकार के सौम्य स्वरूप या स्वभाव युक्त उत्तम पुरुषों के अवञ्चकोदय के कारण, शुभ निमित्तों के कारण संयोग समुपलब्ध होता रहता है।¹¹

अवञ्चकोदय का विश्लेषण करते हुए आचार्यश्री लिखते हैं कि साधकों में योगावञ्चक, क्रियावञ्चक, और फलावञ्चक के रूप में तीन अवञ्चक प्राप्त होते हैं। ये अभिवाञ्छित या उद्दिष्ट क्रिया पर साधक को पहुँचा देते हैं।¹² जो कभी वञ्चना, प्रवञ्चना न करे, कभी विपरीत न जाये, यथार्थ स्थान पर जाने से न चूके, बाण की ज्यों सीधा अपने लक्ष्य पर पहुँचे उसे अवञ्चक कहा जाता है। जो सद्गुरु का सुयोग प्राप्त होने में वञ्चना न करे, बाधा न करे, उसे योगावञ्चक कहा जाता है। जिन्हें यह प्राप्त होता है उन्हें सत्पुरुषों का सान्निध्य प्राप्त होता जाता है। जो सत्पुरुषों के नमन, वन्दन, सत्कार, परिचर्या आदि शुभ क्रिया में वञ्चना, बाधा न करे उसे क्रियावञ्चक कहा जाता है तथा जिनके साथ वह होता है उन्हें ऐसे पुरुषों का सुयोग मिलता जाता है। जो ऐसे उत्तम कार्यों के उत्तम फल को प्राप्त कराने में बाधक न हो, साधक हो, उसे फलावञ्चक कहा जाता है।

जिनका आन्तरिक मालिन्य प्रक्षालित हो जाता है, जो निर्मल हो जाते हैं तथा यथोचित कालावधि प्राप्त कर लेते हैं, उन्हें योगबीज प्राप्त होते हैं और साथ - ही - साथ वे अवञ्चक त्रय से भी लाभान्वित होते हैं।

ग्रन्थकार ने तात्त्विक शैली में यहाँ यह बतलाया है कि योगोत्थान की पहली

11. वही, श्लोक - 30-33, पृ. 9-10

12. वही, श्लोक - 34, पृ. 10

भूमि ऐसी है जहाँ साधक के व्यक्तित्व में निर्मलता, सुकुमारता एवं सौम्यता आ जाती है। उसे सत्पुरुषों का सत्संग प्राप्त होने का सौभाग्य मिलता रहता है और वे उनके सान्निध्य से वैसी सत् शिक्षा प्राप्त करते हैं जो उन्हें साधनापथ पर आगे बढ़ने में स्फूर्तिशील बनाती है।

2. तारा दृष्टि :

तारा मित्रा से अगला कदम है। मित्रा में सत् श्रद्धानोन्मुख बोध की मन्दता का जो उल्लेख हुआ है, वह मन्दता इसमें मिटने लगती है। कुछ - कुछ स्पष्टता आने लगती है, योग का दूसरा नियम इसमें सिद्ध हो जाता है। जो प्रवृत्तियाँ आत्मा के लिए कल्याणकारिणी हैं, उनका अनुवर्तन करने में उद्वेग नहीं रहता, उत्साह बना रहता है तथा तत्त्वजिज्ञासा उत्पन्न होती है।¹³

महर्षि पतंजलि ने शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा परमात्म-चिन्तन को नियम कहा है। ये गुण यमों को पुष्ट करते हैं।¹⁴

शौच का अभिप्राय कायिक और मानसिक शुद्धि से है। सन्तोष से जीवन में शान्ति रहती है। तप, स्वाध्याय तथा परमात्म-चिन्तन साधक की ऊर्ध्वगामिनी ऊर्जा को शक्ति प्रदान करते हैं। साधनारत व्यक्ति में मानसिक निर्मलता का उभार आने पर उत्साह की मन्दता आ जाती है। वैसा होने से साधना की गतिशीलता बाधित होती है। तारा दृष्टि प्राप्त होने पर साधक की यह दुर्बलता मिट जाती है और वह आत्मतत्त्व, धर्मतत्त्व आदि को जानने में बड़ी उत्सुकता लिये रहता है। तारा दृष्टि में प्रतिफलित होने वाली अन्यान्य स्थितियों का उद्घाटन करते हुए आचार्यश्री ने लिखा है कि साधक के मन में सहज ही योगविषयक चर्चाओं में अधिक अखण्डित प्रीति या अभिरुचि बनी रहती है। योग विषयक योग निष्णात योगिजनों का वह नियमित रूप में सम्मान करता है। वह उनकी यथा विचार-विमर्श, चिन्तन-मनन में आनंद प्राप्त होता है। शुद्ध शक्ति सेवा करता है। वह उनका अनुग्रह प्राप्त करता है जिससे योग-साधना में विकास करने में उसे सफलता मिलती है। महान् योगियों की सेवा करने से श्रद्धा का उन्नयन होता है। आत्मा का हित या श्रेयस् सिद्ध होता है। क्षुद्र उपद्रव सहज ही नष्ट हो जाते हैं।¹⁵

13. वही, श्लोक - 41, पृ. 12-13

14. पातञ्जल योग सूत्र - 2.32

15. योगदृष्टि समु. श्लोक - 42-43, पृ. 13

3. बला-दृष्टि :

बला दृष्टि में दृढ़ दर्शनोन्मुख सद्बोध वर्द्धनोन्मुख होता है। सुखासन-सुखपूर्वक आसन सिद्ध हो जाता है जो योग का तृतीय अंग है।¹⁶

तत्त्वश्रवण की अत्यन्त तीव्र उत्कंठा जागृत होती है तथा क्षेप नामक दोष मिट जाता है जिसके रहने पर चैतसिक विक्लेष उत्पन्न हो जाता है।¹⁷

आचार्य ने यहाँ जो सुखासन शब्द का प्रयोग किया है वह एक विशेष अभिप्राय लिये हुए है। योगी को वैसा ही आसन स्वीकार करना चाहिए जिस पर सुखपूर्वक बिना कठिनाई से शान्त भाव के साथ बैठा जा सके। ऐसा होने से शारीरिक तनाव न होने के कारण मन में उद्वेग नहीं आता, ध्यान से चित्त सुस्थिर बना रहता है।

साथ-ही-साथ यहाँ एक बात और जानने योग्य है जिसकी तरफ योग के आचार्यों ने संकेत किया है। उन्होंने बाह्य आसन के साथ-साथ आन्तरिक आसन का भी विधान किया है। आध्यात्मिक दृष्टि से भी आत्मेतर पदार्थ या परवस्तु में जो मन का आसन या स्थिति होती है वह दुःखासन है। आत्मा की स्वाभाविक दशा से वैभाविक दशा में स्थित या आसीन होने से व्यक्ति अशुद्धावस्था में जाता है जिसका परिणाम अनेक रूपों में कष्टजनक है। अपने सहज स्वरूप में, स्वाभाविक दशा में स्थित होना, आसीन होना, टिकना पारमार्थिक दृष्टि से सुखासन है, सुखमय स्थिति है, आध्यात्मिक आनन्दमय स्थिति है।

जब यह दृष्टि उपलब्ध हो जाती है तो साधक में असत्, नश्वर पदार्थों के प्रति सहज ही तृष्णा मिटती जाती है। तृष्णा ही समस्त दुःखों का हेतु है। जब वह दूर हो जाती है तब आत्मा सुखासन में स्थित होती है और आन्तरिक सुख में लीन रहती है।

साधक के जीवन में साधना में स्थिरता का ऐसा समावेश होने लगता है कि उसके चलने-फिरने, हिलने-डुलने आदि में त्वरा, जल्दबाजी नहीं रहती है।

16. पातंजल योगसूत्र - 2.46

17. योगदृष्टि समुच्चय श्लोक. 49 पृ. 15

कमनीय कान्ता समन्वित तरुण पुरुष को जैसे दिव्य संगीत सुनने की उत्कंठा बनी रहती है, उसी प्रकार उस दृष्टि से युक्त साधक को तत्त्वज्ञान की उत्कंठा, अभीप्सा बनी रहती है। तत्त्वशुश्रूषा बोध रूपी जल के स्रोत की शिरा या भूमिस्थित जलप्रणालिका के सदृश है। यदि यह नहीं होती तो सब सुना हुआ उस कूप की ज्यों निरर्थक है जो जल की अन्तःप्रणालिका से रहित है।¹⁸

यह दृष्टि जब प्राप्त हो जाती है तो साधक को शुभ योगों के योगानुगत उत्तम कार्यों में विक्षेप नहीं होता। वह कुशलता एवं निपुणता पूर्वक उन्हें करता रहता है।

आध्यात्मिक साधना में उपकारक या सहायक साधनों के प्रति भी साधक के मन में परिष्कार भाव रहता है अर्थात् वह उनके साथ इच्छा द्वारा प्रतिबद्ध नहीं होता। अथवा वह साधनों को ही सब कुछ मानकर उलझा नहीं रहता। सावद्य-पापयुक्त प्रवृत्तियों का परिहार करता हुआ वह योगसाधना में अविहत रूप में संलग्न रहने में उद्यत रहता है।¹⁹

दीप्रा दृष्टि :

दीप्रादृष्टि के प्राप्त हो जाने पर योगी के अष्टांगयोग का चौथा अंग प्राणायाम सिद्ध हो जाता है।²⁰ प्राण का अर्थ है प्राणवायु जो श्वास-प्रश्वास के रूप में देह में चलती रहती है। 'प्राणायाम आयामः प्राणायामः' प्राणवायु का आना-जाना प्राणायाम है। उसका देह में प्रविष्ट होना श्वास तथा निकलना प्रश्वास है। प्राणवायु के गमन-आगमन रूप क्रिया का गतिच्छेद प्राणायाम का लक्षण है अर्थात् प्राणवायु का नियमन करना, उसको विशेष रूप में साधित करना इसके अन्तर्गत है।

प्राणायाम बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति और स्तंभवृत्ति के रूप में तीन प्रकार का है। वह देश, काल और संख्या के आधार पर भली भाँति परिदृष्ट होता है। वह अभ्यास द्वारा प्रलम्ब व सूक्ष्म होता जाता है।

प्राणवायु को शरीर से बाहर निकाल कर, बाहर ही जितने समय तक सुखपूर्वक

18. योगदृष्टि समुच्चय श्लोक. 50-53, पृ. 15-16

19. वही, श्लोक. 55-56, पृ. 70

20. योगसूत्र - 49-50, पृ. 64

रोका जा सके रोके रहना तथा साथ-ही-साथ यह परीक्षण करते रहना कि वह बाहर आकर कहाँ रुका है, कितने समय तक रुका है और उतने समय तक स्वाभाविक प्राण की कितनी संख्या होती है; इस बाह्यवृत्तिमूलक प्राणायाम को रेचक भी कहा जाता है।

आभ्यन्तरवृत्तिप्राणायाम में प्राणवायु को देह के भीतर ले जाकर जितने काल तक सुखपूर्वक रोका जा सके, रोके रहना तथा साथ-ही-साथ अनुवीक्षण करते रहना कि आभ्यन्तर देश में कहाँ तक जाकर प्राण रुकता है, वहाँ कितने काल तक सुखपूर्वक स्थिर होता है और उतने समय तक प्राणवायु की कितनी संख्या होती है; यह आभ्यन्तर प्राणायाम है। इसे पूरक भी कहा जाता है। शरीर के भीतर जाने और बाहर निकलने की प्राणवायु की स्वाभाविक गति है, उसे प्रयत्नपूर्वक बाहर या भीतर निकलने या ले जाने का अभ्यास न कर प्राणवायु स्वभाव से बाहर निकला हो या भीतर गया हो, जहाँ वह हो वहाँ उसकी गति को स्तम्भित कर देना, अवरुद्ध कर देना तथा यह परीक्षण करते रहना कि वह किस स्थान में, कितने समय तक सुखपूर्वक रुका रहता है। इस समय में प्राणवायु की स्वाभाविक गति की कितनी संख्या होती है यह भी देखते रहना होता है। यह स्तम्भवृत्ति प्राणायाम है, इसे कुंभक भी कहा जाता है। यह भी अभ्यास के परिणामस्वरूप दीर्घ या सूक्ष्म होता है।

प्राणायाम सिद्ध होने के साथ-साथ इस दृष्टि में चित्त में सहज ही प्रशान्त भाव उदित होता रहता है कि साधक का चित्त योग में से उठता नहीं, हटता नहीं, दूर नहीं जाता अर्थात् उसकी स्थिरता निष्पन्न होती जाती है। साधक तत्त्वज्ञान के श्रवण में समुद्यत रहता है। उसे वैसे प्रसंग प्राप्त होते रहते हैं। इतना अवश्य है कि तब तक साधक का बोध सूक्ष्मता प्राप्त नहीं कर पाता। वह सामान्य या स्थूल रूप लिये रहता है।²¹

प्राणायाम के सन्दर्भ में जैनदृष्टि से एक विशेष चिन्तन और भी है। वह केवल प्राणवायु के रेचक, पूरक और कुंभक तक ही सीमित नहीं माना जाना चाहिए। उसका एक आध्यात्मिक रूप भी है। बाह्यभाव या परभाव के रेचक, दूसरे शब्दों में बहिरात्मभाव को अपने में से बाहर निकालना, अन्तरात्मभाव या आत्मस्वरूपानुप्रत्यय को अपने भीतर ले जाना, तद्गर्भित चिन्तन को अपने में स्थिर किये रहना भाव प्राणायाम है जो साधक के आध्यात्मिक उत्थान में वस्तुतः बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

21. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक. 57, पृ. 17

इस दृष्टि से युक्त साधक के हृदय में धर्म के प्रति अनन्य आस्था जागृत रहती है। वह यह मानता है कि धर्म ही उसका एक मात्र सुहृद्-मित्र या साथी है। वह ऐसा साथी है जो मरण होने पर भी साथ जाता है। उसके अतिरिक्त जो भी उसे प्राप्त है, वह सब ज्योंही उसका शरीर विनष्ट होता है, सब मिट जाते हैं। ऐसा साधक धर्म को प्राणों से भी प्रिय समझता है।

खारे जल के त्याग और मधुर जल के संयोग से जैसे भूमि में वर्षा वीच उग जाता है, उसी प्रकार तत्त्व - श्रवण के परिणामस्वरूप साधक के मन में बोधबीज अंकुरित होने लगता है। सांसारिक भोगोपभोगमय पदार्थ खारे जल के तुल्य हैं। तत्त्वश्रवण मधुर जल के समान है। तत्त्वश्रवण से ही साधकों का आत्मकल्याण सिद्ध होता है। इससे गुरुजन के प्रति भक्ति का आनंदमय भाव प्रबलता पाता है। तत्त्वश्रवण ऐहिक और पारलौकिक दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त उपादेय है।

साधक में जब गुरुभक्ति का अभ्युदय होता है तो उसके प्रभाव से समापत्ति-परमात्मस्वरूप शुद्ध आत्मस्वरूप के ध्यान द्वारा तीर्थंकर के शरीर का अन्तःसाक्षात्कार होता है अथवा यह इतनी सात्त्विक दशा है, जिससे तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध हो जाता है। जिसके परिणामस्वरूप वह भावी जीवन में तीर्थंकरत्व प्राप्त करता है जिसका पर्यवसान सिद्धावस्था या मुक्तावस्था में है, जो इस संसार में एक अद्वितीय स्थिति है। जीवन के परम लक्ष्य उसे स्वायत्त करने के वास्तविक साधन, उनका परिपोषण, परिवर्धन, तात्त्विक स्वरूप, उसके फल इत्यादि के परिशीलन - पर्यालोचन आदि द्वारा ज्ञानी पुरुष तत्त्व का यथार्थ निर्णय करते हैं, वेद्य-वेदने योग्य, जानने योग्य या अनुभव योग्य तत्त्व का साक्षात्कार या प्रतीति-अनुभूति सूक्ष्म बोध का रूप है।²²

सूक्ष्मबोध के फल-निष्पत्ति का विश्लेषण करते हुए ग्रंथकार ने लिखा है कि उसके प्राप्त हो जाने पर संसार-सागर को पार करने का, कर्म रूपी वज्र या हीरक को विभेद करने का तथा अनन्त धर्मात्मक वस्तुतत्त्व रूप ज्ञेय को समझने का अवसर प्राप्त होता है। क्योंकि यह सब सूक्ष्मबोध द्वारा ही परिज्ञेय है। इनको भलीभाँति समझकर साधक अपने साधनोपक्रम से उत्तरोत्तर गतिशील रहता है तो अन्ततः आवागमन के चक्र से विमुक्त हो जाता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है

22. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक. 59-65, पृ. 18-20

कि महामोह रूप दुर्भेद्य कर्मग्रन्थि भिन्न हो जाती है टूट जाती है। समस्त ज्ञेय तत्त्व उसे सर्वथा अधिगत हो जाते हैं। यह सूक्ष्म बोध से फलित होने वाली स्थिति है।²³

ग्रंथकार ने आगे अवेद्य-संवेद्य तथा वेद्य और संवेद्य के रूप में एक दार्शनिक गहन तत्त्व प्रतिपादित किया है, जिसका इन दृष्टियों से विशेष सम्बन्ध है।

उन्होंने कहा है कि प्रारम्भ की चार दृष्टियों में वेद्य पद यानी जानने योग्य अभिप्रेत को अनुभव करने की क्षमता का अभाव रहता है। वहाँ वेद्य संवेद्य पद सिद्ध नहीं हो पाता। जैसे आकाश में उड़ते हुए पक्षी की छाया को जल में देखकर कोई जलचर उसे पकड़ना चाहे तो उसके हाथ कुछ नहीं आता उसी प्रकार तत्त्वतः उन दृष्टियों में वेद्य-संवेद्य की प्राप्ति नहीं होती। उस दिशा में साधक का प्रयत्न तो अवश्य रहता है किन्तु वह सार्थक्य प्राप्त नहीं करता।²⁴

वेद्य-संवेद्य पद के संदर्भ में आगे और कहा है कि वह दीप्रा से उत्तरवर्ती चार दृष्टियों में सिद्ध होता है। जब वह सिद्ध हो जाता है तब उसके अत्यधिक प्रभाव के कारण साधक पापपूर्ण कार्यों में प्रायः प्रवृत्ति नहीं करता। पूर्वार्जित अशुभ कर्मों के कारण कदाचित् पापकार्य में प्रवृत्ति हो भी जाती है तो वह उस साधक में उसी प्रकार टिक नहीं पाती, जिस प्रकार परितप्त लोहे पर पैर टिकाकर नहीं रखा जा सकता। यदि वैसे पर पैर टिक भी जाता है तो व्यक्ति तत्क्षण उसे वहाँ से दूर कर लेता है। उसी प्रकार साधक की ज्ञात-अज्ञात रूप में हिंसादि पापकृत्यों में प्रवृत्ति हो भी जाती है तो वह साधक तत्क्षण जागरूक हो जाता है और उस दुष्प्रवृत्ति में अपने को कदापि टिकाये नहीं रहता।²⁵

वेद्य-संवेद्य पद के स्वायत्त हो जाने पर अपाय आदि का निबन्धन हो जाता है। अपाय का अभिप्राय आध्यात्मिक अभ्युदय में विघ्नोत्पादक भोगोपभोग रूप वेद्य या अनुभव करने योग्य पदार्थ उस बुद्धि द्वारा केवल अनुभूत मात्र किये जाते हैं, जो आगमों के अनुशीलन से विशुद्ध है। वहाँ वेद्य पदार्थों का संवेदन, अनुभवन होता है किन्तु उनके प्रति रस-रागात्मक भाव उत्पन्न नहीं होता। केवल उन पदार्थों के अपने

23. योगदृष्टि समुच्चय, गा. 66, पृ. 20

24. वही, श्लोक. 67 पृ. 21

25. वही, श्लोक. 70, पृ. 22

स्वरूप मात्र का ही अनुभव होता है। उनमें साधक का मन भटकता नहीं, शास्त्र-परिष्कृत बुद्धि का यही फल है। वहाँ साधक ज्ञेय या दृश्य रूप में पदार्थ को केवल देखता है, उनमें प्रवृत्त नहीं होता।

इस दृष्टि का नाम जो दीप्रा रखा है वह बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह वह स्थिति है जब अन्तःकरण में सद्बोध उदित होने लगता है। अतएव ग्रंथकार ने इस दृष्टि का बहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया है। दार्शनिक दृष्टि से अन्यमतों के सिद्धान्तों को भी उपस्थित करते हुए इस दृष्टि की उपादेयता को प्रकट किया है।

5. स्थिरा दृष्टि :

जिसमें स्थैर्य-स्थिरता या टिकाव हो उसे स्थिर कहा जाता है। पहले की चार दृष्टियों में साधक अपने दृष्टिकोण को परिमार्जित एवं परिशोधित करता हुआ जो कुछ प्राप्त करता है वह सब इस दृष्टि में स्थिर हो जाता है। उसे वह सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है, जो फिर विच्छिन्न नहीं होता। योग का पाँचवाँ अंग प्रत्याहार इस दृष्टि में प्राप्त हो जाता है। साधक के चित्त में सद्विवेक जागृत रहता है। अतः उसके योगसाधना मूलक क्रियाकलाप निर्भ्रान्त या निर्दोष होते हैं।²⁶

योगसूत्र में प्रत्याहार के सम्बन्ध में लिखा है कि अपने-अपने विषयों के सम्प्रयोग या सम्बन्ध से रहित होने पर इन्द्रियों पर चित्त के स्वरूप में तदाकार या तन्मय-सा हो जाना प्रत्याहार है।²⁷

यम, नियम, आसन, प्राणायाम का अभ्यास करने से मन और इन्द्रियों में शुद्धि का संचार होता है। तब साधक उनको बाह्यवृत्तियों से खींच कर, समेट कर, अपने में विलीन करने का अभ्यास करता है। यह प्रत्याहार की अभ्यास - दशा है। जब साधना के समय योगी इन्द्रियों के विषयों का परित्याग कर चित्त को अपने ध्येय में लगाता है उस समय इन्द्रियों का अपने - अपने विषयों में न जाकर चित्त में तदाकारवत् हो जाना प्रत्याहार के सिद्ध होने का लक्षण है। यदि वैसी स्थिति में भी इन्द्रियाँ पूर्वतन अभ्यास या संस्कार के कारण बाह्य विषयों का चित्र उपस्थित करती रहीं तो यह जानना चाहिए कि प्रत्याहार अभी घटित नहीं हुआ।

26. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक. 154, पृ. 46

27. पातंजल योगसूत्र, 2.54

जब प्रत्याहार वस्तुतः सिद्ध हो जाता है तब इन्द्रियाँ सर्वथा साधक के वश में हो जाती हैं। उनकी स्वतंत्रता का सर्वथा विलोप हो जाता है।²⁸

स्थिरा दृष्टि के विषय में ज्ञातव्य है कि वह निरतिचार एवं सातिचार दो प्रकार की बतलाई गई है। अतिचार का अर्थ दोष या विघ्न है। जो इससे रहित होती है, वह निरतिचार है। उसमें जो दर्शन-सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, वह प्रतिपात-पतनरहित होता है, एक रूप में विद्यमान रहता है। सातिचार दृष्टि दोष या विघ्नयुक्त होती है। उसमें होने वाला दर्शन नित्य नहीं होता। क्योंकि उसमें न्यूनता-अधिकता आती रहती है। वह एक जैसा अवस्थित नहीं रहता। ग्रंथकार ने प्रारम्भ में दृष्टियों को जो तृण, गोमय, काष्ठ आदि की अग्नि की दीप्ति से उपमित किया है वहाँ उन्होंने स्थिरादृष्टि को रत्न की प्रभा के सदृश बताया है। रत्न की प्रभा या ज्योति सदा एक सी ही दीप्ति युक्त रहती है, उसी प्रकार अतिचार या दोषशून्य स्थिरा दृष्टि में दर्शन अछिन्न तथा अबाध रहता है, निरन्तर दीप्तिमय रहता है। किन्तु एक स्थिति यह भी है कि यदि रत्न मल आदि से लिप्त हो तो उसकी दीप्ति यत्किंचित् अवरुद्ध होती रहती है, एक-सी नहीं रहती, कम-ज्यादा होती रहती है। सातिचार स्थिरादृष्टि में भी ऐसा ही होता रहता है। ऐसा होने के बावजूद जैसे मल युक्त रत्न की प्रभा मूल रूप में मिटती नहीं है, उसकी मौलिक स्थिरता अवस्थित रहती है उसी प्रकार सातिचार स्थिरा दृष्टि में भी दर्शनविषयक ज्योति की न्यूनता-अधिकता तो रहती है, किन्तु मूलतः उसकी स्थिरता विनष्ट नहीं होती। ग्रंथकार ने स्थिरा दृष्टि की विशेषताओं का वर्णन करते हुए कहा है कि इस दृष्टि को प्राप्त सम्यक्त्वी पुरुष के महामोहरूप तमोमय कठोर, कर्कश ग्रन्थि का भेदन हो जाता है, वह ग्रन्थि टूट जाती है। वैसे प्रज्ञाशील सम्यक्त्वी साधकों की समस्त सांसारिक चेष्टाएँ, क्रियाएँ तथा प्रवृत्तियाँ उसी प्रकार अनासक्ति लिये रहती हैं जैसे बालकों की खेल में बनाये गये घरों आदि के प्रति। बालक क्रीड़ा में मिट्टी आदि के घर बनाते हैं, कुछ ही देर बाद उन्हें बिखेर देते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि यह तो क्रीड़ा मात्र है। अतएव उन्हें छिन्न-भिन्न करते समय उन्हें कोई दुःख नहीं होता। सम्यग्दृष्टि साधक सांसारिक कर्म करते हुए भी उनमें आसक्त, लिप्त या प्रतिबद्ध नहीं होते। शास्त्रानुशीलन जनित विवेकयुक्त जागृत साधक जब ऐसी स्थिति प्राप्त कर लेता है तो उसे अपना शरीर, गृह, परिवार, सम्पत्ति आदि बाह्य पदार्थ मृग

28. वही, 2.55

मरीचिका, गंधवनगर या स्वप्न में देखे हुए पदार्थों की ज्यों कल्पित और अयथार्थ प्रतीत होते हैं।

मृगमरीचिका के वास्तविक रूप को नहीं जानता हुआ मृग उसमें जल पाने को अपने प्राण दे देता है किन्तु यदि वह उसकी वास्तविकता जान ले तो उसकी उस ओर जरा भी प्रवृत्ति नहीं होती। इस दृष्टि को प्राप्त साधक जागतिक भोगोंपभोगात्मक पदार्थों की विनश्वरता एवं क्षणभंगुरता को ज्ञात कर चुका होता है। इसलिए वह उनमें मोहमूढ़ नहीं होता। वह जानता है कि संसार में परमतत्त्व अन्तरात्मा में देदीप्यमान ज्ञानमय ज्योति है जो सब प्रकार की बाधा, विघ्न या पीड़ा से विवर्जित है, न उसमें कोई रोग है, न दोष है। भावात्मक दृष्टि से वह सर्वथा नीरोग है। उसके अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थ अनेकानेक विघ्नों से, दोषों से आप्लावित हैं। ऐसा साधक स्व-पर का भेदविज्ञान प्राप्त कर लेता है। उसकी इन्द्रियाँ विषयों से प्रत्याहृत हो जाती हैं। उसकी धर्माधना में कोई बाधा नहीं आती।²⁹

आगे उन्होंने इसी विषय का विशेष स्पष्टीकरण किया है कि धार्मिक क्रियाओं के परिणामस्वरूप प्राप्त सांसारिक सुखभोगमय पदार्थ इस दृष्टि को प्राप्त योगियों के लिए अनर्थकर ही सिद्ध होते हैं। अग्नि चाहे चन्दन के काष्ठ से उत्पन्न हो तो भी स्पर्श करने वाले को तो जलाती ही है।³⁰

कान्ता दृष्टि :

कान्त का अर्थ प्रिय या मनोज्ञ है। इस दृष्टि को प्राप्त योगी के व्यक्तित्व में एक ऐसा सात्विक भावापन्न वैशिष्ट्य आ जाता है कि उसका व्यक्तित्व सहज ही सबके लिए बड़ा कान्त प्रीतिजनक हो जाता है, औरों के मन में उसे देखते ही प्रीति उमड़ पड़ती है। उसे प्राप्त दर्शन अविच्छिन्न होता है।³¹ उसके योग का छठा अंग धारणा सिद्ध हो जाता है।³² उसमें अध्यात्म के अतिरिक्त अन्यान्य पदार्थ में आनन्द - सुख मानने की वृत्ति नहीं रहती अर्थात् वह तत्त्वमीमांसा में तत्त्वों की सूक्ष्म गहन

29. योगदृष्टि समुच्चय श्लोक, 155-158 पृ. 47=48

30. वही, 161 पृ. 49

31. वही, 162 पृ. 50

32. पातंजल योगसूत्र, 3.1

अन्वेषणा, गवेषणा में अभिरुचिशील रहता है। जिसका परिणाम उसके लिए बड़ा हितकर श्रेयस्कर होता है। इस दृष्टि में योग के छोटे अंग 'धारणा' की सिद्धि हो जाती है। अष्टांगयोग के अगले तीन अंग धारणा, ध्यान और समाधि योग के अन्तरंग या आन्तरिक अंग कहे गये हैं। ये तीनों आत्मा के परम लक्ष्य परिनिर्वाण या मुक्ति को साधने में अन्ततः सहायक सिद्ध होते हैं। धारणा के सम्बन्ध में 'योगसूत्र' में कहा गया है कि प्रथम से पाँचवें तक के योगांगों को जब साधक यथावत् रूप में सिद्ध कर लेता है तब वह चिन्तन-मनन व एकाग्रता के रूप में साधना के सूक्ष्म और आन्तरिक मार्ग का अवलम्बन करता है। समस्त वासनाओं, कामनाओं व इच्छाओं का घर मानव का चित्त है। कोई कितनी ही बाहरी क्रिया-प्रक्रिया, कार्य-कलाप, कर्मकाण्ड साध ले पर जब तक चित्त की विशुद्धि नहीं होती तब तक साधना में सफलता प्राप्त नहीं होती। धारणा की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि बाहर या देह के भीतर किसी एक स्थान पर चित्त को स्थिर करना, एकाग्र करना, ठहराना धारणा है। आकाश, सूर्य, चन्द्र आदि चित्त को स्थिर करने के बाह्य स्थान हैं। देह के भीतर योग सिद्धान्तानुसार परिकल्पित नाभिचक्र, हृदय कमल आदि देह के अन्तःस्थित स्थान हैं। इन दोनों पर साधक अभ्यासदशा में मन को टिका सकता है। जब कान्ता दृष्टि प्राप्त हो जाती है तब मन को धारणानुरूप स्थिर करने की योग्यता साधक में आ जाती है।

इस दृष्टि का जो कान्ता नाम दिया गया है उस पर अन्य प्रकार से भी विद्वानों ने चिन्तन किया है। कान्ता का एक अर्थ पतिव्रता महिला भी है। वैसी महिला अपने समस्त गृहकार्य करते हुए भी प्रतिक्षण अपना मन पति में ही लगाये रहती है। इसी प्रकार इस दृष्टि में स्थित साधक का चित्त सांसारिक दायित्ववश अनेक कार्य करते हुए भी शुद्ध धर्म में, अध्यात्म में, आराधना में लीन रहता है।

यह दृष्टि योगी जनों को बड़ी कान्त, प्रीतिकर, प्रिय या मनोज्ञ लगती है। इस कारण इसे कान्ता नाम से अभिहित किया गया है।

प्रभा दृष्टि :

प्रभा दृष्टि में साधक की ऐसी मानसिकता बन जाती है कि उसे ध्यान बहुत प्रिय लगता है। अष्टांग योग का सातवाँ अंग ध्यान उसे सिद्ध हो जाता है। भवरोग उसे पीड़ा नहीं देता, राग, द्वेष एवं मोह रूप दोष त्रय से उत्पन्न आत्मोपपीडक रोग

से वह बाधित नहीं होता। वह तत्त्व प्रतिपत्ति-तत्त्वानुभूति की दिशा में उत्साहशील, गतिशील होता है। वह सहज रूप में सत्प्रवृत्तियों की ओर आकृष्ट रहता है।³³

‘योगसूत्र’ में महर्षि पतंजलि ने ध्यान की परिभाषा करते हुए लिखा है कि जहाँ चित्त को लगाया जाय उसी में प्रत्ययैकतानता वृत्ति का चलते रहना, एक तार की तरह उसमें लगे रहना ध्यान है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस ध्येय वस्तु में चित्त को लगाया जाय उसी में चित्त का एकाग्र होना, ध्येय मात्र की एक ही प्रकार की वृत्ति का, प्रवाह का चलना, उसके बीच में किसी भी दूसरी वृत्ति का उत्थित न होना ध्यान है।³⁴

ग्रन्थकार ने लिखा है कि इस दृष्टि के उपलब्ध होने पर ध्यानजनित सुख की अनुभूति होती है। साधक के लिए ध्यान परिश्रान्ति का नहीं बरन् आनन्दानुभूति का विषय बन जाता है। उसके परिणामस्वरूप शब्द, रूप, गन्ध, स्पर्श आदि कामविषयों को वह जीत लेता है। उसका वह ध्यानानन्द विवेक की प्रबलता से अनुप्राणित होता है। उसमें प्रशान्त भाव का बाहुल्य होता है। वह स्वातन्त्र्य का अनुभव करता है। उसका पारतन्त्र्य जो दुःखजनक है, मिट जाता है। सुख-दुख वास्तव में स्वतन्त्रता व परतन्त्रता के साथ ही जुड़े हुए हैं। वह सुख पुण्यप्रसून-पुण्यों के उदय से उत्पन्न सुख से भी विलक्षण है। क्योंकि पुण्यों के परिणाम स्वरूप होने वाला सुख भी पराधीन है। पुण्य शुभ पुद्गलात्मक है जो आत्मा से भिन्न है, अन्य है। उसका आश्रित सुख तत्त्वतः दुःख ही है। क्योंकि दुःख का लक्षण परवशता है। पुण्य भी तो बन्ध ही है। शृंखला, बेड़ी चाहे लोहे की हो या स्वर्ण की; बाँधे जाने पर तो दोनों कष्टप्रद ही होती हैं।

जिन महान् साधकों का बोध निर्मल होता है, उनके ध्यान निरन्तर सधता जाता है। जिस तरह खाद्यमिश्रित स्वर्ण को खाद्य से अलग कर दिया जाता है तो वह सर्वथा शुद्ध हो जाता है। उसे कल्याण शब्द द्वारा अभिहित किया जाता है। उसी प्रकार बोध की निर्मलता सर्वथा कल्याणकारी होती है। निर्मल बोध और आत्मिक आनन्दप्रद ध्यान के सध जाने पर सद्प्रवृत्तिपदमूलक असंगानुष्ठान, सब प्रकार के संग

33. योगदृष्टि समुच्चय श्लोक, 170, पृ. 53

34. पातंजल योगसूत्र, 3.2

- आसक्तियों से रहित विशुद्ध आत्मानुचरण, असंगानुष्ठान है। भौतिक, सांसारिक पदार्थों के साथ वहाँ किसी भी प्रकार का लगाव नहीं रहता। किसी भी आलम्बन के बिना केवल भोग की आराधना की जाती है। इसलिए यह अनालम्बन योग कहा जाता है। साधक अध्यात्म साधना को महापथप्रयाण से योजित करता है। अध्यात्म साधना के महान् अभियान में गतिशीलता महापथप्रयाण है। यह महापथ इसलिए है कि इसका अवलम्बन लेकर अग्रसर होने पर अनागामी पद-वह स्थान जिसे प्राप्त कर वापिस नहीं आना पड़ता, जो जन्म-मरण के आवागमन से रहित है, शाश्वत है, प्राप्त हो जाता है। यह वह पद है जिसको योगीजनों ने भिन्न नामों से प्रज्ञापित किया है। सांख्य दर्शन में इसे प्रशान्तवाहिता, बौद्ध दर्शन में विश-भाग परिक्षय तथा शैव दर्शन में ध्रुव, ध्रुवाध्व या शिववर्त्म कहा गया है।³⁵

विद्वानों ने प्रीति अनुष्ठान, भक्ति अनुष्ठान, वचन अनुष्ठान और असंग अनुष्ठान के रूप में अनुष्ठान चार प्रकार का बतलाया है। पहले का आधार विशुद्ध प्रेम है, दूसरा पवित्र भक्ति पर टिका हुआ है। तीसरा आप्त पुरुषों की वाणी पर अवलम्बित है। चौथा अनासक्त भाव के आश्रयण पर अवस्थित है। इनमें असंगानुष्ठान आत्मेतर पदार्थों से अतीत होने के कारण सबसे विलक्षण है।

8. परादृष्टि :

पराशब्द का अर्थ परमोत्कृष्ट या अन्तिम है। इसमें योग का आठवाँ अंग समाधि सिद्ध हो जाता है। 'योगसूत्र' में समाधि के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जब ध्यान में केवल ध्येय मात्र ही प्रतीति का विषय रहता है, चित्त का अपना स्वरूप शून्य सा हो जाता है तब वह ध्यान समाधि के रूप में परिणत हो जाता है। धारणा, ध्यान और समाधि ये तीनों किसी एक ध्येय पदार्थ में जब होते हैं तो उसे संयम कहा जाता है। जब संयम सिद्ध हो जाता है तो प्रज्ञा का, बुद्धि का आलोक या प्रकाश प्राप्त होता है।³⁶

समाधि की प्राप्ति साधना की पराकाष्ठा है या चरम लक्ष्य हैं। यहाँ आठों योगांगों के माध्यम से किये जाने वाले उद्यम का पर्यवसान होता है। समाधि सबीज

35. योगदृष्टि समुच्चय श्लोक, 175-176, पृ. 55

36. पातंजल योगसूत्र, 3.5, पृ. 70

या निर्बीज के रूप में दो प्रकार की है। शुक्लध्यान के विवेचन के अन्तर्गत यथाप्रसंग इस सम्बन्ध में चर्चा की गयी है। यह आत्मा की परम शान्त, निर्मल, निर्दोष, शुद्ध परमानन्दमयी दशा है।

परादृष्टि में समाधि सिद्ध हो जाने के साथ-साथ आत्मा आसंग से सर्वथा विवर्जित हो जाती है। यहाँ आसंग का अभिप्राय है कि साधक का लगाव किसी एक ही योगक्रिया के साथ आसक्ति लिये नहीं रहता। उसमें एक मात्र वैसी ही प्रवृत्ति या आचरण सहज रूप में विद्यमान रहता है जिससे विशुद्ध परमतत्त्व का, परमात्मभाव का अनुभव हो। इसमें चित्त उत्तीर्णाश्रय हो जाता है। उत्तीर्ण का अर्थ ऊँचा उठ जाना है। वह सभी आश्रयों से चैतसिक प्रवृत्तियों से, वासनाओं से ऊपर उठ जाता है।

वहाँ योगी निराचारपद युक्त होता है। वहाँ किसी आचारविशेष के अनुसरण का प्रयोजन नहीं रहता। वह अतिचार विवर्जित होता है। किसी प्रकार का दोष उसके साधनामूलक उपक्रम में व्याप्त नहीं होता। जो व्यक्ति अपनी पहुँचने की मंजिल प्राप्त कर चुका हो उसे आगे बढ़ने की कभी आवश्यकता नहीं रहती। वैसी स्थिति परादृष्टि में स्थित योगी की होती है। वहाँ सब सहज रूप में आत्मानुभावित होता है, आत्मानुसरित होता है। क्योंकि यह अन्तरात्माभाव से परमात्मभाव तक पहुँचने की स्थिति होती है।³⁷

उपर्युक्त तत्त्व को ग्रन्थकार ने रत्नशिक्षा के उदाहरण से स्पष्ट किया है। रत्न आदि के विषय में शिक्षार्थी जब शिक्षा लेता है तब उसकी जो दृष्टि होती है, शिक्षा ले चुकने के अनन्तर अर्थात् रत्न-परीक्षण की विद्या या कला में निपुण हो जाने पर रत्न आदि के वियोजन में, क्रय-विक्रय आदि प्रयोग में उसकी दृष्टि पहले से सर्वथा भिन्न होती है। क्योंकि उन दोनों दृष्टियों में अन्तर है। शिक्षाकाल में तो वह जिज्ञासु विद्यार्थी के रूप में होता है। अपना ज्ञान विकसित करने की भावना उसमें होती है। किन्तु क्रय-विक्रय के समय वह उस स्थिति से उन्नत होता है। वहाँ वह अपने उपार्जित ज्ञान के आधार पर निपुणता और कुशलता का प्रयोग करता है।

परादृष्टि में योगी वैसी ही निष्णात अवस्था में होता है। वह उन सब सीमाओं को पार कर चुकता है जो अभ्यास दशा में उपादेय होती हैं। यह वह स्थिति है जहाँ

योगी को मुख्य साधक की ऊर्ध्वगामिता के अनन्य हेतु 'द्वितीय अपूर्वकरण' की उपलब्धि होती है और धर्मसंन्यासयोग निष्पन्न होता है जो पहले चर्चित हुआ है। उसके फलस्वरूप योगी को उत्कर्षणशील सदैव शाश्वत निर्मल रहने वाला पतनरहित केवलज्ञान अधिगत होता है। जीव अपनी उज्ज्वल, स्वच्छ, शुद्ध भावात्मक प्रवृत्ति से चन्द्रज्योत्स्ना के सदृश है तथा ज्ञानावरण आदि कार्मिक आवरण मेघ के सदृश शुद्ध स्वरूपमय आत्मा को आवृत किये रहते हैं। जब आत्मा के मूलगुणों का घात करने वाले ज्ञानावरण आदि कर्म योगरूपी वायु के आघात से हट जाते हैं, मिट जाते हैं, क्षीण हो जाते हैं तब आध्यात्मिक लक्ष्मी से युक्त साधक केवलीपद प्राप्त कर लेता है। उसके अज्ञान, निद्रा आदि 18 दोष विलीन हो जाते हैं। वह सर्वज्ञ हो जाता है। समस्त लब्धियों, अतिशयों से वह परिपूर्ण हो जाता है। वह अपना परम साध्य साध लेता है और योग के अन्तिम फल शैलेशी अवस्था को प्राप्त कर लेता है। वह परम पुरुष अयोगद्वारा - मानसिक, वाचिक कायिक, योगों-प्रवृत्तियों के अभाव द्वारा योग की सर्वोत्तम दशा अधिगत कर अविलम्ब संसार रूप व्याधि को क्षय कर डालता है, परम निर्वाण प्राप्त कर लेता है।³⁸

योगसाधना के साथ योगगुणों स्वीकार एवं दोष-विवर्जन का समन्वय :

आचार्य हरिभद्र से पूर्ववर्ती योग- मनीषी भगवद्दत्त ने अद्वेष-द्वेषशून्यता, जिज्ञासा, योगतत्त्व को गहराई से जानने की अभीप्सा, शुश्रूषा, योगविषयक सिद्धान्तों को सुनने की इच्छा, शुश्रूषा का क्रियान्वयन, श्रवण कर योगतत्त्वों का स्वायत्तीकरण, मीमांसा-सूक्ष्म समीक्षा, प्रतिपत्ति-पर्यवेक्षित बोध की स्वीकृति, प्रवृत्ति सहजावस्था की परिपूर्णता के रूप में आठ गुणों का निरूपण किया है जो क्रमशः योगसाधना के भावात्मक विकास के द्योतक हैं।

योगवेत्ता भदन्तभास्कर ने खेद-योगसाधना में परिश्रान्ति का अनुभव, उद्वेग-मन में उच्चाट का उद्भव, क्षेप-मन का योगसाधना से हटना, उत्थान-साधना के केन्द्र से विचलित होना, भ्रान्ति-भ्रमजनित विपथ-गामी भाव, अन्यमुद-योगेतर भाव में प्रमुदित या प्रसन्न होना, रुक्-आन्तरिक अस्वस्थता, भावों की शिथिलता, आसंग-आसक्त भाव के रूप में आठ दोषों का प्रतिपादन किया है, जो उन्नतिशील योगी के साधनाक्रम के साथ-साथ क्षीण होते जाते हैं।

38. योगदृष्टि समुच्चय श्लोक - 180-186, पृ. 56-59

जैसा कि यथाप्रसंग इंगित किया गया है कि आचार्य हरिभद्रसूरि ने आठों दृष्टियों के सिद्ध होते जाने के साथ-साथ क्रमशः श्री भगवद्दत्त निरूपित गुणों के निष्पन्न होने और श्री भदन्त-भास्कर द्वारा सूचित दोषों के क्षीण होने का विशेष रूप से उल्लेख किया है।

उपर्युक्त रूप में आठ दृष्टियों के माध्यम से योगाभ्यासी पुरुष पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से अपनी योगसाधना प्रारम्भ करता है। पहली चार दृष्टियाँ क्रमशः आत्मसम्मार्जन की हैं। उनमें वह सत् उद्यम और अध्यवसाय पूर्वक साधनारत रहता है। परिणामस्वरूप उसे सम्यक्बोध रूप दिव्य ज्योति का लाभ होता है। ये चार दृष्टियाँ विकालवर्जन पूर्वक आगे बढ़ने का उपक्रम लिये रहती हैं। आगे की चार दृष्टियाँ आत्मा के विशुद्धिमूलक उपक्रम के साथ जुड़ी हुई हैं। परादृष्टि में साधक का उद्यम साफल्य पा लेता है। निर्मल, निष्कलंक, सौम्य, शीतल चन्द्र की ज्यों उसकी आत्मा निर्मलता प्राप्त कर लेती है।

यहाँ एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि दृष्टिविशेष के प्राप्त होते ही योग के यम आदि अंग कैसे सिद्ध हो जाते हैं ? दृष्टि तो एक दर्शन है, वीक्षण है। यम, नियम, आसन आदि तो सब अभ्यासापेक्षी हैं। यहाँ यह बात गहराई से समझने योग्य है कि ग्रन्थकार का आशय दृष्टिप्राप्ति के बाद वैसी उत्तम पवित्र मनोदशा के उत्पन्न होने से है जिसमें योगांगों की साध्यता निष्पन्न हो सकती है बशर्ते साधक उनके अभ्यास में भी उद्यत दृष्टि हो। उद्यम, अभ्यास या प्रयत्न की पृष्ठभूमि है। जिस प्रकार नींव के बिना कोई विशाल अड्डालिका खड़ी नहीं हो सकती, उसी प्रकार विशुद्ध दृष्टि के बिना योग भी यथार्थ रूप में फलित नहीं हो सकता। वहाँ आसन, प्राणायाम आदि दैहिक दृष्टि से तो क्रियान्वित हो जाते हैं किन्तु वे व्यायाम मात्र रह जाते हैं। आत्मश्रेयस्कर योग को समुन्नत करने में उनसे बल नहीं मिलता। वे सर्कस में दिखाये जाने वाले चमत्कारों से बढ़कर नहीं होते। योगांग सर्कस के खेल नहीं हैं। वहाँ आसनसिद्धि से प्राप्त, शारीरिक सौविध्य आनुकूल्य आत्मोपकारी साधना में सहकारी होते हैं। श्वास-प्रश्वास का गतिच्छेद प्राणवायु को आत्मा की ऊर्ध्वगामिता में सहायक बनाता है। यदि ऐसा न हो तो प्रत्याहार भी सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि वहाँ इन्द्रियों को, मन को सांसारिक विषयों से खींचकर, समेटकर चित्त पर लगाना होता है और उसके आगे धारणा, ध्यान और समाधि तीनों अंग तभी सिद्ध हो सकते हैं जब साधक

द्वारा साधे हुए पिछले योगांग अध्यात्मोन्मुख हों। ये दृष्टियाँ योगांगों में अध्यात्म भाव का संचार करती हैं जिससे ये शरीर के अंगोपांग तथा श्वास-प्रवास के विशोधन में ही न रह कर आत्मविशोधन के साथ जुड़ सकें। दृष्टियों की इसी विशेषता के कारण इन्हें योग के क्षेत्र में आचार्य हरिभद्रसूरि का एक विलक्षण अवदान कहा जाता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'योगदृष्टिसमुच्चय' में योगियों के भेदों की विशेष रूप से चर्चा की है। उन्होंने गोत्रयोग, कुलयोग, प्रवृत्त-चक्र योग तथा निष्पन्नयोग के आधार पर चार प्रकार के योगियों का उल्लेख किया है। उन्होंने यह बतलाया है कि कुलयोगी और प्रवृत्तचक्रयोगी ही इस ग्रन्थ के अधिकारी हैं। सभी योगी इसके अधिकारी नहीं हैं। जो योगियों के कुल में उत्पन्न हुए हैं - जिन्हें जन्म से ही योग प्राप्त हैं, जो प्रकृति से ही योग का अनुसरण करते हैं वे कुलयोगी कहे जाते हैं।

कुलयोगियों का ऐसा स्वभाव होता है कि वे सर्वत्र अद्वेषी होते हैं। गुरुजन, देव तथा ज्ञानी पुरुष उन्हें सहज ही प्रिय होते हैं। वे उनका आदर करते हैं। वे दयावान विनयशील, प्रबुद्ध तथा संयतेन्द्रिय होते हैं।³⁹ कुलयोगी का तात्पर्य यह है कि जो योगी अपने पूर्वजन्मों में योग की आराधना करते-करते दिवंगत हो जाते हैं, उस जन्म में अपनी साधना को पूर्णरूपेण निष्पन्न नहीं कर पाते, वे अपने अग्रिम जन्म में पूर्वजन्म के संस्कार लिये हुए होते हैं। इसलिए उनको जन्म के साथ ही योग प्राप्त होता है। वे स्वयं प्रेरित होते हैं। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि कुलयोगी आनुवंशी नहीं होते। योगियों का कोई कुल नहीं होता। यहाँ कुल शब्द बड़ा महत्त्वपूर्ण है। कुल शब्द के साथ उत्तमता या प्रशस्तता का भाव जुड़ा हुआ है। इसलिए कुलवधू, कुलपुत्र इत्यादि से उत्तम वधू, उत्तम पुत्र का भाव ध्वनित होता है। इसलिए योगी शब्द के साथ यहाँ कुल शब्द का प्रयोग हुआ है। आर्यक्षेत्र के अन्तर्गत भारतभूमि में उत्पन्न होने वाले भूमिभव्य कहे जाते हैं। वे गोत्रयोगी की संज्ञा से अभिहित हुए हैं अर्थात् इस भूमि में योगसाधना के अनुरूप उपयुक्त साधन-सामग्री के निमित्त प्राप्त होते हैं। किन्तु केवल भूमि की भव्यता से ही योगसाधना निष्पन्न नहीं होती। वैसे लोग यदि साधना में समुद्यत होते हैं तो उसमें आगे बढ़ सकते हैं क्योंकि क्षेत्र के कारण उनमें तदनुरूप पात्रता होती है।

चक्र के किसी एक भाग पर डण्डे को लगाकर हिला देने पर वह सारा चक्र

39. योगदृष्टि समुच्चय श्लोक - 208-210, पृ. 67

परिचालित होने लगता है, वैसे ही जिनका योगचक्र किसी अन्य द्वारा संप्रेरित, संस्पृश्य होकर गतिशील होता है, तदनुसार जो साधक योग में प्रवृत्त होते हैं उन्हें प्रवृत्तचक्रयोगी कहा जाता है। ऐसे योगी इच्छायम, प्रवृत्तियम को साध चुकते हैं। स्थिरयम एवं सिद्धियम को सिद्ध करने की तीव्र उत्कंठा लिये रहते हैं। उस दिशा में प्रयत्नशील रहते हैं। उनमें शुश्रूषा-सत्त्वों को सुनने की आन्तरिक तीव्र आकांक्षा रहती है। वे मनन-परिशीलन पूर्वक सावधानता पूर्वक तत्त्वश्रवण करते हैं। श्रवण किये हुए को गृहीत करते हैं, ग्रहण किये हुए की अवधारणा करते हैं, अवधारण करने पर विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है, बोध उत्पन्न होता है। चिन्तन, विमर्श, शंका-समाधान करते हैं। ऐसा कर वे इसका निराकरण करते हैं। तत्त्वनिर्धारण पूर्वक अन्तःस्थित अन्तरात्मभाव का अनुभव करते हैं। ये प्रवृत्तचक्रयोगी अवंचक त्रय में से पहला योगावञ्चक प्राप्त कर चुकते हैं। उसका यह प्रभाव होता है कि उन्हें दूसरे दो क्रियावंचक व फलावञ्चक भी प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे योगी ही योग-प्रयोग के अधिकारी हैं। योग आध्यात्मिक विद्या या विज्ञान है, इसके अधिकारी मात्र संक्षिप्त प्रयोग द्वारा भी इससे अपरिमित लाभ उठा सकते हैं किन्तु अनधिकारियों को तो हानि ही होती है।⁴⁰ निष्पन्नयोगी वे हैं, जो योगसिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। 'योगदृष्टिसमुच्चय' में यद्यपि केवल दो सौ अट्ठाइस श्लोक हैं, किन्तु उनमें योग से संबंधित अनेकानेक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषयों का मार्मिक विश्लेषण हुआ है, जो योग आराधकों के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

शतक :

'योगशतक' आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा एक सौ एक प्राकृत गाथाओं में रचित महत्त्वपूर्ण कृति है। भाषा की दृष्टि से इसमें महाराष्ट्री प्राकृत का संदर्भ-प्राञ्जल रूप प्राप्त है। आचार्य हरिभद्र जिस प्रकार संस्कृत के एक प्रौढ़ सिद्धहस्त लेखक थे उसी प्रकार प्राकृत में भी उनकी लेखनी बड़े ही चामत्कारिक रूप में गतिशील रही। 'समराइच्चकहा' उनकी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कथाकृति है, जिसका प्राकृत वाङ्मय में अपना अद्वितीय स्थान है। लेखक ने 'योगशतक' का प्रारम्भ भगवान महावीर के नमस्कार रूप मंगलाचरण से किया है। वह गाथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है-

40. योगदृष्टि समुच्चय श्लोक - 212-213, पृ. 69-70

नमिऊण जोगिनाहं सुजोगसंदसंगं महावीरं ।
वोच्छामि जोगलेसं जोगज्जयणाणुसारेण ॥

योगियों के नाथ, स्वामी, आराध्य, उत्तम आध्यात्मिक योग के संदर्शक, भगवान महावीर को प्रणमन, नमन कर मैं योगशास्त्रों के अध्ययन के अनुरूप संक्षेप में योग को विवक्षित व्याख्यात करूंगा। इस गाथा में योग शब्द का चार स्थानों पर प्रयोग हुआ है। भगवान महावीर को योगियों के नाथ के रूप में यहाँ अभिहित किया गया है। साथ-ही-साथ उनको उत्तम योग का मार्गदर्शक बताया है। लेखक ने योगविषयक आगम-शास्त्रग्रन्थों के अध्ययन के नवनीत के रूप में संक्षेप में योग का विवेचन करने का भाव प्रकट किया है।

इससे यह प्रतीत होता है कि कर्त्ता आचार्य को योग शब्द कितना प्रिय एवं रुचिकर रहा। उन्होंने सबसे पहले निश्चययोग के रूप में योग का विश्लेषण करते हुए लिखा है - नैश्चयिक दृष्टि से योग के सद्ज्ञान आदि का सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र इन तीनों का आत्मा के साथ जुड़ना, सम्बद्ध होना योग है। योग के पारगामी महान् साधकों ने ऐसा बतलाया है। उसकी योगसंज्ञा इसलिए है कि वह आत्मा का मोक्ष के साथ योजन करता है।⁴¹

आगे उन्होंने व्यवहार योग की चर्चा करते हुए लिखा है कि कार्य का यदि कारण में उपचार किया जाय तो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र के कारणों का आत्मा के साथ जो संबंध घटित होता है, उसे भी योग कहा जाता है। तदनुसार धर्मशास्त्र-प्रतिपादित विधि के अनुसार गुरुजन के प्रति विनयभाव, उनकी सेवा, शुश्रूषा, परिचर्या, उनके सान्निध्य में रहते हुए उनसे तत्त्व-श्रवण की उत्कंठा, आत्म-सामर्थ्य के अनुसार शास्त्रोक्त विधि-निषेध का अनुसरण करते हुए सदाचरण का अभ्यास, इसे व्यवहारयोग कहा गया है। यह योग का प्रारंभ है। इसमें उद्यत रहता हुआ साधक कालक्रम से उस ओर आगे बढ़ता है, उत्तरोत्तर बुद्धि-प्रकर्ष प्राप्त करता जाता है। यथा - सम्यक्ज्ञान दर्शन-चारित्रमूलक निश्चय को प्राप्त कर लेता है। जैसे एक व्यक्ति अपने इष्ट, लक्षित, अभीप्सित नगर की ओर अपनी शक्ति के अनुरूप जाता है तब उसे इष्टपूर्व प्रतीक कहा जाता है। उसी प्रकार जो साधक ज्ञान आदि

41. योगशतक, श्लोक. 2, पृ. 233

को, जिन्हें वह अब तक उपलब्ध नहीं कर पाया है, पाने के लिए यथाशक्ति गतिशील रहता है, उसे योगी कहा जाता है। यद्यपि लक्षित नगर की ओर पथिक पहुँचा नहीं हैं किन्तु पहुँचने में क्रियाशील है, उसी प्रकार व्यवहारयोगी भी निश्चय योग की दिशा में पराक्रमशील योगी की परिभाषा में आता है।⁴²

ग्रन्थकार ने यहाँ जैनदर्शन के मूल साधना-सूत्र रत्नत्रय को उद्दिष्ट कर निश्चय और व्यवहार योग की परिकल्पना की है। व्यवहार योग में जो भाव उन्होंने व्यक्त किया है वह 'योगबिन्दु' में उनके द्वारा उपदिष्ट पूर्वसेवा के आशय से अनुस्यूत है। पूर्वसेवा और व्यवहारयोग साधक की जीवनचर्या के वे भाग हैं जिनमें वह अपने व्यक्तित्व का निखार करने हेतु उद्यत होता है। यह स्थिति योगरूप कार्य तो नहीं है किन्तु योग का कारण है। कारण को ही कार्य के रूप में आख्यात करने की एक विधा है। उसे कारण में कार्योपचार कहा जाता है। वस्तुतः सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्र की आराधना ही जैनयोग की साधनाकी मूल पृष्ठभूमि है। यम, नियम, ध्यान आदि सबके साधने का यही अभिप्राय है कि श्रद्धान, बोध और चरण सर्वथा पवित्रता पा लें। क्योंकि वैसा हुए बिना आत्मा पर छाये हुए कार्मिक आवरण मिट नहीं पाते।

योग के अधिकारी का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि अधिकारी का अर्थ योग्यतापूर्वक प्रयोग करने वाला है। उसे यह समझना होता है कि जो उपाय जिस कार्य को सम्पन्न करने में समर्थ होता है उसी उपाय द्वारा उसमें सिद्धि या सफलता प्राप्त की जा सकती है। उसी का अभीप्सित श्रेष्ठ परिणाम आता है। योगसाधना में योग्य अधिकारी या साधक को यह ध्यान रखना होता है कि वह जिस साधन या उपाय को ग्रहण करे पहले उसकी यथार्थता या उपयुक्तता को समझे, समझकर ही उसमें संलग्न हो। तभी उत्तम फल प्रस्फुटित होता है।

'अपुनर्बन्धक' आदि योगसाधना के अधिकारी हैं। कर्मप्रकृतियों की निवृत्ति या क्षयोपशमजन्य स्थिति आदि के अनुसार योगसाधना का अधिकारीपना या योग्यता अनेक प्रकार की है।⁴³

अपुनर्बन्धक शब्द यहाँ विशेष रूप से विवेचनीय है। जीव कर्मों का बन्ध करता

42. वही, श्लोक. 4-7, पृ. 234

43. योगशतक, श्लोक. 8-9, पृ. 235

है। कषायों की तीव्रता या मन्दता के आधार पर कर्मों की अवधि तथा फल देने की शक्ति घटित होती है। फल की कटुता या मधुरता कषायों की तीव्रता या मन्दता के अनुसार होती है। कर्म की कालावधि भी उसी के अनुरूप लम्बी या छोटी होती है।

जैनदर्शन में प्रत्येक कर्म की जघन्य यानी कम-से-कम और उत्कृष्ट यानी अधिक-से-अधिक दो प्रकार की कालावधि स्वीकार की गई है। कर्मों के आठ भेद हैं। उनमें मोहनीय सबसे प्रधान है। मोहनीय की अधिकतम कालावधि सत्तर कोटानुकोटि सागरोपम है। जिस जीव के कषाय अत्यन्त तीव्रता लिये रहते हैं वह इसी कालावधि के मोहनीय कर्म का बंध करता है। जिनका कषाय जितना मंद होता है उनके कर्मबंध की कालावधि उतनी ही कम होती है। कषायबन्ध का एक ऐसा क्रम भी है जब जीव का कर्मबंध अत्यधिक हल्का होता है तब जीव चरम पुद्गलपरावर्तन की स्थिति में होता है। उसके परिणामस्वरूप वह पूर्ण उत्कृष्ट स्थिति के मोहनीय कर्म का बन्ध नहीं करता। जैनदर्शन में उसकी अपुनर्बन्धक संज्ञा है, उसे शुक्लपाक्षिक भी कहा जाता है। क्योंकि तब आत्मा के स्वाभाविक गुणों की शुक्लता या उज्ज्वलता प्रकाश में आने लगती है। अपुनर्बन्धकत्व की स्थिति प्राप्त हो जाने के बाद जीव सन्मार्गाभिमुख हो जाता है। उसकी मोहरागात्मक सघन कर्मग्रन्थि उच्छिन्न हो जाती है, मिथ्यात्व मिट जाता है, सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है। वह जीव आत्मरति और परविरतिमूलक सत्पथ पर अग्रसर होता है। यह वह स्थिति है जहाँ वह योग का अधिकारी बन जाता है। वह यथाविधि योग को साधता जाता है और अन्ततः अपनी साधना को सफल कर लेता है। उसे उसका प्राप्तव्य प्राप्त हो जाता है।

योग के आराधकों के संबंध में विशेष मार्गदर्शन देते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है कि चित्तवृत्ति का निरोध, पुण्यात्मक कुशल-उत्तम, सद् प्रवृत्ति मोक्ष से योजन इत्यादि के रूप में योग के भिन्न-भिन्न लक्षण प्ररूपित हुए हैं। वे अपनी-अपनी परम्परा के अनुरूप समुचित अनुष्ठान में घटित होते हैं किन्तु एक बात विशेष रूप से ध्यान में रखने योग्य है कि दूषित ध्यान और संक्लेश से युक्त संस्कारों का अभाव होना चाहिए। जहाँ संक्लेश होता है वहाँ योग के लक्षण फलित नहीं होते। जब ध्यान दोषरहित होता है, विधिवत् होता है, चित्त के संस्कार संक्लेश वर्जित होते हैं तब अपनी-अपनी योग्यतानुसार साधकों द्वारा किया जाने वाला योगाभ्यास या साधना का उपक्रम परिशुद्ध होता है। यहाँ यह भी अपेक्षित है कि मार्गदर्शक गुरु, भिन्न-भिन्न लक्षणों से उनकी

भूमिकाओं को जानें, जिनके लिए जैसा समुचित समझें वैसे साधनापथ का उपदेश करें। जो सुयोग्य चिकित्सक होते हैं वे भिन्न-भिन्न रोगियों की शारीरिक स्थिति, उनकी प्रवृत्ति का भली-भाँति निदान कर, परीक्षण कर औषधि देते हैं। औषधि की मात्रा, अनुपान, औषधि-सेवन-काल में पथ्य-परहेज इत्यादि सभी बातों को वे दृष्टि में रखते हुए जिस रोगी को जिस प्रकार की चिकित्सा, औषधि आदि अपेक्षित होती है, वैसी ही व्यवस्था करते हैं।⁴⁴

योग का मार्ग साधकों के लिए परम श्रेयस्कर है, सुगम है, आत्मा के लिए आह्लादकारी है किन्तु साथ-ही-साथ वह ऐसा है जिस पर बड़ी ही जागरूकता एवं सावधानता से चलना वांछित है। इसलिए यह आवश्यक है कि साधक सुयोग्य, ज्ञानी, अनुभवी गुरु का सान्निध्य प्राप्त करे और उनसे सभी तत्त्वों को हृदयंगम करे। गुरु भी साधक की पात्रता का परीक्षण कर उसे उस अभ्यास में नियोजित करे। ऐसा होने से योग से अमृतोपम फल निष्पन्न हो सकता है, तभी वह कल्पवृक्ष और चिन्तामणिरत्न सिद्ध हो सकता है।

आचार्यश्री ने दैनंदिन जीवन के शालीनतापूर्ण कार्य, पारस्परिक-सात्विक व्यवहार, विनय, सौमनस्य, ऋजुता आदि का भी विभिन्न प्रसंगों में विवेचन किया है जिनसे योगसाधना सुशोभित होती है। अन्तर्जीवन एवं बहिर्जीवन दोनों ही ऐसे होने चाहिये जिनसे औरों को प्रेरणा मिले।

आचार्य हरिभद्र का इस ओर बहुत ही ध्यान रहा है कि योग से प्रत्येक व्यक्ति को यह प्रेरणा मिले कि वह सबके समक्ष श्रेष्ठ धार्मिक जन के रूप में प्रस्तुत हो। साधना का फल वर्तमान जीवन का सुधार और विकास है।

योगविंशिका

‘योगविंशिका’ आचार्य हरिभद्रसूरि की बीस प्राकृत गाथाओं में एक संक्षिप्त रचना है। भारतीय साहित्य में विंशिकाओं का विशेषतः जैन साहित्य में बीस-बीस पद्यों में रचित कृतियों का विशेष क्रम रहा है। आचार्य हरिभद्र ने बीस गाथाओं में योग का एक नयी शैली में विवेचन किया है। वह वास्तव में पठनीय एवं मननीय

44. योगशतक, श्लोक. 22-23, 24, पृ. 241

है। उन्होंने लिखा है कि सभी परिविशुद्ध धर्मव्यापार-धार्मिक क्रियाकलाप साधनामूलक उद्यम, ज्ञान, तप आदि की आराधना योग में समाविष्ट है। क्योंकि वे आत्मा को मोक्ष के साथ जोड़ते हैं। योग का अर्थ ही जोड़ने के साथ जुड़ा है। किन्तु यहाँ विशेष रूप से स्थान आदि से सम्बद्ध धर्मव्यापार को उद्दिष्ट कर योग को व्याख्यात किया जा रहा है।⁴⁵

लेखक जिस योग का वर्णन करना चाहते हैं उसके लिए उन्होंने केवल ‘‘ठाणाङ्गओ’’ पद का ही प्रयोग किया है। उपाध्याय यशोविजय जी ने ठाणाङ्गओ का अर्थ स्थान किया है। उपाध्याय यशोविजय जी द्वारा की गई व्याख्या के अनुसार यहाँ स्थानगत से ग्रन्थकार का अभिप्राय स्थान, आसन, ध्यान आदि से है।

आगे उन्होंने लिखा है कि योगतंत्र-योगशास्त्र में स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन तथा अनालम्बन योग के ये पाँच भेद प्रतिपादित हुए हैं। इनमें प्रारम्भ के दो कर्मयोग तथा बाद के तीन ज्ञानयोग में समाविष्ट हैं।⁴⁶

‘स्थीयते इति स्थानम्’ स्थान का अर्थ स्थित होता है। योग में आसन शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है, उसी अर्थ में स्थान का प्रयोग हुआ है। आसन के लिए स्थान शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। आसन का अर्थ बैठना है, किन्तु सभी आसन बैठकर नहीं किये जाते, वे भिन्न-भिन्न स्थितियों में किये जाते हैं। उन सब के लिए स्थान शब्द अधिक प्रयुक्त होता है। जैनशास्त्रों में आसन के लिए प्रायः ‘ठाण’ शब्द दृष्टिगोचर होता है।

‘ऊर्ण’ शब्द का अर्थ सामान्यतः ऊन है। यहाँ ऊर्ण शब्द का प्रयोग बहुत ही संक्षिप्त सूत्रात्मक शब्द समवाय के लिए किया गया है जिसका योगी अपनी एक विशेष भूमिका में समुच्चारण करता जाता है।

आज हमें इस प्रकार के प्रयोग का कोई रूप प्राप्त नहीं होता किन्तु इस उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसे संक्षिप्त पदात्मक सूत्र रहे हों, जिनके अव्यक्त उच्चारण, संस्मरण ध्यान में बहुत उपयोगी रहे हों। अर्थयोग का अभिप्राय विशिष्ट शब्दसमूह

45. योगविशिका - 1, पृ. 267

46. यशोविशिका - 2, पृ. 267

में गर्भित अर्थ के अवबोध का उद्यम-प्रयत्न है। ऐसा अनुमेय है कि योगसम्मत अन्तःप्रेरक शब्दविशेष का आशय अवबुद्ध करने का अन्तःप्रयत्न अन्तरात्मा में चलते रहने का कोई विशेष क्रम मान्य रहा हो जिससे साधना में संस्मृति का उदय हो। आलम्बन योग का अभिप्राय ध्यान में बाह्य आलम्बन या प्रतीक का आधार लेकर अभ्यासरत होना है। अनालम्बनयोग का अभिप्राय ध्यान में मूर्त पदार्थों का आलम्बन या सहारा न लेना है। यह ध्यान निर्विकल्पक, चिन्मय या समाधिमय होता है। इन पाँचों में से पहले और दूसरे को जो क्रियायोग कहा गया है उसका अभिप्राय यह है कि इन दोनों में क्रिया की प्रधानता रहती है। आगे के तीनों का संबंध चिन्तन एवं एकाग्रता के साथ है जो ज्ञान के विषय हैं। इनमें आलम्बन और अनालम्बन ये दोनों ज्ञानप्रसूत धर्मसाधना के परिचायक हैं।

लेखक ने इन पाँच में से प्रत्येक के इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता और सिद्धि के रूप में चार-चार भेद किये हैं जो इनके अधिकाधिक विकास के द्योतक हैं।⁴⁷

इस प्रकार योग के बीस भेद हो जाते हैं। जिनके स्थानादि योग होता है, जो उसमें अभ्यासरत रहते हैं उनका अनुष्ठान सदनुष्ठान है⁴⁸ प्रेम-प्रीति, भक्ति, आगम तथा असंगता के रूप में उसके चार भेद हैं⁴⁹ इन भेदों से अनुष्ठान की उत्तरोत्तर पवित्रता दिव्यता प्रतिफलित होती है।

जब साधक की योगाभ्यास में इतनी अधिक प्रीति उत्पन्न हो जाय कि उसे अन्य समस्त क्रियाओं की अपेक्षा उसी क्रिया में अत्यन्त उत्सुकतापूर्वक भाव से संलग्न रहने की मानसिकता बनी रहे तो उसे प्रीति अनुष्ठान कहा जाता है। साधक का आलम्बनात्मक विषय के प्रति अत्यन्त आदर बुद्धिपूर्वक तीव्रोत्साह के साथ संलग्न रहना, तत्संबंधी क्रिया में प्रयत्नशील रहना भक्ति अनुष्ठान है। आगम या शास्त्र वचन की ओर दृष्टि रखते हुए योगी का साधनानुरूप समुचित प्रवृत्तिशील होना आगमअनुष्ठान है। जब योगी के संस्कार साधना में दृढ़तापूर्वक समाहित हो जाँय या उनमें तन्मय हो जाँय और वैसा करते समय शास्त्र का स्मरण करने की कोई अपेक्षा

47. योगविशिका - 4, पृ. 269

48. वही, 17, पृ. 273

49. योग विशिका, 18, पृ. 273

ही न रहे, साधना जीवन में एकरसता को प्राप्त कर ले तब उसे असंगानुष्ठान कहा जाता है।

उपर्युक्त बीस भेदों में से प्रत्येक के ये चार-चार भेद होते हैं। इस प्रकार योग के कुल अस्सी भेद हो जाते हैं। ग्रन्थकार ने प्रस्तुत कृति के अन्त में लिखा है कि इसमें जो विवेचन किया गया है उसके अनुसार ध्यान के दो भेद हैं - सालम्बन तथा अनालम्बन। आलम्बन भी मूर्त तथा अमूर्त के रूप में दो प्रकार का है। मूर्त स्थूल एवं इन्द्रियगम्य है। अमूर्त सूक्ष्म होता है इसलिए वह इन्द्रियगम्य नहीं होता। सालम्बन ध्यान का अभ्यास मूर्त आलम्बन के आधार पर किया जाता है।

अनालम्बन ध्यान में अमूर्त आलम्बन होता है। मुक्तात्मा, सिद्ध परमेश्वर अमूर्त आलम्बन है। उनको ध्येय मानकर किया गया ध्यान, उनके गुणों से अनुभावित तथा सूक्ष्म इन्द्रियातीत होने से अनालम्बन योग कहा जाता है।

जब यह योग सिद्ध हो जाता है तब साधक मोहरूपी सागर को तैर जाता है। साधक क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होता है। परिणामस्वरूप उसके केवलज्ञान उद्भासित होता है। उसके मानसिक, वाचिक, कायिक प्रवृत्ति मात्र के अभाव रूप योग की सिद्धि हो जाती है। योगी अपनी साधना का अन्तिम लक्ष्य परम निर्वाण प्राप्त कर लेता है।⁵⁰

आचार्य हरिभद्र ने 'योगविशिका' में 'मोक्खेण जोयणाओ जोगो' लिख कर इस अमूल्य कृति का प्रारम्भ किया है जो अत्यन्त संक्षिप्त शब्दों में योग की व्यापक परिभाषा है।

उसके अनन्तर भेदोपभेदों का निरूपण किया है। योग द्वारा अयोग रूप परम साध्य को प्राप्त करने के रूप में इस कृति का पर्यवसान किया है। मात्र बीस गाथाओं में उन्होंने जितना जो कहा है वह गागर -में-सागर भरने जैसा है। 'योगविशिका' में स्थान, ऊर्ण आदि के रूप में जो विवेचन उन्होंने किया है वह इतना सूक्ष्म और गंभीर है कि उस पर स्वतंत्र रूप से शोध करने की आवश्यकता है। लेखक ने योग को जो अस्सी भेदों में विभक्त किया है वह उनकी सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है। इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता, सिद्धि एव प्रीति, भक्ति, आगम और असंगता के आधार पर उन्होंने भेदों की यह जो संरचना की है उसे हृदयंगम कर साधक योगसाधना में बड़ा सम्बल प्राप्त

कर सकता है, स्फूर्तिशील बन सकता है।

योगबिन्दु :

‘योगबिन्दु’ आचार्य हरिभद्र की संस्कृत में दूसरी कृति है। इसकी रचना 527 श्लोकों में हुई है। इसमें योग का स्वरूप, भेद, उसका माहात्म्य, अध्यात्म, लोक, प्रकृति, पूर्वसेवा, असदनुष्ठान - सदनुष्ठान का स्वरूप, भाग्य तथा पुरुषार्थ, ध्यान, समता, सास्रव एवं अनास्रव योग, जप, प्रतिक्रमण इत्यादि विषयों का जिनका योग से संबंध है, विश्लेषण हुआ है। योग के मुख्य अंग ध्यान के साथ इनका किसी-न-किसी रूप में संबंध है।

ग्रन्थकार ने योग को साधक के जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग माना है।

योग का माहात्म्य :

उन्होंने योग की महत्ता प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि योग श्रेष्ठ कल्पवृक्ष एवं उत्तम चिन्तामणि रत्न के समान है। जिन्हें कल्पवृक्ष एवं चिन्तामणि रत्न प्राप्त होता है उनकी सभी इच्छाएँ तत्क्षण परिपूर्ण हो जाती हैं, उसी प्रकार जो साधक योग को साध लेता है वह आत्मोत्कर्ष की दृष्टि से आसकाम हो जाता है। योग सब धर्मों में, धर्मारामनाओं में प्रमुखता लिये हुए है। यह सिद्धि, मुक्ति को गृहीत करने वाला है, अर्थात् मोक्ष का अनन्य हेतु है। जन्म-आवागमन रूप बीज के लिए, उसे जला डालने के लिए योग अग्नि के समान है। यह वार्धक्य का भी वार्धक्य है अर्थात् योगी कभी वृद्ध नहीं होता, वृद्धत्व से उत्पन्न होने वाला अनुत्साह, नैराश्य, दौर्बल्य, योगी में व्याप्त नहीं होता। दुःखों को मिटाने के लिए यह राजयक्ष्मा रोग के सदृश है और मृत्यु की भी मृत्यु है अर्थात् योगी की कभी मृत्यु नहीं होती, क्योंकि योग उसकी आत्मा को मोक्ष के साथ योजित करदेता है, जोड़ देता है।

योग रूपी कवच के द्वारा जब साधक अपने चित्त को आवृत कर लेता है तब तप को भी छिन्न - भिन्न कर देने वाले कामदेव के तीक्ष्ण बाण उससे टकराकर कुंठित हो जाते हैं, शक्तिशून्य और निष्प्राण हो जाते हैं। योग रूप दो अक्षर श्रवण करने वाले के पापों का विध्वंस हो जाता है।

जिस प्रकार अग्नि के योग से, अग्नि में तपाने से मलिनता युक्त स्वर्ण शुद्ध

हो जाता है उसी प्रकार योग रूपी अग्नि से अविद्या या अज्ञान से मलिन आत्मा शुद्ध हो जाती है।⁵¹

ग्रन्थकार ने योग का जो इतना वैशिष्ट्य अपने ग्रन्थ के प्रारंभिक भाग में बताया है, उसका यह आशय है कि लोग, जिज्ञासु पाठक एवं साधक इस ओर प्रवृत्त हों। जो इन्होंने योग की महत्ता का उल्लेख करते हुए लिखा है वह ज्यों-का-त्यों फलित हो सकता है यदि साधक निष्ठापूर्वक योग की आराधना करे।

आचार्य हरिभद्र ने 'योगबिन्दु' में पूर्व-सेवा के रूप में योगी के उन कर्तव्यों का उल्लेख किया है जो उसे योगसाधना में आने से पहले स्वायत्त कर लेने चाहिए। उन्होंने 'बिन्दु' के श्लोक 109 से 130 तक इस पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है। इसमें उन सब उत्तम कार्यों का उन्होंने विधान किया है, जो आध्यात्मिक और लौकिक कल्याण की दृष्टि से करणीय हैं। योगी के व्यक्तित्व में एक ऐसे सौजन्य, सौमनस्य, सौहार्द, आर्जव, मार्दव आदि का भाव समुत्पन्न हो कि वह आत्मश्रेयस् के साथ-साथ, जन-जन के लिए प्रेरणास्पद बन जाये।

आचार्य हरिभद्र ने 'योगबिन्दु' में ध्यान का लक्षण और उसके उत्तरोत्तरगामी पाँच भेदों का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि जो मोक्ष में जोड़ता है वह योग है। अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय उसके उत्तरोत्तर विकासोन्मुख चरण हैं।⁵²

ग्रन्थकार के अनुसार परम लक्ष्य मोक्ष है जहाँ आत्मा का कर्मरूप बन्धनों से छूटकारा हो जाता है। जो साधनाक्रम साधक को उसके परम लक्ष्य मोक्ष तक पहुँचाता है, मोक्ष के साथ समायुक्त, समायोजित करता है, वह योग है। उसकी फल-निष्पत्ति या सिद्धि क्रमशः अध्यात्म आदि पाँच रूपों में आगे-से- आगे प्रस्फुटित होती जाती है। अध्यात्म का अभिप्राय है संसारप्रवण भौतिक आकर्षण से छूटकर आत्मनिष्ठ होना। पुनः-पुनः उसमें अनुभावित होना भावना है। ध्येय पर एकाग्र होना ध्यान है। प्राणिमात्र, पदार्थ मात्र के साथ समत्व का भाव होना समता है तथा बाह्य वृत्तियों का, संचित कर्मों का क्षय कर शुद्धात्म भाव का लाभ वृत्तिसंक्षय है। यह साधक की एक

51. योग बिन्दु, 37-41, पृ. 90-91

52. योग बिन्दु, 31, पृ. 89

ऐसी अन्तर्यात्रा है जो उसके जीवन को सफल बना देती है। योग इस अन्तर्यात्रा का संवाहक है।

फिर उन्होंने तात्त्विक, अतात्त्विक, सानुबन्ध, निरनुबन्ध, सास्रव, अनास्रव के रूप में छह भेदों का निरूपण किया है।⁵³ यथाप्रसंग ध्यान का भी इस ग्रन्थ में वर्णन हुआ है। उन्होंने लिखा है कि शुभ प्रतीकों पर एकाग्र होना, उनका आलम्बन लेकर चित्त को स्थिर करना ध्यान है। वह स्थिर प्रदीप के दीपक की सुस्थिर ज्योति के समान प्रकाशमय होता है। साथ-ही-साथ वह सूक्ष्म एवं अन्तःप्रविष्ट आत्म चिन्तन से समायुक्त होता है। ध्यान के सध जाने पर वसिता, आत्मवसिता, आत्मनियंत्रण या जितेन्द्रियत्व सध जाता है और उसकी सब पर अक्षुण्ण प्रभावशीलता होती है, मानसिक स्थिरता निष्पन्न होती है। संसारानुबन्ध-भव-परम्परा, आवागमन का चक्र उच्छिन्न हो जाता है, उन्मुक्त भाव सिद्ध होता है।⁵⁴

आचार्य हरिभद्र सूरि महान् दार्शनिक और प्रकाण्ड पण्डित थे। जैन, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, बौद्ध, मीमांसा आदि लगभग सभी भारतीय दर्शनों पर उनका असाधारण अधिकार था। यही कारण है कि उन्होंने 'योगबिन्दु' में योग साधना के संदर्भ में आत्मा, परमात्मा, मोक्ष इत्यादि विषयों का विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों से विवेचन किया है। इससे विषय की तात्त्विक पृष्ठभूमि परिपुष्ट होती है। क्योंकि साधना, अभ्यास या क्रिया तत्त्वबोध या तत्त्वदर्शन से परिपुष्ट होकर विशेष ऊर्जस्वल बन जाती है।

पञ्चाशक प्रकरण :

आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'पञ्चाशक प्रकरण' में दसवें उपासक प्रतिमाविधि पञ्चाशक में कायोत्सर्ग प्रतिमा का स्वरूप बताते हुए कहा है कि चार प्रतिमा विधि का ज्ञाता श्रावक अष्टमी और चतुर्दशी में सम्पूर्ण रात्रि कायोत्सर्ग प्रतिमा में स्थित रहे और कषायों को जीतने वाले और त्रिलोकपूज्य जिनों का ध्यान करे अथवा अपने रागादि दोषों की आलोचना रूप ध्यान करे। इस प्रतिमा का उत्कृष्ट काल पाँच माह है।⁵⁵

इसी ग्रन्थ के उन्नीसवें तपोविधि पञ्चाशक में आभ्यन्तर तप के अन्तर्गत ध्यान

53. योग बिन्दु, 32, पृ. 89

54. वही, 362-363, पृ. 181

55. पंचाशक प्रकरण 10-17-19

का उल्लेख किया गया है।⁵⁶

चित्त की एकाग्रता ध्यान है। आर्त, रौद्र, धर्म, शुक्ल ये चार भेद हैं। इनमें से प्रथम दो संसार के और अन्तिम दो मोक्ष के कारण हैं, इसलिए अन्तिम दो ही ध्यान रूप तप हैं।

आचार्य हरिभद्र सूरि कृत योगग्रन्थों का परिशीलन - पर्यवेक्षण करने पर ज्ञात होता है कि उन्होंने 'ध्यान योग' के विकास में एक नये अध्याय का सूत्रपात किया। हरिभद्र का योगविषयक वर्गीकरण पूर्ववर्ती जैन साहित्य में प्राप्त नहीं है। अन्य योगग्रन्थों से भी उन्होंने उधार नहीं लिया है बल्कि योग की पद्धतियों और परिभाषाओं का जैन पद्धतियों से समन्वय स्थापित कर जैनयोग के विकास में एक नयी दिशा प्रदान की है। जैन और योग परम्परा के संयुक्त प्रभाव से उन्होंने वर्गीकरण की योजना की है।

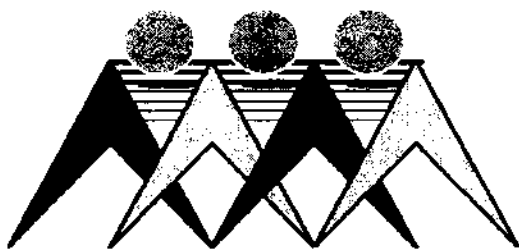
जैन परम्परा में योग शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग आचार्य हरिभद्र सूरि द्वारा किया गया है। उन्होंने योग को परिभाषित करते हुए कहा है कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए जो धर्मक्रिया अथवा विशुद्ध व्यापार किया जाता है, वह धर्मव्यापार योग है।

अपने योग - ग्रन्थों में विभिन्न साधना पद्धतियों का उन्होंने समन्वय किया है। इस समन्वय में उन्होंने जैन साधना पद्धति के चरणों 14 गुणस्थानों का महर्षि पतंजलि की तथा अन्य यौगिक पद्धतियों के साथ तुलनात्मक स्वरूप प्रस्तुत किया है। अपने सर्वग्राही दृष्टिकोण से उन्हें स्वीकृत कर जैन साधना पद्धति का विकास किया है। पतंजलि ने अष्टांग योग की पद्धति बतलायी तो आचार्य हरिभद्र सूरि ने 'योगदृष्टिसमुच्चय' में आठदृष्टियों का निरूपण कर उनकी अष्टांग योग से तुलना की। पतंजलि के योगदर्शन में समाधि के दो प्रकार निरूपित हैं - सम्प्रज्ञात समाधि और असम्प्रज्ञात समाधि। आचार्य हरिभद्र सूरि ने योग के पाँच प्रकार बतलाये - अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय। प्रथम चार प्रकारों की तुलना सम्प्रज्ञात समाधि से और अंतिम की तुलना असम्प्रज्ञात समाधि से की गई है।

इस प्रकार आचार्य हरिभद्र सूरि ने पतंजलि के योगदर्शन की परिभाषाओं का जैनीकरण किया। तुलना करने के लिए उन्होंने नये शब्दों को गढ़ा और दोनों में सामंजस्य स्थापित किया।

56. वही, 19.3

अतः हम कह सकते हैं कि उन्होंने युग परिवर्तन के साथ - साथ बदलते हुए मानस को समझा और चाहा कि प्राचीन साधनाक्रमों को विस्तार दिया जाए। युगीन अपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए आचार्यश्री ने कुछ नये प्रयोग किये। नई दिशाएँ और साधकों के लिए विकास की नई भूमिकाएँ प्रदान कीं। आचार्य हरिभद्र सूरि से पहले वीर निर्वाण की तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक ध्यान की मौलिक पद्धति प्रतिपादित होती रही, जो महावीर के युग में प्रचलित थी। उनके रहस्य विस्मृत हो गये थे और विस्तार कम हो गया था और जो चल रहा था उसका नया संस्करण नहीं हुआ था। आचार्य हरिभद्रसूरि ने जैन साधना पद्धति का नया संस्करण कर जैन परम्परा में योग की नयी धारा प्रवाहित की अर्थात् उसका विकास किया।



खण्ड : - षष्ठ

आचार्य शुभचन्द्र, भास्करनन्दि व

सोमदेव के साहित्य में ध्यानविमर्श

- आचार्य शुभचन्द्र : ज्ञानार्णव -
ध्यानयोग - ध्यानसिद्धि-साध्यता/ असाध्यता द्वादश भावनाएँ -
ध्यान का स्वरूप - ध्याता की योग्यता - ध्यान के भेद- मैत्री,
प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ्य भावना, ध्यानयोग्य स्थान, आसन,
प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा - समुद्घात प्रक्रिया।
त्रितत्त्व - शिव, गरुड़, कामतत्त्व।
- आचार्य भास्करनन्दि : ध्यानस्तव
- आचार्य सोमदेव कृत : योगमार्ग
- आचार्य सोमदेव कृत : यशस्तिलकचम्पू

खण्ड - षष्ठ

आचार्य शुभचन्द्र, भास्करनन्दि व
सोमदेव के साहित्य में ध्यानविमर्श

आचार्य शुभचन्द्र :

जैन परम्परा के सुप्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी अध्यात्मयोगी महान् कवि आचार्य शुभचन्द्र रचित 'ज्ञानार्णव' जैनयोग वाङ्मय में प्रतिष्ठापन महनीय कृति है। ध्यान, आत्मा के ज्ञानगुण को समग्र रूप में प्रकट करने वाला है अतएव ध्यान और ज्ञान का कार्य-कारण भाव के रूप में अविच्छिन्न सम्बन्ध है। आचार्य ने अपने इस ध्यानप्रधान शास्त्र को ज्ञान विषय का ग्रन्थ मानकर इसे 'ज्ञानार्णव' नाम दिया है। विषय की अपेक्षा यह ध्यान का समुद्र ही है। इसमें ध्यान के सभी पक्षों का एवं उसके सहयोगी साधनों का विस्तृत वर्णन हुआ है। स्वयं आचार्य ने भी इसे 'ध्यानशास्त्र'¹ कहा है।

आचार्य शुभचन्द्र जैनविद्या में परम निष्णात थे, बड़े ही तितिक्षापरायण साधक थे और अध्यात्मयोग के विवेचक थे। इसके अतिरिक्त वे जन्मजात विलक्षण प्रतिभा के धनी कवि भी थे। उन्होंने 'ज्ञानार्णव' में ध्यान साधना सम्बन्धी निगूढ़ विषयों का सरस काव्यात्मक शैली में जो विवेचन किया है वह वास्तव में उनकी उर्वरा कवित्वशक्ति का परिचायक है। ध्यानशास्त्र लिखते हुए भी सम्भवतः उनके मन में महाकाव्यत्व का उन्मेष रहा हो। 'सर्गबन्धो महाकाव्यम्'² के अनुसार महाकाव्य की रचना सर्गबद्ध होती है। 'ज्ञानार्णव' का विभाजन भी सर्गों के रूप में है। यह 42 सर्गों में रचा गया एक महाकाव्यात्मक ध्यानयोग विषयक अद्भुत ग्रन्थ है। इसमें भाषा की प्रौढ़ता के साथ - साथ प्रसाद एवं माधुर्य गुण का भी अद्भुत समन्वय है। जिस किसी विषय

1. ज्ञानार्णव 42.87

2. साहित्यदर्पण 6.315

को उन्होंने निरूपणार्थ गृहीत किया है उसका बड़े ही सुन्दर आकर्षक एवं सुष्ठु रूप में पर्यवसान भी किया है। आचार्य ने अपने इस ग्रन्थ में पद्यात्मक शैली के साथ-साथ गद्यात्मक शैली का प्रयोग भी किया है। उनके पद्यों में सरसता है, प्रवाह है। भाषा विषय को सहज रूप में अपने में समेटे हुए सरिता की थिरकती हुई लहर की तरह गतिशील है। इसमें अनुष्टुप, मालिनी, शिखरिणी, इन्द्रवज्रा, स्रग्धरा इत्यादि विविध छन्दों का प्रयोग हुआ है। गद्य में प्रौढ़ता, शब्द-सौष्ठव और भाव गांभीर्य है।

आचार्य शुभचन्द्र का जन्म कहाँ हुआ ? मुनिजीवन में वे कहाँ, कैसे दीक्षित हुए ? उनका जीवन किन-किन क्षेत्रों में किस-किस प्रकार व्यतीत हुआ ? इत्यादि ऐतिहासिक तथ्य प्रामाणिक रूप में आज प्राप्त नहीं हैं। उन्होंने अपने इस महान् ग्रन्थ में अपने सम्बन्ध में परिचयात्मक दृष्टि से कुछ भी नहीं लिखा। लगता है, उन्होंने अपने ध्यानयोग विषयक कृतित्व को ही अपना परिचय माना।

भारतवर्ष के प्राचीन अनेकानेक तपःपूत मनीषियों, ऋषियों और ग्रन्थकारों के सम्बन्ध में हमें प्रायः ऐसा ही दृष्टिगोचर होता है। इससे यह प्रकट होता है कि वे महापुरुष अत्यन्त निःस्पृह थे। लोकैषणा के प्रति उनमें जरा भी आकर्षण नहीं था। सम्भवतः इसी कारण ऐसा होता रहा। यह उन महापुरुषों की तितिक्षावृत्ति का द्योतक है। किन्तु साहित्यिक अनुसंधाताओं के लिए इससे प्राचीन साहित्य स्रष्टाओं के इतिहास को जानने और प्रकट करने में कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। वे आगे-पीछे के विद्वानों के ग्रन्थों के आधार पर विविध रूप में काल आदि निर्णय के सम्बन्ध में कल्पना करते हैं। आचार्य शुभचन्द्र के सम्बन्ध में भी विद्वानों ने अनेक प्रकार से कल्पनायें की हैं। कुछ विद्वान् इन्हें धारानरेश महान् संस्कृत-सेवी महाराज भोज का समसामयिक मानते हैं, महान् योगी भर्तृहरि के साथ भी इनका नाम जोड़ा जाता है। भर्तृहरि भी भारतीय इतिहास के एक लोकप्रिय व्यक्तित्व हैं। सम्भवतः इस नाम के अनेक व्यक्ति हुए हों। एक बात अवश्य ध्यान देने योग्य है कि भर्तृहरि के 'वैराग्यशतक' तथा शुभचन्द्र के 'ज्ञानार्णव' में अनेक पद्य समरूप मिलते हैं। इससे ऐसा अनुमान करना असंगत नहीं होगा कि 'वैराग्यशतक' के प्रणेता के साथ उनका कुछ - न - कुछ सम्बन्ध रहा हो।

ग्रन्थ के मंगलाचरण के सोलहवें श्लोक में उन्होंने आचार्य जिनसेन का आदरपूर्वक स्मरण किया है। इससे प्रकट होता है कि वे जिनसेन के पश्चात्कर्त्तृ थे।

आचार्य जिनसेन का समय प्राप्त प्रमाणों के अनुसार ईसवी सन् 898 माना जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि आचार्य शुभचन्द्र 9वीं शताब्दी के पश्चात् हुए। किन्तु कितने पश्चात् हुए, कब हुए ? इस सम्बन्ध में परिपुष्ट प्रमाण नहीं मिलते। विद्वानों ने विविध रूपों में ऊहापोह कर इनका समय 11वीं एवं 12वीं शताब्दी निश्चित करने का प्रयास किया है।

आचार्य हेमचन्द्र के 'योगशास्त्र' एवं आचार्य शुभचन्द्र के 'ज्ञानार्णव' का यदि तुलनात्मक परिशीलन किया जाय तो ऐसा लगता है कि इन दोनों के समय के बीच कोई लम्बा व्यवधान संभव नहीं है। पिण्डस्थ ध्यान की धारणायें आदि अनेक विषय ऐसे हैं जिनमें वर्णित तथ्य दोनों ही ग्रन्थों में अपनी - अपनी शैली के अनुसार एकरूपता लिये हुए हैं।

ऐसा सम्भव है कि 'ज्ञानार्णव' और 'योगशास्त्र' की रचना के समय भारतवर्ष में साधना के क्षेत्र में योग का विशेष रूप से प्रसार रहा हो। दिगम्बर परम्परा में आचार्य शुभचन्द्र ने और श्वेताम्बर परम्परा में आचार्य हेमचन्द्र ने जैनयोग के रूप में अपने-अपने क्षेत्रों में इसे उद्भावित किया हो। अध्यात्मयोग की साधना की दृष्टि से दिगम्बर और श्वेताम्बर आम्नायों में मौलिक अन्तर नहीं है।

आचार्य शुभचन्द्र ने अपने ग्रन्थ में उन विषयों की भी विशेष रूप से चर्चा की है जिनसे प्रेरित होकर साधक सात्त्विक आचार की भूमिका स्वीकार कर सके। यही कारण है कि सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान आदि का विवेचन करते हुए उन्होंने अहिंसादि महाव्रतों का विवेचन किया है। आचार्य ने ब्रह्मचर्य पर अत्यन्त जोर दिया है ताकि साधक उससे कदापि न डिगे। इसलिए उन्होंने उसे विविध रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इस सन्दर्भ में उन्होंने बारहवें, तेरहवें, चौदहवें सर्ग में स्त्रीस्वरूप, स्त्री-संसर्ग आदि की विस्तार से चर्चा की है। स्त्री के सम्बन्ध में जो उद्गार उन्होंने प्रकट किये हैं, तदनुसार स्त्री का सर्वथा परिहेयत्व सिद्ध होता है। अतएव कुछ विद्वानों द्वारा ऐसी आलोचना की जाती है कि उन्होंने जो स्त्री की निन्दा की है वह कहाँ तक संगत है, यह विचारणीय है। स्त्री के उस दिव्य, पवित्र आदर्श रूप को जो राजीमती तथा चन्दनबाला आदि अनेक महासतियों में व्यक्त था, वे क्यों भूल गये ? इस सम्बन्ध में यदि गहराई से विचार करें तो हमें आचार्य शुभचन्द्र के अत्यन्त

विरक्ति, तितिक्षा एवं अनासक्तिपूर्ण स्वरूप को ध्यान में रखना होगा। उन्होंने स्त्री का जिन शब्दों में चित्रण किया है वह स्त्री मात्र को लक्षित कर नहीं है। वह स्त्री के उस स्वरूप को लेकर है, जिसमें नितान्त भोगासक्ति संपृक्त रहती है। ब्रह्मचर्य का रक्षण तो नवबाड़ों और एक परकोटे के साथ किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य-परिरक्षण में पग-पग पर जागरूकता एवं सावधानी की आवश्यकता है।

जब किसी पदार्थ को विषय से पृथक् करना अत्यन्त आवश्यक होता है तब मेधावी उपदेष्टा, कुशल ग्रंथकार आचार्य आदि गुरुजन उस पदार्थ या विषय को अत्यन्त जुगुप्सापूर्ण एवं निन्दनीय बतलाते हैं। वहाँ भावावेशवश वर्णन में घृणा को अतिशय रूप दिया जाता है। वहाँ उन उपदेशकों का आशय उपलक्षित विषय की निन्दा करना न होकर, साधकों को पतन की भावी आशंकाओं से उबारना होता है।

आचार्य शुभचन्द्र वीतरागभावोपासक मुनि थे, महान् तत्त्ववेत्ता थे और जैसा पहले कहा गया है विलक्षण प्रतिभासम्पन्न महान् कवि थे। यही कारण है कि स्त्री आदि के वर्णन में उनके व्यक्तित्व में स्थित तत्त्वज्ञानी मुखरित नहीं है वरन् वहाँ विद्यमान उनका कवि निर्बाध रूप में विषय-वैशद्य हेतु काव्यमयी सरिता का सम्प्रवाह करता है। काव्य, दर्शन नहीं है, किन्तु वह भाव-मन्दाकिनी का संवाहक है। यही कारण है कि आचार्य शुभचन्द्र का वह वर्णन बीभत्स रस का प्रखर प्राकट्य लिये हुए है। वस्तुतः स्त्री जाति के प्रति उनके मन में घृणा भाव रहा हो, ऐसा नहीं माना जा सकता।

आचार्य शुभचन्द्र महान् ज्ञानी होने के साथ-साथ बड़े व्यवहारवेत्ता भी थे। समाज किस प्रकार सत्संस्कार-सम्पन्न हो, जिससे धर्म की आराधना में वह सदा उन्मुख बना रहे, इस ओर भी इनका विशेष ध्यान था। शैशव, यौवन, वार्द्धक्य इन तीनों ही अवस्थाओं में से प्रत्येक व्यक्ति को गुजरना पड़ता है। जीवन में वृद्धावस्था वह समय है जब व्यक्ति को दैनंदिन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए औरों का सहयोग वांछित होता है। क्योंकि वृद्धावस्था में दैहिक शक्तियाँ क्षीण होती जाती हैं, ऐसी भी दुखद स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं कि वृद्धजनों ने अपने जिस परिवार का निरन्तर श्रमपूर्वक परिपोषण, संवर्द्धन एवं विकास किया; वे पारिवारिक सदस्य ही सब भूल जाते हैं, वृद्ध उपेक्षित बन जाते हैं। एक स्वस्थ सात्त्विक समाज में ऐसा कदापि नहीं होना चाहिए। ऐसा होना घोर कृतघ्नता है। यह सब ध्यान में रखते हुए ग्रन्थकार ने अपने

ग्रन्थ के 15 वें सर्ग में वृद्धसेवा की ग्राह्यता पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है। उन्होंने सर्ग के प्रारम्भ में ही लिखा है - ऐसा करने वाले के ऐहिक और पारलौकिक दोनों विशुद्ध-सिद्ध हो जाते हैं। उसके भावों में तत्क्षण शुद्धता का समावेश हो जाता है। उसके विद्या और विनय की वृद्धि होती है।

जो पुरुष वृद्धजनों की सेवा करते हैं उनकी कषाय रूपी अग्नि रागादिसहित शान्त हो जाती है। उनके चित्त में प्रसन्नता या निर्मलता का आविर्भाव होता है।³

आचार्य शुभचन्द्र साधक के व्यक्तित्व को आचार तथा दैनंदिन व्यवहार की दृष्टि से परिष्कृत और परिमार्जित रूप में देखना चाहते थे। क्योंकि व्यक्तित्व में इस प्रकार की सात्त्विकता या निर्मलता आये बिना ध्यान-साधना की पवित्र भूमि पर पहुँच पाना निश्चय ही कठिन होता है।

आचार्य ने केवल ध्यानविषयक सिद्धान्तों की पांडित्यपूर्ण शैली में विवेचना करना ही पर्याप्त नहीं समझा वरन् उनका अभिप्रेत यह था कि लोग उनके इस ध्यानयोग विषयक महान् ग्रन्थ से प्रेरित होकर जीवन में उन सिद्धान्तों के अनुरूप ध्यान की आराधना कर प्रशान्त भाव का साक्षात्कार करें। क्योंकि वही जीवन का परम लक्ष्य या प्राप्य है।

इसी क्रम में आगे 16वें सर्ग में परिग्रह-त्याग का बड़ा ही मार्मिक विश्लेषण किया है। क्योंकि इस संसार में धन, वैभव, ऐश्वर्य, सम्पत्ति आदि के रूप में परिग्रह एक ऐसा आकर्षण है जिससे छूट पाना बहुत कठिन है। जीवन को अशाश्वत या क्षणभंगुर मानता हुआ भी, विपुल सम्पत्ति का स्वामी होकर व्यक्ति परिग्रह की अतृप्त पिपासा में अहर्निश इतना बँधा रहता है कि उससे वह छूट नहीं पाता। ध्यान-साधना तो वह विषय है जहाँ आत्म व्यतिरिक्त सभी भावों या परभावों से छूटना नितान्त आवश्यक है। उस ओर से साधक का ध्यान हटे, महान् उपदेशक इसलिए वैसे विषयों की परिहेयता का विशेष रूप से प्रतिपादन करते हैं। आचार्य शुभचन्द्र ने परिग्रह की हेयता का वर्णन करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार नौका में पाषाण आदि का अत्यधिक भार लाद देने से गुणवान-गुण या रज्जू से बद्ध नौका भी समुद्र में डूब जाती है, उसी प्रकार परिग्रह के भार से संयमी साधक भी जन्म-मरणमय संसार-सागर में निमग्न हो जाता है।⁴

3. ज्ञानार्णव 15.1-2

4. वही, 16.1

आगे ग्रंथकार ने परिग्रह के बाह्य और अंतरंग भेदों की चर्चा की है। स्वजन, धन-धान्य, स्त्री-पुत्र, परिजन, विविध-सम्पत्ति, आभरण आदि बाह्य परिग्रह हैं।⁵

पदार्थ, सत्त्वविषयक भोगोपभोग सम्बन्धी आन्तरिक मोह एवं आकर्षण, आन्तरिक परिग्रह में परिगणित हैं। आचार्य ने प्रस्तुत सर्ग में साधक को परिग्रहत्याग का बड़े ही मार्मिक शब्दों में उपदेश दिया है।

आगे उन्होंने पंच समितियों का स्वीकरण, कषायों का त्याग, इन्द्रिय-जय का अभ्यास, इत्यादि का विवेचन किया है जो पठनीय है।

इन सबके परिसेवन से साधक के व्यक्तित्व में मूलतः वैसी योग्यता निष्पन्न हो जाती है कि वह ध्यान - साधना में निःशंक समुद्यत और संलग्न हो सकता है।

‘ज्ञानार्णव’ का मुख्य विषय ध्यानयोग है। अतएव ग्रंथकार ने ध्यान के सम्बन्ध में उन सभी विवेच्य विषयों का सांगोपांग निरूपण किया है जिससे साधक तद्विषयक योग्यता प्राप्त कर सके।

ध्यानसिद्धि : साध्यता - असाध्यता :

मनीषियों, चिन्तकों एवं ग्रंथकारों के भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से अपने-अपने विशिष्ट दृष्टिकोण होते हैं, जिनके अनुसार वे अपनी रचनाओं में अभीष्ट विषयों का प्रतिपादन करते हैं।

यहाँ हम आचार्य हेमचन्द्र और आचार्य शुभचन्द्र की निरूपण विद्या पर कुछ चिन्तन करें तो ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य शुभचन्द्र की दृष्टि में साधना का परमोत्कृष्ट रूप लक्षित रहा। आचार्य हेमचन्द्र ने साधना के वैसे रूप को उद्दिष्ट कर अपनी लेखनी चलायी जो सर्वसाधारण द्वारा स्वीकार करने और निर्वाह करने योग्य हो। पहले यह कहा जा चुका है कि अपने अनुयायी, गृही शिष्य राजा कुमारपाल की अभ्यर्थना पर उन्होंने ‘अध्यात्मोपनिषद्’ के रूप में ‘योगशास्त्र’ की रचना की। एक राजा का जीवन सांसारिकता में कितना ग्रस्त होता है, यह सर्व विदित है। जब कुमारपाल ने चाहा कि अपना राजकीय जीवन व्यतीत करते हुए, राज्योचित उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हुए भी वे अध्यात्मयोग की साधना पर अग्रसर हो सकें

तब आचार्य हेमचन्द्र ने राज-काज में संलग्न राजा द्वारा अध्यात्मयोग के अभ्यास को असम्भव नहीं माना। उन्होंने 'योगशास्त्र' की रचना की। ध्यान आदि के शास्त्रगत, अनुभव गत अनेक रूपों का प्रकटीकरण किया। व्रतमय सदाचारमय जीवन अपनाते हुए ध्यान के मार्ग पर आगे बढ़ने का पथदर्शन दिया।

आचार्य हेमचन्द्र यह मानते थे कि यद्यपि एक राजा का या गृहस्थ का जीवन अनेक लौकिक समस्याओं में उलझा रहता है, किन्तु यदि वह अपने सभी कार्यों का आसक्तिशून्य होकर निर्वाह करता जाय तो वे कार्य उसके लिए भार - रूप नहीं होते; तभी तो गीताकार ने अनासक्ति भाव से किये जाने वाले कर्तव्य कर्मों को करने वाले पुरुष को कर्मयोगी की संज्ञा दी है।⁶

योगिराज श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को सम्बोधित कर कहा गया, 'तस्माद् योगी भवार्जुन।' यह आदेश अर्जुन को संन्यासी बनने का उपदेश नहीं था वरन् अनासक्त भाव से, अलिप्त दृष्टि से कर्तव्य कर्म करते हुए आत्मनिष्ठ रहने का संदेश था।

साधना का मार्ग निश्चय ही बड़ा कठोर है किन्तु जब साधक का आत्मपराक्रम प्रस्फुटित हो जाता है तो उसके लिए संसार में कुछ भी कठिन नहीं रह जाता। यद्यपि एक मुनि या संन्यासी के लिए, सांसारिक बन्धनों से पृथक्-विमुक्त होने के कारण साधना पथ पर आगे बढ़ने की अत्यधिक सुविधा और अनुकूलता रहती है किन्तु आत्मबल का धनी गृहस्थ भी विभिन्न अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में रहता हुआ भी उनसे अप्रभावित रह सकता है। इतना अवश्य है कि वह अध्यात्मयोग की साधना में वैसी उत्कृष्ट स्थिति तक पहुँच पाने में समर्थ नहीं होता जिस प्रकर्षपूर्ण अवस्था में एक मुनि पहुँच सकता है क्योंकि मुनि का आत्म- पराक्रम अधिक उन्नत और विकसित होता है।

आचार्य हेमचन्द्र साधारण से असाधारण की ओर आगे बढ़ती साधना में विश्वास रखते थे और मानते थे कि एक गृहस्थ जितना गृही जीवन में शक्य है, उस सीमा तक ध्यानयोग की साधना में अग्रसर हो सकता है। इस जीवन के संस्कारों के कारण वह आगे के भव में उच्चतम ध्यानयोग भी सिद्ध कर लेता है। यहाँ हमें आचार्य हरिभद्र द्वारा किये गये भोगियों के भेदों में कुलयोगी के भेद पर गौर करना होगा।

6. श्रीमद् भगवद् गीता

जैसा कि उन्होंने बताया है कि जो साधक अपने वर्तमान जीवन में साधना को परिपूर्ण नहीं कर पाता, देह त्याग कर देता है, आगामी भव में उसे जन्म से ही योग के संस्कार प्राप्त होते हैं। वह जन्मजात योगी होता है।

आचार्य शुभचन्द्र भी यह मानते हैं कि गृहस्थ अवस्था में ध्यान साधना हो ही नहीं सकती, ऐसी बात नहीं है। वे एक प्रबुद्ध जैन सिद्धान्तवेत्ता मनीषी थे। सागर और अनगर साधना पद्धति की सम्पूर्णता और आंशिकता की उपादेयता जानते थे। किन्तु उनकी दृष्टि में ध्यान साधना का अति उत्कृष्ट रूप परिलक्षित था। जिसको प्राप्त करने में अत्यधिक आत्मस्थता की आवश्यकता होती है। सामान्यतः गृही जीवन में वैसी आत्मस्थता उनके अनुसार फलित नहीं हो पाती। यही कारण है कि उन्होंने चौथे अध्याय में इस बात पर बहुत जोर दिया है⁷ कि गृहस्थ जीवन में मनुष्य के समक्ष अनेक बाधाएँ विद्यमान होती हैं। वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, व्यावसायिक आदि अनेक सम्बन्धों से वह जुड़ा रहता है। न केवल अपनी ही वरन् अनेक सम्बद्ध जनों की अनुकूलताओं-प्रतिकूलताओं से वह प्रभावित रहता है। इसलिए यह संभव नहीं हो पाता कि वह ध्यानसिद्धि प्राप्त कर सके। इन स्थितियों का ग्रंथकार ने अपनी शैली में अपने शब्दों में विस्तृत वर्णन किया है।

इसी आशय को आचार्य ने चुनौतीपूर्ण शब्दों में यहाँ तक कह डाला है कि आकाश में पुष्प अंकुरित नहीं होता, गधे के सींग नहीं होते कदाचित् वैसा हो भी जाय तो भी गृहस्थावस्था में ध्यान की सिद्धि किसी भी देश या काल में संभव नहीं है।⁸

यहाँ आचार्य ने ध्यानसिद्धि शब्द का प्रयोग किया है, उस पर गौर करना आवश्यक है। ध्यानसिद्धि की समग्र या परिपूर्ण स्थिति तब आती है, जब व्यक्ति केवल धर्मध्यान तक ही न रहकर शुक्लध्यान तक पहुँच सके। यह सच है कि गृहस्थ जीवन में रहते हुए यह कभी सम्भव नहीं। इतने तीव्र और किसी अपेक्षा से कड़े शब्दों में यों निरूपित किये जाने के पीछे ग्रंथकार का संभवतः ऐसा आशय परिलक्षित होता है कि गृहस्थी में रहने वाले लोग उस ओर की आसक्तियों और आकर्षणों से छूटें। ग्रंथकार का यह निरूपण भी सार्थकता लिये हुए है कि मुनि या संन्यासी के जीवन

7. ज्ञानार्णव 4.7-16

8. वही, 4.17

में ही सहजतया वैसी अनुकूलताएँ प्राप्त हो सकती हैं जिनसे ध्यानयोग की साधना सहज रूप में क्रमशः आगे बढ़ सकती है। वैसी अनुकूलतायें गृहस्थ जीवन में बहुत प्रयत्न करने पर भी उपलब्ध नहीं होतीं।

आचार्य शुभचन्द्र यह जानते थे कि संसार के सभी लोग वैराग्यप्रसूत संन्यस्त जीवन, मुनिजीवन अपना लें यह संभव नहीं है। किन्तु मुनिजीवन की ओर विशेष जोर देकर प्रेरित करना वे आवश्यक मानते थे।

जैसा ऊपर विवेचन किया गया है कि ग्रंथकार का ध्यानसिद्धि से अभिप्राय परमोत्तम ध्यानावस्था प्राप्त कर लेने से है। आचार्य शुभचन्द्र तो महा कवि थे। विलक्षण शब्द शिल्पी थे, उनके आशय को केवल अभिधा शक्ति से न समझकर लक्षणा व व्यंजना से समझा जाना वांछनीय है।

इस विवेचन का लक्षणालभ्य अभिप्राय यही है कि यदि कोई गृही सम्पूर्णतः ध्यानसिद्धि प्राप्त करना चाहता है तो उसे संसार-त्याग का साहस करना ही होगा, अन्यथा अपने एक जन्म में वह ध्यान की समग्रता को आत्मसात् नहीं कर पायेगा। सामान्य रूप में तो ध्यान का अभ्यास व्यक्ति कर ही सकता है यदि उसकी दृष्टि सम्यक् हो और उसका ज्ञान तदनु रूप हो।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि आचार्य हेमचन्द्र का दृष्टिकोण सार्वजनिकता पर विशेष रूप से आधारित है जबकि आचार्य शुभचन्द्र की दृष्टि में साधना का असाधारण या उत्कर्ष रूप उद्दिष्ट है।

ध्यान-साधना का सम्बन्ध आत्मशुद्धि, आत्मबल, आत्मपराक्रम, आत्मोत्साह के साथ है। गृहस्थ जीवन में वैसी स्थिति कठिनाई से सध पाती है। अतएव ग्रंथकार ने गृही साधक को ध्यान की उच्चस्तरीय योग्यता का अधिकारी नहीं माना किन्तु मुनित्व स्वीकार कर लेने पर ध्यानसिद्धि का कोई सर्वथा अधिकारी हो जाता है, यह तथ्य भी वे स्वीकार नहीं करते। यदि किसी मुनि में मुनित्व धर्म के सम्पूर्ण लक्षण घटित होते हैं, वह संयम की अनवच्छिन्न साधना में संलग्न रहता है तभी वह वस्तुतः मुनि कहे जाने योग्य है। यह ध्यानसिद्धि का अधिकारी है। यदि संयमपूर्ण पुरुषार्थ एवं आत्मशक्ति उनमें नहीं होती तो वह मुनि कहलाने पर भी ध्यानसिद्धि का अधिकारी

नहीं होता। मुनित्व केवल मुनि शब्द में ही गर्भित नहीं है। वह तो तदनुरूप विशुद्ध चर्या में सन्निहित है। अतएव ग्रंथकार ने इस सम्बन्ध में बड़े स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन करते हुए कहा है - ध्यानतंत्र में अर्थात् ध्यान विषयक सिद्धान्त ग्रंथों में केवल मिथ्यादृष्टियों के ध्यान न सधने की बात नहीं कही गई है, किन्तु जिनेन्द्रदेव की आज्ञा के जो प्रतिकूल चलते हैं, जिनका चित्त चंचल है, वैसे मुनियों के भी ध्यानसिद्धि का निषेध किया गया है। यदि किसी मुनि के जो कर्म में है वह वचन में नहीं है, जो वचन में है वह कर्म में नहीं है, जिसकी कथनी और करनी में समानता नहीं है; कर्म और वचन के अनुसार जिसके चित्त में नहीं है अर्थात् जिसके मन, वचन और कर्म में विसंगति है ऐसा मुनि ध्यानपदवी-ध्यानसिद्धि नहीं पा सकता। जो मुनि होकर भी परिग्रह रखते हैं उससे अपने आपको महत्त्वपूर्ण मानते हैं, निष्परिग्रही साधुओं को लघु या हल्का मानते हैं, उनका जीवन प्रवञ्चनामय है। शील को तुच्छ समझने वाले, अहंकार से उद्यत बने हुए, संयम की धुरा-महान् दायित्व को स्वीकार कर त्याग दिया है जिन्होंने, जो धैर्यविहीन हैं, उनका मन ध्यान करने में कैसे सक्षम हो सकता है। क्योंकि हीन प्रवृत्तियुक्त, मदोन्मत्त, धैर्यरहित जनों में ध्यान की योग्यता नहीं होती। जो मुनि यश, प्रतिष्ठा और अभिमान में आसक्त हैं तथा लोकयात्रा से प्रसन्न होते हैं, अर्थात् जिनमें लोकैषणा की वृत्ति व्याप्त है उन्होंने अपने ज्ञान रूपी नेत्र को विलुप्त कर डाला है, उनमें ध्यान की योग्यता घटित नहीं होती। जिन्होंने अपने अन्तःकरण की शुद्धि के लिए मिथ्यात्व रूपी भीषण विष का वमन नहीं किया है, मिथ्यात्व को विध्वस्त नहीं किया है वे तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को नहीं जान सकते। वे ध्यान के योग्य नहीं हैं। कतिपय मुनि यों कहकर ध्यान का निषेध करते हैं कि यह दुषमकाल है, पंचम आरक है। इस काल में ध्यान की योग्यता आ नहीं सकती। ऐसा कहने वाले ध्यान के अधिकारी कैसे हो सकते हैं। जिनकी बुद्धि निर्ग्रन्थ प्रवचन को छोड़कर अन्यमतों के शास्त्रों में संलग्न है, जो काम और अर्थ की लालसा से पीड़ित हैं, यथार्थ वस्तु तत्त्व में जिन्हें संदेह है वे मुनि ध्यान करने के योग्य कैसे हो सकते हैं? मन तो स्वभाव से ही चंचल है फिर जो नास्तिकों की प्रवचनापूर्ण बातों में आ गये हों, उनके मन में स्थिरता कैसे आ सकती है। वे ध्यान की परीक्षा में कैसे उत्तीर्ण हो सकते हैं।⁹

जिनका मन रागरंजित है और कांदर्पी, कैत्विषी, आभियौगिकी, आसुरी, संमोहिनी आदि कलुषित भावनाओं से जुड़ा रहता है, उन्हें वस्तु तत्त्व का बोध कैसे हो सकता है ?¹⁰ जिनमें अनासक्ति और निर्वेद का भाव नहीं है, जो अविद्या या मिथ्यात्व रूपी व्याघ्र के वशीभूत हैं, जिनकी मोक्ष एवं मोक्षमार्ग में अभिरुचि नहीं है, वे आत्मस्वरूप का बोध कैसे प्राप्त कर सकते हैं। जिनके मन में अकरुणा व्याप्त है, जो भेद-विज्ञान से रहित हैं, विषयभोगों से विरत नहीं हैं, वे ध्यान करने में किस प्रकार समर्थ हो सकते हैं ? जो लोगों को प्रसन्न करने हेतु पापरूपी कार्यों को करते हैं और अपने को बड़ा मानते हुए जिनकी आत्मस्वरूप में अनुरक्ति नहीं है, जो इन्द्रिय सम्बन्धी विषयों में लीन हैं, जिन्होंने मन के शल्य को दूर नहीं किया है, जिनकी अध्यात्म में निष्ठा नहीं है, जिन्होंने अपने भावों से दूषित लेश्याओं को पृथक् नहीं किया है, ऐसे पुरुष ध्यानसाधना के अयोग्य हैं। जो हास्य, कौतूहल, कुटिलता, हिंसा आदि पाप-प्रवृत्ति षोषक शास्त्रों का उपदेश करते हैं, मिथ्यात्व रूपी ज्वर से जिनकी आत्मा रुग्ण और विकृत है, मोहनिद्रा में जिनकी चेतना नष्ट हो गई है, जिनमें तपश्चरण के प्रति उद्यम दृष्टिगोचर नहीं होता, जिनमें विषयों के प्रति अत्यधिक लालसा तथा तृष्णा बनी रहती है, जो परिग्रह में आसक्त हैं, सत् तत्त्वों के प्रति शंकाशील हैं, जो आत्महित को तृष्ण के तुल्य समझते हैं, मृत्यु प्राप्त करने की जिनमें उत्कंठा नहीं है, वैसे व्यक्ति क्षणमात्र भी ध्यान की आराधना करने में समर्थ नहीं हो पाते हैं।¹¹

वशीकरण, आकर्षण, विद्वेषण, मारण, उच्चाटन, जल-अग्नि एवं विष का स्तंभन, रसकर्म रसायन-निर्माण आदि का उपयोग करना, नगर में क्षोभ उत्पन्न करना, ऐन्द्रजालिक प्रयोग करना, सेना का स्तंभन करना, विजय-पराजय का विधान करना, ज्योतिष-वैद्यक आदि के प्रयोग करना, यक्षिणी-मंत्र आदि का अभ्यास करना, पादुका-साधना करना, खड़ाऊ पहनकर आकाश या जल में चलने की सिद्धि पाना, अदृश्य होना, भूमि में गड़े धन को देखना, अञ्जन-साधना, भूत, सर्प आदि को साधना इस प्रकार के विक्रिया रूप जादूमंत्र, टोने टोटके आदि के अभ्यास और प्रयोग में जो रत रहते हैं, ऐसे तथाकथित मुनियों को ध्यान की सिद्धि होना निश्चय ही कठिन है।¹²

10. वही, 4.40-41

11. वही, 4.43-50

12. वही, 4.51-55

इस सर्ग के अन्त में ग्रंथकार ने बड़े ही प्रेरणाप्रद शब्दों में लिखा है - जो पंडित या ज्ञानी न होते हुए भी अपने को पंडित मानते हैं, शम, दम और स्वाध्याय के अभ्यास से रहित हैं, राग, द्वेष मोह आदि पिशाचों द्वारा गृहीत हैं, जो मुनित्व को नष्ट करने वाले गुणों की ओर उन्मुख हैं, विषयों से आकृष्ट हैं, मदोन्मत्त हैं, शंका - संदेह रूपी शल्य से आबद्ध हैं, ऐसे तुच्छ पुरुष न ध्यान करने में समर्थ हो पाते हैं और न भेदविज्ञान ही कर सकते हैं।¹³

आचार्य शुभचन्द्र द्वारा गृहस्थों और मुनियों को उद्दिष्ट कर जो वर्णन किया गया है उससे यह स्पष्ट है कि वे ध्यान साधना का आधार वस्तुतः शुद्ध श्रद्धान, ज्ञान, सदाचरण, संयम, शील तथा आत्मपुरुषार्थ एवं पराक्रम को ही मानते थे। उनकी दृष्टि में मुनित्व तभी सार्थकता पाता है जब मुनि में अपने पद के अनुरूप समग्र गुण आलोकित होते हैं। मुनि कहलाते हुए भी यदि उपर्युक्त गुण उसमें नहीं हैं तो वह ध्यान का कदापि अधिकारी नहीं है। यह सारा प्रतिपादन आत्मगुण-निष्ठता पर आधारित है।

भावनाओं का सार :

भावनाओं का चित्तशुद्धि के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। चित्तशुद्धि से ध्यान परिपुष्ट होता है, एकाग्रता सिद्ध होती है। अतएव भावनाओं का अनुशीलन, अभ्यास ध्यानसाधना में अनन्य उपयोगिता लिये हुए है।

आचार्य शुभचन्द्र ने 'ज्ञानार्णव' के द्वितीय सर्ग में भावना के बारह भेदों का पृथक्-पृथक् विस्तार से विवेचन किया है। यद्यपि मूल तत्त्व की दृष्टि से तो विशेष अन्तर नहीं है, किन्तु आचार्य शुभचन्द्र ने सरल मधुर काव्यात्मक शैली में जो विशद वर्णन किया है वह सहृदय पाठकों के लिए बड़ा ही मनोज्ञ है।

अनित्य भावना :

सबसे पहले अनित्य भावना का निरूपण करते हुए उन्होंने संसार के उन पदार्थों पर प्रकाश डाला है जो अनित्य एवं नश्वर हैं किन्तु खेद है कि मोहवश मानव उन्हें अविनश्वर या नित्य समझता हुआ उनमें बँधा रहता है, फँसा रहता है, अपने आपको

13. वही, 4.62

अपने स्वरूप को जरा भी नहीं संभालता। पतन के गर्त में पतित होता जाता है। संसार की क्षणभंगुरता का चित्रण करते हुए उन्होंने लिखा है :-

गगननगरकल्पं सङ्गमं वल्लभानाम्,
जलदपटलतुल्यं यौवनं वा धनंवा।
सुजनसुतशरीरादीनि विद्युच्चलानि,
क्षणिकमिति समस्तं विद्धि संसारवृत्तम् ॥

संसार में माता-पिता, भाई, बन्धु, स्त्री आदि प्रियजनों का संगम आकाश में देवरचित या ऐन्द्रजालिक रचित नगर के तुल्य है, ऐसा नगर क्षण भर में निर्मित होता है और क्षण भर में ही नष्ट हो जाता है। यही तत्त्व प्रियजनों के साथ जुड़ा हुआ है। यौवन और धन बादलों की घटाओं के समान हैं, बादल आते हैं और शीघ्र ही विलुप्त हो जाते हैं, यही दशा यौवन और धन की है, ऐसी रोगाक्रान्त स्थितियाँ बनती हैं और युवावस्था में ही व्यक्ति जीर्ण-शीर्ण हो जाता है। ऐसा न हो तो भी ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता जाता है, यौवन क्षीण होता जाता है, धन-वैभव को भी नष्ट होते देर नहीं लगती। अपने सुहृद्, मित्र, स्नेहीजन, पुत्र और अपना शरीर भी आकाश में चमकती बिजली के जैसे हैं। बिजली चमकती है, उसी क्षण वह विलीन भी हो जाती है। सभी अस्थिर एवं क्षणभंगुर हैं। संसार की यही दशा है।¹⁴

अशरण भावना :

अशरण भावना के सम्बन्ध में भी उन्होंने बड़े ही रोचक और प्रसादयुक्त शब्दों में प्रकाश डाला है और बतलाया है कि मरण आदि से कोई भी किसी को शरण देने में समर्थ नहीं है। उन्होंने बड़े-से-बड़े व्यक्ति की अशरण और असहाय स्थिति का चित्रण करते हुए कहा है :-

अस्मिन्नन्तकभोगिवक्त्रविवरे, संहारदंष्ट्राङ्किते,
संसुप्तं भुवनत्रयं स्मरगरव्यापारमुग्धीकृतम्।
प्रत्येकं गिलितोऽस्य निर्दयधियः केनाप्युपायेन वै,
नास्मान्निःसरणं तवार्यं कथमप्यत्यक्षबोधं बिना ॥

14. वही, अनित्य भावना 2.47, पृ. 19

जिनके भ्रूभंग मात्र से, क्रोधपूर्वक भौंहे चढ़ाने मात्र से ब्रह्मलोक पर्यन्त यह जगत् भयभीत हो जाता है, पृथ्वी पर जिनके भारी कदम पड़ते ही पर्वत तक खण्ड-खण्ड हो जाते हैं, ऐसे-ऐसे योद्धाओं को भी इस काल ने निगल लिया है जिनकी अब कथा मात्र ही शेष रह गयी है। फिर भी बुद्धिहीन प्राणी अपने जीवन की बड़ी भारी आशा लिये रहता है। यह उसकी कितनी बड़ी भूल है, वह क्यों नहीं समझता। उसे मौत से बचने के लिए कोई शरण या आश्रय दे नहीं सकता।¹⁵

संसार भावना :

संसार भावना का चित्रण करते हुए उन्होंने लिखा है कि यह संसार एक समुद्र के तुल्य है। गतिचतुष्टय एक बहुत बड़े घूमते हुए जलावर्त के सदृश है। मुख रूपी भीषण बड़वानल उसमें प्रज्ज्वलित है, ऐसे जगत् में ये दीन, अनाथ प्राणी भटकते रहते हैं। अपनी-अपनी कर्म रूपी बेड़ियों से जकड़े हुए स्थावर एवं त्रस कार्यो में संचरण करते हुए मरते रहते हैं, उत्पन्न होते रहते हैं।¹⁶

उन्होंने आगे कहा है कि जिस प्रकार नाट्यशाला या रंगमंच पर नृत्य और अभिनय करने वाला नट या अभिनेता भिन्न-भिन्न प्रकार के रूप, स्वांग धारण करता है उसी प्रकार यह जीव निरन्तर भिन्न-भिन्न प्रकार के शरीर धारण करता रहता है। यह संसार का स्वरूप है।¹⁷

एकत्व भावना :

प्राणी नितान्त एकाकी है। वस्तुतः कोई उसका साथी नहीं है। एकत्व भावना में सन्निहित इस आशय को ग्रंथकार ने संक्षेप में व्याख्यात किया है। उन्होंने कहा है कि जिस समय यह जीव वीतविभ्रम-भ्रान्तिरहित होकर इस भाव को अपनायेगा कि मैं एकाकी हूँ यह सोचकर आत्मस्वरूप में अवस्थित होगा, तभी उसका जन्म-सम्बन्ध भव-भ्रमण मिट पायेगा।¹⁸

15. वही, अशरण भावना ३ॐ पृ. 23

16. वही, संसार भावना, 2.1-2, पृ. 23-24

17. वही, संसार भावना, 2.8, पृ. 24

18. वही, एकत्व भावना, 2-10

अन्यत्व भावना :

सांसारिक जड़-चेतनात्मक जिन पदार्थों को जीव अपना मानता है वे तत्त्वतः उसके अपने नहीं हैं, वे पर हैं, अन्य हैं, अन्यत्व भावना का यही निष्कर्ष है जिसे ग्रंथकार ने प्रकट किया है। बड़े ही मार्मिक शब्दों में उन्होंने लिखा है कि जो शरीर मूर्त, अचेतन, विविध प्रकार के पुद्गल परमाणुओं से विरचित है, जरा विचार तो करो-अमूर्त चेतन अपौद्गलिक आत्मा के साथ उसका क्या सम्बन्ध हो सकता है। जब देह ही जीव से अत्यन्त भिन्न है, अन्य है, तब बन्धु-बान्धव तथा कुटुम्बी जन का उसके साथ ऐक्य कैसे हो सकता है ? इस संसार में जो जड़ और चैतन्य पदार्थ उस प्राणी के साथ सम्बद्ध हैं वे सर्वत्र अपने-अपने स्वरूप से भिन्न हैं।¹⁹

अशुचि भावना :

शास्त्रकारों ने कहा है कि ऊपर से अत्यन्त कमनीय, रमणीय, दृष्टिगोचर होने वाली सुन्दर काया की वास्तविकता उन मलमूत्र-विषा, रक्त, श्लेष्म आदि जघन्य पदार्थों से संगृहीत है जिन्हें कोई देखना तक नहीं चाहता। सौन्दर्य तो केवल बहुत हल्की सी बाहरी पर्त है जिसके हटते ही यह सब वीभत्सता प्रकट हो जाती है। बाह्य मनोज्ञता-मनोहरता, भव्यता के भीतर जो विपुल अशुचिता भरी पड़ी है, उस पर साधक चिन्तन करे। वैसा करने से उसे आध्यात्मिक सौन्दर्य का भान होगा। अशुचि भावना के इसी आशय की आचार्यों एवं चिन्तकों ने विवेचना की है।

आचार्य शुभचन्द्र ने इस भावना के वर्णन के अन्त में संसारासक्त प्राणी को उद्बोधित करते हुए कहा है कि हे मूढ़ ! इस जगत् में मनुष्यों का यह शरीर चर्म पटल से ढका हुआ एक अस्थिपंजर है। विकृत मवाद की दुर्गन्ध से परिपूर्ण है। काल के मुख में उपस्थित मानों यह रोग रूपी सर्पों का घर है। मनुष्यों के लिए ऐसा शरीर किस प्रकार प्रीति करने योग्य है।²⁰

आसन्न-संवर-निर्जरा भावना :

आगे आसन्न, संवर और निर्जरा भावना का ग्रंथकार ने संक्षेप में वर्णन किया

19. वही, अन्यत्व भावना, 2.6-8

20. वही, अशुचि भावना 2.13

है। साधक इन तीनों का अभ्यास करता हुआ आस्रव निरोध कर संवर का आश्रय लेकर निर्जरा रूप में संलग्न होकर ध्यान आदि की साधना के माध्यम से अपना कल्याण साधे।

धर्म भावना - इस भावना का विवेचन प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकार ने बड़े ही भावपूर्ण शब्दों में लिखा है :-

पवित्रीक्रियते येन येनैवोद्भिद्यते जगत् ।
नमस्तस्मै दयार्द्राय धर्मकल्पाङ्घ्रिपाय वै ॥

जो जगत् को पवित्र करता है, जिसके द्वारा प्राणी जगत् से अपना उद्धार कर लेता है, जो दया-करुणा के दिव्य रस से आर्द्र है, आपूरित है, जो कल्पवृक्ष के समान आत्मा के लिए कल्याणमय फलप्रद है, उस धर्म को मेरा नमन है।²¹

जिनेन्द्रदेव द्वारा प्ररूपित दशलक्षण युक्त धर्म की आराधना कर संयमी साधक मुक्ति प्राप्त करते हैं, मिथ्यादृष्टि तथा हिंसा एवं इन्द्रिय विषयों के पोषक शास्त्रों द्वारा उसे सम्यक् रूप में नहीं समझा जा सकता। चिन्तामणि, दिव्य नवनिधि और कामधेनु तथा कल्पवृक्ष ये सब धर्म के चिरकाल से भृत्य या सेवक जैसे हैं। धर्म जीवों को चक्रवर्ती, धरणेन्द्र, देवेन्द्र द्वारा वांछित, त्रैलोक्य पूजित आध्यात्मिकश्री संपन्न तीर्थकर पद तक प्राप्त करा देता है। धर्म संकटावस्था में समस्त चराचर विश्व की रक्षा करता है। वह सुखरूपी अमृत का पूर - प्रवाह है। समस्त जगत् को आत्मिक तृप्ति प्रदान करता है।²²

इस भावना के अन्त में जो श्लोक ग्रन्थकार ने लिखा है, वह निस्सन्देह जिज्ञासु मुमुक्षु में धर्म के प्रति अन्तःस्फूर्ति उत्पन्न करता है -

यदि नरकनिपातस्त्यक्तुमत्यन्तमिष्ट
स्त्रिदशपतिमहर्द्धिं प्राप्तुमेकान्ततो वा ।
यदि चरमपुमर्थः प्रार्थनीयस्तदानीं,
किमपरमभिधेयं नाम धर्मं विधत्त !!

21. वही, धर्मभावना, 2-1

22. वही, धर्मभावना, 2-6

यदि तुम्हें यह अभीप्सा हो कि मुझे नरक में निपतित न होना पड़े, यदि तुम चाहते हो कि मुझे देवेन्द्र का महान् वैभव और समृद्धि प्राप्त हो, यदि तुम्हें चारों पुरुषार्थों में मोक्ष इच्छित हो तो अधिक क्या कहा जाये तुम एक मात्र धर्म का सेवन करो।²³

आगे यथाक्रम लोकभावना का वर्णन कर अन्त में उन्होंने बोधिदुर्लभ भावना का विवेचन किया है। सम्यक् बोधि की दुर्लभता पर उन्होंने बड़े ही प्रसादपूर्ण मधुर शब्दों में लिखा है -

सुलभमिह समस्तं वस्तुजातं जगत्या -
 मुरगसुरनैत्रैः प्रार्थितं चाधिपत्यम् !
 कुलबलसुभगत्वोद्दामरामादि चान्यत्,
 किमुत तदिदमेकं दुर्लभं बोधिरत्नम् ॥13 ॥

इस संसार में समस्त पदार्थ समूह सुलभ हैं। धरणेन्द्र, नरेन्द्र एवं सुरेन्द्र द्वारा प्रार्थित-वाञ्छित आधिपत्य भी सुलभ है, यहाँ पर भी प्राप्त हो सकते हैं। उत्तम कुल, बल, सौभाग्य, सुन्दर रानी आदि समस्त पदार्थ प्राप्त हो सकते हैं, किन्तु सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र रूप सम्यक् बोधि अत्यन्त दुर्लभ है।²⁴ आध्यात्मिक विकास, उन्नति, कल्याण और मुक्ति रूप परम लक्ष्य इत्यादि के रूप में जो भी जीवन प्राप्त है उन सब के मूल में बीज रूप में सम्यक् बोधि है। उसी के आधार पर ये निष्पन्न होने वाले सुन्दर सुपरिणाम-सुफल हैं।

‘ज्ञानार्णव’ निश्चय ही ज्ञान का महान् सागर है क्योंकि ध्यान की साधना से ज्ञान संस्फूर्त होता है। दृढ़ता एवं ऊर्ध्वगामिता प्राप्त करता है, यही कारण है कि ग्रंथकार ने इस ग्रन्थ के विविध सर्गों में विविध प्रसंगों पर विविध अपेक्षाओं से ध्यान का वर्णन किया है।

बोधिदुर्लभता का स्वरूप :

आचार्य शुभचन्द्र ने दुर्लभ मानव जीवन का उल्लेख करते हुए तृतीय सर्ग के प्रारम्भ में यह बताया है कि इस जीवन का फल पुरुषार्थ है। वह पुरुषार्थ धर्म, अर्थ,

23. वही, धर्मभावना, 2-23

24. वही, बोधिदुर्लभभावना 2.13

काम, मोक्ष चार प्रकार का है। इन चारों में पहले तीन सापाय-अपाय या विघ्नयुक्त हैं, नश्वर हैं। तत्त्ववेत्ताओं ने चतुर्थ पुरुषार्थ को ही सार रूप माना है और वे उसी को साधने का प्रयत्न करते हैं। वह पुरुषार्थ ऐसा है - जिसमें प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग रूप समस्त कर्मसम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है। वह संसार का प्रतिपक्षी है।²⁵

उन्होंने आगे कहा है, मोक्ष शिवपद स्वरूप है। वह आत्मा की निर्मलता की स्थिति है। वह शरीर रहित, क्षोभ रहित, शान्तस्वरूप, सिद्धस्वरूप, सर्वथा अविनश्वर, आनन्दस्वरूप एवं कृतकृत्यता की स्थिति है।

धीरे पुरुष अनन्त प्रभावापन्न मोक्षरूप कार्य के निमित्त समस्त भ्रान्तियों का परित्याग कर कर्मबन्ध नष्ट करने हेतु तप को स्वीकार करते हैं। वीतराग प्रभु ने सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य को मुक्ति का हेतु बतलाया है। अतः जो मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं वे इन तीनों की आराधना करते हैं। मोक्ष के साथ इनका कार्य-कारण सम्बन्ध है।²⁶

उन्होंने साधक को सम्बोधित करते हुए कहा है कि तुम सांसारिक दुःखों के विनाश हेतु ज्ञानरूपी अमृत रस का पान करो तथा संसार समुद्र को पार करने के लिए ध्यान रूपी पोत-जहाज का आश्रय लो। मोक्ष कर्मों के क्षय से होता है। सम्यग्ज्ञान से कर्मक्षय होता है। सम्यग्ज्ञान ध्यान से सिद्ध होता है। इस प्रकार ध्यान और ज्ञान का पारस्परिक सामंजस्य है।

ध्यान में ही आत्मा का हित सन्निहित है। इसलिए कर्मों से मुक्त होने के इच्छुक, कषायों को मन्द बनाने में तत्पर साधक संकल्प-विकल्पों का नाश कर नित्य ध्यान का ही आलम्बन लेते हैं।²⁷ वे पुनः साधक को सम्बोधित करते हैं - मोह का परित्याग करो, स्वस्थता-आत्मस्थता प्राप्त करो, आसक्तियों को छोड़ो, स्थिरता प्राप्त करो, ऐसा करने पर तुम ध्यान को समझने एवं स्वीकार करने के अधिकारी बनोगे। यदि तुम बड़े कष्टों से पार किये जाने योग्य संसार रूपी घोर कीचड़ से निकलना चाहते हो तो ध्यान में निरन्तर धैर्यशील क्यों नहीं बनते। यदि तुम्हारे चित्त में शंका विवर्जित

25. वही, 3.1-6

26. वही, 3.9-12

27. वही, 3.13-14

विवेक रूप लक्ष्मी स्थिर हो तभी तुम मन को विशुद्ध बनाने वाले ध्यान के लक्षण श्रवण करने योग्य हो।²⁸

आगे उन्होंने ममत्व और भ्रान्ति आदि को छोड़ने की विशेष रूप से प्रेरणा दी है तथा संवेग, निर्वेद, वैराग्य और विवेक अपनाने का उपदेश दिया है। कामभोगों से तथा भौतिक अभीप्साओं से पृथक् होने की शिक्षा दी है। उन्होंने ध्यानाभ्यासी के लिए वैसा करना आवश्यक बतलाया है।

उन्होंने आगे एक विशेष अपेक्षा से ध्यान के भेदों का निरूपण करते हुए लिखा है- संक्षेप में तत्त्वों का निरूपण करने में अभिरुचिशील ज्ञानीजनों ने ध्यान तीन प्रकार का बतलाया है क्योंकि जीव का आशय या अभिप्राय प्रवृत्तिरूप उपक्रम तीन प्रकार का होता है। उनमें प्रथम पुण्य रूप शुभ आशय, दूसरा उसका विपक्षी पाप रूप अशुभ आशय और तीसरा शुद्धोपयोगरूप आशय है। पुण्य रूप आशय से, शुद्ध लेश्याओं के अवलम्बन से तथा वस्तु के यथार्थ स्वरूप के चिन्तन के परिणाम स्वरूप जो ध्यान उत्पन्न होता है वह प्रशस्त ध्यान कहलाता है। जीवों के पाप रूप आशय, मोह, मिथ्यात्व, कषाय तथा तत्त्वविभ्रम से उत्पन्न होने वाला अप्रशस्त असमीचीन ध्यान होता है। राग-प्रवाह का क्षय होने पर अन्तरात्मा में होने वाले प्रसन्न आनन्दमय भाव के परिणामस्वरूप होने वाला आत्मस्वरूपानुगामी शुद्ध ध्यान है।

साधक शुभ ध्यान के फल से स्वर्गादि के सुख प्राप्त करता है तथा आगे क्रमशः मोक्षगामी बनता है। दूषित ध्यान से जीव दुर्गति पाता है क्योंकि वह अशुभ प्रवृत्तिमूलक है जिसे नष्ट कर पाना बहुत कठिन है। जीव के शुद्धोपयोग का परिणाम समस्त दुःखों से वर्जित स्वभावोत्पन्न अविनश्वर ज्ञान रूप साम्राज्य है अर्थात् उससे ज्ञान की समग्रता प्रतिफलित होती है।²⁹ ग्रंथकार ने तात्त्विक दृष्टिकोण से यहाँ ध्यान को सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय से जोड़ा है। आचार्य उमास्वाति ने इन तीनों को मोक्ष का मार्ग कहा है।³⁰

दार्शनिक चिन्तन-मनन तथा आचार विषयक विविध विधिक्रम इन तीनों का ही विस्तार है। ध्यान से इनकी सुखद निष्पत्ति परिघटित होती है। यों मोक्ष का यथार्थ

28. वही, 3.15-17

29. वही, 3.27-34

30. तत्त्वार्थसूत्र 1-1

मार्ग प्राप्त हो जाता है जिस पर चलता हुआ साधक मुक्ति रमा का वरण करता है।

ध्याता की योग्यता :

आचार्य शुभचन्द्र ने ध्याता की योग्यता का आकलन करते हुए प्रतिपादित किया है कि यथार्थतः ध्याता या ध्यान का अधिकारी वही हो सकता है जिसका चित्त ज्ञानामृत के पान से पवित्र हो गया हो, जिसके हृदय में संसार के स्थावर एवं जंगम प्राणियों के प्रति करुणा का सागर लहराता हो, मेरु पर्वत की ज्यों जिसके जीवन में दृढ़ता हो और जो आकाश की ज्यों निर्मल हो, वायु की तरह आसक्तिवर्जित हो तथा निर्ममत्व भाव पर आश्रित हो।³¹

ग्रंथकार ने आगे ऐसा भी उल्लेख किया है कि मुक्ति रूपी उन्नत भवन पर चढ़ने हेतु प्रवृत्त साधक के लिए उपर्युक्त, गुणयुक्त मुनिगण के चरणों की छाया सोपानपंक्ति जैसी सिद्ध होती है। जिस प्रकार सीढ़ियों द्वारा ऊँचे भवन पर सरलता से चढ़ा जा सकता है, उसी प्रकार गुण-गण विभूषित मुनिवृन्द के सान्निध्य और प्रेरणा से ध्यान के माध्यम से मोक्ष जैसे उच्च स्थान को अधिगत किया जा सकता है।³²

ऐसे साधनाशील योगनिष्णात मुनिवृन्द की विशेषताओं की चर्चा करते हुए उन्होंने आगे लिखा है- वे अध्यात्मयोगनिरत मुनिवृन्द ऐसे हैं जिन्होंने अपने चित्त रूपी प्रचण्ड पक्षी को अर्थात् तीव्र गति से उड़ते हुए पक्षी की तरह इधर-उधर भागते हुए मन को निश्चल बना लिया है। पंचेन्द्रिय रूप वन को दग्ध कर डाला है, ध्यान द्वारा समस्त पापों को ध्वस्त कर दिया है, जो विद्या रूपी समुद्र के पारगामी हैं, क्रीड़ा मात्र से बड़ी ही आसानी से कर्मों को मूलतः नष्ट कर रहे हैं। कारुण्यरूप पुण्य से जिनका चित्त पवित्र है, संसार रूपी भयानक दैत्य को जिन्होंने कुचल डाला है। ऐसे प्रशान्तचेता मुनिवृन्द के लिए विन्ध्याचल पर्वत ही मानों नगर है। पर्वत की गुफाएँ ही मानों उनके आवास हैं। पर्वत की शिलाएँ शय्या हैं, चन्द्र ज्योत्स्ना ही जिनके लिए दीपक तुल्य है, मृग जिनके सहचर साथी हैं। सब प्राणियों के प्रति मैत्री ही उनकी भार्या है। विज्ञान ही उनके लिए प्रेय जल है, तप ही उत्तम भोजन है। वस्तुतः वे महापुरुष धन्य हैं, वे मुमुक्षु जनों को संसार रूपी कर्दम से बाहर निकलने के मार्ग का उपदेश करें। जो

31. ज्ञानार्णव 5-14-16

32. वही, 5.18

श्वासोच्छ्वास का नियंत्रण करते हैं, और अपनी देह को निश्चल बनाये रखते हैं, इन्द्रियों की प्रसरणशीलता का संवरण करते हैं, नेत्रों की चंचलता से रहित हैं। इन्द्रजाल सदृश समस्त विकल्पों का जो प्रलय कर चुके हैं, मोहरूपी अन्धकार से जो दूर हैं समस्त वस्तुओं को प्रकाशित करने वाले तेज-पुंज को अपने हृदय में व्याप्त किये हुए हैं ऐसे ही मुनि सफलतापूर्वक ध्यान का अवलम्बन करते हैं। वे आनन्दमयी सागर में प्रवेश करने का अभ्यास करते हैं।³³

जैसा संकेत किया गया है, आचार्य शुभचन्द्र का लक्ष्य ध्यानयोग की उत्तम भूमिका के साथ जुड़ा था। यही कारण है कि उन्होंने उच्चकोटि के ध्यानयोगियों को विशेषतः मुनियों के साथ जोड़ा है। जो केवल वेश से या नाममात्र से मुनि न होकर संयम, वैराग्य, शील, साधना आदि गुणों से परिपूत होते हैं वे ही मुनि हैं। वैसे मुनि जब अपने-आप को ध्यान योग के साथ जोड़ लेते हैं तो उनके व्यक्तित्व का बड़ा ही भव्य आध्यात्मिक निखार होता है। साधक का एक ऐसा विमल, उज्वल रूप उन्हें अभीप्सित था, जो कोलाहल से दूर एकान्त स्थान में अथवा किसी पर्वतीय स्थल में साधना में लगा रहे। सहजरूप में प्राप्त निर्वद्य प्राकृतिक पदार्थ ही जहां उनके उपकरण होते हैं। जो वास्तव में संसार से पराङ्मुख होते हैं क्योंकि वे आत्मकल्याण को ही सर्वोपरि मानते हैं।

आचार्य शुभचन्द्र द्वारा तथाकथित गुणरहित मुनियों की जो आलोचना की गई है उसका पहले विवेचन किया जा चुका है। वे तो सच्चे मुनित्व में आस्थाशील थे। भर्तृहरि के 'वैराग्यशतक' में आए हुए कतिपय पद्य इसी प्रकार का भाव लिये हुए हैं।

मनोजय का उपक्रम :

मनोजय या चित्तशुद्धि का ध्यान-साधना में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। पतंजलि ने तो 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'³⁴ के रूप में चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहा है।

चित्त की वृत्तियों के निरोध का आशय यह है कि इन्हें दुष्प्रवृत्तियों में न जाने

33. वही, 5.19-22

34. योगसूत्र 1-2

देकर सद्प्रवृत्तियों में लगाने का पहले प्रयत्न किया जाय।

ध्यानमूलक एकाग्रता का भी मन या चित्तवृत्ति के साथ गहरा सम्बन्ध है। जब तक मन का चांचल्य अपगत नहीं होता, एकाग्रता सध नहीं सकती।

आचार्य शुभचन्द्र ने भी मनोजय पर बहुत जोर दिया है। उन्होंने लिखा है-जिन व्यक्तियों ने मन का निरोध कर लिया है, उसे वश में कर लिया है, उन्होंने विश्व को ही मानों वश में कर लिया। जो चित्त को संवृत नहीं कर सका, जीत नहीं सका, रोक नहीं सका, उसके लिए इन्द्रियादि का निरोध व्यर्थ है, क्योंकि मन की शुद्धि से ही प्राणियों के कलंक-पाप का विलय होता है। यदि मन समभाव स्वरूप प्राप्त कर लेता है तो स्वार्थ-आत्मा का यथार्थ प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। जो पुरुष चित्त के प्रपञ्च से उत्पन्न अनेक प्रकार के विकारों को रोक देते हैं, उन्हीं के द्वारा मुक्ति रूपी कान्ता का पाणिग्रहण किया जा सकता है। वैसे महान् पुरुष ही मोक्षगामी बनते हैं।

कर्म रूपी दृढ़ बेड़ियाँ तभी कट सकती हैं जब मन को समस्त विकल्पों से दूर कर वश में किया जाय। मन को समत्वभावापन्न करने से भवभ्रमण से उत्पन्न दोष नष्ट हो जाते हैं। मन दैत्य की ज्यों बड़ा प्रबल है। उसे जीतने से समस्त अर्थों की, प्रयोजनों की, आध्यात्मिक लक्ष्यों की सिद्धि हो जाती है। मन को जीते बिना यम, व्रत, नियम आदि का अनुसरण करना क्लेश मात्र है, व्यर्थ है। मन को रोकना समस्त अभ्युदयों का साधक है, मनोजय का आलम्बन लेकर ही योगी तत्त्व का साक्षात्कार करते हैं। जो धैर्यशील साधक आत्मा और शरीर आदि पर-पदार्थों को पृथक्-पृथक् कर भेदविज्ञान प्राप्त करते हैं वे सबसे पहले मन की चंचलता को रोक देते हैं। निश्चय ही, मन की शुद्धि से ही वास्तविक शुद्धि होती है। मनः- शुद्धि के बिना बाह्य शुद्धि के विविध उपक्रम काय को क्षीण करना मात्र है। मन की शुद्धि केवल ध्यान को ही शुद्ध नहीं करती वरन् जीवों के कर्मजाल को भी विच्छिन्न कर डालती है।³⁵

निष्कर्ष के रूप में ग्रंथकार ने लिखा है कि वही ध्यान है, वही विज्ञान है, वही ध्येय है, वही तत्त्व है, जिसके द्वारा अविद्या का, अज्ञान का, अतिक्रमण कर मन आत्मतत्त्व में स्थिर बने।³⁶

35. ज्ञानार्णव 22.6-15

36. वही, 22.20

‘ज्ञानार्णव’ का वर्णन क्रम विषयानुबन्ध की दृष्टि से बड़ी विलक्षणता लिये हुए है। आचार्य शुभचन्द्र तो एक सर्वतोमुखी अध्यात्मयोगी की भूमिका वाले महापुरुष थे। इसका अभिप्राय यह है कि चिन्तन के क्षणों में उनका ध्यान जब जिस विषय की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ, उसी पर उनकी लेखनी गतिशील होती रही। किन्तु इतना अवश्य है कि उन्होंने क्रमिक और पारिपाश्विक रूप में जो भी लिखा है वह अध्यात्मयोग और उसके मुख्य विषय ध्यान के साथ किसी-न-किसी रूप से संयोजित है। अतएव समीक्षात्मक दृष्टि से वे विषय यथावत् योजनीय और व्याख्येय हैं।

ध्यान के भेद :

शास्त्रों में आर्त्त, रौद्र, धर्म एवं शुक्ल के रूप में ध्यान के चार भेद बतलाये गये हैं। जहाँ-जहाँ भी इनका वर्णन हुआ है वहाँ तत्त्वतः कोई भेद नहीं है। प्रस्तुतीकरण की शैली भिन्न-भिन्न लेखकों की अपनी-अपनी होती है।

‘ज्ञानार्णव’ के पच्चीसवें सर्ग में आचार्यश्री ने आर्त्तध्यान का वर्णन किया है। मूल विषय पर आने से पूर्व उन्होंने ध्यान की विशेषता की चर्चा करते हुए कहा है- अनादि काल के विभ्रम से उत्पन्न जीव का रागादिमय, निविड़-सघन अंधकार ध्यानरूपी सूर्य के उदय होने पर तत्काल दूर हो जाता है। भवभ्रमण की ज्वाला से आविर्भूत घोर आतप की शान्ति के लिए धीर-स्थिरचेता पुरुषों ने ध्यानरूपी समुद्र में अवगाहन करना ही प्रशस्त, उत्तम बतलाया है। प्रशस्त ध्यान मोक्ष का मुख्य हेतु है। वह पाप समूह रूपी घोर अटवी को दग्धकर डालने में अग्नि के समान है।³⁷

ग्रन्थकार ने बड़ी ही आकर्षक काव्यात्मक शैली में लिखा है कि अहो कितना बड़ा आश्चर्य है, अनेक अज्ञानी महामूर्ख, स्व - पर वञ्चक जनों ने ध्यान को भी अपनी दूषित मनोवृत्ति के कारण नरक गमन का हेतु बना दिया। कितने खेद का विषय है जब अमृत विष का काम करे, ज्ञान मोह के लिए हो और ध्यान नरक का निमित्त बन जाय, यह सब प्राणियों की विपरीत चेष्टाओं का परिणाम है।

ये तो सब प्रशस्त हैं- उत्कर्ष के हेतु हैं किन्तु अज्ञानी इन्हें अप्रशस्त अपकर्ष का हेतु बना देते हैं।³⁸

37. वही, 25.5-7

38. वही, 25.9-10

जो पुरुष भव-भ्रमण के खेद से परिश्रान्त होकर शिव-कल्याण या मोक्ष प्राप्त करने की दिशा में प्रगतिशील हैं, वे तो युक्तिपूर्वक आगम द्वारा निर्णीत सत् पथ पर ही गतिशील होते हैं। वे विपरीत चेष्टाओं में नहीं पड़ते।³⁹

प्रशस्त और अप्रशस्त ध्यान का प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है कि जिस ध्यान से साधक अस्तराग-राग रहित हो जाय और वस्तु तत्त्व का चिन्तन करे उसे आचार्यों ने प्रशस्त ध्यान कहा है। जो व्यक्ति वस्तु के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता, राग आदि से जिसका चित्त उपहत - पीड़ित होता है वैसे व्यक्ति की स्वतंत्र प्रवृत्ति - उसके द्वारा किया गया एकाग्रता मूलक उपक्रम अप्रशस्त ध्यान कहा जाता है। आर्त्त ध्यान और रौद्रध्यान अप्रशस्त ध्यान हैं। धर्म और शुक्ल ध्यान प्रशस्त ध्यान के अन्तर्गत हैं।⁴⁰

आर्त्त ध्यान :

ऋत शब्द से आर्त्त शब्द की निष्पत्ति हुई है। ऋत का अर्थ पीड़ा या दुःख है। जिससे मन उत्पीड़ित, संक्लिष्ट या दुःखित हो उसे आर्त्त ध्यान कहा जाता है। यह असत् ध्यान है। जैसे कोई पथिक यदि दिशाओं को भूल जाता है तो वह उन्मत्त के तुल्य हो जाता है। उसी प्रकार अविद्या या मिथ्याज्ञान की वासना से उत्पन्न इस ध्यान से व्यक्ति विमूढवत् विषादयुक्त बन जाता है।⁴¹

आगे आचार्यश्री ने अनिष्ट पदार्थों के संयोग, इष्ट पदार्थों के वियोग, रोगादि के प्रकोप की पीड़ा तथा निदान-आगामीकाल में भोगाभिवांछा से होने वाले आर्त्तध्यान के चार भेदों का संकेत किया है।⁴²

अनिष्ट संयोगजनित आर्त्त ध्यान का विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा है कि इस संसार में अपने स्वजन, धन, देह, इनके नाश करने वाले अग्नि, जल, विष, शस्त्र, सर्प, सिंह, दैत्य तथा स्थल के, जलके एवं बिलवर्ती जीव, दुष्ट जन, शत्रु, राजा

39. वही, 25.14

40. वही, 25.18-20

41. वही, 25.23

42. वही, 25.24

इत्यादि अनिष्ट पदार्थों-प्रसंगों के संयोग से जो ध्यान होता है, वह आर्त ध्यान के प्रथम भेद के अन्तर्गत है।⁴³

इष्ट पदार्थों के वियोगजनित द्वितीय आर्त ध्यान के विषय में उन्होंने लिखा है, “जो राज्य, ऐश्वर्य, स्त्री, कुटुम्ब, मित्र, सौभाग्य भोग आदि के विनष्ट होने पर तथा चित्त में प्रीति उत्पन्न करने वाले सुन्दर, प्रिय, इन्द्रियविषयों के प्रध्वस्त होने पर संत्रास, पीड़ा, भ्रम, शोक एवं मोह के कारण अनवरत खेद रूप होना सो जीवों के इष्ट वियोगजनित आर्त ध्यान है। यह कलंकास्पद यानी पाप का स्थान है।⁴⁴

रोगादि प्रकोपजनित तृतीय आर्त ध्यान का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि वात, पित्त, कफ के प्रकोप से प्रादुर्भूत, देह के लिए कष्टप्रद, अत्यन्त प्रबल, भीषण, प्रतिक्षण उत्पद्यमान कास, श्वास, भगंदर, जलोदर, वार्धक्यजनित जर्जरता, कुष्ठ, अतिसार, ज्वर आदि रोगों से मनुष्यों के जो आकुलता बेचैनी उत्पन्न होती है और उस ओर मन दुश्चिंतन में एकाग्र हो जाता है वह रोग, पीड़ाजनित आर्त ध्यान है। यह ध्यान दुर्निवार है, इसे रोकना बहुत कठिन है, यह दुःखों का आकर है और पापों के बन्ध का हेतु है।⁴⁵

‘इच्छा हु आगाससमा अनन्तया’ - इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं।⁴⁶ बड़ी कठिनता यह है कि जब तक यथार्थ बोध का उदय नहीं होता तब तक पुण्य कर्म करते हुए भी प्राणी में अनेकानेक इच्छाएँ बनी रहती हैं और वह अपने पुण्य फल को भावी सुखों के साथ जोड़ लेता है। निरन्तर उसी चिन्तन में एकाग्र रहता है। शास्त्रों की भाषा में यह निदान है जो सर्वथा वर्ज्य एवं त्याज्य है। निदानप्रसूत ध्यान में व्यक्ति किस तरह दुर्निमग्न हो जाता है, इसका वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है - “धरणेन्द्र के सेवनीय भोग, जगत्त्रय को जीतने वाली रूप साम्राज्य की लक्ष्मी, अतिशय सौन्दर्य, शत्रु रहित राज्य, नृत्य में देवांगनाओं को भी पराजित करने वाली स्त्री, और भी आनन्दप्रद पदार्थ मुझे कैसे प्राप्त हों, इस प्रकार का चिन्तन चौथा आर्तध्यान है। यह संसार वृद्धि का मूल कारण है।⁴⁷

43. वही, 25.25

44. वही, 25.29

45. वही, 25.32

46. उत्तराध्ययन सूत्र 9.48

47. ज्ञानार्णव 25.34-35

रौद्र ध्यान :

26वें सर्ग में ग्रन्थकार ने रौद्र ध्यान का वर्णन किया है। उन्होंने उसे परिभाषित करते हुए लिखा है, तत्त्वद्रष्टाओं ने उस प्राणी को रुद्र कहा है जिसका आशय, मनोभाव या अभिप्राय क्रूरता लिये होता है। जैसे क्रूर व्यक्ति के कर्म अथवा भाव या तन्मूलक चिन्तन, उसमें एकाग्रता को रौद्र ध्यान कहा जाता है।⁴⁸

शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से रौद्रयति द्रावयति अन्यान् इति रुद्रः-जो औरों को रुला दे, शोक-विह्वल बना दे वह है। ऐसे क्रूरता, निर्दयता युक्त व्यक्ति का तद्विषयक एकाग्र चिन्तन रौद्र ध्यान में समाविष्ट है। आगे रौद्र ध्यान के हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और संरक्षणानन्द रूप चार भेदों की चर्चा की है।⁴⁹

हिंसानन्द :

हिंसानन्द भेद का प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है- प्राणियों के समूह को अपने द्वारा तथा औरों के द्वारा पीड़ित किये जाने पर, मारे जाने पर, जो व्यक्ति अपने मन में हर्ष का अनुभव करता जाय, जैसे दुश्चिन्तन में लगे वह हिंसानन्द नामक रौद्रध्यान है।

जो व्यक्ति निरन्तर निष्करण-कारुण्य रहित निर्दय भाव लिये रहता है, स्वभाव से ही जिसका क्रोध रूप कषाय उद्दीप्त या प्रज्वलित रहता है, जो मदोद्धत रहता है, जिसकी बुद्धि में पाप समाया रहता है, जो कुशील होता है, नास्तिक होता है एवं सद्धर्म में अनासक्त होता है, ऐसा व्यक्ति रौद्र ध्यान का धाम-घर कहा गया है। जीवों की हिंसा करने में कुशलता, प्रवीणता, पापपूर्ण कार्य में उपदेश करने में निपुणता, नास्तिक सिद्धांतों का निरूपण करने में दक्षता, प्राणियों के अतिपात-हनन करने में अनुरक्तता, निर्दयप्राणी के साथ सहवास तथा स्वभावतः क्रूरता जिन व्यक्तियों में होती है उनका ध्यान प्रशान्तचेता, पूज्यजनों ने रौद्र कहा है।

यहाँ प्राणियों का किस उपाय से घात किया जा सके, घात करने में कौन प्रवीण है, घात करने में किसका अनुराग है, वह कितने दिनों में जीवों का घात कर

48. वही, 26.2

49. वही, 26.3

पायेगा, जीवों को मारकर, बलि देकर कीर्ति, शान्ति आदि हेतु मैं देवादि की पूजा करूँगा-अर्चन करूँगा, इस प्रकार के प्राणी जो हिंसामूलक चिन्तन में आनन्द लेते हैं वह हिंसानन्द रौद्रध्यान के अन्तर्गत है।

गगनचर, स्थलचर, जलचर प्राणियों के खण्ड करने, जलाने, बाँधने, छेदने एवं घातने आदि का यत्न करना, उनके चर्म, नख, हाथ, नेत्र आदि का उत्पादन करने आदि क्रूर कर्मों में जिन्हें कुतूहल मनोरंजन प्रतीत हो ऐसे क्रूरचेता व्यक्तियों का ध्यान इसी कोटि में है।⁵⁰

इस संदर्भ में महर्षि पतंजलि कृत 'योगसूत्र' का वह प्रसंग स्मरणीय है जहाँ 'योगसूत्र' के समाधिपाद के दूसरे सूत्र 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' का भाष्यकार व्यास ने विवेचन किया है।

चित्तवृत्तियों का निरोध शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार के लक्ष्यों या केन्द्रों पर किया जा सकता है। ऐसा किये जाने के मूल में करने वाले व्यक्ति की मानसिकता ही कारण बनती है।

जहाँ आत्मसाधना का ध्येय हो वहाँ साधक पवित्र पावन ध्येय पर अपनी वृत्ति को टिकाता है, उसका निरोध करता है या एकाग्र करता है। किन्तु जहाँ व्यक्ति की मानसिकता विचारग्रस्त हो वहाँ एकाग्रता तो हो सकती है किन्तु उसका केन्द्र आत्मविपरीत दूषित या पाप पूर्ण होता है। भाष्यकार व्यास ने इस प्रसंग में क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र एवं निरुद्ध के रूप में पाँच मनोभूमियों का जो विवेचन किया है, उसके अन्तर्गत क्षिप्त भूमि का जो प्रतिपादन हुआ है उसके अनुसार क्षिप्त भूमि में अवस्थित साधक में आध्यात्मिक विषयों के चिन्तन के लिए जैसी स्थिरता होनी चाहिए, वैसी नहीं होती। उसका अस्थिरता युक्त चित्त, हिंसा, वैमनस्य तथा द्वेष आदि से आविष्ट रहता है और उन्हीं पर वह एकाग्र या ध्यानस्थ हो सकता है।

यद्यपि यह ध्यान तो है किन्तु दूषित, अशुभ और अनुपादेय है। भाष्यकार व्यास का यह विवेचन रौद्र ध्यान के हिंसानन्द भेद से तुलनीय है।

50. वही, 26.4-8

मृषानन्द :

रौद्रध्यान के दूसरे भेद मृषानन्द को परिभाषित करते हुए उन्होंने लिखा है-
“मनुष्य असत्यमूलक कल्पना जाल के पापरूपी कालुष्य से मलिनचित्त होकर जो कुछ चेष्टा करता है, तन्मूलक पुनः-पुनः विचार करता है, ऐसा करने में संलग्न होता है, वह मृषानन्द नामक रौद्रध्यान है।

मृषानन्द ध्यान में अनुरक्त पुरुष ऐसा सोचता है कि प्रवञ्चनापूर्ण शास्त्रों की रचना कर असत्य एवं निर्दयतापूर्ण मार्ग को प्रचलित कर जगत् को उस मार्ग में प्रवृत्त कर कष्टों में डालकर अपना मनोवांछित सुख मैं ही भोगूँ, असत्यपूर्ण चातुर्य के प्रभाव से लोगों का अनेक प्रकार से धन ग्रहण करूँ, अश्व, गज, नगर, रत्नसमूह, सुन्दर कन्यायें आदि प्राप्त करूँ, इस प्रकार सद्धर्म से च्युत होकर असत्य वचनों द्वारा वञ्चना पूर्वक ठगे, ऐसा पुरुष रौद्रध्यान के मृषानन्द भेद का धाम-गृह-आवासस्थान है। दोषरहित जनों के मिथ्याकल्पित आरोपित दोषों को सिद्ध कर अपने असत्यमूलक कौशल के प्रभाव से अपने शत्रुओं का राजा के द्वारा अथवा अन्य किसी के द्वारा घात करवाऊँ, मरवाऊँ इस प्रकार का चिन्तन इसी के अन्तर्गत है।

अपने वाक् कौशल, वचन की प्रवीणता के प्रयोग द्वारा अपने वांछित प्रयोजनों को सिद्ध करने हेतु अज्ञजनों को निरर्थक संकट में डालूँ, ऐसा चिन्तन भी रौद्रध्यान के इसी भेद के अन्तर्गत है।⁵¹

चौर्यानन्द :

चौर्यानन्द ध्यान का लक्षण बतलाते हुए ग्रन्थकार ने कहा है कि जो चोरी के कार्यों के उपदेश के अधिक्य तथा चौर्य कर्म में चातुर्य और उनमें तत्परचित्त हो, उसकी मानसिकता, एकाग्रता उसी दिशा में बनी रहती है वह चौर्यानन्द ध्यान है।

जो चौर्य कर्म के लिए निरन्तर चिन्तित रहे, चोरी करके हर्षित एवं आनन्दित रहे तथा चोरी द्वारा दूसरे के धन का हरण करे, ज्ञानीजनों ने वैसे पुरुष के ध्यान को चौर्यानन्द रौद्रध्यान कहा है।⁵²

51. वही, 26.16-22

52. वही, 26-24-25

संरक्षणानन्द :

जो प्राणी रौद्र-क्रूर चित्त होकर अपने आरम्भ-समारम्भ एवं परिग्रह की रक्षा हेतु नियम से उद्यत रहे, सतत प्रयत्नशील रहे तथा अपनी मनःसंकल्प परम्परा को उसी के साथ जोड़े रखे, चित्त में क्रूरतापूर्ण महता का अवलम्बन कर ऐसा सोचे कि मैं राजा हूँ, परम शक्तिशाली हूँ, मैं अपने प्राप्त परिग्रह तथा भोगोपभोग आदि के पदार्थों का संरक्षण करने में समर्थ हूँ। इस प्रकार की चित्त की एकाग्रता विषयसंरक्षणरौद्रध्यान के भेद में समाविष्ट है।⁵³

रौद्र ध्यान के बाह्य चिह्न :

रौद्रध्यान के चारों भेदों का निरूपण करने के पश्चात् ग्रन्थकार ने रौद्रध्यान की पहचान का वर्णन करते हुए लिखा है-क्रूरता, दण्ड की परुषता, दण्ड की भीषणता, वञ्चकता, कठोरता एवं नृशंसता ये रौद्रध्यान की आन्तरिक पहचान हैं।

चिनगारी की ज्यों नेत्रों की लालिमा, भौंहों की वक्रता, आकृति की भयानकता, देह की कंपनशीलता तथा शरीर में स्वेद का आ जाना इत्यादि रौद्रध्यान के बाह्य चिह्न हैं।

रौद्रध्यान क्षायोपशमिक भाव है। इसका समय अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त माना गया है। इसके साथ दूषित अभिप्राय जुड़े रहते हैं इसलिए यह अप्रशस्त है। जब यह ध्यान प्राणियों में आविर्भूत होता है तो लोकत्रय के वैभव को प्राप्त करवाने वाला धर्म रूपी कल्पवृक्ष आधे क्षण मात्र में दग्ध हो जाता है।⁵⁴

अन्त में, उन्होंने अप्रशस्त ध्यानों की उत्पत्ति के विषय में कहा है कि अनादिकाल के दृढ़ संस्कारों के परिणामस्वरूप जीवों के स्वयं ही बिना किसी प्रयत्न के ये दुर्ध्यान प्रतिक्षण उत्पन्न होते रहते हैं।⁵⁵

अत्यन्त प्रेरणापूर्ण शब्दों में ग्रन्थकार ने साधक को उद्बोधित करते हुए कहा है कि हे धीर पुरुष यदि तू मोक्षमार्ग में संप्रवृत्त हुआ है तो अनेक रूप निन्दनीय दूषित

53. वही, 26.29

54. वही, 26.37-40

55. वही, 26.43

ध्यानों का परित्याग कर। परम पावन महापुरुषों ने ऐसा उपदेश किया है, उस पर भली भाँति चिन्तन कर तुम उन दुर्ध्यानों को शीघ्रातिशीघ्र छोड़ो। ये दुर्ध्यान पाप रूपी अटवी के बीज रूप हैं, जितने भी पाप हैं इन्हीं से पनपते हैं। ये घोर दुःख युक्त फल देने वाले हैं, अतएव सर्वथा परित्याज्य एवं परिहेय हैं।⁵⁶

धर्मध्यान की आराधना :

ध्यान के अभ्यास में लगने को समुद्यत साधक को सम्बोधित कर ग्रन्थकार ने लिखा है कि प्रशमभाव - कषाय की मन्दताजनित शुद्ध सात्त्विक भावों का अवलम्बन कर अपने मन को वश में कर कामभोगों से, तद्गत वासनाओं से विरत होकर धर्मध्यान का अनुचिन्तन करो।⁵⁷

उन्होंने आगे लिखा है, ध्यान और वैराग्य से युक्त, इन्द्रिय और मन का संवरण करने वाला, उन्हें जीतने वाला स्थिरचेता, मुमुक्षु, धीर, प्रमाद एवं आलस्य शून्य ध्याता ही प्रशंसनीय है।

वैसा ध्यानयोगी अपने द्वारा स्वीकृत ध्यान साधने की तत्त्वतः अर्हता लिये हुए है। ज्ञानवैराग्य की चर्चा कर ग्रन्थकार ने आगे ध्यानाभ्यासी की चित्त की निर्मलता, पवित्रता और उदारता के लिए, जो ध्यान के सम्यक् निर्वाह हेतु आवश्यक है, ऐसी मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ्य रूप चार भावनाओं का अभ्यास करने का निर्देश किया है। ध्यान के सिद्ध होने में इन्हें सहयोगी माना है।

मैत्री भावना :

ग्रन्थकार ने लिखा है- क्षुद्र, सूक्ष्म, बादर या स्थूल भेद युक्त त्रस स्थावर प्राणी तथा विभिन्न योनियों में अवस्थित जीव अपनी-अपनी सुख-दुःखादि अवस्थाओं में विद्यमान हैं, उन सब के प्रति समानता का भाव रखते हुए किसी की भी विराधना न हो, सभी अपने-अपने रूप में सुखी रहें, सब के प्रति इस प्रकार का उत्तम चिन्तन मैत्री भावना है। सभी प्राणी क्लेश और दुःख से रहित होकर अपना जीवन जीते रहें, वैर और पापपूर्ण कार्यों तथा परपीड़न का परित्याग कर सब सुखी रहें।⁵⁸

56. वही, 26.44

57. वही, 27-1

58. वही, 27.6-7

कारुण्य :

जो लोग दैन्य, शोक, त्रस, रोगादि जनित पीड़ा से दुःखित हैं, घात एवं बन्धन से अवरुद्ध हैं, जो अपने जीवन की इच्छा रखते हुए ऐसी दैन्यपूर्ण याचना कर रहे हैं, 'हमें बचाओ' जो भूख, प्यास, श्रम आदि से पीड़ित हैं, शैत्य, औषण्य आदि से दुःखित हैं, निर्दय पुरुषों द्वारा उत्पीड़ित हैं, मरण भय से आर्त हैं ऐसे दुःखी प्राणियों को देखकर उनके दुःख को दूर करने के उपाय करने का चिन्तन कारुण्य भावना है।⁵⁹

प्रमोद भावना :

जो पुरुष तपश्चरण, शास्त्राध्ययन और यम-नियम आदि साधना में उद्यमयुक्त हैं, ज्ञान ही जिनके चक्षु हैं, जो विशिष्ट ज्ञानी हैं, इन्द्रिय, मन, कषाय के विजेता हैं, आत्म तत्त्व का अभ्यास करने वालों में निपुण हैं, तीनों लोकों को चमत्कृत करने वाले चारित्र में जिनकी आत्मा अधिष्ठित है, ऐसे पुरुषों के गुणों में प्रमोद-हर्ष का अनुभव करना मुदिता या प्रमोद भावना है।⁶⁰

माध्यस्थ्य भावना :

जो प्राणी क्रोधी, क्रूरकर्मी, मधु-मद्य-मांससेवी, परस्त्रीलुब्ध, अत्यन्त पापपूर्ण आचारयुक्त, देव, शास्त्र एवं गुरुजन के निन्दक हैं, आत्म - प्रशंसक एवं नास्तिक हैं ऐसे जनों के प्रति राग - द्वेष रहित, उपेक्षा भाव रखना, उदासीन रहना माध्यस्थ्य भावना है।⁶¹

इन भावनाओं की महनीयता का वर्णन करते हुए आचार्यश्री ने लिखा है- ये चारों भावनायें साधक जनों के लिए आनन्द रूपी अमृत के सदृश संप्रवाह करने वाली चन्द्र-ज्योत्स्ना के समान है। इनसे रागादि का विपुल क्लेश विध्वस्त हो जाता है तथा ये लोकाग्र-पथ-लोक के अग्र भाग में विद्यमान मोक्षस्थान को प्रकाशित करने में दीपक के सदृश हैं। इन भावनाओं में जो योगी रमण करता है वह इसी लोक में आत्मा से आविर्भूत होने वाले अतिशय युक्त इन्द्रिय निरपेक्ष अध्यात्म सुख को प्राप्त होता है।

59. वही, 27.8.10

60. वही, 27-11-12

61. वही, 27.13-14

जो योगी इन भावनाओं में लीन रहता है वह जगत् के वृत्तान्त को, उसकी वास्तविकता को जानता हुआ निश्चय ही अध्यात्म भाव को स्वीकार करता है। वह जागतिक प्रवृत्तियों में, इन्द्रियों के विषयों में विमोहित नहीं होता। इन भावनाओं का सम्यक् परिशीलन करने पर साधक की मोहनिद्रा छूट जाती है और वह योगनिद्रा को प्राप्त होता है। जब वह महान् साधक इन भावनाओं को स्वायत्त कर लेता है तो वह समस्त जगत् की वास्तविकता को अधिगत कर लेता है, वह उदासीन भाव प्राप्त कर लेता है और योग में मुक्त की ज्यों संप्रवृत्त रहता है तथा मुक्ति जैसे सुख की अनुभूति करता है।⁶²

ध्यान योग्य स्थान :

ध्यान साधना का संबंध मुख्यतः आत्मा के साथ है किन्तु स्थान आदि बाह्य पक्षों की अनुकूलता-सात्त्विकता इसमें सहायक बनती है। इस संदर्भ में आचार्य शुभचन्द्र ने प्रतिपादित किया है कि धन्य-सौभाग्यशाली उत्तम मुनि रागादि रूप पाप फाँसी के जाल को काटकर अचिन्त्य, अपरिमित पराक्रम युक्त होता हुआ ध्यानसिद्धि के लिए विविक्त-एकान्त स्थान को स्वीकार करता है।

ध्यान एवं अध्ययन की सिद्धि के लिए उत्तम मुनीश्वरों ने कई स्थानों को उत्कृष्ट और कई स्थानों को दूषित बतलाया है। प्राणियों का चित्त दूषित स्थान के कारण तत्काल विकारग्रस्त हो जाता है और वही मन उत्तम स्थान के कारण, निश्चल एवं स्थिर हो जाता है।⁶³

ग्रन्थकार ने उन स्थानों का जो विकारोत्पादक हैं, विस्तार से वर्णन किया है।⁶⁴

निष्कर्ष यह है कि ध्यानयोगी सदैव इस ओर पूरी सावधानी वर्ते कि जिस स्थान पर वह ध्यान करता है वह स्थान सर्वथा निरापद, प्रशान्त, एकान्त और सात्त्विक वातावरणमय हो।

इसलिए अन्त में ग्रन्थकार ने पुनः कहा है कि संसार में जो ध्यानसिद्धि में

62. वही, 27.15-19

63. वही, 27.21-22

64. वही, 27.23-33

विघ्नकारक स्थान हैं, साधक को स्वप्न में भी उनका सेवन नहीं करना चाहिए।⁶⁵

आचार्य शुभचन्द्र की वर्णनशैली से यह भली भाँति प्रकट होता है कि विघ्ननिवृत्ति की दिशा में वे साधक को जागरूक और सावधान रहने की बार-बार सूचना करते रहे हैं। वे मानव-मन के विज्ञ थे। मानवीय दुर्बलताओं को जानते थे। अनुकूल-प्रतिकूल विघ्नों में किस प्रकार व्यक्ति पथभ्रष्ट हो जाता है, यह समझते थे। इसलिए वैसे विषयों से दूर रहने की वे जहाँ भी प्रसंग आया, विशेष रूप से निषेध की भाषा में प्रेरणा देते रहे। विघ्नों को टालने की प्रबल मानसिकता साधक में सदैव उज्जीवित रहे, उनका यही अभिप्रेत था।

अत एव आचार्य शुभचन्द्र ने ध्यानयोग्य स्थानों की चर्चा करते हुए लिखा है कि सिद्धक्षेत्र जहाँ बड़े बड़े महापुरुष ध्यान कर सिद्धत्व को प्राप्त हुए, पुराणपुरुषों तीर्थंकर आदि महापुरुषों ने जिन स्थानों को आश्रित कर साधना की, ऐसे पावन स्थल, तीर्थंकरों के कल्याणक स्थान आदि में साधक को ध्यानसाधना का निर्विघ्न अभ्यास करने से ध्यानसिद्धि प्राप्त होती है।⁶⁶

तदनन्तर उन्होंने समुद्रतट, वनभूमि, पर्वतशिखर, नदीतट, कमलान्वित भूखण्ड, प्राकार - नगर का परकोटा, शालवृक्षों के समूह, नदियों के समूह, जल के मध्यवर्ती द्वीप, निरवद्य कोटर, पुरातन वन, श्मशान, पर्वत की जीवादि रहित गुफा इत्यादि स्थानों की चर्चा की है।⁶⁷

उस संबंध में पुनः कहा है कि जहाँ रागादि दोष निरन्तर लघुता को प्राप्त करता जाय, ध्यान के समय साधक को वैसा ही स्थान ग्रहण करना चाहिए।⁶⁸

आसन :

स्थान चयन के पश्चात् साधक ध्यान हेतु कहाँ स्थित हो, इस संबंध में ग्रन्थकार ने लिखा है- धैर्यशील, आत्म-पराक्रमी साधक समाधि की सिद्धि के लिए

65. वही, 27.34

66. वही, 28-1

67. वही, 28.2-7

68. वही, 28.8

काठ के तख्ते, पत्थर की शिला अथवा जमीन पर या बालू रेत पर भलीभाँति स्थिर होकर आसनस्थ बने।⁶⁹

उन्होंने पर्यकासन, अर्द्धपर्यकासन, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, कमलासन तथा कायोत्सर्ग ध्यानयोग्य इन आसनों का उल्लेख किया है।⁷⁰

आगे लिखा है कि जिस-जिस आसन में साधक सुखपूर्वक उपविष्ट हो सके, निश्चल हो सके, वही आसन उसके लिए उत्तम है, ग्राह्य है। इस समय कालदोष से देहधारियों में वीर्य की विकलता है अर्थात् पराक्रम की क्षीणता या सामर्थ्य की हीनता है। इस कारण कतिपय आचार्यों ने पर्यकासन और कायोत्सर्ग इन दो को ही प्रशस्त कहा है। क्योंकि जो वज्रऋषभनाराचसंहनन युक्त पराक्रमी निष्कम्प-धीर पुरुष स्थिरासन थे वे ही सर्वावस्थाओं में ध्यान करके पूर्व काल में सिद्धत्व को प्राप्त हुए हैं।⁷¹

ध्यानसिद्धि के संबंध में ग्रन्थकार ने कहा है कि जब साधक का चित्त अविक्षिप्त-विक्षेपरहित होकर आत्मस्वरूपोन्मुख होता है उस समय ही ध्यान की सिद्धि होती है। ध्यानसिद्धि में स्थान और आसन का भी कारण के रूप में विधान है। यदि उनमें से एक भी न हो तो ध्यानयोगी का चित्त विक्षेप रहित नहीं हो पाता। जो साधक संवेग-वैराग्ययुक्त हो, कर्मास्रवों को रोकने में संलग्न हो, धीर आत्मबली हो, आत्मस्थिर हो, निर्मल आशय युक्त हो, वह सभी अवस्थाओं में, सभी स्थानों में, सभी समय में ध्यान कर सकता है। चाहे निर्जन स्थान हो या जन-संकीर्ण भू-भाग हो, अनुकूल या प्रतिकूल स्थितियाँ हों, यदि साधक का चित्त स्थिर है तो वह उनमें ध्यान करने में सक्षम होता है। ध्यान के समय प्रसन्न होते हुए पूर्व दिशा या उत्तर दिशा में मुख कर ध्यान करना उत्तम है।⁷²

अन्त में, उन्होंने ध्यानाभ्यासी को विशेष रूप से सावधान करते हुए लिखा है कि जब वह ध्यान का आसन जमा कर बैठे तो उसका मन विवेक यानी भेदभाव रूप सागर की तरंगों से निर्मल हो, ज्ञान रूपी मंत्र से रागादि समस्त विषम ग्रह, पिशाच

69. वही, 28.9

70. ज्ञानार्णव 28.10

71. वही, 28.19.23

72. वही, 28.11-13

निकाल दिये गये हों, सागर की ज्यों वह अगाध गंभीरता लिये हो, मेरु पर्वत के सदृश उसमें निश्चलता हो, जिसके अंग - प्रत्यंग तथा मन किसी भी प्रकार से चलित-विचलित न हों, जिसके वेग संकल्प शांत हों, समस्त भ्रम विनष्ट हों, वह उतना निश्चल बना हो कि समीपस्थ मेधावी जन भी ऐसा भ्रम करने लगे कि क्या यह पाषाण मूर्ति है ? यह चित्रांकित प्रतिमा है ? यह आसनजय की सिद्धि का रूप है।

प्राणायाम :

‘ज्ञानार्णव’ के 29वें सर्ग में प्राणायाम का विवेचन किया गया है। प्राणायाम अष्टांग योग का चौथा अंग है। प्राणायाम शब्द प्राण और आयाम इन दो शब्दों से बना है। ‘प्राणानाम् आयामः प्राणायामः’। प्राण का अर्थ वायु है। संस्कृत में प्राण शब्द नित्य बहुवचन में प्रयुक्त होता है। उच्छ्वास, निःश्वास के रूप में इसका प्रतिक्षण संचरण होता है। यही दैहिक जीवन का लक्षण है। योग में उच्छ्वास-निःश्वास के नियमन का विशेष रूप से विधान किया गया है। महर्षि पतंजलि ने उसका लक्षण बताते हुए संक्षेप में विवेचन किया है। हठयोग में इस पर विशेष रूप से चर्चा हुई है।

‘हठयोग-प्रदीपिका’ में प्राणायाम के महत्त्व का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि प्राणवायु के चलित, चंचल होने पर मन भी चंचल हो जाता है तथा प्राणवायु के निश्चल-सुस्थिर होने पर मन में भी स्थिरता आ जाती है। प्राणवायु को स्थिर कर लेने वाला योगी स्थाणु की ज्यों अचल हो जाता है। अतएव प्राणवायु के निरोध का अभ्यास करना चाहिए। शरीर में जब तक प्राणवायु है तभी तक उसे जीवित कहा जाता है। शरीर से प्राणवायु के निष्क्रान्त हो जाने पर मृत कहा जाता है।⁷³

‘धेरण्ड संहिता’ में कहा गया है कि जो योगी श्वास को-उच्छ्वास-निःश्वास को जीत लेता है, उसका मन उसी प्रकार से रजोगुण से विरत हो जाता है जैसे धौंकनी से प्रज्वलित अग्नि में तपाने से लोहे का मैल जल जाता है।⁷⁴

जैनाचार्यों ने अपने द्वारा रचित योग विषयक ग्रन्थों में प्राणायाम के संदर्भ में अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार चर्चा की है। ध्यान-साधना में वह जितना, जैसा.

73. हठयोगप्रदीपिका, 2.2-3

74. धेरण्ड संहिता पृ. 123

जहाँ उपयोगी हो सके उसी रूप में स्वीकार्य है। आचार्य शुभचन्द्र ने इस विषय को भी अपने विवेच्य विषयों में स्वीकार किया है।

उन्होंने प्रारम्भ में प्राणायाम की विशेषता की चर्चा करते हुए कहा है कि जिन संयमी पुरुषों ने सत् सिद्धांतों का भली-भाँति निर्णय किया है, जिन्होंने धर्म के वास्तविक तत्व को निश्चित कर स्वीकार किया है, उन्होंने अन्तरात्मा की स्थिरता और ध्यान की सिद्धि के लिए प्राणायाम को प्रशंसनीय या प्रशस्त कहा है।⁷⁵

उन्होंने आगे पूरक, कुंभक और रेचक के रूप में प्राणायाम के सुपरिचित तीन भेदों का उल्लेख किया है। उन्होंने कहा है कि तालुवे के छिद्र से अथवा बारह अंगुल पर्यंत से वायु को खींचकर उसे अपनी इच्छानुसार अपने शरीर में पूरण करना वायुविज्ञानवेत्ताओं द्वारा पूरक पवन कहा गया है। उस पूरक पवन को स्थिर कर नाभिकमल में जैसे घट को भरा जाय वैसे रोकना, स्थिर करना, अन्य स्थान की ओर न जाने देना कुम्भक है। अपने कोष्ठस्थित पवन को अत्यन्त यत्न के साथ धीरे-धीरे बाहर निकालने की क्रिया पवनागम-प्राणवायु विषयक शास्त्र के विद्वानों द्वारा रेचक कही गयी है। नाभिस्कंध से निःसृत तथा हृदय कमल में से होकर तालुरन्ध्र में विश्रान्त (स्थित) पवन को परमेश्वर प्राणवायु का स्वामी कहा गया है।⁷⁶

ग्रन्थकार ने प्राणायाम से सम्बद्ध सूक्ष्म क्रिया का वर्णन करते हुए कहा है - प्राणायाम का अभ्यास करने वाला योगी तन्द्रारहित या प्रमादशून्य होकर यत्नपूर्वक अपने मन को वायु के साथ धीरे-धीरे हृदयकमल की कर्णिका में प्रविष्ट कराकर वहाँ नियन्त्रित करे। वैसा कर लेने पर मन में विकल्प नहीं उठते और विषयों की आशा-तृष्णा भी विनष्ट हो जाती है। अन्तरंग में विशिष्ट ज्ञान की ज्योति संस्फुरित होती है। इस प्राणवायु विषयक साधना का फल मन का वशीकरण है। इस प्रकार जो योगी मन को वश में कर लेता है, अध्यात्म भाव से अनुप्राणित रहता है, उसकी अविद्या क्षणभर में नष्ट हो जाती है। इन्द्रियाँ मद रहित बन जाती हैं और कषाय क्षीण हो जाते हैं।⁷⁷

75. ज्ञानार्णव 29-1

76. वही, 29.3-7

77. वही, 29.10-12

प्राणायाम की साधना से निष्पन्न विशेषताओं की चर्चा करते हुए आचार्य लिखते हैं कि जो पुरुष प्राणायाम का अवलम्बन करते हैं उनका चित्त स्थिर हो जाता है। चित्त की स्थिरता होने से विशिष्ट ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। उससे योगी जगत् में समस्त वृत्तान्त को प्रत्यक्षवत् जानने लगता है।⁷⁸

इसके अनन्तर ग्रन्थकार ने प्राणायाम की और भी सूक्ष्म विद्याओं का पृथ्वी, वायु, जल, अग्नि तत्त्व के आधार पर वर्णन किया है। भौतिक देह में ये तत्त्व विद्यमान हैं, जिनके साथ विशेष रूप से श्वासोच्छ्वास के समायोजन का विशेष क्रम प्रतिपादित किया है।

प्रत्याहार का स्वरूप :

प्रत्याहार शब्द प्रत्याह्रियन्ते इन्द्रियाणि विषयेभ्यो येन स प्रत्याहारः। जिसके द्वारा इन्द्रियाँ विषयों से प्रत्याहृत कर, खींचकर वशमें की जाती हैं उसे प्रत्याहार कहा जाता है। इन्द्रियों के साथ-साथ मन पर भी यह घटित होता है। योगांगों में यम से प्राणायाम तक चारों अंग योग के बाह्य अंग कहे जाते हैं। आगे के चार आन्तरिक अंग कहे गये हैं। क्योंकि उनका इन्द्रिय और मन के जैसे तथा आत्माभ्युदय से संबंध है। आचार्य शुभचन्द्र ने पूर्व योगांग क्रम के अनुसार प्राणायाम के पश्चात् प्रत्याहार का वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है- प्रशान्त बुद्धि युक्त साधक अपनी इन्द्रियों और मन को उनके विषयों से खींच कर जहाँ-जहाँ उसकी इच्छा हो वहाँ धारण करे वह प्रत्याहार है। जिसकी परिग्रह आदि से आसक्ति मिट गयी है, जिसका अन्तःकरण संवर में अनुरक्त है, कच्छप की ज्यों जिसने अपने आपको पापास्रव से संवृत कर रखा है वैसा संयमी साधक राग-द्वेष रहित समभाव युक्त होकर ध्यानतंत्र में, ध्यानाभ्यास में स्थिर होने हेतु प्रत्याहार स्वीकार करता है। जितेन्द्रिय साधक विषयों से अपनी इन्द्रियों को पृथक् करे, फिर इन्द्रियों से मन को पृथक् करे और मन को निराकुल बनाकर अपने ललाट पर निश्चलतापूर्वक टिकाये, धारण करे, यह प्रत्याहार की एक विधि है।

प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों के विषयों से खींचा गया, पृथक् किया गया मन समस्त उपाधियों रागादि रूप विकल्पों से रहित हो जाता है, समभाव को अधिगत कर वह आत्मलीन बन जाता है।⁷⁹

78. वही, 29.14

79. वही, 30.1.5

धारणा :

धारणा पातंजल योग का छठा अंग है। योगांगों में क्रमशः ध्यान की दिशा की ओर अग्रसर होता हुआ साधक प्रत्याहार सिद्ध कर लेने पर धारणा पर आता है। धारणा ध्यान की पूर्व पीठिका है, ऐसा कहा जाता है। शरीर के किसी अंगविशेष पर अथवा किसी बहिर्वर्ती लक्ष्य विशेष पर चित्त को बाँध देना, टिकादेना, धारणा कहा गया है।⁸⁰

आचार्य शुभचन्द्र ने तीसवें सर्ग में केवल दो श्लोकों में धारणा के देहगत लक्ष्य बिन्दुओं को लेकर निरूपण किया है। उन्होंने लिखा है कि इन्द्रियसमूह का निरोध कर उनकी विषयानुगामी गति को रोक कर समत्व का अवलम्बन कर साधक को अपने मन को अपने ललाट प्रदेश में संलीन करना चाहिए।⁸¹ निर्मलमति आचार्यों ने नेत्रयुगल, श्रवणयुगल, नासिका का अग्र भाग, ललाट, मुख, नाभि, मस्तिष्क, हृदय, तालु, दोनों भौहों का मध्य भाग इन्हें ध्यान स्थान के रूप में प्रतिपादित किया है। इनमें से किसी एक को आलम्बन के रूप में स्वीकार कर चित्त को टिकाना चाहिए। इन स्थानों में चित्त को विश्रान्त करना, ठहराना, स्वसंवेदन रूप ध्यान का कारण बनता है।⁸²

ग्रन्थकार ने चित्त को किसी एक स्थान पर टिकाने में देह के अन्तर्वर्ती केन्द्रों को ही मुख्य मानते हुए उनका विवेचन किया है। उन केन्द्रों पर चित्त को बद्ध-नियंत्रित एकाग्र करने से साधक में अन्तर्वर्तिता फलित होती है। देह के बहिर्वर्ती स्थानों पर चित्त को टिकाने का उल्लेख न करने के पीछे ग्रन्थकार का यह सूक्ष्म अभिप्राय परिलक्षित होता है।

सर्वीर्यध्यान :

31वें सर्ग में आचार्य शुभचन्द्र ने एक विशेष अनुभूत दृष्टिकोण से ध्यान का वर्णन किया है जिसका परिशीलन करने से साधक में ध्यानसिद्धि करने की क्षमता का उद्भव हो। ध्यानस्थ होने के पूर्व साधक यह चिन्तन करे कि यह कितने बड़े खेद का विषय है कि मैं तो अनन्त गुण रूप कमलों को विकसित करने वाले सूर्य समान

80. योगसूत्र 3.1

81. ज्ञानार्णव 30.12

82. वही, 30.13-14

हूँ, तथापि इस संसार रूपी भयानक अटवी में कर्म रूपी शत्रुओं द्वारा वंचित हुआ हूँ, ठगा गया हूँ, अतः स्व स्वरूप को भूल रहा हूँ। मैं अपने ही विभ्रम, भ्रान्तिमय चिन्तन और कर्मों द्वारा उत्पन्न रागादि अतुल बन्धनों से बँधा हुआ हूँ, अनन्त काल से जन्म-मरणमय संसार में विडम्बित हूँ, विडम्बनामय जीवन जी रहा हूँ। इस समय मेरा रागात्मक ज्वर तो चिन्तन के परिणामस्वरूप जीर्ण हो गया है, उतर गया है, मोह निद्रा छूट गयी है। ध्यान रूपी खड्ग द्वारा मैं अपने शत्रुओं का हनन करने जा रहा हूँ। अज्ञानान्धकार को दूर कर आत्मा का मैं अवलोकन कर रहा हूँ तथा अत्यन्त तीव्र कर्म रूप ईधन के समूह को दग्ध करने जा रहा हूँ। प्रबल ध्यान वज्र द्वारा पापवृक्षों का विनाश कर डालूँ जिससे पुनः भवचक्र में मुझे न भटकना पड़े। जन्म-मरणात्मक मोहरूप ज्वर से उत्पन्न मूर्च्छा के कारण मैं अंधा बन गया, मेरे नेत्र निस्तेज हो गये, अतः भेद-विज्ञान द्वारा उत्पन्न मोक्षमार्ग का मैंने साक्षात्कार नहीं किया। मेरे नेत्र समस्त लोक को देखने हेतु अद्वितीय हैं किन्तु मिथ्यात्व रूपी भीषण मगरमच्छ ने दाँतों से मेरे चित्त को चर्चित कर डाला अतएव मैं कुछ भी देख-जान नहीं सका। मेरी आत्मा परमात्मा है। परम ज्योतिर्युक्त, ज्ञान स्वरूपमय है। वह संसार में सबसे ज्येष्ठ और महान् है। कैसा आश्चर्य है कि मैं वर्तमान में रमणीय दिखने वाले, अन्त में नीरस होने वाले इन्द्रियों के विषयों से ठगाया गया हूँ। मैं (आत्मा) और परमात्मा दोनों ही ज्ञाननेत्रमय हैं अपनी आत्मा द्वारा परमात्म स्वरूप को प्राप्त करने की मेरी आन्तरिक अभीप्सा है।⁸³

इस प्रकार आत्मवीर्य-आन्तरिक शक्ति या पराक्रम को समुदित करने की दृष्टि से ग्रंथकार का यह विवेचन बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यह चिन्तन साधक को उसके शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार कराता है। उसका चिन्तन क्रम और आगे बढ़ता है। मैं अनन्तवीर्य, अनन्त विज्ञान, अनन्त आनन्द स्वरूप हूँ। मेरे इस अनन्तवीर्य आदि के प्रतिपक्षी-विरोधी शत्रु कर्म हैं जो वटवृक्ष के तुल्य हैं। क्या मैं इनका मूलोच्छेद न करूँ ? मैं अपने सामर्थ्य को इसी समय प्राप्त कर परमानन्दमय आत्ममदिर में प्रवेश कर अपने स्वरूप से कदापि प्रच्युत न बनूँ। बाह्य पदार्थों में रही हुई अपनी वांछा का नाश कर जब मैं आत्मस्वरूप में स्थिर होता हूँ तब आनन्दमय बन जाता हूँ। फिर अन्य वांछाओं का कोई स्थान ही नहीं रहता। अपने इस स्वरूप में मैं स्थिर क्यों न बना रहूँ।⁸⁴

83. वही, 31.1-9

84. वही, 31.14-15

ध्यानानुरत संयमी साधक परमात्मस्वरूप में मन लगाकर उसके ही गुणसमूह में रंजित रहे। उनमें अपनी आत्मा को स्वरूपसिद्धि हेतु योजित करे, तन्मय बनाये। इस प्रकार आत्मस्मरण आत्मानुचिन्तन, आत्मानुभवन करता हुआ ध्यान योगी परमात्मस्वरूप का अवलम्बन कर तन्मयता प्राप्त कर लेता है। वह साधक अन्य सबकी शरण का परित्याग कर परमात्मा-स्वरूप को ही शरण रूप मानता है, उसमें तल्लीन हो जाता। वहाँ ध्याता और ध्यान दोनों के भेद का अस्तित्व नहीं रहता तथा देहस्वरूप से ऐक्य प्राप्त हो जाता है।⁸⁵

सवीर्यध्यान, आत्मपराक्रम पूर्ण ध्यान का जो अभ्यास-प्रयोग करते हैं उनके चित्त रूपी सरोवर में उठती हुई राग-द्वेषात्मक तरंगें शिथिल हो जाती हैं, मिटती ही जाती हैं तथा प्रशान्त भाव का उद्गत होता है। आत्मानुभूति की ज्योति प्रकाशित होती है। अन्तरात्मा का स्वरूप कितना शान्त और श्रेयस् पूर्ण है, ऐसा अनुभूत होता है।⁸⁶

अन्त में, सार रूप में ग्रन्थकार ने प्रतिपादित किया है कि परमात्मस्वरूप के ज्ञान के बिना प्राणी संसार रूप इस भवार्णव में भ्रमण करता है। उसे अधिगत कर लेने से वह देवेन्द्र से भी अधिक महत्त्व प्राप्त कर लेता है। वही परमात्मा समस्त लोक के लिए आनन्द का निलय, आवास-स्थान है। वह परम ज्योति स्वरूप है, सबका त्राता, रक्षक या शरणप्रदायक है, परम पुरुष है, वह अनिर्वचनीय है।

धर्मध्यान के भेद :

आज्ञा विचय - 33वें सर्ग में धर्मध्यान के परम्परागत चार भेदों का उल्लेख कर जिनाज्ञा या उपदेश पर अवलम्बित आज्ञाविचय ध्यान का वर्णन किया गया है। ग्रन्थकार ने कहा है- प्रमाण, नय एवं निक्षेपों द्वारा निर्मित, स्थिति, उत्पत्ति व्यय संयुक्त चेतन-अचेतन स्वरूप तत्त्व का चिन्तन, उस पर एकाग्रता, आज्ञा-विचय ध्यान के अन्तर्गत है। सर्वज्ञ प्रभु के उपदेशरूप श्रुतज्ञान शब्द और अर्थ के प्रकाश से समायुक्त है। समग्र विद्याओं का आचार आदि अंग पूर्वक ज्ञानादि के रूप में जो द्रव्यश्रुत भावश्रुत है उस पर चिन्तन को एकाग्र भाव से इस ध्यान में टिकाया जाता है।

85. वही, 31.35-37

86. सवीर्यध्यान पृ. 48

श्रुतज्ञान अत्यन्त गंभीर, परम पावन, पुरातन, पूर्वापर-विरोध आदि दोष से विवर्जित है। वह द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक नय तथा सदभूत असदभूत व्यवहार आदि उपनय से युक्त होने के कारण गहन है। गणधरादि द्वारा स्तवनीय है, विचित्र-अपूर्व तथा अनेक प्रकार के अर्थों से परिपूर्ण है। समस्त लोक को प्रदर्शित करने के लिए वह नेत्र के तुल्य है। वह अनेक पदों का विन्यास है।⁸⁷

निष्कर्ष के रूप में उन्होंने कहा है कि जिस ध्यान में सर्वज्ञ की आज्ञा को पुरस्कृत कर पदार्थों का सम्यक् प्रकार से चिन्तन किया जाता है, उत्तम योगियों ने उसे आज्ञाविचय धर्मध्यान कहा है।⁸⁸

अपाय विचय :

34वें सर्ग में अपायविचय धर्म ध्यान का विवेचन किया गया है। कहा है - सांसारिक प्राणी श्री सर्वज्ञदेव द्वारा उपदिष्ट सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र को प्राप्त न कर संसाररूपी अरण्य में चिरकाल से नष्ट होते हुए जन्म और मृत्यु को प्राप्त करते हुए भटक रहे हैं। कर्मनाश के हेतुभूत और उपाय रूप रत्नत्रय को उन्होंने प्राप्त नहीं किया। यह रंक, दीन, प्राणी जिनेश्वर देवरूपी जहाज को प्राप्त न कर संसार रूप समुद्र में निरन्तर मज्जन-उनमज्जन करते हैं, आवागमन का दुःख भोगते हैं, अपायविचय ध्यान के चिन्तन का यह रूप है।⁸⁹

साधक पुनः यह चिन्तन करे कि इस संसार में एक ओर तो कर्मों की सेना है और एक तरफ मैं एकाकी हूँ। मुझे संकटकारी शत्रु समूह में अप्रमत्त सावधान होकर रहना चाहिए। जिस प्रकार अन्य धातुओं से मिश्रित स्वर्ण अग्नि से परितप्त-परिशोधित किया जाता है, उसी तरह मैं प्रबल ध्यान रूपी अग्नि से कर्मों के समूह को नष्ट कर आत्मा का परिशोधन करूँगा। मोक्ष की दृष्टि से मेरे लिए यह उपादेय है। अथवा, ज्ञान दर्शन चारित्र्य युक्त आत्मा ही उपादेय है। मैं कौन हूँ ? मेरे कर्मों का आस्रव क्यों होता है ? बन्ध क्यों होता है ? किस कारण से निर्जरा होती है ? मोक्ष क्या है ? तथा उसके प्राप्त होने पर आत्मा का कैसा स्वरूप होता है ? संसार का प्रतिपक्षी

87. ज्ञानार्णव 33.8-12

88. वही, 33.22

89. वही, 34.2-3

जो मोक्ष है उसका अविनश्वर अनन्त अव्याबाध स्वाधीन सुख किस उपाय से प्राप्त होता है ? अपने स्वरूप को जानने से मैंने तीनों लोकों को जान लिया है क्योंकि मैं ही सर्वत्र, सर्वदर्शी और निरंजन हूँ।⁹⁰

विपाक विचय :

35वें सर्ग में विपाक विचय धर्मध्यान का विवेचन हुआ है। ग्रंथकार ने कहा है- प्राणियों द्वारा उपार्जित किये हुए कर्मफल का उदय विपाक कहा जाता है। वह कर्मोदय क्षण-प्रतिक्षण होता रहता है। ज्ञानावरण आदि अनेक रूपों में ही जीवों के कर्म-समूह निश्चित द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव को प्राप्त कर इस लोक में अनेक प्रकार से फल देते हैं। कई प्राणी पुष्पों की मालाएँ, सुन्दर शय्या, आसन, यान, वस्त्र, वनिता, वाद्य, मित्र, पुत्र एवं कर्पूर, अगरु, चन्दन, वन-क्रीड़ा, पर्वत, ध्वजा, गज, अश्व, चामर, नगर, खाद्य, पेय, योग्य उत्तमोत्तम पदार्थ तथा वस्तुसमूह को प्राप्त कर सुख भोगते हैं। समस्त ऋतुओं में सुखपद रमणीय, कामभोगोपयोगी स्थान, क्षेत्र प्राप्त कर अतिशय सुख का अनुभव करते हैं। वहाँ दूसरी ओर प्राणी अपने ही कर्मों के कारण संसार में भाले, तलवार, छुरे, यन्त्रात्मक आदि शस्त्र सर्प, विष, दुष्ट हाथी, अग्नि, तीव्र अशुभ ग्रह आदि, दुर्गन्धित सड़े हुए अंग, कीट, कीटाणु, कंटक, रज, क्षार, अस्थि कर्दम, पाषाण, बन्दीगृह सांकल, कीलें बेड़ी शत्रु आदि को प्राप्त होते हुए विविध दुःखों को भोगते हैं।⁹¹

कर्मफल के वैविध्य का ग्रंथकार ने अनेक प्रकार से विवेचन किया है। इस पर ध्यान को एकाग्र करने से आत्मा में उज्ज्वल भावों का उदय होता है और पापपूर्ण कल्पित दूषित कर्मों से बचने की प्रेरणा प्राप्त होती है। यह आत्माभ्युदय का हेतु है।

संस्थान विचय :

36 वें सर्ग में ग्रंथकार ने संस्थान-विचय धर्मध्यान का विवेचन किया है। इसमें लोक के स्वरूप पर ध्यान को केन्द्रित किया जाता है। इस ध्यान का वर्णन करते हुए ग्रंथकार ने लिखा है- पहले तो सब अनन्तानंत प्रदेश रूप आकाश विद्यमान है।

90. वही, 34.8-13

91. वही, 35.1-5

वह स्वप्रतिष्ठित है, किसी अन्य पर आधारित नहीं है। उसके बीच में यह लोक अवस्थित है जिसका सर्वज्ञ ने वर्णन किया है। वह स्थिति-ध्रुवता-उत्पत्ति तथा व्यय-क्षय युक्त है, चेतन-अचेतन पदार्थों से परिव्याप्त है, अनादि है। किसी के द्वारा कृत या रचित नहीं है। वह लोक ऊर्ध्व, मध्य एवं अधः भाग से तीन भुवनों को धारण करता है। इसलिए सूत्रवेत्ताओं ने इसको त्रैलोक्य कहा है।⁹²

इस प्रकार लोक के विविधता पूर्ण स्वरूप एवं तद्गत विभिन्नता पूर्ण पदार्थों पर चिन्तन को टिकाना, एकाग्र करना इस ध्यान के अन्तर्गत है। इस ध्यान से समग्र विश्व का अस्तित्वबोध होता है। विभिन्न स्थितियों में पुण्य-पापात्मक, सुख-दुःखात्मक स्थितियों में विद्यमान प्राणियों के अस्तित्व का भी बोध होता है। वस्तुस्वरूप के बोध से आत्मस्वरूप में निमग्न होने का भाव उदित होता है।

पिण्डस्थ ध्यान :

साधकों द्वारा सामान्यतः धर्मध्यान की ही प्रयोजनीयता है क्योंकि शुक्ल ध्यान की भूमिका तो तब प्राप्त होती है जब आत्मा गुणस्थान की दृष्टि से उच्चातिउच्च स्थान को प्राप्त करने लगती है। धर्मध्यान के अन्य अपेक्षा से पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत चार भेद किये गये हैं। 37वें सर्ग में ग्रन्थकार ने उनका विवेचन किया है।

पिण्डस्थ ध्यान में पिण्डात्मक प्रतीक विशेष को आलम्बन के रूप में स्वीकार किया जाता है। पिण्डस्थ ध्यान की पृथ्वी आदि तत्त्वों के आधार पर पार्थिवी, आग्नेयी, वारुणी, मारुति, तत्त्वरूपवती धारणायें स्वीकार की गयी हैं। पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु एवं अपने आत्मस्वरूप के आधार पर नाभि, हृदय आदि में कमल आदि की परिकल्पना, उसमें कर्मों की भावात्मक रूप में परिस्थापना, अग्नि तत्त्व द्वारा कर्मों का अन्ततः कमलादि का तथा काया का भस्मसात् किया जाना, जलाया जाना वैसा होने के बाद बचे हुए, राख हुए अवशेष का वायु द्वारा लोक में इधर-उधर विकीर्ण किया जाना तथा फिर जल द्वारा सबको संप्रवाहित किया जाना, इस प्रकार कर्मनाश की विधा की बड़ी ही मनोरम कल्पना इनमें की गई है, जो पठनीय और मननीय है। तदनन्तर आत्म तत्त्व को प्रतीक के रूप में स्वीकार कर उसके आध्यात्मिक वैभव के प्राकट्य और निखार का परिदर्शन कराया गया है। आगे आचार्य हेमचन्द्र कृत 'योगशास्त्र'

में वर्णित ध्यान के भेदों के प्रसंग में इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है और मानसिक शुद्धि, कार्मिक क्षय एवं आत्मविशुद्धि की दृष्टि से इनकी उपादेयता पर विचार किया गया है। विभिन्न आचार्यों द्वारा किये गये इस वर्णन से ऐसा अनुमेय है कि कभी ध्यान के क्रियात्मक रूप में इनके अभ्यास का एक क्रम रहा है, क्योंकि ये परिकल्पनायें बड़ी ही आकर्षक, रोचक और प्रभावक हैं। यदि पठन के साथ-साथ इनके क्रियान्वयनमूलक अभ्यास का कोई मनोवैज्ञानिक क्रम स्वीकार किया जा सके तो यह निःसन्देह उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

आज भारतवर्ष में ध्यान के सम्बन्ध में अनेकानेक प्रयोग और विधिक्रम गतिशील हैं। इस प्राचीन परम्परा पर भी विशेष रूप से चिन्तन, विवेचन, विश्लेषण की आवश्यकता है जिससे ध्यानमूलक नवाभिनव प्रयोग विधाओं को विशेष प्रेरणा प्राप्त हो सकती है। जैन ध्यान योग के क्षेत्र में अभ्यास, प्रयोग और अनुसंधानरत सुधीजनों को इस विषय पर विशेष ध्यान देना चाहिए। यह हमारी ध्यान योग विषयक एक प्राचीन धरोहर है, उसे सुरक्षित एवं विकसित किया जाना वांछनीय है।

पदस्थ ध्यान :

38वें सर्ग में पदस्थ ध्यान का ग्रन्थकार ने विवेचन किया है। यह ध्यान पवित्र मंत्राक्षर स्वरूप पदों का आलम्बन कर उन पर चित्त को एकाग्र कर किया जाता है। अनादि सिद्ध स्वर व्यञ्जन रूप वर्ण मातृका के आधार पर भी इसे करने का विधान है।⁹³

हृदय आदि देहगत स्थानों में विविध परिकल्पनाओं के साथ अर्ह आदि के अक्षरों के सन्निवेश की इसमें अनेक विधाएँ स्वीकृत हैं। पदों या अक्षरों का आलम्बन कर एकाग्र की जाने वाली ध्यान रूप चैतसिक स्थिति वास्तव में बड़ी प्रभावोत्पादिका है। पवित्र पदों, मंत्राक्षरों पर ध्यान द्वारा तदनुरूप पवित्रता और निर्मलता का अन्तरात्मा में संचार होता है जिससे ध्यान की प्रक्रिया ऊर्ध्वगामिनी बनती जाती है। पदों एवं मंत्राक्षरों पर की जाने वाली एकाग्रता मूलक परिकल्पनाओं का विस्तृत विवेचन 'योग शास्त्र' के विवेचन के प्रसंग में किया जायेगा। क्योंकि पदस्थ ध्यान की यह प्रक्रिया प्रायः सभी प्रमुख जैन आचार्यों ने लगभग एक जैसी ही स्वीकार की है।

93. वही, 38.1-2

रूपस्थ ध्यान :

39 वें सर्ग में आचार्य शुभचन्द्र ने रूपस्थ ध्यान का वर्णन किया है। यह अरिहंत देव के भावात्मक स्वरूप पर अवलम्बित चैतसिक एकाग्रता का रूप लिये हुए है। अरिहंत देव दैहिक रूप में आज हमारे बीच विद्यमान नहीं हैं। वे परिनिर्वाण या सिद्धत्व प्राप्त कर चुके हैं। इस ध्यान में उनकी सयोग केवलीअवस्था के स्वरूप का चिन्तन किया जाता है। उनके समोसरण की परिकल्पना की जाती है उनके देवादिवंदित महिमामय अतिशय पूर्ण समोसरण में विराजित आध्यात्मिक वैभव से परिपूर्ण स्वरूप का अवलम्बन कर ध्यान कर ध्यान किया जाता है। उस पर चित्त को एकाग्र किया जाता है।⁹⁴ अरिहंत देव के स्वरूप का ध्यान करने वाला साधक अन्य किसी की शरण नहीं लेता, साक्षात् उसमें ही अपने मन को संलीन किये रहता है, उसी में तन्मय रहता है।⁹⁵

ध्यान के अभ्यास द्वारा संयमी साधक सर्वज्ञ प्रभु के स्वरूप के साथ तन्मयता प्राप्त कर लेता है। उस समय वह अपनी असर्वज्ञ आत्मा को सर्वज्ञ स्वरूप अनुभूत करता है। उसके यह भावोद्रेक होता है कि जैसे ये सर्वज्ञ देव हैं मेरी आत्मा भी तदनुरूप स्वरूपता को प्राप्त है। इसलिए मैं उनसे पृथक् नहीं हूँ, अन्य नहीं हूँ, विश्वदर्शी-सर्वदर्शी हूँ।⁹⁶

रूपातीत ध्यान :

40वें सर्ग में आचार्य शुभचन्द्र ने रूपातीत ध्यान का निरूपण किया है। अरिहन्त देव सयोगावस्था में देहयुक्त, मूर्त या रूपयुक्त होते हैं अतएव उनके भावमय स्वरूप के आधार पर जो ध्यान किया जाता है उसे रूपस्थ ध्यान कहा जाता है। किन्तु सिद्धत्व प्राप्त कर लेने के पश्चात् वे अमूर्त, अशरीरी रूपातीत हो जाते हैं। इसलिए उनको अभिलक्षित कर जो ध्यान किया जाता है उसे रूपातीत कहा गया है। ग्रन्थकार ने लिखा है- जो ध्यानयोगी वीतराग प्रभु का ध्यान करता है, वह वीतराग हो जाता है। कर्मों से विमुक्त हो जाता है, छूट जाता है और जो रागयुक्त साधक सराग का

94. वही, 39.1-8

95. वही, 39.33

96. वही, 39-43

आलम्बन लेकर ध्यान करता है वह रागी होकर क्रूर कर्माश्रित बन जाता है। अशुभ कर्मों से बँध जाता है।⁹⁷ संयमी साधकों को कौतुक के रूप में भी स्वप्न में भी कभी अशुभ ध्यान का अभ्यास नहीं करना चाहिए। क्योंकि वे सन्मार्ग की हानि के हेतुभूत हैं। अशुभ ध्यान के कारण सन्मार्ग से च्युत-पतित हुए चित्त को पुनः सैकड़ों वर्षों में भी कोई सन्मार्ग पर लाने में सक्षम नहीं हो पाता।⁹⁸

रूपातीत ध्यान का स्वरूप बतलाते हुए उन्होंने साधकों को प्रेरित करते हुए लिखा है- आकाश के आकार की ज्यों अमूर्त, अनाकार-पुद्गलात्मक आकार से रहित, निष्पन्न-किसी भी प्रकार की हीनाधिकता से वर्जित, शान्त, क्षोभ रहित, अच्युत-अपने स्वरूप में स्थित, चरम शरीर से किञ्चित्-न्यून लोकाकाश के अग्रभाग में अपने सघन प्रदेशों में स्थित शिवीभूत - कल्याणस्वरूप अनामय-रोगादि से सर्वथा विवर्जित, पुरुषाकार को प्राप्त होकर भी अमूर्त परमात्मा का ध्यान रूपातीत ध्यान है। साधक उसका अभ्यास करे।⁹⁹

धर्म ध्यान का फल :

ध्यान की फल-निष्पत्ति की ओर संकेत करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है, जिस प्रकार निष्कम्प-कम्पन या चलन रहित, दीपक सघन अंधकार को शीघ्र ही बुझा डालता है, उसी प्रकार संयमी साधक द्वारा किया गया सुनिश्चल-विचलन रहित ध्यान कर्मकलंक के समूह का शीघ्र ही नाश कर डालता है।

धर्मध्यान का सफल अभ्यासी साधक देह आदि परिग्रहों का अतिक्रमण कर आत्मा में अवस्थित होता हुआ एकाग्र बनता है। वह इन्द्रियों और मन के संयोग से दूर हो जाता है। मन को केवल आत्म-स्वरूप में ही स्थिर बनाये रखता है।¹⁰⁰

शुक्ल ध्यान :

42वें सर्ग में ग्रन्थकार ने शुक्ल ध्यान के स्वरूप आदि का विवेचन किया

97. वही, 40-1
 98. वही, 40.6-7
 99. वही, 40.22-23
 100. वही, 41. 4, 11

है। कहा है- धर्म ध्यान को अतिक्रान्त कर, सिद्ध कर आत्मा की आत्यन्तिक शुद्धि-समाश्रित, वीर्य-आत्मबल का धनी, संयमी साधक अत्यन्त निर्मल शुक्ल ध्यान का अभ्यास प्रारम्भ करता है। जो निष्क्रिय-क्रियारहित, करुणातीत, इन्द्रियविवर्जित तथा ध्यान की धारणा से भी रहित होता है। “मैं इसका ध्यान करूँ।” ऐसा मनोभाव भी जहाँ नहीं रहता, जिसमें चित्त अन्तःमुख होता है, आत्मस्वभाव के सम्मुख होता है उसे शुक्ल ध्यान कहा जाता है। जो वज्रऋषभ नाराच संहनन से युक्त है, पूर्व, एकादशांग और चतुर्दश पूर्व का जिसको ज्ञान है, जिसकी चेष्टाओं में पवित्रता है, जो शुद्ध चारित्र से समायुक्त है वह संयमी साधक ध्यान चतुष्टय में सर्वोत्तम शुक्ल ध्यान को धारण करने में, उसका अभ्यास करने में सक्षम होता है। जब साधक का कषाय रूपी मल क्षीण या उपशांत हो जाता है, तब उसका मन निर्मल या शुक्ल हो जाता है तब उसके शुक्ल ध्यान सधता है। प्राक्कालीन आचार्यों ने ऐसा निरूपण किया है।¹⁰¹

शुक्ल ध्यान के भेदों का वर्णन करते हुए ज्ञानार्णवकार लिखते हैं- प्रारम्भ के दो शुक्ल ध्यानों में प्रथम शुक्ल ध्यान वितर्क और वीचार पृथक्त्व रहित होता है। अत एव उसे पृथक्त्व वितर्क वीचार कहा गया है। दूसरा शुक्ल ध्यान सवितर्क-वितर्क सहित अवीचार-वीचार रहित है। वह एकत्व पद से लांछित-चिह्नित है। संयमी साधकों ने उसे एकत्ववितर्कावीचार कहा है। वह ध्यान अत्यन्त निर्मल होता है।

तीसरा शुक्ल ध्यान सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाति है। चौथा शुक्लध्यान समुच्छिन्नक्रिय-व्युपरतक्रिया संज्ञक है। सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति में उपयोग की क्रिया नहीं रहती। किन्तु काय की क्रिया विद्यमान रहती है। यह काय संबंधी क्रिया मन्द होते-होते जब सूक्ष्म रह जाती है तब यह तीसरा शुक्ल ध्यान सधता है। इसी कारण इसको यह सनंज्ञा दी गई है। चौथा ध्यान तब सधता है जब काय की क्रिया व्युपरत या नष्ट हो जाती है, सर्वथा मिट जाती है।¹⁰²

वितर्क और वीचार को स्पष्ट करते हुए कहा है- जिस ध्यान में पृथक्-पृथक् रूप से वितर्क वैचारिक संक्रमण होता है अर्थात् जिसमें पृथक्-पृथक् रूप में श्रुतज्ञान परिवर्तित होता रहता है वह सवितर्क सवीचार पृथक्त्व ध्यान है। जिसमें वितर्क वैचारिक

101. वही, 42.3-6

102. वही, 42.8-11

संक्रमण नहीं होता और जो एकरूप में ही स्थित होता है वह सवितर्क अवीचार रूप एकत्व ध्यान है। नानात्व या अनेकत्व को पृथक्त्व कहा जाता है। श्रुतज्ञान को वितर्क कहा जाता है, अर्थ व्यञ्जन और योगों के संक्रमण को वीचार कहा जाता है। एक अर्थ से दूसरे अर्थ की प्राप्ति होना अर्थसंक्रमण है। एक व्यञ्जन से दूसरे व्यञ्जन को प्राप्त होकर स्थिर होना व्यञ्जन संक्रान्ति है। एक योग से दूसरे योग में जाना योग संक्रान्ति है। विशुद्ध ध्यान के सामर्थ्य से जिसका मोहनीय कर्म विनष्ट हो गया है, ऐसे अध्यात्मयोगी साधक के ये फलित होते हैं।¹⁰³

पृथक्त्व मूलक ध्यान द्वारा जिस साधक ने अपने चित्त को कषायों से विनिर्मुक्त और शांत बना लिया है, जो कर्म रूप तृणसमूह के वन को दग्ध करने हेतु अग्नि के सदृश समुद्यत है, ऐसे महान् साधक एकत्वध्यानयोगी में एकत्वमूलक ध्यान के सिद्ध करने का पराक्रम प्रस्फुटित होता है।¹⁰⁴

यह पृथक्त्व रहित सवितर्क, एकत्वमूलक ध्यान अत्यन्त निर्मल होता है। अपरिश्रान्त होता हुआ योगी उस ध्यान में एक द्रव्य, एक परमाणु या एक पर्याय का एक योग से चिन्तन करता है। इसलिए इसे एकत्व कहा जाता है। सिद्ध हुई इस ध्यान रूपी अग्नि से घाती कर्म क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं। वह योगी इस ध्यानाग्नि की ज्वालाओं द्वारा दर्शनावरण, ज्ञानावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म को विनष्ट कर देता है।¹⁰⁵

इस दूसरे ध्यान के सिद्ध हो जाने पर साधक आत्मस्वरूप का साक्षात्कार कर आत्यन्तिक, परम शुद्धि प्राप्त कर लेता है। उसे केवलज्ञान और केवलदर्शन अधिगत हो जाते हैं। ये दोनों अलब्धपूर्व हैं। केवलज्ञान सर्वकाल व्यापी है। सर्वज्ञत्व प्राप्त भगवान् अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य आदि विभूतियों से विभूषित हो जाते हैं। इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, धरणेन्द्र, मानव और देव उनके चरणों में नमन करते हैं। वे शील, ऐश्वर्य आदि से युक्त भगवान् भूमण्डल पर विचरण करते हैं। वैसा करते हुए वे जीवों के द्रव्यमल - भावमल रूप मिथ्यात्व का मूलोच्छेद करते

103. वही, 42. 13-17

104. वही, 42. 23-24

105. ज्ञानार्णव 42.26-29

हैं। भव्यजन रूपी कमलसमूह को विकसित प्रफुल्लित करते हैं। इस शुक्ल ध्यान के परिणाम स्वरूप ज्ञानलक्ष्मी, तपोलक्ष्मी तथा देवरचित समवशरण आदि आत्यन्तिक विभूति उन्हें प्राप्त हो जाती है, वे धर्मचक्रवर्ती हो जाते हैं। इस प्रकार अन्तरंग - बहिरंग, आत्मविभूति युक्त केवली भगवान जगद्गुरु और सर्व कल्याणकारी तथा लोकत्रय के अधिपति होते हैं। जिनका नाम - ग्रहण करने से, स्मरण करने से भव्य जीवों के अनादिकालजनित जन्म - मरण आदि रोग लघुत्व पा लेते हैं, घटने- मिटने लगते हैं।¹⁰⁶

उन्होंने आगे लिखा है कि जब केवली भगवान के मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय कर्म नष्ट हो जाते हैं तब चार अघातिकर्म व्यक्तरूप से अवशिष्ट रहते हैं। सर्वज्ञ, क्षीणकर्मा, केवलज्ञान रूपी ज्योतिर्मय सूर्य सर्वज्ञदेव के जब अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयुष्य अवशिष्ट रहता है तब वे सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाति तृतीय ध्यान की अर्हता प्राप्त करते हैं। जो जिनेन्द्र प्रभु छह महीने की आयुष्य शेष रहते हुए केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, वे अवश्य समुद्घात करते हैं, उनके अतिरिक्त जिन्होंने छह महीने से अधिक आयु रहते हुए केवलज्ञान प्राप्त किया है वे विकल्प से समुद्घात करते हैं अर्थात् करते भी हैं नहीं भी करते हैं।¹⁰⁷

तत्पश्चात् ग्रन्थकार ने समुद्घात की प्रक्रिया का विशद वर्णन किया है और बताया है कि अचिन्त्य अनिर्वचनीय, वैशिष्ट्य युक्त केवली प्रभु तब बादर काययोग में स्थिति कर बादर वचनयोग और बादर मनोयोग को सूक्ष्म करते हैं, वे पुनः काययोग को त्याग कर वचनयोग और मनोयोग में स्थिति करते हैं, बादर काययोग को सूक्ष्म करते हैं, फिर सूक्ष्म काययोग में स्थिति कर क्षण मात्र में उसी समय वचनयोग और मनोयोग का निग्रह करते हैं। इस प्रकार वे सूक्ष्मक्रियाध्यान का साक्षात्कार करने योग्य होते हैं। तब सूक्ष्म एक काययोग पर स्थित ध्यान सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाति ध्यान का रूप लेता है। तत्पश्चात् अयोगिगुणस्थान के अन्त समय के पहले समय में देवाधिदेव जिनेन्द्र प्रभु के मुक्ति रूपी लक्ष्मी की प्राप्ति में प्रतिबन्धक, विघ्नकारक बहत्तर (72) कर्मप्रकृतियाँ शीघ्र ही विनष्ट हो जाती हैं। अयोगावस्था प्राप्त परम प्रभु के अयोग गुणस्थान के अन्तिम से पहले समय में जो निर्मल ध्यान निष्पन्न होता है, वह

106. वही, 42.30-37

107. वही, 42. 40-42

समुच्छिन्नक्रिय शुक्ल ध्यान है। तदनन्तर वीतराग प्रभु के अयोग गुणस्थान में अवशिष्ट रही तेरह कर्मप्रकृतियाँ भी विलय पा लेती हैं। अयोगकेवली गुणस्थान में केवली प्रभु निर्मल, शांत, निष्कलंक, निरामय एवं आवागमन रूप संसार के दुर्निवार बन्धजनित कष्टों से रहित सिद्ध, सुप्रसिद्ध, निष्पन्न, कर्ममलविवर्जित, निरंजन, अक्रिय, अशरीर, शुद्ध और निर्विकल्प हो जाते हैं। वहाँ यथाख्यात चारित्र-चारित्र की परिपूर्णता घटित होती है। वहाँ वे मन-वचन-काय के योगों से रहित होते हैं। इसलिए उनकी अयोगी संज्ञा होती है। वे निर्वृत्त हैं इसलिए केवल हैं, अपने आत्मस्वरूप को वे सिद्ध कर लेते हैं। इसलिए साधित आत्मा हैं। स्वभाव स्वरूप और परमेष्ठी हैं। वे चतुर्दश गुणस्थान में अ, इ, उ, ऋ, लृ इन ह्रस्वाक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है उतने काल तक ठहरते हैं। फिर कर्मबन्ध से सर्वथा रहित शुद्धात्म-शुद्ध स्वभाव से ही ऊर्ध्वगमन करते हैं। वैसा कर एक समय में ही कर्मावरोध रहित लोक के अग्र भाग में विराजित होते हैं। वहाँ धर्मास्तिकाय का अभाव है। इसलिए उससे आगे ऊर्ध्वगमन अनुमेय नहीं है। क्योंकि धर्मद्रव्य गतिस्वभावी है, गमन करने में हेतुभूत है। इसी प्रकार अधर्मद्रव्य पदार्थों की स्थिति करने में हेतु है। ये दोनों लोकव्यापी हैं इसलिए पदार्थों की गति, स्थिति लोक में ही होती है। सिद्धात्मा लोकाग्र भाग में स्वभावोत्पन्न अनन्त गुणों के ऐश्वर्य युक्त अवस्थित रहते हैं। वे अव्याबाध, अतीन्द्रिय, नैसर्गिक सुख युक्त होते हैं, जो वर्णनातीत है।¹⁰⁸

ग्रन्थकार द्वारा शुक्ल ध्यान का अनितम पर्यवसान सिद्धत्व प्राप्ति के रूप में जिन प्रेरक, उद्बोधक शब्दों में व्यक्त किया गया है वह उनके कवित्व प्रतिभा प्रसूत वैशिष्ट्य का द्योतक है।

वित्तत्व :

भारतवर्ष में साधना की दृष्टि से नाना प्रयोग हुए हैं। उनमें विधि, पद्धति आदि के सम्बन्ध में विविधता, भिन्नता होते हुए भी तद्विषयक अभ्यास में सभी में एकाग्रता का महत्वपूर्ण स्थान है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि ध्यान के बिना किसी भी प्रकार की साधना में सिद्धि प्राप्त नहीं होती। भारतवर्ष में तन्त्रात्मक साधना का भी विशेष रूप से प्रचलन रहा है। काश्मीर में शैव तन्त्र, वैष्णव तंत्र, शक्ति तंत्र आदि

108. वही, 42.48-64

का विशेष रूप से विकास हुआ। तंत्रसाधना में प्रेरणा, ऊर्जा, शक्ति आदि के विकास के लिए विविध विषयों को प्रतीकों के रूप में ग्रहण किया गया है।

आचार्य शुभचन्द्र जैन विद्या के अतिरिक्त अन्यान्य विधाओं, दर्शनों और साधना पद्धतियों से भली भाँति अभिज्ञ थे। उन्होंने 'ज्ञानार्णव' के 21वें सर्ग में त्रितत्त्व-शिवतत्त्व गरुड़तत्त्व, काम तत्त्व के रूप में साधना के सन्दर्भ में विशिष्ट दृष्टि को प्रस्तुत किया है। उन्होंने आत्मा को ही समस्त शक्तियों का पुंज मानते हुए त्रितत्त्व के विश्लेषण के पूर्व आत्मा के अपरिसीम सामर्थ्य की विवेचना की है। उन्होंने लिखा है - आत्मा स्वयं ही साक्षात् रूप में गुण रूपी रत्नों से परिपूर्ण सागर है। आत्मा में ही सर्वज्ञत्व, सर्वदर्शित्व, रूप वैशिष्ट्य है। वस्तुतः वही हितमय या कल्याणमय है। वही परमेष्ठी पद में संस्थित है, वह निरंजन है, किसी भी प्रकार के कालुष्य से रहित है, शुद्ध नय से आत्मा का यही स्वरूप है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप को नहीं जानकर यह प्राणी कर्मों की प्रवञ्चना में पड़कर इन्द्रियों के भोगों में सुख मानता है। यह उसकी बहुत बड़ी भूल है। जो सुख राग-विजेता संयमी साधक की प्रशम मंद कषाय रूप आत्म-विशुद्धि में है, उसका अनन्तवाँ भाग भी देवेन्द्र को प्राप्त नहीं है। अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य आदि गुणों के आधार पर महापुरुषों ने अपनी आत्मा में ही परमात्मा की गवेषणा करने का सद्प्रयत्न किया है। आत्मा अनन्त पराक्रम संवलित है। समस्त वस्तुओं को अपने ज्ञानात्मक उद्योग से प्रकाशित करता है। ध्यानशक्ति के प्रभाव से वह तीनों लोकों को भी चलायमान कर सकता है, इस आत्मा की शक्ति इतनी विशाल है कि महान् योगियों के लिए भी वह अगोचर है। आत्मा परमोच्च ध्यानप्रसूत समाधि में जब लीन होती है तो वह क्षण मात्र में ध्यान और ज्ञान की दिव्य ज्योति के रूप में अव्याहत प्रकाश करती है। जिस समय विशुद्धि ध्यान के प्रभाव से वह कर्म रूपी ईधन को भस्मसात् कर देती है उस समय परमात्म भाव का स्वयं ही साक्षात्कार हो जाता है। आत्मा के अशेष गुणों का ध्यान से ही प्राकट्य होता है तथा ध्यान से ही अनादि काल से संचित कर्मसंतति विनष्ट होती है। आत्मा ही शिव, गरुड़ और काम कहा गया है। यह अणिमा, महिमा आदि गुणरूप रत्नों का उदधि है।¹⁰⁹

'ज्ञानार्णव' की तत्त्वत्रय प्रकाशिनी टीका में इस श्लोक का विवेचन करते हुए

109. वही, 21.1-9

कहा है- “अयमात्मा शिवः सिद्धः कीर्तितः शुक्लध्यानात्। तथाऽयमात्मा वैनतेयो गरुडः कीर्तितः ध्यानबलात् तथा स्मरःकन्दर्पः कीर्तितः। किं विशिष्टः? अणिमादीत्यादि.....।”

इन तीनों तत्त्वों का आत्मा के साथ ध्यान की दृष्टि से ग्रन्थकार ने गंभीर गद्यात्मक शैली में विवेचन किया है। शिव शब्द अनेक अर्थों को लिये हुए है। वह ब्रह्मा, विष्णु और शिव-महादेवरूप देवत्रय में एक है। वह कल्याण, श्रेयस् और प्रशान्त भाव का सूचक है। गरुड वैदिक परम्परा के पौराणिक साहित्य में भगवान विष्णु का वाहन माना गया है। वह पक्षिराज है। तीव्रतम गति या गमन शक्ति से वह पूर्ण है। काम तत्त्व कमनीयता, रमणीयता या सुन्दरता का प्रतीक है।

आचार्य शुभचन्द्र ने इन तीनों तत्त्वों के वैशिष्ट्य को आत्मा की असीम शक्तिमत्ता से जोड़ते हुए ध्यान के साथ समायोजित किया है। आत्मशुद्धि तथा अन्तःजागरण की पावन यात्रा में जहाँ से भी जो प्रेरक संबल प्राप्त हो उसे ग्रहण करने में प्रखर ज्ञानी और चिन्तक अन्यथा भाव नहीं मानते।

शिवतत्त्व :

आत्मा जब संसारावस्था में होती है तब वह जीवात्मा संज्ञा से अभिहित की जाती है। जब इसे आन्तरिक तथा बाह्य रूप में क्षेत्र-काल-भाव की दृष्टि से अनुकूल सामग्री उपलब्ध होती है तब यह रत्नत्रय सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यक् चारित्र के अतिशय को प्राप्त करती है। उनकी आराधना में संलग्न होने पर उसमें अनन्य भाव का उदय होता है। वह अपने अतिरिक्त अन्य द्वारा अपना श्रेयस् नहीं मानती। उसके आधार पर जब आत्मा का साधनामय उपक्रम अग्रसर होता है तो क्रमशः मोह का अभाव होता जाता है। धर्मध्यान की आराधना के उपरान्त जब उसमें विशुद्ध आत्मस्वरूप मूलक ऊर्जा का अभ्युदय होता है तब शुक्ल ध्यान का आविर्भाव होता है। शुक्ल ध्यान की अव्याप्ति, संप्राप्ति या सिद्धि का परिणाम यह होता है कि ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म जो आत्मगुणों का घात करते हैं, नष्ट हो जाते हैं। इससे आत्मा में अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य रूप शक्ति चतुष्टय का प्राकट्य होता है। आत्मा परमात्म भाव को प्राप्त कर लेती है। इसी को शिवतत्त्व कहा जाता है।¹¹⁰

110. वही, शिवतत्त्व, पृ. 171-172

जीव द्वारा विरक्त भाव से अन्तरात्म भाव में जाते हुए परमात्म भाव को अधिगत करने की इस साधनामय यात्रा की भावना को हृदय में उतारना तथा उससे अपने भावों को अनुप्राणित करना शिवतत्त्व या आत्मभावना है। इससे जीव जो अपने आपको अशिव-अकल्याण, संक्लेश आदि से उद्विग्न मानता है वह शिवतत्त्व की दिशा में, जहाँ इनका सर्वथा अभाव है, गतिशील होता है।

ब्रह्मा, विष्णु और शिव ये तीनों देव पौराणिक साहित्य में सर्जन, रक्षण और प्रलय के साथ जुड़े हुए हैं। शिव प्रलयंकर देव के रूप में स्वीकार किये गये हैं। जैन दृष्टि से ध्यान समस्त कर्मों के प्रलय या नाश का विधायक है। इस दृष्टि से वह भी प्रलयंकर सिद्ध होता है, क्योंकि कर्मों का प्रलय होने से ही परमात्म - साक्षात्कार परम लक्ष्य सिद्ध होता है।

गरुड़ तत्त्व :

पौराणिक आदि मतवादियों द्वारा स्वीकृत गरुड़तत्त्व को आचार्य शुभचन्द्र ने आत्मा की परम तेजस्विता, शक्तिमत्ता एवं ऊर्जस्विता के प्रतीक के रूप में स्वीकार किया है। वह ध्यान जिसके साथ आत्मा का परम प्रबल पराक्रम जुड़ा नहीं होता, विघ्नों के आने पर विचलित हो सकता है। स्वीकृत ध्यान कदापि विचलित और व्याहत न हो इसलिए उसमें विपुल अत्मशक्ति का संयोजन परमावश्यक है। गरुड़ की सर्वातिशायिनी त्वरिततम गतिमयता को परिलक्षित कर आचार्य शुभचन्द्र ने ध्यान में अविश्रान्त गति, अबाधित त्वरा, असामान्यतीव्रता, सर्वथा अस्खलितता लाने हेतु इस तत्त्व का अपनी दृष्टि से प्रतिपादन किया। जिस गद्यात्मक शैली में आचार्य शुभचन्द्र ने वर्णन किया है वह समासबहुल, गंभीर और आलंकारिकता से सुसज्जित है। ग्रंथकार के विवेचन के अनुसार गरुड़ का मुख प्रतीकात्मक रूप में गरुड़ पक्षी के सदृश है। मुख के अतिरिक्त समस्त अंग मानव के अंगों के समान हैं। साथ-ही-साथ उसके दोनों पाश्वर्कों से घुटनों तक लटकते हुए दो पंख हैं। अपनी चोंच में उसने दो सर्पों को ले रखा है। उसके घुटनों से ऊपर नाभिपर्यन्त जल तत्त्व, उसके ऊपर हृदय पर्यन्त अग्नितत्त्व, उसके ऊपर मुख में पवन तत्त्व परिकल्पित है। आकाश तत्त्व में गरुड़ की कल्पना कर ध्यान-योगी ध्यान करते हैं। वे ऐसा मानते हैं कि इससे ध्यान में होने वाले समस्त विघ्न मिट जाते हैं। ग्रंथकार ने इन सभी तत्त्वों का विस्तृत वर्णन किया है। सर्प साधना

में होने वाले विघ्नों के द्योतक हैं। सांसारिक विषय सर्पों की ज्यों डसने वाले हैं। गरुड़ ने दो सर्पों के फनों को चोंच में डाल रखा है ताकि वे अपना विष न उगल सकें। दोनों सर्पों में से एक को गरुड़ ने अपने उदर पर, दूसरे को अपने पृष्ठ पर लटका रखा है ताकि वे परस्पर मिलकर जोर लगाकर उसकी चोंच से छूटने में सक्षम न हो सकें। इस अभिव्यक्ति में आत्मा के तेजोमय एवं परम पराक्रममय शक्तितत्त्व का संसूचन है जिसमें जागृत होने पर विषयों के नाग डस पाने में समर्थ नहीं हो पाते।¹¹¹

यह परिकल्पना बड़ी ही जटिल एवं दुरूह प्रतीत होती है। किन्तु ध्यानयोगी की आन्तरिक शक्ति को उद्दीप्त करने के लिए प्रेरणा प्रदान करने की एक विलक्षण क्षमता इसमें सन्निहित है।

कामतत्त्व :

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चार पुरुषार्थ माने गये हैं। धर्म और मोक्ष का सम्बन्ध है। उसी तरह अर्थ और काम का सम्बन्ध है। सभी सांसारिक उपलब्धियों का लक्ष्य काम की परिपूर्ति है। काम-रूप साध्य को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति अर्थ का अर्जन करता है, अर्थाजर्जन में वह विपुल श्रम, अत्यधिक क्लेश, तिरस्कार, अवहेलना, अपमान आदि सब कुछ सहता है। इस संसार में मानव की जो अविश्रान्त दौड़ दृष्टिगोचर होती है उसके पीछे काम, काम्य भोग एवं यौवन सुख की उद्दाम लिप्सा ही है। जब लिप्सा होती है तब भावना में तीव्रता, उद्यम और अध्यवसाय की गति में प्रचुर वेगशीलता आ जाती है। यद्यपि उस त्वरा और गतिमत्ता का लक्ष्य अपवित्र और संसारवर्धक है, भवाटवी में रमण करवाने वाला है किन्तु त्वरा में जो शक्ति है, उसका महत्त्व तो है ही। यदि उस कामोन्मुख वेग को उदर से निष्कासित कर योग के साथ जोड़ दिया जाय तो वह वेगगत शक्ति पावन बनकर योग को प्रबल बना सकती है। इसी अभिप्राय से संभव है ग्रंथकार ने ध्यान के संदर्भ में काम तत्त्व की परिकल्पना की हो। विवेचन के अन्तर्गत रूपक शैली में ग्रंथकार ने उन सभी उपकरणों, साधनों को वर्णित किया है जो कामात्मक व्यापार में परिलक्षित होते हैं। किन्तु उनका आन्तरिक मोड़, विशुद्ध निर्मल, निर्लेप, उज्ज्वल, ब्रह्मतत्त्व या आत्मतत्त्व की ओर है। भौतिक जगत्, काव्य जगत् में काम को धनुर्धर माना गया

111. वही, गरुड़तत्त्व, पृ. 173-176

है। वह अपने धनुष की प्रत्यंचा पर बाण चढ़ाकर जो भी सामने होते हैं, उनको विमोहित कर डालता है।

कामतत्त्व की परिकल्पना में एक सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तथ्य अनुस्यूत है। वह काम ही, जैसा ऊपर सूचित हुआ है, अपनी परिपूर्ति हेतु व्यक्ति को दुर्गम से दुर्गम, कठोर-से-कठोर कार्य करने की प्रेरणा प्रदान करता है। यदि उस शक्तिमयी प्रेरणा का त्याग, वैराग्य, साधना, योग, कवित्व, सेवा आदि में मनोविज्ञान की भाषा में Sublimation परिष्करण या रूपान्तरण कर दिया जाय तो वह उन-उन क्षेत्रों में एक चामत्कारिक तथा विलक्षण परिणाम ला सकती है। जो परिणाम काम में सांसारिक भोगों के रूप में प्रकट होता है वह अत्यन्त उच्च कोटि की साधना आध्यात्मिक तपश्चरण, योग, साहित्य, तथा सेवा के रूप में उद्भावित हो जाता है। संसार में जो महान् त्यागी, संन्यासी, मुनि, तपस्वी, भक्त, साधक, योगी, जनसेवी या कलाकार हुए, जिन्होंने स्वयं को सब कुछ विस्मृत कर अपने कार्यों में पागल की तरह जोड़े रखा, वे इसी कोटि के पुरुष थे, जिनकी विपुल इच्छाशक्ति सांसारिक भोगों से पराङ्मुख होकर उन कार्यों की पूर्ति में आत्मतोष पाने लगी।¹¹²

ग्रंथकार ने काम तत्त्व की परिकल्पना में समस्त कामात्मक साधनों को प्रतीक के रूप में सम्मुख रखकर तद्गत कामात्मक ऐक्य-सुख को विवेक तथा आन्तरिक अनुभूति पूर्वक आत्मरमण के सुख से जोड़कर भोगवृत्ति को परिष्कृत करने का तथा कामप्रवाह से आत्मप्रवाह में लाने का एक विलक्षण उपक्रम उपस्थापित किया है। यह प्रसंग भी विवेचन और विश्लेषण की दृष्टि से गद्यकाव्य का एक सुन्दर और आकर्षक रूप है पर बड़ा जटिल और कठिन है।

आचार्य शुभचन्द्र ने तन्त्रादि की मान्यता के अनुसार त्रितत्त्व का विकास किया। उन्होंने त्रितत्त्व का स्वरूप तो उपस्थित किया है किन्तु अन्ततः वे यह नहीं मानते कि इससे कोई बहुत बड़ी विशिष्ट सिद्धि प्राप्त हो। शिवतत्त्व के सम्बन्ध में जो कहा गया है वह तो वास्तव में आत्मतत्त्व को अधिगत करने की आराधना में परम्परा से प्राप्त है ही। एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जब इनसे कोई विशेष सिद्धि प्राप्त नहीं होती तो इनके विश्लेषण को उन्होंने क्यों आवश्यक माना। जैसा उनके

विवेचन से प्रकट होता है, अभिप्राय यह है कि अन्य परम्परा में इन तीनों तत्त्वों को लेकर जो वेगोन्नत साधनाक्रम व्याख्यात हुए हैं, उनको यथार्थ रूप में समझकर अपनी साधना की शक्तिमत्ता को संवर्द्धित करने का एक विशेष भाव तो समुदित होता ही है। साथ-ही-साथ वे अन्त में यह भी कहते हैं कि परमात्मस्वरूप-प्राप्ति रूप सर्वोत्कृष्ट साध्य को साधने का मूल साधन तो आत्म-सामर्थ्य ही है। आत्मशक्ति में और सभी शक्तियों का स्वरूप दर्शन, जिससे यदि लाभ होता हो, तो अंवाछनीय नहीं है।

आचार्य शुभचन्द्र विलक्षण प्रतिभा के धनी थे, शब्द-साम्राज्य के अधिपति थे। इसलिए उन्होंने जहाँ भी जिस विषय को लिया उसे बड़े ही सुन्दर रूप में समुपस्थित किया। उनकी बहुत बड़ी विशेषता यह है कि तत्त्वदर्शन गर्भित अध्यात्म योग की साधना के विषयों को उन्होंने बड़े ही सरस, ललित, मधुर शब्दों में व्यक्त किया है। तत्त्वदर्शन के साथ उन्होंने कवित्व का जो मणि-काञ्चन संयोग प्रस्तुत किया है, वह अपने आपमें असाधारण है। अध्यात्मयोग तथा ध्यानसाधना से सम्बद्ध विषयों को उन्होंने यद्यपि यथाक्रम तो व्याख्यात नहीं किया किन्तु कोई भी आवश्यक विषय छूटा नहीं है। उन्होंने महर्षि पतंजलि प्रणीत योगांगों को भी दृष्टि में रखा और अपने चिन्तन के अनुरूप उनका, जहाँ-जहाँ जैसा-जैसा समावेश अपेक्षित माना, उपयोग भी किया।

जैन साधना को योग की परिपाटी के समकक्ष मौलिक रूप में उपस्थापित करने का उनका प्रयत्न वास्तव में वैदुष्य के साथ-साथ उनके एक महान् अध्यात्मयोगी होने का परिचायक है। 42 सर्गों में लिखा गया यह महाग्रन्थ निस्सन्देह ध्यान द्वारा लभ्य परम ज्ञान का काव्यात्मक तरंगों से उच्छलित महान् सागर है, जिसमें अवगाहन कर जिज्ञासु, मुमुक्षु साधक अमूल्य अध्यात्म तत्त्व रत्न उपलब्ध कर सकते हैं।

ध्यानस्तव :

ध्यानस्तव आचार्य भास्करनन्दि द्वारा संस्कृत में रचित कलेवर में छोटा सा किन्तु महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। भास्करनन्दि का समय अनुमान के आधार पर बारहवीं शती का प्रारम्भ माना जाता है। इसमें सौ श्लोक हैं। ग्रन्थकार ने अपने चित्त की एकाग्रता के लिए इनकी रचना की है। जिनदेव के प्रति अपनी विशेष विधा में की गई प्रार्थना के रूप में इस कृति का प्रणयन हुआ है। भास्करनन्दि ने आचार्य उमास्वामी के तत्त्वार्थाधिगम सूत्र पर तत्त्वार्थवृत्ति नामक टीका भी लिखी है। उनकी यह कृति उसी

पर आधारित है।

ध्यान पर अपने उद्गार प्रकट करते हुए आचार्य भास्करनन्दि ने कहा है - जिसकी दृष्टि सम्यक् है, जो आसक्तिवर्जित है, वह तत्त्वविज्ञानपूर्वक शुद्ध ध्यान के उपयोग से ही आत्मसिद्धि या आत्मस्वरूपोपलब्धि कर सकता है।

यदि ध्यान में स्थित साधक की आत्मा में ज्ञानात्मा अवभासित नहीं होती, चिन्मय आत्मा का अनुभव नहीं होता तो वह ध्यान वास्तविक ध्यान नहीं है। वह मोहात्मक है।

यदि एक ध्येय पर स्थित ध्यान में भिन्न-भिन्न आलम्बन चिन्तन का विषय बनते रहें तो वह ध्यान नहीं है, वह तो जाड्य है, तुच्छता है। जो आत्मा के ज्ञेय स्वभाव को, ज्ञातृत्व भाव को, औदासीन्य को तथा निज स्वरूप को भली भाँति देखता है उस अध्यात्मवेत्ता का आत्मस्वरूप स्पष्टतया प्रकाशित होता है।

ध्यान के भेदों का वर्णन करने से पूर्व ग्रंथकार ने ध्यानयोगी को अवगत कराया है कि आत्मा के चिन्मय स्वरूप का उसे बोध हो तथा ध्यानात्मक एकाग्रता के समान भिन्न-भिन्न आलम्बनों के साथ उसका चिन्तन न जुड़े। आत्मज्ञाता का आत्मेतर तत्त्वों से कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसा आध्यात्मिक भाव वह लिये रहे तभी उसका भाव, चिन्तन और ध्यान आत्मस्वरूप का साक्षात्कार कराता है।¹¹³

ध्यान के चार भेदों का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है कि प्रारम्भ के दो आर्त्त रौद्र संसृति - संसार के, भव-भ्रमण के हेतु हैं और आगे के दो मोक्षपरायण हैं।

प्रारम्भ में उन्होंने आर्त्तध्यान और रौद्र ध्यान के भेदों का वर्णन किया है।¹¹⁴

धर्मध्यान के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है- जो धर्मानुप्राणित भावों से संलग्न, एकाग्रचिन्तन धर्मध्यान है, वह चार प्रकार का है। तितिक्षा आदि आत्मगुणों का उसमें समावेश है। वस्तु स्वरूप का वह परिचायक है। अतएव वह उत्तम है। वह सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् व्रत सम्यक् आचार से अनुगत है और मोह और क्षोभ

113. ध्यानस्तव (आचार्य भास्करनन्दि) 3, 5-6

114. वही, 9-12

से वर्जित है। वह शर्म-आध्यात्मिक आनन्द का उत्पादक है।

धर्म-भावापन्न धर्मध्यान अनेक प्रकार का है। शमक-उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी से पूर्व छोटे और सातवें गुणस्थान में घटित होता है। आर्तध्यान प्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानों में मुख्य होता है और आगे के तीन गुणस्थानों में वह गौण हो जाता है। धर्मध्यान ही अत्यन्त शुद्धावस्था प्राप्त कर शुक्ल ध्यान के रूप में परिणत हो जाता है। आगे उन्होंने शुक्ल ध्यान के चार भेदों का वर्णन किया है।¹¹⁵

तत्पश्चात् धर्म ध्यान के पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपवर्जित-रूपातीत ध्यान का वर्णन किया गया है।

पिण्डस्थ ध्यान का निरूपण करते हुए उन्होंने भगवान के प्रति संस्तवन के शब्दों में लिखा है- “स्वच्छ स्फटिक के सदृश निर्मल, आदित्य तेज की ज्यों भास्वर, दूर आकाश प्रदेश में लोकाग्र भाग में संस्थित, समस्त अतिशय युक्त, प्रातिहार्य समन्वित, भव्यजनों के लिए आनन्दप्रद, विश्वज्ञ, सर्वज्ञाता, सर्वद्रष्टा, नित्यानन्द स्वरूप, अनन्त आत्मबल संयुक्त परमात्मा को अपने देहस्थ आत्मा से अभिन्न मानते हुए तथा शुद्ध ध्यान रूप अग्नि द्वारा समस्त कर्मों का दहन करते हुए प्रभो जो आपके ध्यान करते हैं, उनका वह ध्यान पिण्डस्थ ध्यान के रूप में समादृत है।¹¹⁶

उन्होंने आगे लिखा है- हे प्रभो ! आपके नाम पद रूप मन्त्र का जो एकाग्रता पूर्वक चिन्तन करता है वह पदस्थ ध्यान के रूप में आख्यात हुआ है।

जो आपके नाम के अक्षरात्मक, शुभ्र प्रतिबिम्ब का ध्यान करते हैं, भगवन् ! वह रूपस्थ ध्यान कहा गया है अथवा शुद्ध, शुभ्र अपने से भिन्न प्रातिहार्य आदि विशेषताओं से विभूषित अर्हन्त प्रभु का जो ध्यान किया जाता है उसे रूपस्थ ध्यान कहा गया है अथवा विशुद्ध बुद्धियुक्त साधक देह से भिन्न आत्मस्थित आपके चिदात्मक स्वरूप का, परमात्म भाव का ध्यान करता है, वह रूपातीत ध्यान है।

असंख्यात प्रदेश स्थित, ज्ञान-दर्शन-युक्त, कर्ता, अनुभोक्ता, अमूर्त, सदात्मक, कथंचित् नित्य, शुद्ध, सक्रिय, न किसी पर रुष्ट होने वाले, न तुष्ट होने वाले, उदासीन

115. वही, 13-23

116. वही, 24-28 37

स्वभाव युक्त, कर्मलेप से विमुक्त, ऊर्ध्वगमन स्वभावयुक्त, स्वसंवेद्य, विभु-सिद्ध, सर्व संकल्पवर्जित परमात्मा के रूप में उत्तम ध्यान करता है, हे देव ! वह रूपातीत ध्यान है, मोक्ष का कारण है।¹¹⁷

आगे उन्होंने यह संकेत किया है कि जो देह, इन्द्रिय, मन और वाणी के ममत्व तथा अहंकार में संलग्न है, वैसा बहिरात्मा-बहिरात्म भाव युक्त, बहिर्मुखी व्यक्ति आपका दर्शन नहीं कर सकता।¹¹⁸

आचार्य भास्करनन्दि ने 'ध्यानस्तव' में पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान का जो वर्णन किया है वह विशेष रूप से समीक्षणीय है। उन्होंने सयोग केवली अवस्था में विद्यमान तीर्थंकर देव के परम ज्योतिर्मय दिव्य सर्वातिशयसमायुक्त स्वरूप को आलम्बन के रूप में स्वीकार कर किये जाने वाले ध्यान को पिण्डस्थ कहा है।

जैन ध्यान परम्परा के ऐतिहासिक विकास-क्रम की दृष्टि से भास्करनन्दि का 'ध्यानस्तव' एक प्रमुख कृति माना जा सकता है। इन्होंने अपने ग्रन्थ में आगम सम्मत चार ध्यान, उनके लक्षण, आलम्बन आदि की चर्चा की है वहीं पिण्डस्थ आदि धर्मध्यान के भेदों का भी वर्णन किया है किन्तु जहाँ आचार्य शुभचन्द्र और हेमचन्द्र ने पिण्डस्थ ध्यान के अतिरिक्त पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु के पिण्डात्मक रूप को गृहीत कर आग्नेयी आदि धारणाओं के रूप में व्याख्यात किया है, वहीं भास्करनन्दि ने भगवान के आध्यात्मिक वैभवमय स्वरूप को पिण्ड के रूप में परिलक्षित कर इस ध्यान को परिभाषित किया है। दोनों विधाओं में यही अन्तर है। ऐसा प्रतीत होता है कि भास्करनन्दि की दृष्टि आध्यात्मिकता के साथ अपेक्षाकृत अधिक जुड़ी थी। इसलिए उन्होंने पार्थिव आदि बाह्य प्रतीकों को पिण्ड के रूप में स्वीकार नहीं किया। साथ-ही-साथ उन्होंने साधक को अपने देहस्थ आत्मतत्त्व के परम पावन स्वरूप परमात्म-भाव की ओर भी प्रेरित किया है। साधक, प्रभु के - वीतराग देव के आध्यात्मिक शुद्ध स्वरूप का चिन्तन करते समय अपनी आत्मा के निरावरण निर्मल स्वरूप की भी निश्चय दृष्टि से परमात्मभाव की समकक्षता का अनुचिन्तन करे।

117. वही, 29-36

118. वही,

आचार्य भास्करनन्दि ने भगवान के नामाक्षरों को शुभ्र उज्ज्वल प्रतिबिम्ब प्रतीक के रूप में स्वीकार कर किये जाने वाले ध्यान को रूपस्थ ध्यान कहा है।

शुद्ध, शुभ्र अपने बाह्य दैहिक रूप से भिन्न प्रातिहार्य आदि से विभूषित अपने देहस्थ अर्हत्स्वरूप आत्मा का ध्यान करना भी रूपस्थ ध्यान के अन्तर्गत है।

शुभचन्द्र-हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने रूपस्थ ध्यान का सम्बन्ध वीतराग प्रभु अरिहंत देव के स्वरूप के साथ जोड़ा है। भास्करनन्दि ने इस सन्दर्भ में कुछ और विशेष बात कही है। उन्होंने भगवान के नामाक्षरमय प्रतीक को भी रूप मानकर उस पर किये जाने वाले ध्यान को रूपस्थ कहा है।

रूपस्थ ध्यान के संदर्भ में उन्होंने एक अन्य अपेक्षा से जो विश्लेषण किया है वह साधक की देह के अन्तर्वर्ती आत्मा के परम दिव्य शुद्ध स्वरूप के साथ संपृक्त है। वहाँ आत्मा का शुद्ध स्वरूप ही ध्येय आलम्बन के रूप में गृहीत हुआ है।

रूपातीत ध्यान में आत्मा के सत्चित् आनन्दमय स्वरूप को गृहीत किया गया है।

आचार्य शुभचन्द्र कृत 'ज्ञानार्णव' में ध्यानसाधना का विस्तृत विवेचन हुआ है। आचार्य ने एक ओर जैन परम्परा की ध्यान-साधना विधि को तो सुरक्षित रखा किन्तु तांत्रिक प्रभाव से अपने को मुक्त नहीं रख पाये। इस शताब्दी में जैन योग अष्टांगयोग, हठयोग और तंत्र-शास्त्र से अधिक प्रभावित मिलता है। आगमिक युग में जो धर्मध्यान था, वह इस काल में पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चार रूपों में वर्गीकृत हो गया। इनका स्रोत ऊँचा है तथा ये उत्तरोत्तर किस प्रकार से विकास को प्राप्त हुए हैं, यह विचारणीय है। इन भेदों का निर्देश आगमों एवं मूलाचार, भगवती आराधना, षट्खण्डागम, तत्त्वार्थ सूत्र, ध्यानशतक आदि ग्रन्थों में नहीं मिलता है।

इन भेदों का उल्लेख हमें आचार्य देवसन (10वीं शती) विरचित 'भावसंग्रह'¹¹⁹ में उपलब्ध होता है। इनका उल्लेख योगीन्द्र (सम्भवतः ई. छठी

119. भावसंग्रह पिण्डस्थ 919-22, पदस्थ 626-27 रूपस्थ 623-25,
रूपातीत 628-30

शताब्दी) विरचित योगसार (गा. 98) में भी किया गया है। इससे पूर्व के अन्य किसी ग्रन्थ में यह देखने में नहीं आया। पद्मसिंह मुनि विरचित ज्ञानसार (वि. 1086) में अरहन्त की प्रधानता से पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ इन तीन की प्ररूपणा की गई है।¹²⁰ वहाँ रूपातीत का निर्देश नहीं किया गया है।

पिंडस्थ आदि चार वर्गीकरण पर तंत्रशास्त्र का प्रभाव प्रतीत होता है। नवचक्रेश्वरतंत्र में पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत को जानने वाले को गुरु कहा गया है -

पिंडं पदं तथा रूपं रूपातीतं चतुष्टयम्।

यो वा सम्यग् विजानाति स गुरुः परिकीर्तितः ॥

गुरुगीता में पिण्ड का अर्थ कुण्डलिनी शक्ति, पद का अर्थ हंस, रूप का अर्थ बिन्दु और रूपातीत का अर्थ निरंजन किया गया है -

पिण्डं कुंडलिनी शक्तिः पदं हंसः प्रकीर्तितः।

रूपं बिंदुरीति ज्ञेयं, रूपातीतं निरंजनम् ॥

ऐसा लगता है कि जैन आचार्यों ने पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत इस वर्गीकरण को स्वीकार किया किन्तु उनके अर्थ अपनी परिभाषा के अनुसार किये। चैत्यवंदन भाष्य में पिंडस्थ, पदस्थ और रूपातीत ये तीन ही प्रकार मान्य किये गये हैं -

भावेज्ज अवत्थतियं पिंडस्थ पयत्थ रूवरहियत्तं।

छदुमत्थ केवलित्तं सिद्धत्थं चेव तस्सत्थो।

इनका अर्थ भी शेष ग्रन्थों से भिन्न है। भाष्यकार के अनुसार छदुमस्थ (आवृतज्ञानी), केवली (अनावृत ज्ञानी) और सिद्ध ये तीन ध्येय हैं। एतद् विषयक ध्यान को क्रमशः पिंडस्थ, पदस्थ और रूपातीत कहा जाता है। उस समय ध्यान के इन प्रकारों से जन-मानस बहुत परिचित हो गया था इसलिए जैन आचार्यों के लिए भी इनका स्वीकार आवश्यक हो गया होगा, ऐसा प्रतीत होता है।

आचार्य शुभचन्द्र ने भी अपने 'ज्ञानार्णव' में धर्मध्यान के अन्तर्गत पिंडस्थ

आदि चार ध्यानों का तथा पार्थिवी आदि धारणाओं का उल्लेख किया है तथा जैन परम्परा के साथ उन्हें समायोजित करने के लिए उनकी विधि में आंशिक परिवर्तन भी किया है।

इसके साथ ही आचार्य शुभचन्द्र की दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने त्रितत्त्व के अन्तर्गत शिवतत्त्व, काम तत्त्व और गरुड़ तत्त्व का जो विवेचन किया है वह ध्यान में और अधिक परमोच्च श्रेयस् भाव, तीव्रतम उत्साह और परम पराक्रम को संयोजित करने के लिए किया है। वस्तुतः आचार्य शुभचन्द्र की इस चर्चा पर भी शैव तांत्रिकों का स्पष्ट प्रभाव है।

आचार्य सोमदेव कृत योगमार्ग :

महान् कवि, तार्किक और तत्त्वद्रष्टा श्री सोमदेव सूरि दिगम्बर जैन परम्परा में देवसंघ के आचार्य थे। उनका समय विद्वानों द्वारा दसवीं शताब्दी माना जाता है। इनके गुरु का नाम नेमिदेव था। उन्होंने अपने द्वारा रचित 'यशस्तिलक चम्पू' में लिखा है कि वे राष्ट्रकूटवंशीय सम्राट् कृष्ण तृतीय के आश्रित सामन्त चालुक्यवंशीय अरिकेसरी के सम सामयिक थे। कृष्ण तृतीय का समय इतिहास के अनुसार 929-968 ईस्वी है। अरिकेसरी का बड़ा पुत्र वाद्यराज-वागराज-वदिदक इनका अनन्य भक्त था। उसकी राजधानी गंगाधारा या गंगधारा नामक नगर में थी। वहाँ 969 ईस्वी में उन्होंने यशस्तिलक चम्पू की रचना की। आचार्य सोमदेव ने युक्तिचिन्तामणि, योगमार्ग, अध्यात्म तरंगिणी एवं नीतिवाक्यामृत आदि अनेक ग्रंथों की रचना की। इनके द्वारा रचित 'योगमार्ग' जैन योग पर विशेषतः ध्यानसाधना पर एक उच्च कोटि की रचना है। इनकी शैली बहुत ही पांडित्यपूर्ण तथा आलंकारिक है। योगमार्ग की विविध छन्दों में रचना हुई है।

योगमार्गसम्मत ध्यान साधना विधि :

आचार्य सोमदेव ने योगमार्ग में ध्यानयोगियों की गरिमा का आख्यान करते हुए लिखा है- जो महापुरुष अपने आप उदयप्राप्त लक्ष्मी-वैभव, साम्राज्य आदि वैभव के उपभोग में, देवों से प्राप्त सामग्री में, ध्यान के प्रभाव से प्राप्त दिव्य भोगों के सेवन में, कल्पवृक्षों से प्राप्त सुख-समृद्धि में, पृथ्वी, आकाश अथवा दिशा-विदिशा में

इच्छानुसार विहरण करने में, जिनकी इच्छाएँ नष्ट हो गई हैं वे आध्यात्मिक योग रूपी अद्वितीय ऐश्वर्य के धनी योगीश्वर साधना में अध्येताओं और साधकों का तेज, ओजस्विता बढ़ायें।

आत्मा रूपी गगन में अत्यन्त वेगपूर्वक भ्रमण करने से, आत्मस्थ रूप में चिन्तनशील रहने से जिनके शरीर उपेक्षित हैं, योगोद्योग-ध्यान योग के प्रभाव से समुत्पन्न अमृत रस के आस्वाद के कारण जिनके मन रूपी राजहंस का प्रचरण मन्द हो गया है अर्थात् जिनका मन अध्यात्म के अमृत में सराबोर होने के कारण स्थिर हो गया है, जिसने इधर-उधर भटकना बन्द कर दिया है, पाँचों इन्द्रियों के विषयों से ममत्व को नष्ट कर डालने के कारण शून्य बने शरीर रूपी घर पर जिनका प्रभुत्व है, वे ममताविहीन योगीश्वर तुम्हारे कर्म रूपी ताप को उपशान्त करें।¹²¹

ध्यानयोगी महापुरुषों को यद्यपि योग-विभूतियों या लब्धियों के रूप में अनेकानेक विशेषताएँ प्राप्त होती हैं किन्तु वे तो सर्वथा निष्क्रिय होते हैं। उन्हें उनकी जरा भी आकांक्षा नहीं होती। उनको जो आध्यात्मिक वैभव प्राप्त होता है। उसी में वे सदा परितुष्ट होते हैं। उनके प्रभाव, सान्निध्य और प्रेरणा से साधकों को निस्सन्देह बड़ा बल प्राप्त होता है।

मन को एकाग्र करने हेतु एक विशेष क्रम का, जिसे अध्यात्मयोगी साध लेते हैं, वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है - “जिन्होंने अपने मन को ब्रह्म ग्रन्थि से निकाल कर नाभिकमल में अवतीर्ण किया है, तदनन्तर बहुत काल तक हृदय कमल में अवस्थान कर, फिर रसना के अति परिचित मुख में, तालु रन्ध्र में फिर चक्षु, भ्रू, ललाट, मस्तक आदि में निर्विघ्नतया परिवर्तित किया है, जन-जन के पूज्य वे ध्यानयोगी तुम्हें उत्कृष्ट अध्यात्म लक्ष्मी प्राप्त कराये।¹²²

ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ में बीच-बीच में प्राणायाम आदि का भी संकेत किया है। आगे उन्होंने अत्यन्त गंभीर रूपकात्मक शैली में ध्यान की विशिष्ट फलवत्ता का उल्लेख करते हुए लिखा है अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह त्याग रूपी ईधन से जलायी गई ध्यान रूपी अग्नि में सम्यक्दर्शन रूपी दिव्य औषधि के प्रभाव से आत्म रस-

121. योगमार्ग (आचार्य सोमदेव) गा. 9-10

122. वही, गा. 11

आत्मस्वरूप के आस्वाद में रति-अनुरक्ति होने लगती है, तत्पश्चात् आकाश के समान निर्मल उपयोग हो जाने के कारण आत्मा में वर्णनातीत दिव्य उत्तम शान्त, आध्यात्मिक आनन्दमयी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जब ऐसा होता है तो फिर संसारी जीव ध्यान साधना रूपी रसायन विधि द्वारा क्यों नहीं सिद्धि प्राप्त कर सकता ?¹²³

इस श्लोक में बड़ी जटिलता से आयुर्वेद सम्मत रसायन विधि के आधार पर ध्यान द्वारा अध्यात्मसिद्धि पाने का मार्ग प्रशस्त किया गया है। आयुर्वेद में लोहे को स्वर्ण बनाने की एक विशेष प्रक्रिया है। विभिन्न वनौषधियों के प्रयोग द्वारा अनेक बार अग्नि में गलाकर, संस्कारित कर सिद्ध किया जाता है। उसे स्वर्णसिद्धि योग कहा जाता है। लोहा सोने के रूप में बदल जाता है। कर्मावरणयुक्त आत्मा और तदाश्रित शरीर को लोहे के रूप में उपस्थित किया गया है। ध्यान का अग्नि के रूपक से निरूपण किया गया है। सम्यक् ज्ञान सम्यक् दर्शनादि औषधियों के रूप में परिकल्पित हैं। इन सब के योग से लोहमयी आत्मा स्वर्णमयी बन जाती है।

चित्त के चिन्तन का लक्ष्य कभी लोकत्रय के आकार का बन जाता है अर्थात् वह तीनों लोकों के पदार्थों पर टिकता है। कभी लोकत्रय में विद्यमान एक द्रव्य को, कभी एक द्रव्य की पर्याय को लक्षित कर एकाग्र होता है। नासिका के अग्र भाग पर नेत्रों की स्थिति रहती है, सूक्ष्म मन वहाँ टिकता है। ध्यानयोगी उन अवस्थाओं को पार कर अपनी आत्मा को ध्यान का लक्ष्य बनाता है। वह जन्म-मरण के, आवागमन के बीज को नष्ट कर डालता है, अपने आप के साथ ऐक्य स्थापित करने वाला ध्यानयोगी समस्त प्राणियों के लिए हर्षप्रद होता है।¹²⁴

अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त चिन्तानिरोध ध्यान का एक रूप है। शुभाशुभ के रूप में वह ध्यान दो प्रकार का है। फिर उसके आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल के रूप में चार भेद हैं। फिर चारों के चार-चार भेदों को मिलाकर यह सोलह प्रकार का है। यह ध्यान अपने - अपने स्वरूप के आधार पर तिर्यच, नरक, स्वर्ग और मोक्ष को देने वाला होता है।¹²⁵

123. वही, गा. 12

124. वही, गा. 14

125. वही, गा. 15

ग्रन्थकार ने संक्षेप में यहाँ चारों ध्यानों का परिचय दिया है। जिस प्रकार चित्त की एकाग्रता के आधार पर शुभ या प्रशस्त एक प्रकार का ध्यान है, उसी प्रकार अशुभ या अप्रशस्त भी आलम्बन की एकाग्रता के आधार पर ध्यान तो होता ही है। इसलिए इसे भी ध्यान कहते हैं, किन्तु यह नहीं समझ लिया जाना चाहिए कि वह आदेय है। आर्त - रौद्र ध्यान अनादेय और त्याज्य हैं। उनका फल तिर्यच योनि या नरक योनि के रूप में है। धर्म, शुक्ल ध्यान ही आत्मकल्याणकारी हैं जो क्रमशः स्वर्ग और मोक्ष प्रदाता हैं।

ध्यानसिद्ध योगीश्वरों ने बतलाया है कि ध्यान पापों का नाश करने वाला है। चंचल, किसी एक स्थान पर नहीं टिकने वाली बुद्धि को किसी एक अभीष्ट तत्त्व पर स्थिर करना, अन्य विषयों से उसे हटाकर ध्यान में लीन करना, द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक आदि अनेक नेत्रों के अनुसार दृढ़ होकर चिन्तन करना, संप्रश्न-अन्तर्जल्प, आन्तरिक ऊहापोह करना, अनुभावित होना अथवा शास्त्रों में वर्णित पंच परमेष्ठियों के वाचक पदों या शब्दों का आलोचन करना अथवा उनका अर्थ समझकर उनमें लीन हो जाना ध्यान है।¹²⁶

आर्त एवं रौद्र ध्यान समस्त संस्थान युक्त देहधारियों में है। सभी शरीरों में, चारों गतियों में सभी संज्ञी एवं विकलेन्द्रिय प्राणियों में सम्भव है। वहाँ योगोपयोग होता है।

उत्कृष्ट धर्म ध्यान संयमी साधकों में होता है। अनुत्कृष्ट जघन्य, मध्यम धर्मध्यान सम्यक्दृष्टि होने पर पशुओं, नारकों, नपुंसकों एवं स्त्रियों में संभावित है। इनके अतिरिक्त अविरत सम्यग्दृष्टि तथा अणुव्रती गृहस्थों में होता है। सर्वज्ञ प्रभु ने ऐसा निरूपित किया है।¹²⁷

धर्मध्यान के वैशिष्ट्य की चर्चा करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है- परम मेधावी आचार्यों ने वस्तु समूह के यथार्थ स्वरूप को धर्म कहा है। तत्सम्बद्ध धर्मध्यान सदैव हर्ष, अमर्ष, द्वेष, अभिरंग आसक्ति से जिनका मन शून्य है ऐसे मुमुक्षुओं को स्वरूप और पररूप के आलम्बन से स्वायत्त होता है।

126. वही, गा. 16

127. वही, गा. 18

मति-श्रुत आदि पाँच ज्ञानों द्वारा जिन्होंने समस्त पर्यायों को जान लिया है, वे जो किसी भी तत्त्व पर अपनी स्थिरता या एकाग्रता साध चुके हैं ऐसे ध्यान योगियों का मन धर्मध्यान में लीन रहता है। मन की चंचलता का नाश हो जाने से वे मोह को जड़ से उखाड़ डालते हैं।¹²⁸

धर्मध्यान के निरन्तर धाराप्रवाह अभ्यास द्वारा जिन्होंने उत्कृष्ट स्थिरता प्राप्त कर ली है, जिन्होंने श्वासोच्छ्वास की उर्मि-लहर के पीड़ा रहित हो जाने से जिन्होंने आसन-विजय कर लिया है, शुभ-अशुभ रूपी दो प्रकार के कर्म रूपी जल को बहा कर लाने वाली मनःप्रवृत्ति को प्रशान्त कर संसार-सागर के तट को प्राप्त कर लिया है, ऐसी मनःस्थिति हो जाने पर ध्यान योगी शुक्ल ध्यान को सिद्ध करने में समर्थ हो जाते हैं।¹²⁹

धर्मध्यान की साधना के अन्तर्गत प्राणवायु के संचारनियमन, क्रमप्रवाह के संशोधन, मानसिक स्थिरता और प्रसन्नता के सम्पादन द्वारा ध्यान में उत्तरोत्तर ऊँची स्थिति करता हुआ योगी शुक्लध्यान की वरेण्य स्थिति प्राप्त कर लेता है। परिष्कृत एवं परिशोधित आत्मोद्यम द्वारा वह उसे साध अग्रसर होता हुआ ऊर्ध्वगामिता कर लेता है।

शुक्ल ध्यान के भेदों का अलंकृत एवं प्राञ्जल भाषा में वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने उस पथ पर आगे बढ़ते हुए साधक का अन्तरात्म भाव से परमात्म भाव की ओर प्रयाण का जो भावचित्र उपस्थित किया है वह एक ओर आध्यात्मिक सामरस्य और दूसरी ओर साहित्यिक सौन्दर्य का एक विलक्षण समन्वय लिये हुए है।

शुक्ल ध्यान में उत्तरोत्तर ऊर्ध्वगामिता प्राप्त करने वाले जीव के कर्मों का जब सर्वथा क्षय हो जाता है तब एक समय में ही वह लोकाकाश के अग्रभाग में तनुवातवलय में जाकर अवस्थित हो जाता है। वहाँ अन्त में छोड़े गये शरीर से किञ्चित् न्यूनाकृति रहती है। क्योंकि अंतिम औदारिक शरीर में नासिका, कर्ण, उदर आदि अंगों में जो पोल रहती है वहाँ आत्मप्रदेश नहीं रहते हैं।

128. वही, गा. 22

129. वही, गा. 24

मुक्तावस्था में जीव के ध्यान भी नहीं होता क्योंकि घाती एवं अघाती सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाता है। यह कर्मक्षय की प्रक्रिया शुक्ल ध्यान के चतुर्थ भेद के समय सम्पूर्णतया सम्पन्न हो जाती है। आगे ध्यान की आवश्यकता नहीं रहती है।

शुक्ल ध्यान के चार भेदों में प्रथम दो सूक्ष्म पृथक्त्व वितर्क, एकत्व वितर्क श्रुतकेवली के होते हैं। अन्तिम दो ध्यानों में तीसरा ध्यान सयोग केवलीअवस्था में एवं चौथा ध्यान अयोग केवलीअवस्था में होता है। मुक्तावस्था में कर्मों का सर्वथा अभाव हो जाने के कारण सिद्धात्माओं में ध्यान की स्थिति नहीं रहती क्योंकि संकल्प-विकल्प के कोई कारण ही वहाँ विद्यमान नहीं रहते जिनके लिए ध्यान किया जाय या जिनका निरोध किया जाय।¹³⁰

‘योगमार्ग’ ध्यान पर ऐसी प्रगाढ़ पाण्डित्यपूर्ण कृति है जो कलेवर में छोटी होते हुए भी भावोदात्तता, वर्णन की उत्कृष्टता और गंभीरता के कारण बड़ी विलक्षणता लिये हुए है।

सोमदेवकृत यशस्तिलक चम्पू में ध्यान :

आचार्य सोमदेव ने ‘यशस्तिलकचम्पू’ में प्रसंगोपात्त ध्यान का विवेचन किया है। ‘यशस्तिलक चम्पू’ संस्कृत साहित्य की एक अत्यन्त गौरवपूर्ण कृति है। साहित्य में जिस रचना में गद्य-पद्य दोनों शैलियों का प्रयोग किया जाता है, उसे चम्पू कहते हैं। संस्कृत में अनेक चम्पू काव्यों की रचना हुई है। सोमदेवकृत ‘यशस्तिलकचम्पू’ में उज्जैन के सम्राट् यशोधर का वृत्तान्त है। इसी कारण इस महाकाव्य का दूसरा नाम ‘यशोधरमहाराजचरितम्’ भी है। महाकाव्य में धर्म, दर्शन, राजनीति, व्यवहार आदि अनेक विषयों का वर्णन होता है। इस महाकाव्य में संस्कृत के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ ‘कादम्बरी’ जैसे लम्बे समासयुक्त पदों का, क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग हुआ है। इसके आठ आश्वास हैं। पहले पाँच आश्वासों में इसकी कथावस्तु परिसमाप्त हो जाती है। अन्तिम तीन आश्वासों को उपासकाध्ययन के रूप में अभिहित किया गया है। इसमें 46 कल्प हैं। यह उपासकों या गृही साधकों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। प्रसंगवश सुदत्त नामक आचार्य के मुख से ग्रन्थकार ने उपदेश के रूप में ध्यान, ध्याता और

ध्येय के स्वरूप का वर्णन किया है। ध्यान के चारों भेदों की भी चर्चा की है, ध्यान विधि, ध्यान का माहात्म्य आदि का भी विशेष रूप से वर्णन किया है।

ध्यान का निरूपण करते हुए उन्होंने लिखा है कि जो साधक शाश्वत या परम लक्ष्य सिद्ध करना चाहता है वह ध्यानविधि को भली भाँति हृदयंगम करे। वह तत्त्वचिन्तन के अमृतसागर में अपने मन को दृढ़तापूर्वक निमग्न कर उसे बाहरी विषयों में व्याप्त होने से सर्वथा दूर रखे। वह उसे जड़वत् बना ले। वह खड़गासन या वज्रासन में ध्यानार्थ स्थित हो। ध्यानमृत का आस्वाद लेते हुए साधक उच्छ्वास तथा निश्वास को सूक्ष्म करते हुए सब अंगों में प्राणवायु के हलन-चलन मूलक संचरण का निरोध करे। वह पाषाण की प्रतिमा जैसा बनकर ध्यान में स्थिरतापूर्वक संलग्न रहे। अपनी पाँचों इन्द्रियों को आत्मोन्मुख बना ले। बाह्य विषयों से दूर कर ले।¹³¹

उन्होंने ध्यान को परिभाषित करते हुए लिखा है कि चित्त को एक मात्र ध्येय में संलग्न करना ध्यान है। ध्यान का फल आध्यात्मिक उज्ज्वलता है। उसे अनुभूत करने में समर्थ आत्मा ध्याता है।

आत्मस्वरूप या आत्मज्योति या श्रुत ध्येय है। शारीरिक संयम, दूसरे शब्दों में, इन्द्रियों का नियंत्रण ध्यान में विहित है।

ध्याननिरत साधक पशु-पक्षीकृत, देवकृत, मानवकृत, आकाश से उत्पन्न, भूमि से उत्पन्न, अपने शरीर से उत्पन्न बाधा, पीड़ा, व्याधि आदि विघ्नों को दृढ़ता पूर्वक सहन करता जाय। वह अनुकूल और प्रतिकूल दोनों का लंघन कर जाय। विघ्न आने पर जो साधक दुर्बलता दिखाता है, उससे वे विघ्न मिटते नहीं, जैसे कोई मृत्यु के आगे यदि दैन्य प्रदर्शित करे तो भी वह उससे बच नहीं सकता। इसलिए उपसर्ग, बाधा, वैपरीत्य आदि के आने पर साधक मन में जरा भी क्लेश का अनुभव न करे। वह परब्रह्म परमात्मा में अपना चिन्तन जोड़े रखे।

आत्म-स्वरूप के साक्षात्कार हेतु साधक ध्यान-साधना के लिए ऐसे स्थान का चयन करे जहाँ उसकी इन्द्रियाँ आसक्ति रूपी चोरों के द्वारा उत्पन्न विघ्न की पहुँच से परे हो, जहाँ ऐसे व्यक्ति या पदार्थ भी न हों जो मन में आसक्ति या मोह पैदा

131. यशस्तिलक चम्पू आशवास श्लोक, 8.155-158

करें। यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से शरीर का कोई महत्त्व नहीं है, परन्तु संसार सागर को पार करने के लिए यह साधना में तुम्बिका के समान व्यक्ति का सहायक है। उसी दृष्टि से शरीर की रक्षा करनी चाहिए।

जो मनुष्य धैर्यरहित है और कायरता युक्त है उसके लिए कवच धारण करना भी निरर्थक है। जिस खेत में धान सूख चुका हो उसकी बाड़ करना निष्प्रयोज्य है, उसी प्रकार जो पुरुष ध्यान में यथार्थतः अपने चित्त को एकाग्र नहीं कर सकता उसके लिए बाह्य विधि-विधान निरर्थक हैं। जैसे वायुरहित स्थान में दीपक निश्चल रूप में प्रकाश देता रहता है वैसे ही साधक का मन जब आन्तरिक और बाह्य अज्ञान रूपी पवन से अविचलित रहता है, तत्त्वचिंतन में सोत्साह लगा रहता है तब उसका ध्यान सबीज ध्यान कहा जाता है।

जब साधक की चैतसिक प्रवृत्तियाँ निर्विचार या संक्रमण रहित हो जाती हैं, साधक जब आत्मा की शुद्धावस्था में ही निमग्न रहता है, तो उसका वह ध्यान निर्बीज ध्यान कहा जाता है।

इस चित्त में अनन्त सामर्थ्य है किन्तु यह पारद के समान चंचल है। आयुर्वेदिक पद्धति द्वारा जैसे पारद मूर्च्छित, मारित और शुद्ध होकर सिद्ध हो जाता है, रसायन का रूप ले लेता है, उसी प्रकार चित्त आध्यात्मिक ज्ञान रूपी अग्नि में मूर्च्छित, मारित और शुद्ध होकर स्थिर हो जाता है। जैसे शुद्ध होकर रसायन बना हुआ पारद अद्भुत वैशिष्ट्य प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार जिस योगी का चित्त स्थिर हो जाता है वह चैतसिक शुद्धि सम्पन्न योगी सब कुछ प्राप्त कर लेता है।

यदि यह मन रूपी हंस समस्त मनोव्यापार से विरहित होकर अचंचल बन जाय, आत्मा के शुद्ध स्वरूप में स्थिरता पा ले तो वह सर्वज्ञानी, सर्वदर्शी, निर्मल आत्मा के रूप में परिणत हो जाता है। समस्त संसार रूपी मानसरोवर उसका अधिष्ठान बन जाता है। वह ध्येय वस्तु में एकाग्र होकर सतत सक्रिय रहता है। वह ज्ञेय, उपादेय आदि भावों के यथार्थ स्वरूप को जान लेता है और जरा भी विभ्रान्त नहीं होता।¹³²

महाकवि ने ध्यान की महिमा का आख्यान करते हुए लिखा है कि रत्नों का

उद्भव यद्यपि भूमि में ही होता है किन्तु सभी भूमियों में रत्न नहीं होते। यही बात ध्यान के साथ है। वह सभी आत्माओं में उत्पन्न नहीं होता। ज्ञानीजनों ने ध्यान का कालमान अन्तर्मुहूर्त बताया है, यह निश्चित है कि इससे अधिक काल पर्यन्त ध्यान का स्थिर रह पाना दुष्कर है। किन्तु यह अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त प्रकट होने वाला ध्यान भी इतना अधिक शक्तिशाली होता है कि जिस प्रकार वज्र क्षण भर में बहुत बड़े पर्वत को तोड़-फोड़ डालता है उसी प्रकार ध्यान कर्मों के उस समूह को नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है जो आत्मगुणों का घात करते हैं।

समुद्र में इतना अपार अबाध जल भरा पड़ा है कि यदि कल्पों तक भी कोई उसे अपने हाथों से उलीचता जाये तो समुद्र को खाली नहीं कर पाता, किन्तु प्रलय काल में जो प्रचण्ड वायु चलती है इसमें उस समुद्र को न केवल एक बार वरन् अनेक बार अविलम्ब खाली कर डालने की शक्ति रहती है। वही स्थिति अन्तर्मुहूर्त ध्यान की शक्ति की है। उसके द्वारा घातिकर्मों के समूह अविलम्ब नष्ट, ध्वस्त और क्षीण कर दिये जाते हैं। ध्यान के माध्यम से आत्मा द्वारा परमात्म स्वरूप में चित्त का स्थिरीकरण करने से परमात्म पद प्राप्त हो जाता है।¹³³

तदनन्तर ग्रन्थकार ने वैराग्य, ज्ञान, असंग चित्त की एकाग्रता, दैहिक और मानसिक आदि दुःखों पर विजय इन्हें ध्यान के सधने के कारण कहा है।¹³⁴

ध्यान योग के बाधक या प्रतिबन्धक कारणों का निरूपण करते हुए उन्होंने लिखा है, आधि-मानसिक पीड़ा, व्याधि-दैहिक रोग, विपर्यास-अतथ्य को तथ्य मानने का आग्रह, प्रमाद, आलस्य, विभ्रम, -भ्रान्ति, अलाभ-फल की अप्राप्ति, संगता-ज्ञान होते हुए भी भौतिक सुखों में आसक्तता, अस्थिरता, अशान्तता, इनसे योग में अन्तराय या विघ्न होता है।¹³⁵

उन्होंने योगी की सुदृढ़ अवस्था का विवेचन करते हुए लिखा है कि चाहे कोई व्यक्ति ध्यानयोगी के शरीर में कंटक चुभोये, कोई उसकी देह पर चन्दन आदि का लेप करे, वैसी बाह्य दृष्टि से दुःखद एवं सुखद स्थितियों में वह न रोष करता

133. वही, 8.172-176

134. वही, 8.177

135. वही, 8.178

है न परितोष ही मानता है। वह तो अपने आप को पाषाण की तरह स्थिर रखता है, ध्यान में निमग्न रहता है।¹³⁶

आचार्य सोमदेव ने अपने ग्रन्थ में ध्यान का जो विश्लेषण किया है, वह जैन परम्परा के चले आते एतद् विषयक क्रम के अनुरूप है। उन्होंने ध्यान में सहयोग करने वाले और विघ्न करने वाले कारणों को बताते हुए ध्यानयोगियों को सावधान किया है।

आचार्य सोमदेव एक बड़े कुशल, सफल, शब्दशिल्पी थे। उन्होंने लालित्यपूर्ण संस्कृत में अपने विवेच्य विषयों का जो निरूपण किया है, वह बड़ा ही सुन्दर और आकर्षक है।

ध्यानसाधना जैसे अध्यात्मयोग संबंधी विषय को उन्होंने सुन्दर काव्यात्मक शैली में प्रस्तुत कर निःसन्देह आकर्षक बना दिया है, किन्तु यह कहना भी असंगत नहीं होगा कि उन्होंने जैनयोग के संदर्भ में कोई नवीन मौलिक चिन्तन प्रस्तुत नहीं किया।



खण्ड : - सप्तम

आचार्य हेमचन्द्र, योगप्रदीपकार व
सकलचन्द्रगणि के साहित्य में ध्यानसम्बन्धी निर्देश

- योगशास्त्र : ध्यान का अनुपम ग्रन्थ
- योगप्रदीप : गागर में सागर
- 'ध्यानदीपिका' : संकलनग्रन्थ

खण्ड:- सप्तम

आचार्य हेमचन्द्र, योगप्रदीपकार व सकलचन्द्रगणि
के साहित्य में ध्यानसम्बन्धी निर्देश

अ) आचार्य हेमचन्द्र का व्यक्तित्व एवं कृतित्व :

आचार्य हेमचन्द्र अपने युग के प्रभावक प्रतिभाशाली विद्वान्, जैनधर्म के अनन्य प्रभावक, धर्मनायक तथा अनेकानेक ग्रन्थों के रचयिता महान् पुरुष थे। गुजरात तथा तत्समीपवर्ती भू-भागों के महान् शासक सिद्धराज जयसिंह द्वारा वे विशेष रूप से सम्मानित थे। सिद्धराज का उत्तराधिकारी कुमारपाल उनका परम श्रद्धाशील अनुयायी था।

आचार्य हेमचन्द्र का जन्म गुजरात में धुन्धुका नामक नगर में एक वैश्य परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम चाचिग था, जो वैष्णव धर्म में श्रद्धाशील थे। उनकी माता का नाम पाहिनी था। वे श्रद्धालु जैन श्राविका थीं। आचार्य हेमचन्द्र शैवास्था में ही प्रखर प्रतिभाशाली थे। वे अपनी माता के साथ जैन उपाश्रय में जाते थे। आचार्य देवचन्द्र सूरि की उन पर दृष्टि पड़ी। उन्होंने अनुभव किया कि धर्मप्रभावना की दृष्टि से इस बालक का भविष्य बड़ा ही उज्ज्वल है। उन्होंने यह बात जैनसंघ के समक्ष व्यक्त की। आचार्य और सारे संघ के अनुरोध पर माता ने उन्हें दीक्षित होने की आज्ञा दी। उस समय उनके पिता घर पर नहीं थे। जब उन्हें ज्ञात हुआ तो वे सहज सहमत नहीं हुए। समस्त जैन संघ के अनुरोध पर उन्होंने दीक्षा की स्वीकृति प्रदान की। आचार्य देवचन्द्र सूरि द्वारा दीक्षित हुए। उनका नाम सोमचन्द्र रखा गया। वे विद्याध्ययन में निरत हुए। ज्ञानावरण के विशिष्ट क्षयोपशम के परिणाम स्वरूप उन्होंने थोड़े ही समय में जैन आगमों के साथ-साथ अनेक शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया। नागौर (राज.) में केवल बीस वर्ष की आयु में वे आचार्य पद पर अधिष्ठित हुए। तब उनका नाम हेमचन्द्र हुआ।

आचार्य हेमचन्द्र ईसा की बारहवीं शती के महान् विद्वान् और क्रान्तिकारी आचार्य थे। व्याकरण, कोश, महाकाव्य, प्रमाणशास्त्र इत्यादि अनेकानेक विषयों पर उन्होंने विपुल परिमाण में ग्रन्थरचना की। उन्होंने न केवल जैनजगत् को ही सांस्कृतिक और साहित्यिक देन दी वरन् उन्होंने समस्त गुर्जर प्रदेश और गुर्जर संस्कृति के इतिहास के नवनिर्माण में जो योगदान किया वह निःसन्देह सदा स्मरणीय रहेगा। भारतीय व्याकरणों में पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' के समकक्ष कोई व्याकरणग्रन्थ यदि कहा जा सकता है तो वह 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' ही है।

सिद्धराज जयसिंह गुजरात के महान् प्रतापी राजा थे। आचार्य हेमचन्द्र से वे अत्यन्त प्रभावित हुए और उनका अधिकाधिक सान्निध्य पाने लगे। उस समय संस्कृत-अध्ययन के क्षेत्र में व्याकरण का सर्वाधिक महत्त्व था। देशभर में प्रायः काश्मीरी वैयाकरणों के व्याकरणों का ही अध्ययन होता था। सिद्धराज की यह भावना थी कि गुजरात में भी महान् व्याकरण का निर्माण हो। उन्होंने गुजरात के विद्वानों की एक सभा आयोजित की और उनके समक्ष अपना अनुरोध निवेदित किया। मात्र हेमचन्द्र ही ऐसे थे जिन्होंने इस अनुरोध को स्वीकार किया। उन्होंने देश में प्रचलित समस्त व्याकरण ग्रन्थ मँगवा कर उनका गहनता एवं सूक्ष्मता से परिशीलन किया। चार वर्ष के घोर परिश्रम से उन्होंने महान् व्याकरण ग्रन्थ की रचना की। उसका नाम 'सिद्ध-हेमशब्दानुशासन' रखा। अपने नाम से पूर्व सिद्धराज जयसिंह का नाम जोड़कर उन्होंने उसे भी अपने साथ सदा के लिए अमर कर दिया। इसके अतिरिक्त कोश, काव्य, प्रमाणशास्त्र इत्यादि विषयों पर उन्होंने अनेक ग्रन्थ रचे। सिद्धराज जयसिंह का उत्तराधिकारी कुमारपाल उनका अनन्य शिष्य था। अपने गुरु के अनुरोध पर अपने द्वारा शासित समस्त राज्य में उसने **अमारी घोषणा** करवायी, जिसके अनुसार मांस विक्रय और भक्षण हेतु पशुवध का निषेध किया गया। लगभग चौदह वर्ष तक यह क्रम चलता रहा जो विश्व के इतिहास का अहिंसा के संदर्भ में अद्वितीय प्रयोग था।

ब) 'योगशास्त्र' ध्यान का अनुपम ग्रन्थ :

कुमार पाल आचार्यश्री के प्रति अनन्य श्रद्धा रखता था। जहाँ उसने राजकीय व्यवस्था के अनुसार जीवहिंसा का निषेध करवाया, वहीं उसने अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य अपने महान् गुरु की प्रेरणा से किये, साहित्य-सर्जन भी किया जैसा कि

‘योगशास्त्र’ के अन्त में आचार्य हेमचन्द्र ने उल्लेख किया है। उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना महाराज कुमारपाल की अभ्यर्थना पर की। महाराज कुमारपाल का यह अनुरोध रहा हो कि आचार्यवर ! आपने अनेकानेक बहुमूल्य रत्नों का सर्जन किया है, साधना हेतु मेरे लिए भी एक ग्रन्थ की रचना करें, जिसके अनुसार मैं अध्यात्म की दिशा में अग्रसर हो सकूँ। आचार्य ने इस ग्रन्थ का नाम ‘योगोपनिषद्’ दिया, यद्यपि यह ग्रन्थ योगशास्त्र नाम से विख्यात है। उन्होंने इसके उपसंहार में विशेष रूप से उल्लेख किया है कि जो मैंने शास्त्रों में पढ़ा, गुरु के उपदेश से, गुरुजन के मुख से श्रवण किया, अनुभव द्वारा जाना, उसी का मैंने इस ग्रन्थ में उल्लेख किया है। ज्ञानीजनों के चित्त के लिए यह चामत्कारिक सिद्ध होगा।¹

‘योगशास्त्र’ के रूप में आख्यात करने में सम्भव है ग्रन्थकार का कोई विशेष आशय रहा हो। भारत में विद्याक्षेत्र में शास्त्र शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पुस्तक, ग्रन्थ आदि की अपेक्षा शास्त्र शब्द के साथ एक महत्ता का समायोजन है। ‘शास्तीति शास्त्रम्’ के अनुसार जो शासित करे, अनुज्ञा के रूप में प्रेरित करे, जीवन में सिद्धान्तों को क्रियान्वित करने का स्फूर्तिमय बोध प्रदान करे, वह शास्त्र है। इस ग्रन्थ के साथ शास्त्र शब्द को योजित करने में विशेष रूप से ग्रन्थकार का यह अभिप्राय रहा है कि उनका शिष्य कुमारपाल तथा अन्य लोग इसका अध्ययन कर इसे अपने जीवन में उतारेंगे और योगनिष्पत्ति लभ्य शान्ति का साक्षात्कार करेंगे। ‘प्रशमरतिप्रकरण’ में भी अन्य प्रकार से ऐसा ही भाव प्रकट किया है।²

आचार्य हरिभद्र ने अपने अन्य ग्रन्थों को ‘योगदृष्टिसमुच्चय’, ‘योगबिन्दु’, ‘योगशतक’ और ‘योगविशिका’ नाम दिये, किसी के साथ शास्त्र शब्द नहीं जोड़ा। आचार्य शुभचन्द्र ने अपने योगविषयक ग्रन्थ को ‘ज्ञानार्णव’ की संज्ञा दी। उत्तरवर्ती महान् विद्वान् तथा योगनिष्णात यशोविजय जी ने भी अपने योगविषयक ग्रन्थों को ‘अध्यात्मसार’ आदि नामों द्वारा अभिहित किया। अभिप्राय यह है कि ‘योगशास्त्र’ के रूप में आचार्य हेमचन्द्र का ग्रन्थ ही जैन योगवाङ्मय में विश्रुत है।

एक बहुत बड़े प्रदेश के शासक के लिए इस ग्रन्थ की रचना करते समय

1. योगशास्त्र, 12.55
2. प्रशमरति. 188

संभवतः ग्रन्थकार के मन में यह भाव रहा हो कि योगसाधना को वे इतने सरल सुबोध रूप में प्रस्तुत करें कि जिससे अनेकानेक लौकिक उत्तरदायित्वों को वहन करते हुए भी व्यक्ति उसे साध सके। इसलिए उन्होंने गृहस्थोपयोगी क्रम को अपनाया। व्रतादि साधना के अंगों को योग की दृष्टि से विशेष रूप से प्रतिपादित किया।

ध्यान की विशेष चर्चा अष्टांग योग के सातवें चरण के रूप में मिलती है। इस प्रकार योग और ध्यान वस्तुतः एक दूसरे के पूरक हैं। ध्यान योग का ही अंग है। अतः योग के स्वरूप को समझे बिना ध्यान की चर्चा संभव नहीं। पातंजल 'योगसूत्र' में ध्यान के पूर्व यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार तथा धारणा को ध्यान का पूर्ववर्ती बताया गया है और समाधि का उल्लेख ध्यान की परिनिष्पत्ति के रूप में हुआ है। इस प्रकार ध्यान और योग में सहसंबंध होने के कारण योगशब्द की व्याख्या आवश्यक प्रतीत होती है।

'योग' शब्द ने कब, कहाँ से अर्थबोध की यात्रा प्रारम्भ की है और इस शब्द से किसने क्या समझा है, यह कहना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि ध्यानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, हठयोग, अध्यात्मयोग, सांख्ययोग, ज्ञानयोग आदि शब्दों में योग शब्द अलग-अलग अर्थों का बोध करा रहा है।

योग शब्द प्रायः ध्यानयोग के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। पतंजलि का योगदर्शन ध्यान-योग की ही आद्योपान्त व्याख्या है। पतंजलि ने योगसूत्र में इसे चेतवृत्ति का निरोध कहा है। योग की यह व्याख्या ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व की गयी थी, किन्तु ध्यानावस्थित साधकों की अनेक मूर्तियाँ, हड़प्पा और मोहनजोदड़ो से उपलब्ध हुई हैं, अतः ज्ञात होता है कि ध्यानयोग की प्रक्रिया से उस काल का मानव भी परिचित हो चुका था जिसे आज के ऐतिहासिक एवं पुरातत्ववेत्ता प्रागैतिहासिक काल कहते हैं।

श्रीकृष्ण का काल ईसा से 3000 वर्ष पूर्व माना गया है, कुछ ऐसे विद्वान् भी हैं जो श्रीकृष्ण को 22000 वर्ष पूर्व का मानते हैं। उन्होंने गीता में सांख्ययोग, भक्तियोग, कर्मयोग, अनासक्त योग आदि शब्दों का प्रयोग किया है। ज्ञातव्य है कि श्रीकृष्ण के समय योग शब्द पूर्णतः प्रसिद्धि पा चुका था। श्रीकृष्ण ने योग शब्द के मुख्यतः दो अर्थ किये हैं - "योगः कर्मसु कौशलम्" कर्म करने में कुशलता ही

योग है और “समत्वयोग उच्यते” समता की साधना ही योग है।³

योग शब्द का कर्म-कौशल अर्थ भी जैन संस्कृति को मान्य प्रतीत होता है क्योंकि यहाँ मन, वचन और काया के कार्य-व्यापारों को योग माना गया है।

भगवान बुद्ध ने योग के स्थान पर समाधि शब्द का प्रयोग किया है और उनकी दृष्टि में हृदय का संशय-रहित होना और मन, वचन एवं काया का सन्तुलन ही योग अथवा ध्यान है। मन, वचन और काया का सन्तुलन होने पर ही चित्त-स्थैर्य प्राप्त होता है और चित्त की स्थिरता में ही समाधि है - आत्मस्वरूप अवस्थिति है।

व्याकरण में धातु, प्रत्ययगत अर्थ यौगिक अर्थ को योग कहते हैं। रसायन क्रिया में दो भिन्न पदार्थों के मिलने से नये पदार्थ की उत्पत्ति को योग कहते हैं। गणित में जोड़ को योग कहते हैं।

श्री भद्रबाहु स्वामी ने ‘आवश्यकनिर्युक्ति’ में साधु की व्याख्या करते हुए कहा है कि- “निव्वाण-साहए जोगे जग्हा साहंति साहुणो।” जिन्होंने निर्वाणसाधक योग की साधना की है वे साधु हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में योग को वाहन की उपमा दी गई है - “वाहणे वहमाणस्य कंतारं अइवत्तई। जोए वहमाणस्स संसारो अइवत्तई।” अर्थात् वाहन को वहन करते यानी खींचते हुए जैसे बैल जंगल को लांघ जाते हैं वैसे ही योग को वहन करते हुए साधक संसार रूपी जंगल को पार कर लेता है।

योग की व्याख्या :

आचार्य उमास्वाति ने सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को मोक्षमार्ग कहा है। उसी को आचार्य हेमचन्द्र ने योग कहा है।⁴ जैसा कि पहले वर्णित हुआ है आचार्य हरिभद्र के अभिमत में धर्मसाधना योग है। उनके अनुसार योग वह है जो मोक्ष से योग अर्थात् संबंध करावे। धर्म मोक्ष का साधन है इसलिए धर्म का जितना परिशुद्ध व्यापार है वह सब योग है।⁵ उन्होंने अपने योगविषयक सभी ग्रन्थों में उन सब साधनों को योग कहा है, जिनसे आत्मा की विशुद्धि होती है, कर्ममल

3. तत्त्वार्थ सूत्र 1.1

4. अभिधान चिन्तामणि 1.77

5. योगविशिका, 1 व्याख्या

का नाश होता है। आचार्य हरिभद्र के विचार से योग का अर्थ है धर्मव्यापार, आध्यात्मिक भावना और समता का विकास, मनोविकारों का क्षय तथा मन, वचन और कर्म का संयमन, तन्मूलक समस्त धर्मव्यापार।⁶

योग शब्द युज् धातु में घञ् प्रत्यय के योग से निष्पन्न है। युज् अर्थात् जोड़ना। मोक्ष के साथ जिस कार्य से जुड़ा जा सके वह योग है। “मोक्षेण योजनाद् योगः” पाणिनीय व्याकरण में युज् धातु का प्रयोग तीन अर्थों में हुआ है - 1. युज् - समाधौ 2. युजिर् - योगे 3. युज् संयमने।

इन तीनों धातुओं से अलग - अलग बने हुए योग शब्द का अर्थ क्रमशः समाधि, जोड़, संयमन होता है। संस्कृत वाङ्मय में इन तीनों अर्थों वाले योग शब्द का प्रयोग होता रहा है।

ध्यान का महत्त्व :

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार कर्म के क्षय से मोक्ष होता है, आत्मज्ञान से कर्मक्षय होता है और ध्यान से आत्मज्ञान प्राप्त होता है अतएव आत्मा के लिए ध्यान हितकारी है।⁷ बिना ध्यान के आत्मदर्शन नहीं होता, ध्यान से ही आत्मा का शुद्ध प्रतिभास होता है।⁸ अर्थात् मोक्ष चाहने वाले साधक के लिए ध्यान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यह ध्यान समत्व की जागृति के अभाव में नहीं हो सकता अर्थात् चित्त को एकाग्र, समभाव में स्थिर किये बिना ध्यान करना व्यर्थ है और ध्यान के बिना निश्चल समत्व की प्राप्ति संभव नहीं। ध्यान और समत्व एक दूसरे के कारण हैं। समत्व भाव की प्राप्ति के बाद ध्यान प्रक्रिया को आगे बढ़ाना चाहिए।⁹

ध्यान के प्रकार :

ध्यान करने वाले दो प्रकार के होते हैं -

1. सयोगी और 2. अयोगी

6. योगबिन्दु, 32

7. योगशास्त्र, 4.113

8. ज्ञानसागर, 36

9. योगशास्त्र 4.114

सयोगी ध्याता भी दो प्रकार के हैं- छद्मस्थ और केवली। एक आलम्बन में एक मुहूर्त 48 मिनट पर्यन्त मन का स्थिर रहना छद्मस्थ योगियों का ध्यान कहलाता है। वह धर्मध्यान और शुक्लध्यान के भेद से दो प्रकार का है। अयोगियों का ध्यानयोग मन, वचन, काय का निरोध होना है और सयोगी केवलीदशा में भी योग का निरोध करते समय ही ध्यान होता है, अतः वह अयोगियों के ध्यान के समान ही है।¹⁰

ध्यान का काल :

एक मुहूर्त ध्यान में व्यतीत हो जाने के पश्चात् ध्यान स्थिर नहीं रहता,¹¹ फिर या तो वह चिन्तन कहलाएगा या आलम्बन की भिन्नता से दूसरा ध्यान कहलाएगा। अभिप्राय यह है कि ध्याता एक ही आलम्बन में एक मुहूर्त से अधिक स्थिर नहीं रह सकता। हाँ, एक के पश्चात् दूसरे और दूसरे के पश्चात् तीसरे आलम्बन को ग्रहण करने से ध्यान की परम्परा मुहूर्त से अधिक भी चल सकती है, परन्तु एक ही आलम्बन में ध्यान मुहूर्त से अधिक काल तक स्थिर नहीं रह सकता।

ध्यान की ध्येयवस्तु : द्वादश भावनाएँ :

जैन साधना पद्धति में भावना का सदा से बड़ा महत्त्व रहा है। किसी भी उपक्रम, कार्य या उद्यम के मूल में भाव या भावना की अवस्थिति होती है। यदि उसको स्थिरतापूर्वक सहेजा जाये तो उसका बहुत ही सुन्दर परिणाम प्रकट होता है। चिन्तन, विचार या भाव का अनवरत भावित रहना, उसमें संलग्न रहना, उसकी आवृत्ति करते रहना, इनका अभ्यास करना भावना या भावनायोग कहा जाता है।

ध्यान के लिए पवित्र मानसिकता, संकल्पात्मक दृढ़ता, स्थिरता बनाये रखने के लिए भावनाओं का अभ्यास अति आवश्यक है। क्योंकि वैसा हुए बिना मन में आया हुआ कोई भी सत् चिन्तन टिकता नहीं, मन की एकाग्रता घटित होती नहीं। यही कारण है कि आचार्य हेमचन्द्र ने ध्यान की पृष्ठभूमि की तैयारी में भावनाओं को परमावश्यक माना और उन्होंने बारह भावनाओं का संक्षेप में बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया।

10. वही, 4.115

11. (क) तत्त्वार्थसूत्र 9.37 (ख) योगप्रदीप 15.33

अनित्य भावना :

अनित्य भावना के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि जो हमें प्रातःकाल दृष्टिगोचर होता है, वह मध्याह्न में दिखलाई नहीं देता। जो मध्याह्न में दिखलाई पड़ता है वह रात्रि में प्राप्त नहीं होता, इस संसार का ऐसा स्वरूप है। इससे यह सिद्ध होता है कि जिन पदार्थों के साथ प्राणी संपृक्त रहता है, वे अनित्य हैं।

इस जीवन में शरीर ही समस्त प्राणियों के पुरुषार्थ की सिद्धि का हेतु है अर्थात् शरीर द्वारा ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थ उपात्त होते हैं। किन्तु उतना महत्त्वपूर्ण शरीर भी प्रचण्ड वायु के आघात से विनष्ट हो जाने वाले मेघों के सदृश लक्ष्मी, धन, सम्पत्ति जिसमें हर कोई विमोहित रहता है, उसी तरह चंचल हैं जिस तरह समुद्र की लहरें होती हैं। प्रिय-अप्रिय का संयोग, यौवन इत्यादि इस तरह विलुप्त हो जाते हैं, उड़ जाते हैं जिस प्रकार आक की रुई वायु से उड़ जाती है।¹²

जब व्यक्ति साधना-निष्ठ बनने को उद्यत होता है, ध्यान-निरत होने का अभ्यास करता है तब उसकी एकाग्रता को भग्न करने वाले ये ही पदार्थ या हेतु हैं, जिनको आचार्य हेमचन्द्र ने अनित्य कहकर नश्वर बतलाया है। सुखद पदार्थ, अनुकूल वैभव, ऐश्वर्य, देहसम्पदा आदि ही वे कारण हैं, जो ध्यान का अभ्यास करने वाले की गति को अवरुद्ध कर डालते हैं। ज्योंही साधक अपने आप को ध्यान से संयुक्त करता है, तद्गत आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति का संस्पर्श करता है, ये कारण अनायास उपस्थित होकर उसका गत्यवरोध कर डालते हैं। जब साधक के मन में इनकी विनश्वरता, क्षणभंगुरता का निश्चय हो जाता है, तब वह विचलित नहीं होता। विचलित होने का यह क्रम टूट जाता है।

विनश्वर पदार्थों या निमित्तों का वर्णन कर ग्रन्थकार ने आगे लिखा है कि साधक संसार के उस अनित्य नश्वर स्वरूप का प्रतिक्षण स्थिरतापूर्वक चिन्तन करता रहे। इससे भौतिक भोगोपभोगमय पदार्थों के प्रति निर्ममत्व भाव जागृत होता है। जिस प्रकार काले नाग को मंत्र द्वारा वश में किया जा सकता है, उसी प्रकार तृष्णा को इस चिन्तन द्वारा निर्मूल किया जा सकता है।¹³

12. योगशास्त्र, 4.57-59

13. वही, 4.60

अशरण भावना :

संसारसक्त व्यक्ति यह सोचता हुआ अपने को निरापद मानता है कि ऐसे बहुत से बड़े-बड़े मेरे हितैषी हैं जो मुझे किसी भी संकट में शरण दे सकते हैं, सहारा दे सकते हैं, मुझे उससे बचा सकते हैं। अतएव मृत्यु जैसे अटल सत्य में भी उसकी आस्था नहीं रहती। ऐसा होने से उसकी संसारसक्ति बढ़ती जाती है। ऐसे प्राणी का मन ध्यान में कैसे एकाग्र हो सकता है। यह तो वह उन्माद है जो प्राणी को वास्तविकता से सदा दूर रखता है। आचार्य हेमचन्द्र ने व्यक्ति को इस उन्माद से छुड़ाने के लिए अशरण भावना का विशेष रूप से निरूपण किया है।

उन्होंने लिखा है कि देवाधिदेव इन्द्र तथा उपेन्द्र-वासुदेव चक्रवर्ती आदि भी मृत्यु से बच नहीं सकते। वे भी उसके वशीभूत होते हैं। ऐसी स्थिति में सामान्य प्राणियों के लिए तो कहना ही क्या ! कोई भी मृत्यु से उनकी रक्षा कर पाने में समर्थ नहीं होते। जब मौत का आगमन होता है तो माता-पिता, बहन-भाई आदि समस्त परिवारजन के देखते-देखते प्राणी यमराज के वशवर्ती हो जाते हैं और अपने संचित कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न गतियों में पहुँच जाते हैं। कितना बड़ा आश्चर्य है कि अज्ञ पुरुष अपने-अपने कर्मों के अनुसार मृत्यु को प्राप्त होने वाले पारिवारिक जनों को जब देखता है तो शोक करता है। किन्तु वह यह कदापि नहीं सोचता कि एक दिन मृत्यु उसे भी अपने क्रोड़ में ले लेगी।

यह संसार दुःख रूपा दावाग्नि की ज्वालाओं से जलता हुआ बड़ा ही करालरूप लिये हुए है। जिस प्रकार दावाग्नि से जलते वन में मृग के बच्चे के लिए कोई शरण स्थान नहीं है, उसी प्रकार संसार में भी मृत्यु से त्राण पाने का कोई आश्रय-स्थल नहीं है।¹⁴

जब व्यक्ति मन में यह निश्चित कर लेता है कि विविध भोगोपाभोग, वैभव एवं ऐश्वर्य युक्त जीवन स्थिर नहीं है, मृत्यु ही उसका चरम पर्यवसान है तो दैहिक सुखोपभोग के विविध स्वप्नों से वह अपने आप को बचा सकता है। वैसा होने पर उसका चित्त वैभाविक परिस्थितियों से उन्मुक्त होकर आत्मस्वभावानुगत दिशा की ओर गतिशील होता है। तभी उसमें ध्यानापेक्षित एकाग्रता का समावेश होने लगता है।

14. वही, 4.61-64

क्योंकि वह मन में ऐसा भाव लिये रहता है कि उसके जीवन का धागा न जाने कब टूट जाय। इसलिए प्राप्तकाल में उसे योग साधने के प्रयत्न में सदा समुद्यत रहना चाहिए, जिससे देवदुर्लभ मानवजीवन की सफलता सिद्ध हो सके। ऐसा भावानुभावन उसको ध्यान के साथ संयुक्त होने में संबल प्रदान करता है। इस प्रसंग में महाभारत के एक प्रसंग का उल्लेख करना उपयोगी होगा। महाभारतकार व्यास ने मृत्यु से सदा अनजान रहने वाले मानव को उद्बोधित करने हेतु एक प्रसंग का उल्लेख किया है।

पाण्डव द्रौपदी के साथ वनवास में थे। घूमते-घूमते सबको बहुत प्यास लगी। जल की खोज में सबसे छोटा भाई सहदेव निकला। एक सरोवर के पास पहुँचा। ज्योंही वह जल लेने लगा, सरोवर के अधिष्ठाता यक्ष की आवाज आयी। मेरे प्रश्न का उत्तर दिये वगैरे जल मत लेना। सहदेव ने उस पर कुछ गौर नहीं किया ज्योंही जल भरने लगा-मूर्च्छित होकर मृतवत् गिर पड़ा। उसके आने में विलम्ब देखकर क्रमशः नकुल, अर्जुन और भीम भी पहुँचे। सबकी वही दशा हुई। अन्त में युधिष्ठिर पहुँचे। यक्ष द्वारा आवाज लगायी जाने पर उसने कहा कहो, आपका क्या प्रश्न है ? यक्ष ने कहा- किमाश्चर्यमतः परम् ! इससे बड़ा आश्चर्य क्या है ? अर्थात् संसार में सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है ? उत्तर दो। युधिष्ठिर ने निम्नांकित रूप में उसका उत्तर दिया -

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्।

शेषाः जीवितुमिच्छन्ति, किमाश्चर्यमतः परम्॥

दिन-प्रतिदिन प्राणी यमराज के गृह में जा रहे हैं। लोग यह सब देखते हैं किन्तु वे यही सोचते हैं, चाहते हैं कि वे सदा जीवित रहें। जगत् में इससे बड़ा आश्चर्य क्या है। यक्ष के कुछ और भी प्रश्न थे, जिनका युधिष्ठिर ने समाधान किया। उनमें यहाँ उल्लिखित प्रश्न और समाधान इसी आशय का द्योतक है¹⁵ जो आचार्य हेमचन्द्र ने अशरण भावना में व्याख्यात किया है। इसे आश्चर्य नहीं तो क्या कहा जाय कि मरण के रूप में विद्यमान शाश्वत सत्य को भी मानव हृदयंगम नहीं कर पाता। यदि वह सोच ले कि मृत्यु से उसे त्राण देने में कोई भी समर्थ नहीं है तो उसकी विपथगामिता, आत्मपराङ्मुखता सहज ही नष्ट हो सकती है।

3. संसार भावना :

उन्होंने आगे संसार भावना के अन्तर्गत संसारी जीव के स्व-स्व कर्मों के अनुरूप निष्पन्न विविध रूपों की चर्चा करते हुए उसे नट की सी चेष्टाओं से उपमित किया है। जीव अपने कर्मों के सम्बन्ध से भव-भवान्तर में भ्रमण करता रहता है। एक बड़ी सुन्दर उपमा के साथ ग्रन्थकार ने इस प्रसंग को व्याख्यात किया है। जैसे किराये पर लिये हुए मकान में कुछ ही समय निवास करता है, उसे छोड़कर जाना पड़ता है वैसे ही संसारी जीव एक योनि को छोड़कर किसी दूसरी योनि में जाता रहता है। यही क्रम उत्तरोत्तर चलता जाता है। यह तथ्य साधक द्वारा आत्मसात् किया जाय ऐसा अपेक्षित है।¹⁶

4. एकत्व भावना :

एकत्व भावना का विश्लेषण करते हुए बड़े ही प्रेरक शब्दों में उन्होंने लिखा है कि जीव अकेला ही उत्पन्न होता है और अकेला ही विपन्न होता है। अकेला ही भव-भवान्तर में अपने कर्मों का फल भोगता है। उसके द्वारा उपार्जित सम्पत्ति को तो उसके परिवार-जन भोगते हैं किन्तु अर्थार्जन में किये गये अपने पापाचरण का फल वह स्वयं ही भोगता है।

एकत्व भावना के मूल में यह उद्देश्य निहित है कि जीव जिन सांसारिक सम्बन्धों में विमोहित होकर कभी अपने आप को अकेला नहीं मानता वह सर्वथा मिथ्या है, भ्रम है। इस भावना का अनुचिन्तन करते रहने से चित्त में आत्मभाव का अभ्युदय होता है उसके फलस्वरूप चैतसिक चांचल्य अपगत होता है और ध्यानानुशीलन में संलग्नता घटित होती है।

5. अन्यत्व भावना :

एकत्व भावना आत्मा के सर्वथा, नितान्त एकाकीपन पर अधिष्ठित है वैसे ही अन्यत्व भावना आत्मव्यतिरिक्त समस्त पदार्थों के अन्यत्व पर आधारित है। इसी भाव को ग्रन्थकार ने उद्घाटित करते हुए लिखा है कि शरीर और आत्मा का विसादृश्य स्पष्ट है। क्योंकि शरीर मूर्त है, जड़ है, आत्मा चेतन है। आत्मा नित्य है, शरीर अनित्य

16. योगशास्त्र 4.65-67

है। आत्मा भव-भवान्तर में सदैव अपने रूप में विद्यमान रहती है, शरीर तो कर्मानुसार भिन्न-भिन्न रूप में परिणत-विपरिणत होता रहता है। जो देह, बन्धु-बान्धव, वैभव आदि से आत्मा को भिन्न देखता है उसके हृदय को शोकरूपी शल्य कभी पीड़ित नहीं कर पाता।¹⁷

सांसारिक जन के मन में यह भ्रान्तिपूर्ण भावना बद्धमूल रहती है कि परिवार, सम्पत्ति, वैभव आदि सब उनके अपने हैं। अपने लिए उपयोगी हैं। अतएव वे उनके सुख में सुखी और उनके दुःख में दुःखी बने रहते हैं। परस्पर बड़ी आशाये संजोये रहते हैं। इस अतात्त्विक-अवास्तविक से तादात्म्य भाव का उन्मूलन अन्यत्व भावना का लक्ष्य है। मानव विचार करे कि वास्तव में आत्मा के अतिरिक्त जो भी है वह स्वकीय बोध का उद्गम करता है, परगत आस्था का अपगम करता है। जब ऐसा भाव अन्तःकरण में उदित, अभिवर्धित होता जाता है तो साधक विभावावस्था से पृथक् होता जाता है। यह पार्थक्य उसे आत्मबोध के साथ योजित करता है जिससे उसकी ध्यान-साधना सम्बल प्राप्त करती है।

6 अशुचि भावना :

आत्मतत्त्व के शुद्ध स्वरूप की अनुभूति कराने हेतु विविध अपेक्षाओं से इन भावनाओं का विवेचन किया गया है। अशुचि भावना के अन्तर्गत ग्रन्थकार ने देह के रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र, आन्त्र एवं विष्टा आदि से युक्त देह के जघन्य स्वरूप का विवेचन किया है। जो शरीर बाहर से सुन्दर रूप वाला और मनोज्ञ प्रतीत होता है, उसकी वास्तविक स्थिति बड़ी घृणास्पद है। ऐसे अपावन, अपवित्र, अशुचि देह में शुचिता, सुन्दरता की कल्पना मात्र एक विडम्बना है।¹⁸

दैहिक सुख, सज्जा, शोभा आदि के मोह में किमूढ बने मानव को वास्तविकता का दर्शन कराकर शुद्ध आत्मस्वरूप की ओर मोड़ने का बड़ा तीव्र भाव इस भावना में सन्निहित है। इसकी अनुभूति करने से मानव को यह सहज ही हृदयंगम हो जाता है कि समग्र बाह्य आकर्षण केवल इन अशुचि पदार्थों पर लगे हुए चर्म के आवरण के कारण है। ऐसा भाव जब जागृत होता है तो ध्यान साधना में बाधा उपस्थित करने वाले सभी

17. वही, 4.70-71

18. वही, 4.72-73

परिषह विनष्ट हो जाते हैं और साधक का ध्यान-उपक्रम अभ्यन्त रहता है।

7. आस्रव भावना :

नवतत्त्वों में आस्रव एक तत्त्व है जो सरोवर में जल लाने वाले नालों के समान आत्मा में कर्मों का आस्रवण करता है। कर्म प्रवाह रूप हैं। शुभ-अशुभ, मानसिक-वाचिक-कायिक योगों द्वारा कर्मों का बन्ध होता है। मानसिक आदि योग जब शुभ प्रवृत्तियों से जुड़ते हैं तो शुभ कर्मों का बन्ध करते हैं। आस्रवों के कारण ही जीव विभिन्न प्रकार के कर्मों का बन्ध करता हुआ भवाटवी में भ्रमण करता रहता है। आत्मा को अपना चरम लक्ष्य साधने हेतु अशुभ-शुभ सभी कर्मों से विमुक्त होना होगा। यद्यपि उनसे विमुक्त होने की क्रमिक श्रेणियाँ हैं किन्तु अन्ततः उन सबका क्षय करना ही होगा। इन्हीं भावों का ग्रन्थकार ने अपने शब्दों में विश्लेषण किया है।¹⁹

आस्रव भावना के चिन्तन से साधक के मन में कर्मनिर्मुक्त आत्मस्वरूप को अधिगत करने का भाव निष्पन्न होता है, जो आध्यात्मिक योग की साधना में ध्यान में उसकी अन्तर्वृत्ति को समाविष्ट करता है।

8. संवर भावना :

संवर आस्रव का विपरीत रूप है। आस्रवों के विविध रूपों का जिन-जिन उपायों से संवरण या अवरोध किया जाता है, उनकी संवर संज्ञा है। आस्रव को कर्मनिरोध का कारण बतलाया गया है। इसी आशय को ग्रन्थकार ने विस्तार के साथ यहाँ प्रतिपादित किया है।²⁰

संवर भावना के पुनःपुनः परिशीलन से चित्त में कर्मप्रवाह का निरोध करने का पराक्रम समुदित होता रहता है। कर्मबन्धमूलक भौतिक सुखानुभूति का भाव छूटता जाता है। ऐसा होने पर चित्तवृत्ति अन्तरात्म भाव की ओर मुड़ने लगती है जो उसके उत्तरवर्ती आत्मप्रकर्ष की द्योतक है। यह आत्म-प्रकर्ष ही ध्यानसाधना का अभिप्रेत है।

19. वही, 4.74-77

20. वही, 4.79-85

9. निर्जरा भावना :

संवर जहाँ आत्मप्रदेशों के साथ संपुक्त होने वाले कर्माणुओं का निरोधक है, वहीं निर्जरा तत्त्व पूर्वसंचित कर्मपुद्गलों का निर्जरण करने वाला है। यह तपःमूलक है। जैन सैद्धान्तिक दृष्टिकोण के अनुसार ध्यान निर्जरा के अन्तर्गत एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्त्व है जिस पर जैन वाङ्मय में विविध रूपों में विवेचन एवं विश्लेषण हुआ है। ग्रन्थकार ने निर्जरा भावना का विस्तृत विवेचन किया है। उसके सकाम-अकाम आदि स्वरूपों का तथा अनशन, अवमौदर्य आदि भेदों का विशद विश्लेषण किया है। बाह्य और अभ्यन्तर तप के रूप में उसके सूक्ष्म मर्म का उद्घाटन भी किया है।

उन्होंने अन्त में लिखा है कि बाह्य और अभ्यन्तर तप रूप अग्नि के उद्दीप्त होने पर साधक कठिनाई से क्षीण किये जाने योग्य कर्मों को तत्काल जला डालता है, विध्वंस कर डालता है।²¹ कर्मक्षय ही आत्मा का परम लक्ष्य है।

10. धर्म भावना :

धर्म शब्द बड़ा ही व्यापक है। सर्वज्ञ वीतराग प्रभु ने उसका सम्यक् प्रतिपादन किया है। जो जीवन में उसका अवलम्बन कर क्रियाशील रहता है, वह संसार-सागर में निमज्जित नहीं होता। वह धर्म संयम, सत्य, शौच, शान्ति, ऋजुता, मृदुता आदि के रूप में भलीभाँति विवेचित हुआ है। वह कल्पवृक्ष तथा चिन्तामणि आदि की ज्यों मनोवांछित फल प्रदान करता है, जो साधक के लिए आत्मकल्याण रूप है। ग्रन्थकार ने इस आशय का बड़े ही सुन्दर रूप में विवेचन किया है।²²

धर्म ही एकमात्र वह मूल तत्त्व है जिसे जीवन में क्रियान्वित करना साधक का परम लक्ष्य है। तप, योग ध्यान आदि उसी क्रियान्विति के विविध रूप हैं। धर्म के नाम से तथाकथित वैविध्यपूर्ण रूप में साधक विभ्रान्त न हो जाए इस हेतु इस भावना में उसके मन में यह जमाने का प्रयास किया गया है कि वह धर्म के उस शुद्ध स्वरूप को आत्मसात् करे जो आप्त, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी वीतराग देव द्वारा विधि-निषेध आदि विधाओं के साथ समीचीन रूप में व्याख्यात हुआ है। यह भावानुचिन्तन साधक के

21. वही, 4.86-91

22. वही, 4.92-102

अन्तःकरण में धर्म की विशुद्ध भूमिका को संप्रतिष्ठ करता है। यहाँ आचार्य हरिभद्र द्वारा 'योगविंशिका' में उद्धाटित-**मोक्खेण जोगणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवावरो।** **परिसुद्धो विन्नेओ ठाणाइगओ विसेसेण॥** यह तथ्य विशेष रूप से स्मरणीय है जिसमें धर्म की यही विशुद्ध पृष्ठभूमि सन्निहित है।

11. लोकभावना :

ग्रन्थकार ने लोक के षड्द्रव्यमय स्वरूप का द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दृष्टिकोण से विवेचन किया है। उसके अधः, मध्य, ऊर्ध्व स्वरूप का आख्यान किया है। साथ-ही-साथ लोक के अनादिसिद्धत्व की भी चर्चा की है।²³

लोकभावना का अनुशीलन व्यक्तित्व-बोध की प्रेरणा देता है।

12. बोधिदुर्लभ भावना :

जीवन में सम्यक् बोधि को परम दुर्लभ तत्त्व बतलाया गया है। साधना के आध्यात्मिक उत्कर्षोन्मुख बीज की वही पवित्र भूमि है। जिस प्रकार उर्वर भूमि के अभाव में उत्कृष्ट बीज भी प्रस्फुटित नहीं होता, पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होने की तो बात ही कहाँ ? यही तथ्य सम्यक् बोध के साथ जुड़ा हुआ है। इसकी परम दुर्लभता का अनुचिन्तन साधक के मन में सम्यक्, पवित्र भाव को सदैव सुस्थिर बनाये रखता है, जिसके कारण साधक कभी सन्मार्ग को छोड़ता नहीं। ग्रन्थकार ने इस भावना पर बड़े ही सुन्दर रूप में प्रकाश डाला है।²⁴

आचार्य हेमचन्द्र द्वारा किये गये द्वादश भावना के इस वर्णन से स्पष्ट है कि वे आध्यात्मिक योग की साधना में ध्यान की आराधना को कितना महत्त्वपूर्ण मानते थे।

ध्यान की पोषक चार भावनार्यै :

ध्यान विषयक उक्त विवेचन के अनन्तर आचार्य हेमचन्द्र ने ध्यान की पोषक भावनाओं के रूप में मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य इन चार भावनाओं का विशेष रूप से उल्लेख किया है।

23. वही, 4.103-106

24. वही, 4.107-110

पूर्ववर्णित द्वादश भावनार्ये ध्यान की पृष्ठभूमि तैयार करने का महत्त्वपूर्ण कार्य करती हैं। उनके अनुशीलन/परिशीलन से ध्यान योग्य मनोभूमि का निष्पादन होता है। जब ध्यान रूप पादप उस उर्वर मनोभूमि पर अंकुरित हो जाता है तो उसे पोषित तथा संवर्धित करने में मैत्री आदि चार भावनार्ये बड़ा सहयोग करती हैं। यही कारण है कि ग्रन्थकार ने द्वादश भावना के साथ इनका उल्लेख करते हुए ध्यान विषयक उपक्रम के अन्तर्गत इन्हें उपस्थापित किया है। उन्होंने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कहा है कि धर्म ध्यान का उपस्कार करने के लिए अर्थात् त्रुटित ध्यान को पुनः जोड़ने के लिए मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य आदि चार भावनाओं का आत्मा के साथ नियोजन करना चाहिए।

उन्होंने लिखा है कि ये भावनार्ये उत्तम रसायन हैं, दिव्य औषधि हैं जो ध्यान को परिपुष्ट बनाती हैं।²⁵

संसार का कोई भी प्राणी पापपूर्ण आचरण न करे, दुःखित न बने, समस्त प्राणी दुःखों से विमुक्त हो जायें, छूट जायें, यही मैत्री भावना का स्वरूप है।²⁶

मैत्री के अन्तर्गत ग्रन्थकार ने किसी भी प्राणी के पापिष्ठ न बनने की जो बात कही है वह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। जैन और बौद्ध वाङ्मय में उन पुरुषों को कल्याणमित्र कहा गया है जो औरों को पापकार्यों से बचने और धर्मकार्य में लगने की प्रेरणा देते हैं। मित्र हितकांक्षी होते हैं। किसी को पापों से बचाना और पुण्यों से जोड़ना अथवा तदर्थ प्रेरित करना अत्यन्त उज्ज्वल मित्र भाव है, इसकी तुलना में किसी प्राणी के दुःखित होने-न-होने की बात तो गौण हो जाती है।

प्रमोद भावना में उन्होंने प्रेरित किया है कि साधक त्याग, संयम, साधना एवं तपश्चरण के धनी महापुरुषों एवं ज्ञानीजनों के उत्तमोत्तम गुणी जीवन को देखकर मन में आनन्दित होकर उनका आदर करे।²⁷

प्राणियों के दुःख को दूर करने की प्रेरणा देते हुए कारुण्य भावना का उल्लेख

25. वही, 4.117

26. वही, 4.118

27. वही, 4.119

किया है तथा क्रूर-कर्मा जनों के प्रति उपेक्षा भाव रखने के रूप में माध्यस्थ्य भावना का प्रतिपादन किया है।²⁸

अन्त में, पुनः इस बात को दोहराया है कि इन भावनाओं द्वारा आत्मभावित होता हुआ गतिमान साधक टूटे हुए विशुद्ध प्रवाह को पुनः प्राप्त कर लेता है।²⁹

आचार्य हरिभद्र ने 'षोडशक प्रकरण' में मैत्र्यादि भावनाओं का स्वरूप बताते हुए कहा है कि अन्य प्राणियों के हित का विचार मैत्री है, अन्य प्राणियों के दुःख को दूर करना करुणा है, अन्य प्राणियों के सुख में प्रसन्नता मुदिता तथा दूसरों के अविनय आदि दोषों का प्रतिकार करने में उदासीनता उपेक्षा है।³⁰

महर्षि पतंजलि ने 'योगसूत्र' के समाधिपाद में समाधि के अनुरूप चैतसिक स्थिति के निर्माण हेतु अनेक विषयों का, साधनों का निरूपण किया है। उन्होंने चित्त-वृत्तियों के निरोध के लिए तत्त्वाभ्यास का प्रतिपादन करने के पश्चात्, चित्त-प्रसादन का वर्णन किया है। चैतसिक प्रसन्नता, निर्मलता, योगाभ्यास के प्रति उल्लासमय मनोवृत्ति आदि के लिए मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा को स्वीकार करने का उल्लेख किया है। ये चारों पूर्वोक्त मैत्री आदि भावनाओं के समकक्ष हैं, मैत्री शब्द का दोनों ही स्थानों पर उपयोग हुआ है। प्रमोद के स्थान पर सूत्रकार ने मुदिता लिखा है। प्रमोद और मुदिता में अर्थसाम्य है। इसी प्रकार उपेक्षा, तटस्थता या मध्यस्थता या माध्यस्थ्य भाव एक ही आशय के द्योतक हैं।

पतंजलि के अनुसार इन चारों को स्वीकार करने से साधक का मन निर्विवाद, प्रसन्न और योग-साधना में समुल्लसित रहता है जिससे समाधिरूप परमलक्ष्य की दिशा में गतिशील साधक के मार्ग में अवरोध उत्पन्न नहीं होता है।³¹

चार ब्रह्म विहार :

बौद्ध धर्म में उपसमानुस्सत्ति के रूप में चतुर्विध ब्रह्म विहार का विवेचन

28. वही, 4.120-121

29. वही, 4.122

30. षोडशक प्रकरण 4.15 पत्र सं. 23, 24

31. योगसूत्र 1.33

हुआ है जिसमें मेत्ता (मैत्री), करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा (उपेक्षा) का समावेश है।³² इनके अनुभावन से उपशम रूप निर्वाण पर ध्यान सुस्थिर होता है। इनको ब्रह्मविहार इसलिए कहा गया है क्योंकि इन भावनाओं के अभ्यास का फल ब्रह्म-लोक में जन्म लेना तथा वहाँ को आनन्दमय वस्तुओं का उपभोग करना है। यहाँ मुख्य रूप से अभिधेय यह है कि ब्रह्मविहार संज्ञक ये चारों भावनार्ये ध्यानात्मक एकाग्रता में सहायक हैं। बौद्ध धर्म में इन भावनाओं के द्वारा चित्त को समाहित करने का उपदेश दिया गया है।

मेत्ता-मैत्री भावना प्रथमतः अपने ही ऊपर की जानी चाहिए। सबसे पहले अपने कल्याण की भावना रखना अपेक्षित है। तदनन्तर अपने गुरुजन तथा अन्य सम्बन्धियों के हित कल्याण का अनुचिन्तन किया जाना चाहिए। तत्पश्चात् अपने शत्रुओं पर भी मैत्री भावना रखनी चाहिए। वहाँ स्व और पर का सीमाविच्छेद करना नितान्त आवश्यक माना गया है।

दुःखित प्राणियों के प्रति करुणा, पुण्यात्माओं के प्रति मुदिता तथा अपुण्यात्माओं के प्रति उपेक्षा का भाव रखा जाना चाहिए।³³

उपर्युक्त चारों भावनाओं पर जैन, बौद्ध तथा पातंजल योग तीनों का विवेचन भावात्मक दृष्टि से लगभग एक जैसा है। तीनों ही ने इनके महत्त्व को स्वीकार किया है। इतना अवश्य है कि बौद्ध धर्म में स्वकल्याण, सम्बद्ध कल्याण तथा शत्रुवृन्द के कल्याण की भावना के रूप में मैत्री की तीन श्रेणियाँ निरूपित की हैं। जैनधर्म और पातंजल योग में वैसा नहीं है। वहाँ सभी को एक श्रेणी में लिया गया है। साधक का मन इतना निर्मल हो जाता है कि वहाँ अपने-पराये का भेद ही नहीं रहता। अन्तःकरण प्राणी मात्र के प्रति मित्र भाव से मुदित रहता है -

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः ।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥

इसी प्रकार

32. विसुद्धिमग्ग परिच्छेद 9 पृ. 200-201

33. बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ. 342

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव !³⁴

भावनाओं पर अनेक जैन आचार्यों, सन्तों, चिन्तकों और मनीषियों ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। भावनाओं के महत्त्व को आत्मसात् करने हेतु इसे 'भावनायोग' कहा गया है। ऐसा कहने का अभिप्राय यही है कि अध्यात्म योग के साथ साधक को जोड़ने में भावनाओं का चिन्तन, अनुचिन्तन, मनन, निदिध्यासन बड़ा ही उपयोगी है।

भावनाओं पर रचित साहित्य में उपाध्याय विनयविजय द्वारा संस्कृत में रचित 'शान्त सुधारस भावना' नामक ग्रन्थ का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने इसमें द्वादश भावनाओं तथा मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य चार भावनाओं का इस प्रकार 16 भावनाओं का बड़ी ही सरस एवं प्रसाद गुणोपपन्न भाषा में विवेचन किया है। उन्होंने अनेक छन्दों के अतिरिक्त विभिन्न राग-रागिनियों में भावनाओं का लालित्यपूर्ण शैली में इतना सुन्दर निरूपण किया है कि भावपूर्वक पढ़ने वाले, गाने वाले पाठक आत्मविभोर हो उठते हैं। उपाध्याय विनयविजय द्वारा वि.सं. 1723 में इस ग्रन्थ की रचना की गयी। इसके अध्ययन से प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार के हृदय में वैराग्य, तितिक्षा और आत्मसाधना के भावों की त्रिवेणी मानों छलछला रही हो। भावनाओं का अध्यात्म, निर्वेद और शान्तिप्रदायक योग के साथ कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है इसका बड़े सुन्दर शब्दों में विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा है-

स्फुरति चेतसि भावनया बिना, न विदुषामपि शान्तिसुधारासः ।
न च सुखं कृशमप्यमुना बिना, जगति मोहविषादविषाऽऽकुले ॥

भावनाओं के परिशीलन के बिना विज्ञानों के चित्त में भी शान्ति का अमृतमय रस संस्फुरित नहीं हो पाता। मोह और विषाद के विष से व्याप्त जगत् में उसके बिना कोई जरा भी आध्यात्मिक सुख का अनुभव नहीं कर सकता।³⁵ इसी बात को उन्होंने आगे और अधिक प्रेरक शब्दों में उपस्थापित करते हुए कहा है-

यदि भवभ्रमखेदपराङ्मुखं, यदि च चित्तमनन्तसुखोन्मुखम् ।
शृणुत तत् सुधियः ! शुभभावनामृतरसं मम शान्तसुधारसम् ॥

34. परमात्म द्वात्रिंशिका 1

35. शान्तसुधारस भावना श्लोक 2, पृ. 1

हे सुधीजन ! यदि आपका चित्त भवभ्रमणजनित खेद से खेदित है, दुःखों से पराङ्मुख अर्थात् उनसे छूटना चाहता है, यदि वह अनन्त सुखों की ओर उन्मुख है, अनन्त, अपरिमित, आध्यात्मिक सुख प्राप्त करना चाहता है तो उत्तम भावनाओं के अमृत रस से परिपूर्ण मेरे शान्तसुधारस नामक ग्रन्थ का श्रवण, चिन्तन, अनुशीलन और मनन करो।³⁶

प्रत्येक भावना पर पहले उन्होंने संस्कृत के छन्दों में विवेचन किया है तथा फिर विभिन्न राग-रागिनियों में गेयरूप में उन भावों को बड़े ही मधुर एवं आकर्षक रूप में निरूपित किया है। निर्जरा भावना के अन्तर्गत उन्होंने प्रायश्चित्त, वैश्यावृत्य, स्वाध्याय, विनय, कायोत्सर्ग एवं ध्यान का उल्लेख करते हुए कहा है-

शमयति तापं, गमयति पापं, रमयति मानसहंसम्।
हरति विमोहं दूरारोहं तप इति विगताऽऽशंसम्॥

हे चेतन ! यह आन्तरिक तप आराधित किये जाने पर प्राणियों के आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक परितापों, दुःखों का विध्वंस कर डालता है। जन्म-जन्मान्तर से संचित पापों को विच्छिन्न कर डालता है। मन रूपी मानसरोवर में आत्मा रूपी हंस को रमण कराता है। मन को आध्यात्मिक आनन्द से आपूरित कर देता है। जिसको मिटा पाना बहुत कठिन है ऐसे मोह को भी विनष्ट कर डालता है।³⁷

चैतसिक निर्मलता, पवित्रता और विशुद्धता को निष्पन्न करने में भावनाओं का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। चित्त-प्रमार्जन के बिना ध्यान सिद्ध होना संभव नहीं है। यही कारण है कि विभिन्न आचार्यों और ग्रन्थकारों ने जहाँ अध्यात्म योग या आध्यात्मिक साधना का विवेचन किया है वहाँ उन्होंने किसी-न-किसी रूप में भावनाओं का भी अपने विवेचन में समावेश किया है। भावनाओं के अभ्यास से संस्फुरित, प्रेरित चित्त भूमि में ध्यान रूपी अमृत का बीज यदि बोया जाय तो वह बड़े ही भव्य, सौम्य रूप में अंकुरित, विकसित, पल्लवित, पुष्पित तथा सुफलित होता है।

36. वही, श्लोक 3 पृ. 2

37. वही, श्लोक 6 पृ. 49

ध्यान के योग्य स्थान :

ध्यान का सम्बन्ध मुख्यतः आत्मा के साथ है। वह अन्तर्जीवन का विषय है। जब साधक में आत्मस्थता का भाव परिपुष्ट हो जाता है, रागात्मक वृत्ति परिक्षीण होने लगती है तो उसके लिए स्थान आदि बाह्य विषय गौण हो जाते हैं। वह जिस प्रकार एकान्त स्थान में ध्यानस्थ रहता है उसी प्रकार कोलाहलपूर्ण स्थान में भी अपने ध्यान को सहज ही अविच्छिन्न रख पाने में सक्षम होता है। कहा भी है - “निर्वृत्तरागस्य गृहं तपोवनम्।” जिसका राग मिट गया है, निवृत्त हो गया है, उसके लिए घर ही तपोवन है किन्तु जिनका अभ्यास प्रारम्भिक अवस्था में होता है, अपरिपक्व होता है, उनके लिए स्थान आदि बाह्य निमित्तों की अपनी उपयोगिता है।

जो ध्यान साधना के प्रारम्भिक रूप में प्रवृत्त होते हैं उनके लिए वैसी बाह्य स्थितियों का होना अपेक्षित है, जहाँ उनके अभ्यास में बाधा आना आशंकित न हो। यद्यपि जहाँ ध्यान किया जाता है वह स्थान अभ्यासी को कुछ दे नहीं पाता किन्तु स्थान की साधना के अनुकूल-प्रतिकूल अवस्थिति के कारण साधक के मन पर प्रेरक या बाधक प्रभाव तो पड़ता ही है। इसलिए आचार्य हेमचन्द्र ने ध्यान के लिए उपयोगी स्थानों का उल्लेख करते हुए लिखा है-वह ध्यानयोगी साधक जो आसनों को सिद्ध कर चुका हो, ध्यान के लिए ऐसे स्थान का चयन करे जो तीर्थकरों के जन्म, दीक्षा, कैवल्य या निर्वाण भूमि आदि ऐतिहासिक स्थल हों। ध्यान के सिद्ध होने में वहाँ मानसिक अनुकूलता रहना संभावित है। यदि वैसा संभव न हो तो वह विविक्त एकान्त स्थान को आश्रित कर ध्यान का अभ्यास करे।³⁸

आचार्य ने अपनी स्वोपज्ञ टीका में एकान्त स्थान के विषय में विशेष रूप से यह उल्लेख किया है कि वह स्थान युवती, नपुंसक, कुशील मनुष्य आदि के संसर्ग से रहित हो।³⁹

ऐसा उल्लेख करने का आशय यह है कि जिनका अभ्यास अपरिपक्व होता है, वैसे साधकों के लिए वहाँ विचलित होने की आशंका बनी रहती है।

38. योगशास्त्र, 4.123 पृ. 146

39. योगशास्त्र स्वोपज्ञ व्याख्या एवं हिन्दी अनुवाद सहित, पृ. 510

मानव एक भावनाप्रवण प्राणी है अतएव बाह्य पदार्थ, वस्तुएँ, स्थान आदि जिनके साथ ऐतिहासिक गरिमा जुड़ी रहती है, भावोद्द्वेलन की दृष्टि से अपना महत्त्व रखते हैं। यद्यपि ये जड़ हैं, इनमें स्वयं प्रेरणात्मक कर्तृत्व नहीं है किन्तु इनसे साधक प्रेरित हो सकता है। हर किसी का जीवन वर्तमान के साथ-साथ अतीत और भविष्य के साथ भी जुड़ा रहता है। अतीत को स्मरण कर वह अन्तःप्रेरित होता है। भविष्य की पवित्र कल्पनायें उसके वर्तमान में सात्त्विकता का समायोजन करती हैं। यही कारण है कि वे स्थान जो तीर्थंकर आदि महापुरुषों के जीवनवृत्तों से सम्बद्ध रहे हैं, आध्यात्मिक गौरवमय इतिहास का स्मरण कराते हैं जिससे साधक ध्यानोन्मुख हो अंतःप्रेरणा पाता रहता है।

यदि वैसे ऐतिहासिक स्थान भी अत्यधिक संकुल या कोलाहलपूर्ण हों तो वे भी स्वीकार्य नहीं हैं। इसलिए ग्रन्थकार ने इसी श्लोक में विविक्त-एकान्त स्थान का विशेष रूप से आश्रय लेने का संकेत किया है। ध्यानसाधना में उनका क्या स्थान है, यह भी बतलाया गया है।

आसन :

ग्रन्थकार ने ध्यान के सम्बन्ध में संकेत करते हुए आसनजय शब्द का प्रयोग किया है। वह बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि ध्यान चित्त की एकाग्रता के साथ जुड़ा हुआ है किन्तु उसमें दैहिक समीचीनता भी अपेक्षित है। आसन दैहिक समीचीनता के वैज्ञानिक उपक्रम हैं। आसन विशेष में स्थित होने से देह की निराकुल प्रशान्त अवस्थिति ध्यान के विकास में सहयोग करती है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आसन साध्य नहीं है वरन् ध्यान-रूप साध्य का सहयोगी है। इसलिए ऐसे ही आसनों का ध्यान में प्रयोग करना चाहिए जो तनाव या क्लिष्टता उत्पन्न न करें, सहजता और सुखमयता लिये हों।

भारत में एक समय ऐसा आया जब हठयोग में आसन आदि योग के बाह्य अंगों को अत्यधिक महत्त्व दिया गया। आसनों की संख्या चौरासी से चौरासी लाख तक बढ़ गयी। यों कहा गया कि चौरासी लाख जीवयोनियों में जितनी स्थित होने की अवस्थायें हैं उतने ही आसन विधेय हैं।⁴⁰

आचार्य शुभचन्द्र द्वारा आसनों के सम्बन्ध में किये गये विवेचन के प्रारम्भ में आसनों की उपयोगिता, ग्राह्यता आदि के विषय में चर्चा की गई है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी ध्यानोपयोगी आसनों का संक्षेप में विवेचन किया है। उन्होंने आसनों के अन्तर्गत पर्यकासन, वीरासन, पद्मासन, भद्रासन, दंडासन, उत्कटिकासन, गोदोर्हिकासन, कायोत्सर्गासन आदि आसनों का निर्देश दिया है।⁴¹

घेरण्ड संहिता में मुख्य रूप से बत्तीस आसनों को अति विशिष्ट उपयोगी बतलाया है जिनमें सिद्धासन, पद्मासन, भद्रासन, वज्रासन, स्वस्तिकासन, सिंहासन, गोमुखासन, वीरासन आदि मुख्य हैं।⁴²

‘हठयोग प्रदीपिका’ में आसनों के सम्बन्ध में लिखा है कि वशिष्ठ आदि मुनियों तथा मत्स्येन्द्र आदि योगियों ने जिन आसनों को अंगीकृत किया है उनमें से कुछ का यहाँ उल्लेख किया जाता है।⁴³

उपर्युक्त कतिपय आसनों के अतिरिक्त वहाँ स्वस्तिकासन, वीरासन, कुक्कुटासन, शवासन आदि का वर्णन किया गया है।⁴⁴ तत्पश्चात् कहा गया है कि समस्त आसनों में सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन और भद्रासन ये चार अत्यन्त श्रेष्ठ हैं। इन चारों में भी सिंहासन सर्वोत्तम है। योगी उसमें सुखपूर्वक स्थित हो सकता है।⁴⁵

महर्षि पतंजलि ने ‘योगसूत्र’ में आसन का लक्षण बतलाते हुए लिखा है- जिस रूप में स्थित होना साधक के लिए स्थिरताप्रद और सुखप्रद हो, वह आसन है। दूसरा आशय यह है कि जिसमें सुखपूर्वक स्थिरता से टिका जा सके, बैठा जा सके, वह आसन है।

ग्रन्थकार ने भी कहा है कि जिस आसन से चित्त की स्थिरता, काया की स्थिरता, कष्टसहिष्णुता तथा देहजड़ता निवारण होने से ध्यान में स्थिरता होती है, उसी आसन का ध्यान के साधन के रूप में प्रयोग करना चाहिए।⁴⁶

41. योगशास्त्र 4.124-133
42. घेरण्ड संहिता, 2.2
43. हठयोगप्रदीपिका, 20
44. वही, 1.21-35
45. वही, 1.36
46. योगशास्त्र, 4.134

प्राचीन जैन परम्परा में आसन की जगह स्थान का प्रयोग हुआ है। ओघ निर्युक्ति भाष्य में स्थान के तीन प्रकार बतलाये गये हैं:- (1) ऊर्ध्वस्थान (2) निषीदन स्थान (3) शयन-स्थान।⁴⁷

स्थान का अर्थ गति की निवृत्ति अर्थात् स्थिर रहना है। आसन का शाब्दिक अर्थ है बैठना, पर वे आसन खड़े, बैठे, सोते तीनों अवस्थाओं में किये जाते हैं। कुछ आसन खड़े होकर करने के हैं, कुछ बैठे हुए और कुछ सोये हुए करने के हैं। इस दृष्टि से आसन शब्द की अपेक्षा स्थान शब्द अधिक अर्थ-सूचक है।

ध्यान की विधि :

हेमचन्द्र के अनुसार सबसे पहले ध्यानोद्यत साधक दैहिक अनुकूलता को देखते हुए ऐसे आसन में स्थित हो जिसमें वह दीर्घकाल तक बैठा रह सके। तनाव आदि से जनित विचलन उत्पन्न न हो। उसका मुँह बन्द हो। दोनों होठ परस्पर मिले हों। वह अपने दोनों नेत्रों को नासिका के अग्रभाग पर केन्द्रित रखे, टिकाये रखे। उसके दाँतों की ऐसी स्थिति हो कि ऊपरी दाँत नीचे के दाँतों का संस्पर्श न करें। क्योंकि परस्पर संस्पृष्ट दाँत मुख में तनाव उत्पन्न करते हैं। हृदय में वह साधनों के प्रति अत्यन्त उत्साह लिये रहे ताकि मुख पर प्रसन्नता खिली रहे। वह पूर्व या उत्तर दिशा की ओर अपना मुख किये रहे। मन में जरा भी प्रमाद या असावधानी न आये। इस ओर जागरूक बना रहे। उसका शरीर सुसंस्थित हो। मेरुदण्ड को सीधा किये हुए वह बैठे। इस प्रकार जो ध्यान में संलग्न होता है वह ध्याता की यथार्थ भूमिका प्राप्त करता है।⁴⁸

प्राणायाम :

प्राणायाम अष्टांग योग का चौथा अंग है जिसका सम्बन्ध श्वास-प्रश्वास के नियमन, नियंत्रण, सम्यक् व्यवस्थापन से है। योगांगों की परम्परा को ध्यान में रखते हुए अपने 'योगशास्त्र' के पंचम प्रकाश में प्राणायाम का विभिन्न अपेक्षाओं से वर्णन किया है। उन्होंने प्रारम्भ में लिखा है कि किन्हीं योगाचार्यों ने ध्यान की सिद्धि के लिए प्राणायाम का आश्रय लिया है। उसे उपयोगी बताया है क्योंकि उसके बिना मन

47. ओघनिर्युक्ति भाष्य 152

48. योगशास्त्र 4.135-136

और प्राणवायु को जीता नहीं जा सकता।⁴⁹

मन और प्राणवायु का सम्बन्ध बतलाते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है कि जहाँ मन है वहीं वायु है, जहाँ वायु है, वहाँ मन है। ये दोनों समान क्रियायुक्त हैं। दूध और जल की ज्यों परस्पर मिले हुए हैं, एक के नष्ट होने पर अन्य का नाश हो जाता है। एक के वर्तनशील रहने पर अन्य की वर्तनशीलता बनी रहती है। जब इन दोनों का ध्वंस हो जाता है तब इन्द्रिय और बुद्धि विषयक व्यापार का भी नाश हो जाता है।⁵⁰

जैसा ऊपर संकेत किया गया है कि प्राणवायु देह में अनवरत गतिशील रहने वाला सहज उपक्रम है। मन भी प्रतिक्षण क्रियाशील रहता है। इधर-उधर जाना-आना इसका स्वभाव है। मन की गतिशीलता सूक्ष्म है, प्राणवायु की गमनागमन वृत्ति स्थूल है। स्थूल और सूक्ष्म का भेद होते हुए भी शरीर के अन्य अंगोपांगों-इन्द्रियों की अपेक्षा मन का प्राणवायु के साथ अधिक तादात्म्य है; अतएव यहाँ दोनों का निकटतम सम्बन्ध बतलाया गया है। प्राणवायु के नियमन का अभ्यास सुदृढ़ता पा लेता है। तब यदि उस अभ्यास को मन के साथ जोड़ा जाता है तो वह उसे भी नियंत्रित करने में सफल हो सकता है, ऐसा संभावित है।

प्राणायाम का लक्षण बतलाते हुए ग्रन्थकार ने श्वास और प्रश्वास के गतिच्छेद या निरोध को प्राणायाम कहा है। रेचक-पूरक और कुम्भक के रूप में तीन भेदों का वर्णन किया है।⁵¹

इसके पश्चात् ग्रन्थकार ने अन्य आचार्यों द्वारा स्वीकृत प्रत्याहार, शान्त, उत्तर तथा अधर संज्ञक चार भेदों का प्रतिपादन किया है। यों रेचक आदि तीन भेदों को मिलाकर प्राणायाम के सात भेद भी कहे हैं।⁵²

ग्रन्थकार आचार्य हेमचन्द्र ने प्राणायाम की उपयोगिता व्याधिनिवृत्ति, देहपुष्टि, शारीरिक बल-तेज की वृद्धि, वात पित्त कफ तथा सन्निपात की शान्ति आदि के लिए बतलायी है। ध्यान के साथ उसका कोई सीधा सम्बन्ध हो ऐसा प्रतीत नहीं होता।

49. वही, 5.1

50. वही, 5.2-3

51. वही, 5.4

52. वही, 5.5

इतना अवश्य है कि जब शारीरिक व्याधि-दोष अपगत हो जाते हैं शरीर स्वस्थ होता है, मन प्रसन्न होता है तो ध्यानमूलक साधना में अग्रसर होने में अनुकूलता और सुविधा होती है।

प्राणवायुविजय के सन्दर्भ में ग्रन्थकार ने उसके भेद-प्रभेद, उनके स्वरूप, वर्ण आदि का उल्लेख किया है।

प्राणायाम का बहुविध विवेचन, भौतिक वैशिष्ट्य या चमत्कारोत्पादक परिणाम इत्यादि का विस्तार से वर्णन कर आचार्य हेमचन्द्र ने आध्यात्मिक दृष्टि से प्राणायाम की उपादेयता को अस्वीकार करते हुए कहा है:- प्राणायाम से पीड़ित-उद्वेजित मन स्वस्थ, आत्मस्थ नहीं हो सकता। क्योंकि प्राणवायु का निग्रह करने से शरीर में पीड़ा उत्पन्न होती है, वैसा होने से मन में चंचलता का उद्भव होता है-पूरक, कुंभक, रेचक के अभ्यास में बड़ा परिश्रम करना पड़ता है वैसा करने से चित्त में संक्लेश उत्पन्न होता है, चित्त की संक्लिष्टतावस्था मोक्ष में विघ्न है।⁵³

आचार्य हेमचन्द्र का यह कथन विशेषतः उन साधकों पर लागू होता है जो प्राणायाम को ही सब कुछ मानकर उसे ही अपने परम लक्ष्य का हेतु समझते हैं। जैसा कि कतिपय हठयोगी करते रहे हैं और करते हैं। प्राणायाम के उत्तरगामी योगांग प्रत्याहार, धारणा, ध्यान की समाधि की दिशा में उनकी गति अग्रसर नहीं होती, क्योंकि वे प्राणायाम में ही उलझे रहते हैं। यही कारण है कि प्राणायाम को मोक्ष की दृष्टि से आचार्य हेमचन्द्र ने अनुपयोगी कहा है। किन्तु प्राणवायु के नियमन की दृष्टि से उसका संतुलित सुसीमित प्रयोग देहशुद्धि, वायु-शुद्धि में उपयोगी होता है। इसलिए वह सर्वथा निरर्थक नहीं है। आचार्य का यहाँ ऐसा भाव है कि आत्यन्तिक रूप में जब उसको स्वीकार किया जाता है तब उसकी उपयोगिता मिट जाती है और ध्यानादि की ऊर्ध्वगामिता में वह बाधक जैसा बन जाता है।

यदि प्राणायाम सर्वथा अनुपयोगी और विघ्नकारक ही होता तो आचार्य शुभचन्द्र तथा स्वयं हेमचन्द्र विस्तार पूर्वक उसका अपने ग्रन्थों में समायोजन ही क्यों करते।

53. वही, 6.4-5

किसी भी ग्रन्थकार या चिन्तक के विचारों की परख केवल बाह्य रूप में ही न की जाकर अपेक्षित दृष्टि से उसका अन्तर्वीक्षण किया जाना आवश्यक है। आचार्य हेमचन्द्र के सूक्ष्म हार्द का संस्पर्श करने से उपयुक्त तथ्य प्रकट होता है।

प्राणायाम का एक अभिनव आध्यात्मिक रूप भी जैन मनीषियों ने उपस्थापित किया है। उन्होंने कहा है कि परभावों का आत्मव्यतिरेक, अन्य भावों का रेचन, बहिर्निष्कासन, आत्मभावों का पूरण अपने आप में समावेशन तथा उनका अन्तरात्मा में संस्थापन टिकाव आध्यात्मिक प्राणायाम है जो साधक को बहिरात्म भाव से अन्तरात्म भाव की ओर ले जाता हुआ आगे परमात्म भाव में तन्मय करने का उपक्रम है।

प्राणवायु के सिद्ध हो जाने पर विविध रूप में काल ज्ञान की चर्चा की है। उसका अध्यात्मयोग से यद्यपि कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि बाह्य सिद्धिमूलक विधिक्रम आचार्य हेमचन्द्र के समय में विशेष रूप से प्रचलित थे। लोगों पर उनका प्रभाव था इसलिए उन्होंने भी इन विषयों का ग्रन्थ में समावेश किया है। नाड़ी शुद्धि का भी उन्होंने वर्णन किया है, उसकी विधि का भी उल्लेख किया है।⁵⁴

नाड़ी शुद्धि का सम्बन्ध मुख्यतः हठयोग के साथ है। उनके समय में नाथ सम्प्रदाय आदि में हठयोग का विशेष प्रचलन था।

घेरण्ड संहिता में कहा गया है कि नाड़ी शुद्धि का समासादन कर योगी प्राणायाम का अभ्यास करें।⁵⁵

योग के क्षेत्र में अनेकानेक योगसिद्धियों में परकायप्रवेश का भी वर्णन प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध में एक सुप्रसिद्ध घटना का उल्लेख मिलता है। 'शंकर दिग्विजय' आदि ग्रन्थों के अनुसार आदि-शंकराचार्य के साथ शास्त्रार्थ में जब मण्डनमिश्र जो महान् मीमांसक थे, पराजित हो गये तब मण्डनमिश्र की पत्नी भारती, जो अपने युग की प्रख्यात विदुषी थी, के साथ आचार्य शंकर का शास्त्रार्थ शुरू हुआ। शास्त्रार्थों में उस समय होने वाले विषयों का सीमाकरण नहीं होता था। जिस किसी

54. वही, 5.255-260

55. घेरण्ड संहिता श्लोक 5.32

विषय पर प्रश्न किये जा सकते थे। जब भारती आचार्य शंकर के साथ शास्त्रार्थ में टिक नहीं सकी तो उसने उनसे “कला कियत्यो वद पुष्पधन्वनः” इन शब्दों में कामशास्त्र पर प्रश्न किया। आचार्य शंकर नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे। उन्होंने काम-शास्त्र का अध्ययन किया ही नहीं था। शंकर ने भारती से एक मास का समय मांगा। उन्होंने एकान्त में जाकर अपने शिष्यों से कहा- “मैं इस देह का त्याग कर रहा हूँ, तुम लोग इसकी रक्षा करना। यों कहकर उन्होंने उसी समय अन्यत्र मृत राजा की देह में प्रवेश किया। राजा जीवित हो उठा, एक मास तक राजा की देह से उन्होंने कामशास्त्र का परिशीलन किया। तत्पश्चात् उस देह का त्याग कर पुनः अपनी देह में प्रवेश किया। यों वह राजा मर गया। शंकर संजीव हो उठे। फिर उन्होंने भारती को शास्त्रार्थ में पराजित किया।

सम्भव है, इस प्रकार की अन्य भी घटनायें घटित हुई हों। आचार्य हेमचन्द्र जैन आचार्य तो थे ही, वे महान् युगप्रवर्तक भी थे। इसलिए उन्होंने उन विषयों को भी नहीं छोड़ा जो साधना में तो उपयोगी नहीं हैं किन्तु कुतूहलजनक हैं। यही कारण है कि उन्होंने योगशास्त्र के छठे प्रकाश में परकाय प्रवेश का वर्णन किया है।

उन्होंने इस अध्याय के प्रारम्भ में लिखा है कि यहाँ परकाय-प्रवेश की विधि का जो दिग्दर्शन कराया गया है वह केवल कौतूहल या आश्चर्यजनक है। उसका आध्यात्मिक परमार्थ से सम्बन्ध नहीं है। बहुत समय पर्यन्त करने पर वह सिद्ध हो भी जाती है, नहीं भी होती है।⁵⁶

प्रत्याहार :

प्रशान्त बुद्धि वाला साधक इन्द्रियों के साथ मन को भी शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श इन पाँचों विषयों से हटाकर उसे धर्मध्यान के चिन्तन में लगाने का प्रयत्न करे।⁵⁷ इसका तात्पर्य यह है कि जब तक इन्द्रियाँ और मन विषयों से विरत नहीं हो जाते, तब तक मन में शान्ति का प्रादुर्भाव नहीं होता। अतः मन को प्रशान्त बनाने के लिए उसे विषयों की ओर से हटाना आवश्यक है। प्रशान्त मन ही निश्चल हो सकता है और धर्मध्यान के लिए मन का निश्चल होना आवश्यक है। अतएव

56. योगशास्त्र श्लोक 6-1

57. वही, 6.6

मन को बाह्य एवं अभ्यन्तर इन्द्रियों से अलग कर देना ही प्रत्याहार कहा गया है।

धारणा :

नाभि, हृदय, नासिका का अग्रभाग, कपाल, भृकुटि, तालु, नेत्र, मुख, कान और मस्तक ये ध्यान करने के लिए धारणा के स्थान हैं अर्थात् इन स्थानों में से किसी भी एक स्थान पर चित्त को स्थिर करना चाहिए। चित्त को स्थिर करना ही धारणा है।⁵⁸

ध्यान के लिए वचन और काय के साथ मन को एकाग्र करना अनिवार्य है अतः ध्यान-आत्मचिन्तन करते समय यह आवश्यक है कि मन को एक पदार्थ के चिन्तन में स्थिर किया जाए। वस्तुतः ध्यान मन को एक स्थान पर एकाग्र करने, रखने की साधना है।

धारणा का फल :

उपर्युक्त स्थानों में से किसी भी एक स्थान पर लम्बे समय तक मन को स्थापित करने से निश्चय ही स्वसंवेदन के अनेक प्रयास उत्पन्न होते हैं।⁵⁹

इन्द्रियों को और मन को विषयों से खींच लेने के पश्चात् धारणा होती है। विषयविमुख मन को नासिकाग्र आदि स्थानों पर सीमित करने पर कुछ ऐसा साक्षात्कार होने लगता है, जो पहले कभी अनुभव में न आया हो। किन्तु उन्हें भी इन्द्रियों के सूक्ष्म विषय मानकर मन से बहिष्कृत करने पर अपूर्व शान्ति का अनुभव होता है। इस प्रकार बाह्य और आन्तरिक विषयों से विरक्त मन में ही धारणा की योग्यता आती है। धारणा की योग्यता प्राप्त हो जाने पर यथार्थ ध्यान सध सकता है।

ध्यान का अधिकारी :

आचार्य हेमचन्द्र ने ध्यान साधना के अधिकारी के संबंध में लिखा है कि जो ध्यान साधना करना चाहता है, उसे ध्याता, ध्येय तथा उसके फल को भी जानना चाहिए। ध्याता-ध्यान करने वाले में कैसी योग्यता होनी चाहिए? ध्येय-जिसका ध्यान

58. वही, 6.7

59. वही, 6.8

करना है, वह वस्तु कैसी होनी चाहिए ! ध्यान-ध्यान के कारणों की समग्रता अर्थात् सामग्री कैसी हो क्योंकि सामग्री के बिना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता।⁶⁰ इनके संदर्भ में आत्मलीनता, चित्त की स्वस्थता, यतना, जागरूकता, एकान्तवास और मौन रहने का अभ्यास भी आवश्यक है क्योंकि ये सब उपकरण हैं जो ध्यानसिद्धि में सहायक बनते हैं। ध्यान के अधिकारी का विवेचन करतेहुए ग्रन्थकार ने बतलाया है कि जो प्राणनाश की स्थिति उत्पन्न हो जाने पर भी संयम की धुरी के भार का त्याग नहीं करता, अन्यान्य सभी प्राणियों को आत्मवत् देखता है, जो अपने स्वरूप से कभी च्युत नहीं होता, अपने लक्ष्य पर अडिग रहता है, जो शैत्य, उष्मा, पवन आदि से जनित प्रतिकूल परिस्थितियों में भी कभी खिन्न नहीं होता; जो अजरत्व, अमरत्व प्रदायक योगामृत रूप रसायन का पान करने में सदा इच्छुक बना रहता है, जो राग-द्वेष, मोह आदि से अभिभूत नहीं होता; क्रोध, मान आदि कषायों से दूषित नहीं होता, जो आत्मस्वरूप में अपने मन को रमाये रखता है, लौकिक कार्य करते हुए भी उनमें लिप्त नहीं रहता, काम-भोगों से विरत रहता है, अपने देह के प्रति भी जिसमें स्पृहा नहीं होती, जो संवेदात्मक सरोवर में सम्यक् निमग्न रहता है, शत्रु-मित्र, स्वर्ण-पाषाण, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान आदि में सर्वदा समभाव लिये रहता है, राजा और रंक सभी के प्रति कल्याणमयी भावना अपने मन में रखता है, समस्त जीवों के प्रति जिसके हृदय में कारुण्य विद्यमान होता है, सांसारिक भोगमय सुखों से जिसमें वैमुख्य बना रहता है, परिश्रमों तथा उपसर्ग के आने पर भी सुमेरु पर्वत ज्यों अप्रकम्पित रहता है, जो सबके लिए चन्द्रवत् आनन्दप्रद है, वायु की ज्यों, जो निर्लेप, अनासक्त बना रहता है, ऐसा प्रशस्त बुद्धियुक्तध्याता ध्यान साधना करने के योग्य है।⁶¹

ध्याता का स्वरूप :

‘ध्यातुं योग्यं ध्येयम्’ जो ध्यान किये जाने योग्य हो या जिस पर ध्यान किया जाय उसे ध्येय कहा जाता है। ध्याता, ध्येय, ध्यान इन तीनों का अन्योन्याश्रित संबंध है। ध्येय को आलम्बन भी कहा जाता है। ‘ध्यायते येन तद् ध्यानम्’-जिसके द्वारा किसी विषय पर मन को टिकाया जाता है, उसे ध्यान कहा जाता है, ‘ध्यायति

60. वही, 7.1

61. वही, 7.1-7

यः सः ध्याता'-जो ध्यान करता है उसे ध्याता कहा जाता है। ध्यान, ध्येय और ध्याता का 'तत्त्वानुशासन' में भी शाब्दिक विश्लेषण हुआ है।

ध्येय के स्वरूप का विवेचन करते हुए ग्रन्थकार ने कहा कि ज्ञानीजनों द्वारा पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत के रूप में चार प्रकार के ध्येय या आलम्बन बतलाये गये हैं।⁶²

ग्रन्थकार ने यहाँ ज्ञानियों द्वारा बताये जाने का उल्लेख कर पूर्ववर्ती योगनिष्णात महापुरुषों के प्रति अपना श्रद्धाभाव व्यक्त किया है। कहने का उनका यह तात्पर्य है कि ध्यान के आलम्बन पूर्व काल से ही स्वीकृत रहे हैं, ये सर्वमान्य हैं।

पिण्ड शब्द किसी एक तत्त्व के विभिन्न अंगोपांगों के समवेत रूप का वाचक है। उदाहरणार्थ विभिन्न रूपों में विस्तीर्ण व्याप्त, पृथ्वी तत्त्व को समवेत रूप में लिया जाय तो उसके लिए पृथ्वी पिण्ड संज्ञा अभिहित होती है।

ग्रन्थकार ने पृथ्वी, अग्नि, वायु तथा जल को पिण्ड रूप में गृहीत कर उनके आधार पर ध्यान का अभ्यास करने का एक बड़ा ही मनोवैज्ञानिक उपक्रम प्रस्तुत किया है। विभिन्न तत्त्वों पर आधृत ध्यान प्रक्रिया को उन्होंने धारणा कहा है।

उन्होंने पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी तथा तत्त्वभू के रूपमें पिण्डस्थ ध्येय की पाँच धारणाओं का उल्लेख किया है।⁶³ उनके लिए धारणा शब्द के प्रयोग का भी अपना अर्थ है। ये धारण या ग्रहण किये जाने योग्य हैं। अथवा धारण किये जाने के स्थान हैं। ऐसा भाव इस शब्द के साथ जुड़ा हुआ है। इनको गृहीत या धारित किये जाने पर ध्यान का प्रवाह स्थिरता या अपृथग्गामिता प्राप्त करता है।

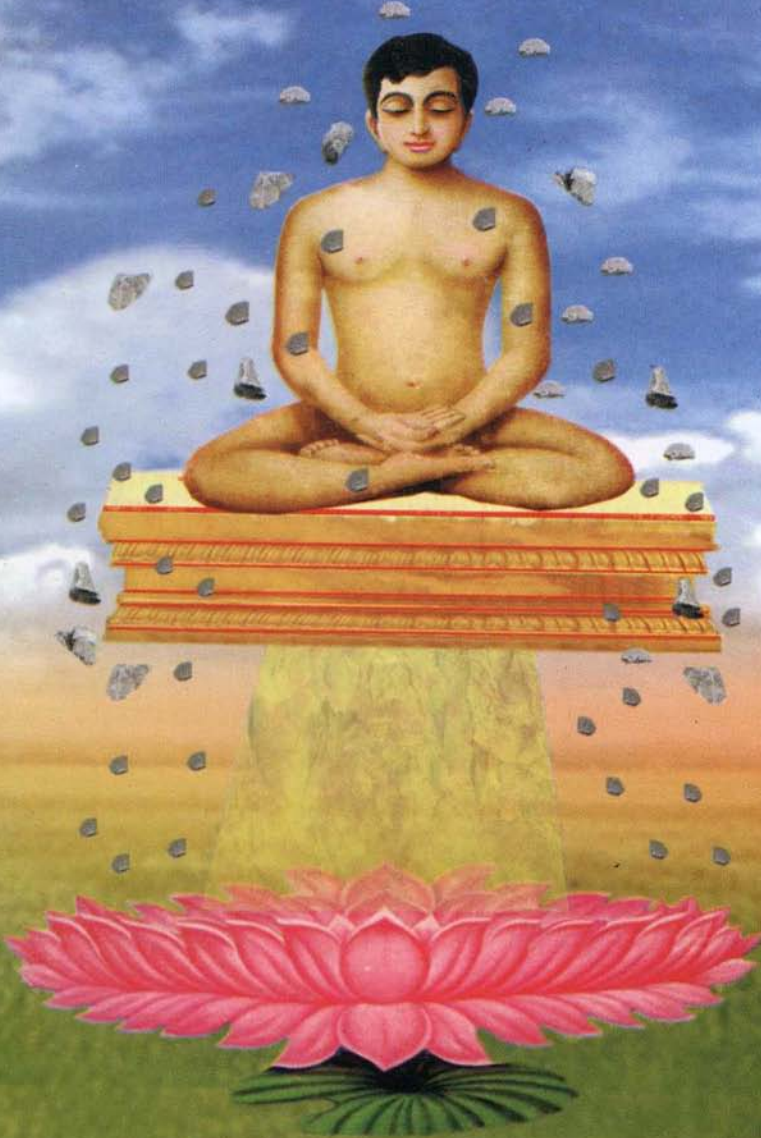
पार्थिवी धारणा :

यह लोक ऊर्ध्व, मध्य एवं अधः इन तीन भागों में विभक्त है। जिस पृथ्वी पर हम निवास करते हैं, उसे मध्य या तिर्यग्लोक कहा जाता है। जैन शास्त्रों के अनुसार उसका विस्तार एक रज्जु परिमित है। साधक मन में ऐसा परिकल्पित करें कि क्षीरसागर के मध्य में स्थित एक लक्षयोजन विस्तीर्ण एक सहस्रदल कमल है। फिर उस कमल

62. वही, 7.8

63. वही, 7-9

प्रार्थिी धारणा



आग्नेयी धारणा



के मध्यवर्ती किञ्जलकों के भीतर देदीप्यमान पीत प्रभामय मेरुपर्वत के समकक्ष एक लक्ष योजन ऊँची कर्णिका अवस्थित है, ऐसा विचार करें। उस कर्णिका के ऊपर एक उज्ज्वल निर्मल सिंहासन है। यों सोचें कि उस सिंहासन पर आसीन होकर मैं, मेरी आत्मा कर्मों का मूलोच्छेद करने में सन्नद्ध है। चिंतन की यह विधा अर्थात् प्रक्रिया पार्थिवी धारणा है।⁶⁴

यह पृथ्वी को आधार मानकर की गई है। यह चिन्तनानुचिन्तन मूलक विधि ध्याता के ध्यान को अन्य दिशाओं से हटाकर एक ही पृथ्वी पिण्डगत परिकल्पित वस्तु तत्त्व पर टिकती है। यह एकाग्रता का एक बड़ा ही सुन्दर उपयोगी रूप है।

आग्नेयी धारणा :

एक अन्य विधा को लेकर साधक की परिकल्पना आगे बढ़ती है। वह यह चिन्तन करे कि उसकी नाभि के भीतर षोडशदल युक्त कमल विद्यमान है। उस कमल की प्रत्येक कर्णिका पर महामंत्र नवकार का संक्षिप्त रूप 'अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, लृ , ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः' - ये सोलह स्वर स्थापित करें। तदनन्तर अपने हृदय स्थल में अष्ट दल युक्त एक अन्य कमल का चिन्तन करें। उसके प्रत्येक पत्र पर क्रमशः ज्ञानावरण दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय-इन आठ कर्मों को प्रतिष्ठपित करें-परिकल्पना करें कि उन पत्रों पर क्रमशः ये आठ कर्म स्थित हैं। साथ-ही-साथ यह भी सोचें कि यह हृदय स्थित कमल अधोमुखी है।

तदनन्तर अपने चिन्तन को इस प्रकार आगे बढ़ायें कि नाभिवर्ती कमल पर विद्यमान अर्ह पद के हँ के अन्तर्वर्ती रेफ में से मन्द-मन्द रूप में धूम-शिखा निकल रही है। पुनः यों चिन्तन करें कि उसमें से अग्नि स्फुलिंग निकलने लगे हैं। आगे वे स्फुलिंग ज्वालाओं के रूप में परिणत हो रहे हैं, ज्वालाएँ उत्तरोत्तर ऊँची बढ़ती जा रही हैं और पूर्वोक्त हृदयवर्ती अष्टदल युक्त कमल को दग्ध कर रही हैं।

उसके पश्चात् देह के बाहर एक त्रिकोण स्वस्तिक युक्त तथा अग्निबीज रेफ युक्त प्रज्वलित वह्निपुर-अग्निमय घर या आवास का चिन्तन करें। आगे फिर यों सोचें

64. वही, 7.10-12

कि देह के भीतर महामंत्र के ध्यान से उत्पन्न ज्वालार्ये देह को तथा अष्ट कर्म युक्त कमल को तत्काल भस्म कर देती हैं, ऐसा कर अग्निज्वालार्ये सर्वथा शान्त हो जाती हैं।⁶⁵

ध्यान द्वारा कर्माविरणों को भस्मसात करने का यह एक बड़ा ही रोचक और प्रभावक क्रम है। कर्मक्षय के उपक्रम से जुड़ी हुई ये अनुचिन्तनार्ये वास्तव में चित्तवृत्ति को अपने में इतना रमा लेती हैं कि वह दूसरी ओर भटक ही नहीं सकती। कर्मनिर्जरण का यह एक ध्यानमूलक तपोमय विधिक्रम है जो ग्रन्थकार ने इस धारणा के माध्यम से उपस्थापित किया है।

वायवी धारणा :

कर्मदाह या कर्मक्षय के पथ पर आरूढ़ ध्यानयोगी आग्नेयी धारणा के बाद अपनी कल्पना को एक अन्य दिशा में उन्मुख बनाये। वह ऐसा सोचे कि एक प्रचण्ड पवन या घोर तूफान आ रहा है जो तीनों लोकों में व्याप्त हो रहा है, पर्वतों को विचलित कर रहा है और समुद्रों को संक्षुब्ध कर रहा है।

पुनः वह चिन्तन करे कि आग्नेयी धारणा में शरीर और अष्टकर्मों को दग्ध कर डालने से जो राख के रूप में उनकी परिणति हुई थी, उस राख को यह तूफान, यह प्रचण्ड वायु उड़ाता जा रहा है और सर्वत्र विकीर्ण कर रहा है अर्थात् वह राख भी पुञ्ज रूप में विद्यमान नहीं रही है। तूफान द्वारा उड़ाये जाने पर वह लोक में सर्वत्र बिखर गई है। इसे वायवी धारणा कहा जाता है।⁶⁶

“कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः” के आदर्श को लेकर चलने वाला ध्यानयोगी अपने मन में यह भाव लिये रहता है कि उसके दग्ध कर्मों का भी कोई अवशेष बचा न रहे। इस धारणा से इस आशय का अंकन किया गया है।

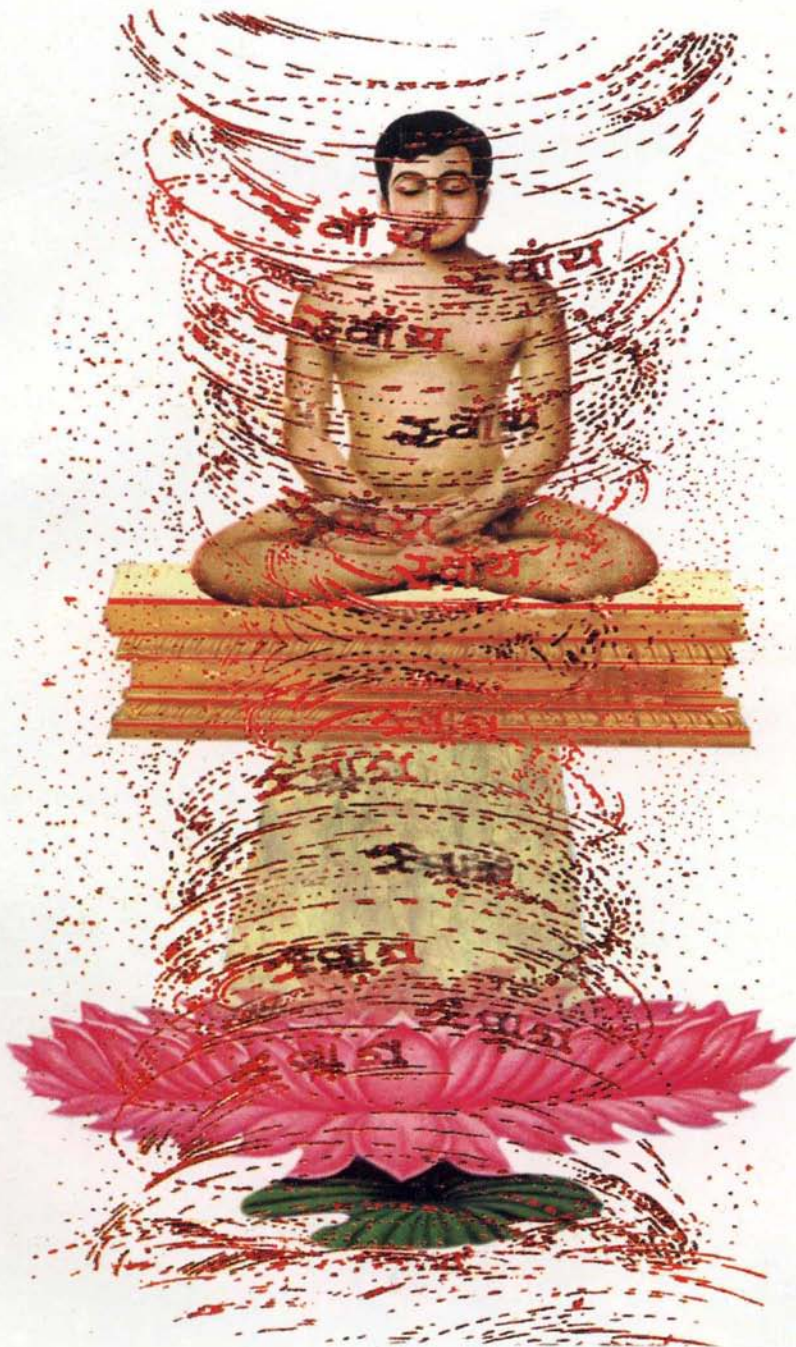
वारुणी धारणा :

वायवी धारणा को सिद्ध कर साधक वारुणी धारणा पर आता है। इस धारणा

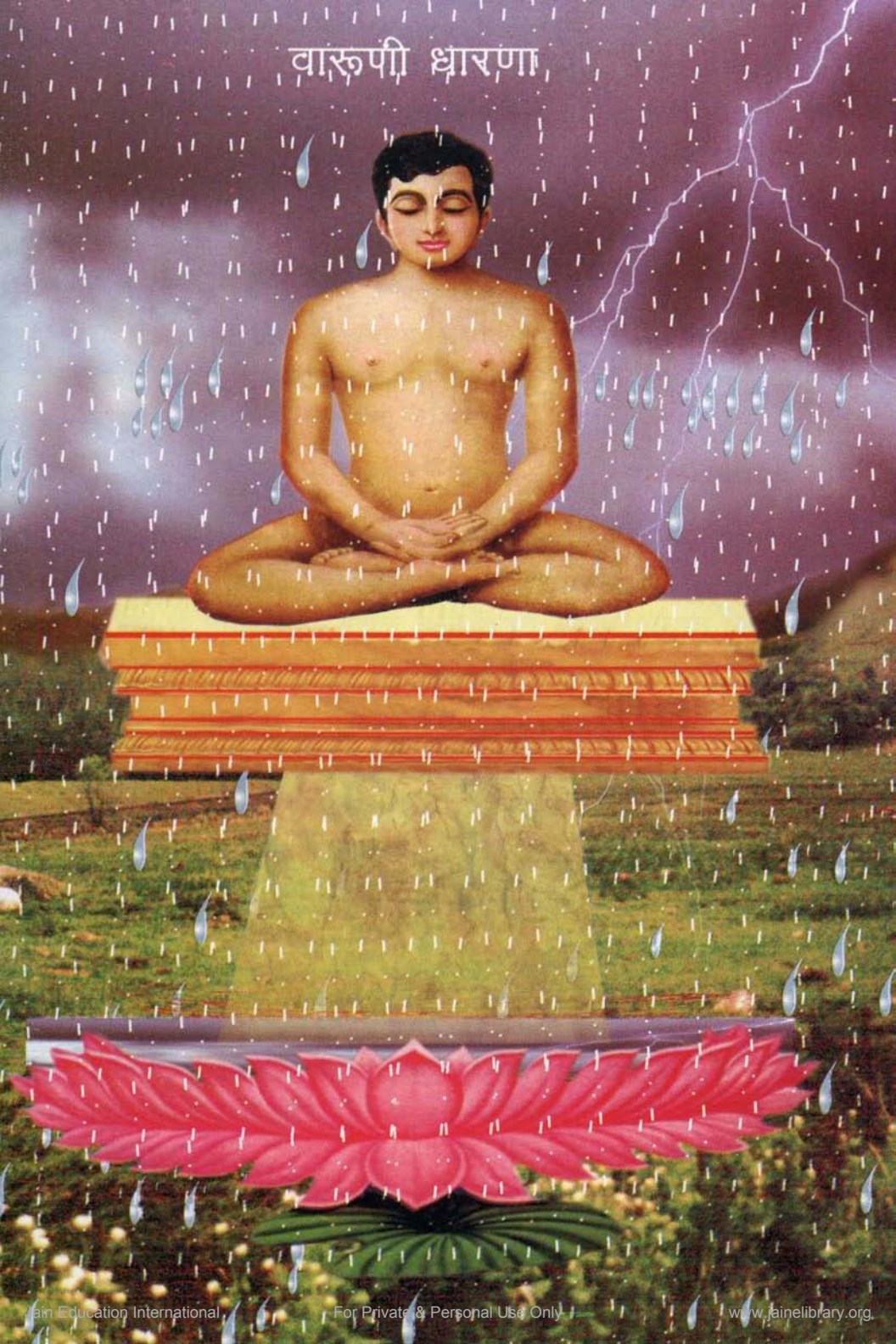
65. वही, 7.13-18

66. योगशास्त्र श्लोक 7.19-20

वायवी धारणा



वांरूपी धारणा



का जल तत्त्व से सम्बन्ध है। वह ऐसे आकाश का चिन्तन करे, जो अमृतसदृश जल बरसाने वाली मेघमालाओं से व्याप्त है। तदनन्तर वह मेघों के मध्य अर्ध चन्द्राकार कला बिन्दु युक्त वरुणबीज 'वं' का चिन्तन करे। वरुण बीज वं से निःसृत होते हुए सुधासदृश जल से गगनतल परिपूर्ण है। वैसे जल की अनवरत वृष्टि हो रही है। उससे पूर्वदग्ध देह तथा कर्मों की भस्म, जो प्रचण्ड वायु द्वारा उड़ा दी गई थी, प्रक्षालित होकर, धुलकर साफ हो रही है।⁶⁷

इस धारणा द्वारा देह और कर्मों का भस्म रूप में बचा हुआ अवशेष भी नहीं रह पाता, ऐसा स्पष्ट है। उद्दीप्त ध्यान साधना द्वारा कर्मदाह का, विलय का एक सुन्दर मनोवैज्ञानिक उपक्रम व्यक्त होता है।

तत्त्वभू धारणा :

उपर्युक्त चार धारणायें पृथ्वी आदि भूत चतुष्टय पर अवस्थित हैं। पाँचवीं धारणा विशुद्ध आत्म-तत्त्व से सम्बद्ध है। इसलिए इसे तत्त्वभू कहा गया है अर्थात् यह आत्म तत्त्व की भूमिका पर विद्यमान है। साधक अपने विशुद्ध आत्मस्वरूप का चिन्तन करे। वह यों सोचे कि यह आत्मतत्त्व देह रूपी रस, रक्त आदि सप्त धातुओं से सर्वथा रहित है। पूर्ण चन्द्र की ज्यों सर्वथा निर्मल, उज्ज्वल, कान्तिमय है, सर्वज्ञोपम है।

तत्पश्चात् वह स्व-शरीरस्थ निराकार आत्मा का इस प्रकार स्मरण-चिन्तन करे कि वह भावमय सिंहासन पर आरूढ़ है, समस्त अतिशयों से विभूषित है और समस्त कर्मविध्वंसक उत्तम महिमायुक्त है।

इस प्रकार पिण्डस्थ ध्यान का जो योगी अभ्यास करता है, वह शिवसुख मोक्षरूप अनन्त सुख को प्राप्त करता है।⁶⁸

पिण्डस्थ ध्यान का माहात्म्य :

अन्त में, ग्रन्थकार ने पिण्डस्थ ध्यान से नष्ट हो जाने वाले बाह्य विघ्नों की चर्चा करते हुए लिखा है कि दूषित विद्या या मन्त्रशक्ति द्वारा उत्पादित, उच्चाटन, मारण,

67. वही, 7.21-22

68. वही, 7.23-25

स्तम्भन, विद्वेषण आदि उस योगी पर कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकते जो पिण्डस्थ ध्यान का अध्यासी है। शाकिनी, क्षुद्र योगिनी, पिशाच, मांस-भक्षी, दुष्ट जन जैसे योगी के तेज से तत्क्षण त्रस्त हो जाते हैं। उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते। दुष्ट हाथी, सिंह, सर्प, शरभ आदि घातक जन्तु उन्हें देखकर स्तब्ध हो जाते हैं, जहाँ के तहाँ खड़े रहते हैं, उसकी जरा भी हानि नहीं कर सकते।⁶⁹

पिण्डस्थ ध्यान का मुख्य लक्ष्य तो कर्मक्षयपूर्वक शुद्ध आत्मस्वरूप की उपलब्धि ही है, किन्तु भौतिक दृष्टि से भी इस ध्यान को साधने वाले योगी के सब प्रकार के भौतिक विघ्न भी नष्ट हो जाते हैं। ग्रन्थकार ने यह बतलाते हुए इसकी ऐहिक और पारमार्थिक दोनों दृष्टियों से लाभकारिता सिद्ध की है।

‘श्रेयांसि बहुविघ्नानि’-श्रेयस्कर कार्यों में अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं। आगम साहित्य में हम ऐसे प्रसंग देखते हैं जहाँ साधकों को विचलित करने के लिए क्रूर-कर्मा पिशाच आदि उपद्रव करते हैं। दृढ़चेता साधक विचलित नहीं होते किन्तु जिनकी साधना परिपक्वता या सुदृढ़ता को प्राप्त नहीं होती, वे स्थानच्युत हो जाते हैं।

उपासकदशांग सूत्र में महावीर के उपासकों के जीवन में ऐसे विपरीत विघ्न उपस्थित होते रहे हैं इसका विस्तार से वर्णन हुआ है।⁷⁰

पदस्थ ध्यान :

‘विभक्त्यन्तं पदम्’ व्याकरण के अनुसार विभक्ति युक्त शब्द को पद कहा जाता है। यहाँ पद शब्द का प्रयोग पवित्र मंत्राक्षर आदि को लक्षित कर किया गया है। उनका आलम्बन लेकर जो ध्यान किया जाता है, उसे पदस्थ ध्यान कहा जाता है। सिद्धान्त के पारगामी महापुरुषों ने ऐसा बतलाया है।⁷¹

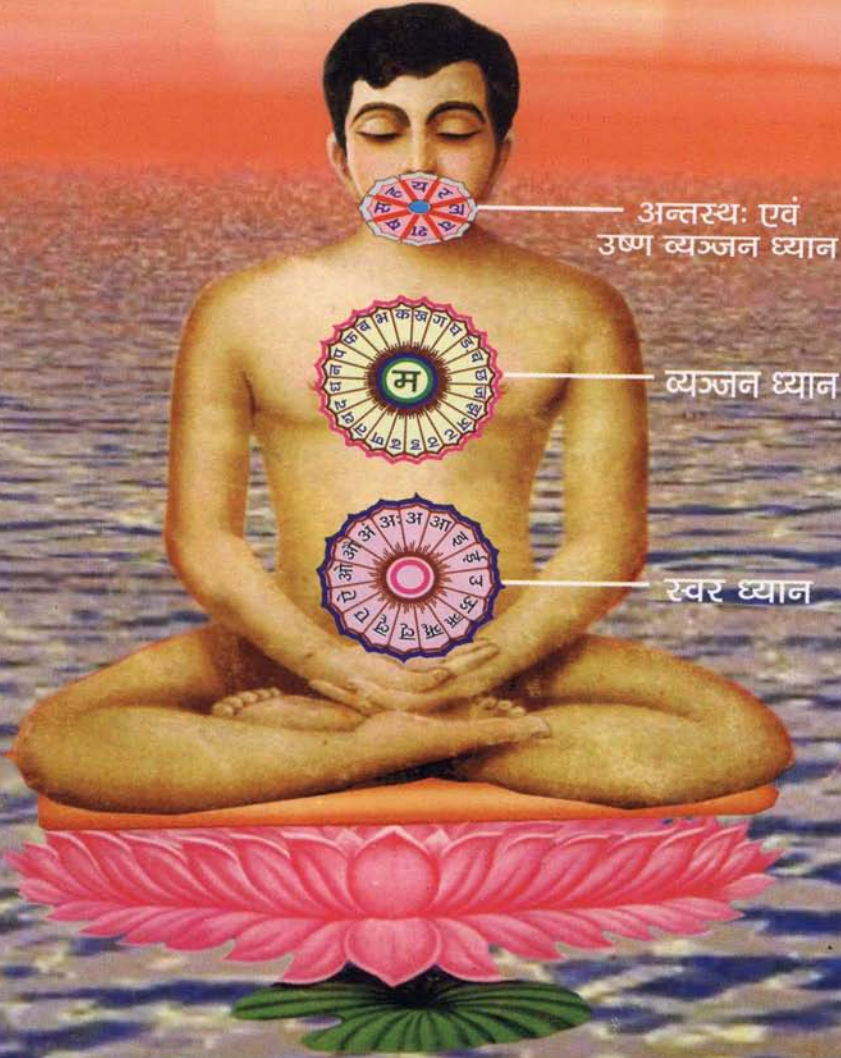
सिद्धान्त के पारगामी पुरुषों का उल्लेख कर आचार्य हेमचन्द्र ने पदस्थ ध्यान की प्राचीन परम्परा की ओर संकेत किया है। यह ध्यान भी पिण्डस्थ ध्यान की भाँति परम्परानुगत है। ग्रन्थकार ने विशेष रूप से उसे व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने

69. वही, 7.26-28

70. उपासक दशांगसूत्र अध्ययन 2.5

71. योगशास्त्र श्लोक 8.1

मातृका पद ध्यान



पदस्थ ध्यान के एक रूप का विश्लेषण करते हुए लिखा है-

“ध्यान योगी नाभिकन्द पर विद्यमान षोडशपत्रयुक्त प्रथम कमल की परिकल्पना करे। उसके प्रत्येक पत्र पर अ, आ, इ, ई आदि सोलह स्वरों की पंक्ति भ्रमण कर रही है, ऐसा सोचे।”

“फिर वह हृदयस्थित चतुर्विंशति पत्र युक्त कर्णिका युक्त द्वितीय कमल का चिन्तन करे। ऐसा सोचे कि क से य तक चौबीस व्यञ्जन उन पत्रों पर स्थित हैं। मकार कर्णिका पर विद्यमान है।”

“फिर अष्ट दल युक्त तीसरे कमल की मुख में परिकल्पना करे। उन आठ पत्रों में अवशेष आठ य से ह तक व्यञ्जन की परिकल्पना करे। इस वर्णमाला को मातृका कहा जाता है। इसी पर श्रुतज्ञान अवस्थित है। इसका जो ध्यानयोगी चिन्तन करता है वह श्रुतज्ञान में पारंगत हो जाता है।”⁷²

मातृका ध्यान का फल :

मातृका ध्यान का विशेष फल बताते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है कि ये वर्ण अनादि काल से स्वतः सिद्ध हैं। जो विधिपूर्वक इनका ध्यान करता है, स्वल्पकाल में ही उसके संचित कर्म विध्वस्त हो जाते हैं तथा उसमें विविध विषय मूलक ज्ञान सहज ही उत्पन्न हो जाता है।⁷³

वर्ण, तदात्मक शब्द, पद आदि पर भारतीय दर्शन में बड़ा चिन्तन और मनन हुआ है। वे भाषा मात्र से ही जुड़े हुए नहीं हैं, उनके साथ निगूढ दार्शनिक एवं तात्त्विक तथ्य भी जुड़ा हुआ है। महान् वैयाकरण भर्तृहरि ने ‘वाक्यपदीयं’ नामक अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ में ब्रह्मकाण्ड का प्रारम्भ इसी तत्त्व के प्रतिपादन के साथ किया है-

अनादि-निधनं ब्रह्म शब्द-तत्त्वं तदक्षरम् ।

विवर्ततेऽर्थभावेन, प्रक्रिया जगतो यतः ॥

यह शब्द तत्त्व अनादि अन्त है, अपर-अविनश्वर या विकार रहित है, जगत्

72. वही, 8.2-4

73. वही, 8.5

के विभिन्न पदार्थों में वही विविध रूपों में प्रतिभासित है। उसी से इस जगत् की समग्र प्रक्रिया प्रवर्तनशील है।⁷⁴ भर्तृहरि से पूर्व शैव आगम में भी यह तत्त्व निरूपित हुआ है। वहाँ ऐसा उल्लेख हुआ है कि यह जगत् शब्द का ही परिणाम है। जगत् में जो कुछ दृष्टिगोचर होता है - वह सब शब्द का ही विस्तार है।⁷⁵ पाणिनीय दर्शन में तो यहाँ तक माना गया है कि एकशब्दः 'सम्यक्ज्ञातः सुष्ठुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुक् भवति।' भली-भाँति ज्ञात किया हुआ, जाना हुआ, सम्यक् रूप में प्रयुक्त हुआ एक शब्द भी स्वर्ग एवं लोक में कामधुक् होता है अर्थात् स्वर्ग एवं लोक में प्रयोक्ता के लिए यथेष्ट फल प्रदान करता है।⁷⁶

इससे प्रकट होता है कि वर्ण, शब्द एवं पद आदि का जैन एवं वैदिक परम्परा दोनों में ही न केवल लौकिक किन्तु पारलौकिक, आध्यात्मिक किंवा दार्शनिक महत्त्व भी रहा है। पदस्थ ध्यान की महती सार्थकता इससे सिद्ध होती है।

पदस्थ ध्यान के अन्य प्रकार :

ग्रन्थकार ने पदस्थ ध्यान का इस प्रकाश में और भी अनेक रूपों में विवेचन किया है।

पंच परमेष्ठी मंत्र,⁷⁷ पंचपरमेष्ठी विद्या⁷⁸, पंचदशाक्षरी विद्या,⁷⁹ सप्त वर्ण मंत्र,⁸⁰ हींकार विद्या,⁸¹ क्ष्वीं विद्या,⁸² प्रणव, शून्य तथा अनाहत,⁸³ ओंकार,⁸⁴ अष्टाक्षरी विद्या⁸⁵ इत्यादि का ग्रन्थकार ने विशद रूप में वर्णन किया है जो

74. वाक्यपदीय 1.1
75. शैव आगम 1.120
76. सर्वदर्शनसंग्रह पाणिनि दर्शन पृ. 587
77. योगशास्त्र श्लोक 8.32
78. वही, 8.38
79. वही, 8.43
80. वही, 8.45
81. वही, 8.47-56
82. वही, 8.57
83. वही, 8.60-61
84. वही, 8.64-65
85. वही, 8.66-71

ध्यानयोगियों के लिए पठनीय है।

इस प्रकाश के अन्त में पदस्थ मूलक ध्यान के वैशिष्ट्य का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है कि प्रमुख गणधरबोधित प्रवचन रूपी समुद्र से उद्धृत किये हुए, निकाले हुए थे पदस्थ ध्यान के विविध उपक्रम तत्त्व रूपी रत्न हैं। ये सैकड़ों भवों में संचित कर्मक्लेश का विनाश करते हैं। ये मेधावी-प्रबुद्ध ध्यान-योगी साधकों के हृदय रूपी दर्पण को उल्लसित प्रकाशित करें।⁸⁶

पदस्थ ध्यान :

धर्मप्रवचन या धर्मदेशना प्रदान करने वाले तीर्थकरों के व्यक्तित्व की अपनी विलक्षणता और असाधारणता है। वे अनेक अतिशयों से विभूषित होते हैं। उनके व्यक्तित्व में जहाँ सर्वज्ञत्व की दिव्य आभा उद्भासित होती है, वहाँ उनके प्रभाव से परस्पर वैरभाव रखने वाले प्राणी भी उनकी परिषद् या समवसरण में उपस्थित होते हैं। आध्यात्मिक दिव्य छटा, प्रभा, ज्योति से वे अलंकृत होते हैं। वातावरण को सहज ही उनके व्यक्तित्व से आध्यात्मिक दिव्यता प्राप्त होती है। यह उनका भावात्मक, प्रेरक, उद्बोधक रूप है जो अध्यात्म चेतना से आपूरित है।

उनके इस आध्यात्मिक, अभौतिक, पारमार्थिक व्यक्तित्व का चिन्तन करना, इस पर अपने ध्यान को एकाग्र करना रूपस्थ ध्यान है। ग्रन्थकार ने उस ध्यान के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है-

जो साधक मुक्तिलक्ष्मी के सम्मुख जा पहुँचे हैं, जिन्होंने समग्र चारों घातिया कर्मों का समूल ध्वंस कर दिया है, देशना देते समय देवरचित तीन प्रतिबिम्बों के कारण जो चार मुख वाले दिखाई देते हैं, जो तीन लोक के प्राणिमात्र को अभयदान देने वाले हैं तथा चन्द्रमण्डल के सदृश तीन उज्ज्वल छत्रों से सुशोभित हैं, सूर्यमंडल की प्रभा का तिरस्कार करने वाला भामंडल जिनके पीछे जगमगा रहा है, दिव्य दुंदुभि के निर्घोष से जिनकी आध्यात्मिक सम्पदा का गान किया जा रहा है, जो गुंजार करते हुए भ्रमरों की झंकार से शब्दायमान अशोक वृक्ष से सुशोभित हैं, सिंहासन पर आसीन हैं, जिनके दोनों ओर चामर ढुलाये जा रहे हैं, वन्दन करते हुए सुरों और असुरों के मस्तकों के

रत्नों की कान्ति से जिनके चरणों के नख चमक रहे हैं, देवकृत दिव्य पुष्पों के समूह के कारण जिनके समवसरण की विशाल भूमि भी संकीर्ण हो गई है, गर्दन ऊपर उठाकर मृगादि पशुओं के झुण्ड जिनकी मनोहर ध्वनि का पान कर रहे हैं, जिनका जन्म-जात वैर शान्त हो गया है- ऐसे सिंह और हाथी आदि विरोधी जीव जिनकी उपासना कर रहे हैं, जो समस्त अतिशयों से सम्पन्न हैं, केवलज्ञान के प्रकाश से युक्त हैं, परम पद को प्राप्त हैं और समवसरण में स्थित हैं, ऐसे अरिहन्त भगवान के स्वरूप का अवलम्बन करके किया जाने वाला ध्यान-‘रूपस्थ-ध्यान’ कहलाता है।⁸⁷

रूपस्थ ध्यान का एक अन्य प्रकार :

राग-द्वेष, मोह आदि विकारों से रहित, शान्त, कान्त, मनोहर आदि समस्त प्रशस्त लक्षणों से युक्त, इतर मतावलम्बियों द्वारा अज्ञात योगमुद्रा को धारण करने के कारण मनोरम तथा नेत्रों से अमन्द आनन्द का अद्भुत प्रवाह बहाने वाले जिनेन्द्रदेव के दिव्य भव्य रूप का निर्मल चित्त से ध्यान करने वाला योगी भी रूपस्थ ध्यान करने वाला कहलाता है।⁸⁸

फलोद्गम :

रूपस्थ ध्यान के अभ्यास करने से तन्मयता को प्राप्त योगी अपने आपको स्पष्ट रूप से सर्वज्ञ के रूप में देखने लगता है। इसका अभिप्राय यह है कि जब तक साधक का मन वीतराग भाव में रमण करता है तब तक वह वीतराग भाव की ही अनुभूति करता है।

जो सर्वज्ञ भगवान हैं निस्सन्देह वह मैं ही हूँ, यों सोचने से योगी की सर्वज्ञ भाव में तन्मयता हो जाती है।⁸⁹

आलम्बनानुरूप फल/निष्पत्ति :

जो वीतराग भाव का ध्यान करता है वह वीतरागता का अनुभव करता हुआ

87. वही, 9.1

88. वही, 10.8-10

89. वही, 10.11-12

वासनाओं से विमुक्त हो जाता है। इसके प्रतिकूल जो सराग ध्येय का आलम्बन लेकर ध्यान करता है वह रागभावापन्न हो जाता है, क्षोभ व क्रोध आदि कषायों से जुड़ता जाता है।

इसका तात्पर्य यह है कि ध्यान का जैसा आलम्बन होता है, ध्येय का जैसा स्वरूप होता है, ध्याता भी उसी के अनुरूप परिणत हो जाता है।⁹⁰

श्रीमद्भागवत में भी ऐसा उल्लेख है कि ध्याता की ध्येय के अनुरूप परिणति हो जाती है।⁹¹ जब तक ध्याता के चित्त में ध्येयानुरूप अनुभवन नहीं होता, तब तक उसे ध्यान का पुनःपुनः अभ्यास करना चाहिए।⁹²

श्वेताश्वेतर उपनिषद् में भी ध्यान के संदर्भ में प्रकारान्तर से ऐसा ही वर्णन हुआ है।⁹³

रूपातीत ध्यान :

निरंजन, निराकार, सिद्ध, मुक्त, परमेश्वर, अमूर्त विशुद्ध चैतन्य स्वरूप है, चिन्मय है। अतएव उन्हें रूपातीत कहा गया है। उनके परम शुद्ध आध्यात्मिक स्वरूप का आलम्बन लेकर जो ध्यान किया जाता है उसे रूपातीत ध्यान कहा गया है। ग्रन्थकार ने इस संबंध में विवेचन करते हुए लिखा है -

निरंजन निराकार सिद्ध परमात्मा का ध्यान करने वाला योगी ग्राह्य-ग्राहक भाव अर्थात् ध्येय और ध्याता के विकल्प से रहित होकर तन्मयता, सिद्धस्वरूपता का अनुभव करता है। योगी जब ग्राह्य-ग्राहक भाव के भेद से ऊपर उठकर तन्मयता प्राप्त कर लेता है, तब कोई भी आलम्बन न रहने के कारण वह सिद्धात्मा में लीन हो जाता है। ध्येय सिद्धस्वरूप के साथ उसकी एकरूपता हो जाती है। वह अन्तरात्म भाव से ऊँचा उठकर परमात्म भाव में लीन हो जाता है। ध्याता और ध्येय का यह ऐक्य ही समरसी भाव कहा गया है।⁹⁴

90. वही, 10.13

91. श्रीमद् भागवत 11.9.22

92. ब्रह्मसूत्र 4.1.1

93. श्वेताश्वेतरोपनिषद् 1.14

94. योगशास्त्र श्लोक 10.1-4

ध्यान का क्रमिक अभ्यास :

साधक पहले पिण्डस्थ, पदस्थ आदि आलम्बन युक्त ध्यान का अभ्यास करे। पहले स्थूल ध्येयों का फिर क्रमशः सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम ध्येयों का चिन्तन करे। इस क्रम को स्वीकार कर ध्यान करने वाला तत्त्ववेत्ता तत्त्व को प्राप्त कर लेता है।

इस क्रम को अपनाकर ध्यान में आगे बढ़ने वाला साधक अपने ध्येय को सिद्ध कर लेता है।

अन्त में, ग्रन्थकार ने उपर्युक्त ध्यान-साधना की महत्त्वपूर्ण फलनिष्पत्ति का उल्लेख करते हुए कहा है कि यह चार प्रकार का ध्यान अमृत स्वरूप है। इनमें जो योगी निमग्न हो जाता है, वह जागतिक तत्त्वों का साक्षात्कार कर आत्मविशुद्धि अधिगत कर लेता है।⁹⁵

पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत का विवेचन हुआ है, वह धर्म ध्यान से सम्बद्ध है। आगम साहित्य में प्रकारान्तर से उसके भेदों का विवेचन हुआ है। आचार्य हेमचन्द्र ने आगम निरूपित भेदों का भी 'योगशास्त्र' में वर्णन किया है।

धर्मध्यान के प्रकारान्तर से भेद :

आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान को ध्येय रूप में स्वीकार कर ध्यान करने से उन ध्येयों के अनुसार धर्मध्यान के आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाक विचय और संस्थान विचय नामक चार भेद होते हैं।⁹⁶

आज्ञाविचय ध्यान :

सर्वज्ञदेव की धर्मदेशना, आज्ञा, किसी भी प्रकार के तर्क से अबाधित है, पूर्वापरविरोध से विवर्जित है। तात्त्विक रूप से उसके अर्थों का चिन्तन करना, उन्हें आलम्बन के रूप में स्वीकार कर उन पर मन को एकाग्र करना आज्ञाविचय ध्यान है।

सर्वज्ञों के वचनों का यह वैशिष्ट्य है कि वे अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्वों का स्पर्श करते हैं, हेतुओं द्वारा खंडित नहीं होते। वे स्वामी की आज्ञा के रूप में ग्रहण करने

95. वही, 10.5-6

96. वही, 10.7

योग्य हैं क्योंकि सर्वज्ञ कदापि अन्यथाभाषी नहीं होते। उनकी आज्ञा को आधार मानकर इस ध्यान का विधान किया गया है।⁹⁷

अपचय ध्यान :

जो लक्ष्य को प्राप्त करने में सहायक होता है उसे उपाय कहा जाता है। यह उप+आय के मिलने से बना है। उप उपसर्ग सामीप्य का द्योतक है। आय उपलब्धि का द्योतक है। उपाय का विपरीत रूप अपाय है जो लक्ष्य को सिद्ध करने में बाधा विघ्न उत्पन्न करता है उसे अपाय कहा जाता है। अपाय शब्द अप+आय के मिलने से बना है। अप पृथक् या दूर करने का सूचक है। लक्ष्य से हटाने के कारण ही इसकी अपाय संज्ञा है। राग-द्वेष, क्रोध आदि कषाय, प्रमाद आदि विकारों से होने वाले कष्ट या दुर्गति आदि का जो साधनों में बाधक है, चिन्तन करना अपाय विचय ध्यान कहा जाता है।

ध्यान योग ऐहिक और पारलौकिक अपायों-विघ्नों के परिहार में, उनको मिटाने में तत्पर होता है। वह इस ध्यान का अवलम्बन लेकर पापकर्मों से सर्वथा निवृत्त हो जाता है।⁹⁸

ध्यानरत साधक साधना में विघ्नोत्पादक तत्त्वों का चिन्तन करता है तब उसके मन में उन्हें नष्ट करने की सहज रूप में प्रेरणा जागृत होती है क्योंकि वह सोचता है कि यदि ये अपाय नहीं मिट पाये तो वह साधना से स्खलित हो सकता है। इसलिए वह उनका परिहार या परिवर्तन करता है। यों वह पापात्मक प्रवृत्तियों से सर्वथा पृथक् हो जाता है। क्योंकि ध्यान तप का ही एक उज्ज्वल रूप है। तपश्चरण से तो कर्मों का निर्जरण होता ही है।

विपाक विचय ध्यान :

विपाक का अर्थ परिणाम, परिपाक या फल है। कर्मों का संचय ही संसार है और अपचय ही मोक्ष है। क्षण-क्षण में विभिन्न कर्मों का फल भिन्न-भिन्न रूप में उदित होता है। इस तथ्य का आलम्बन लेकर जो ध्यान किया जाता है वह विपाक-विचय ध्यान कहा जाता है।

97. वही, 10.8.9

98. वही, 10.10-11

इसके अन्तर्गत साधक चिन्तन करता है कि अरिहंत प्रभु को अष्ट प्रातिहार्य आदि श्रेष्ठतम सम्पत्ति अतिशय उपलब्ध है। चक्रवर्ती सम्राट् को एकछत्र राज्य-वैभव आदि प्राप्त है। नरकगत प्राणी घोर विपत्तियों और कष्टों से पीड़ित रहते हैं। इन सबका कारण उनके द्वारा किये गये अपने-अपने कर्म ही हैं।⁹⁹

कर्मसिद्धांत निरूपित विपाक पर मन को एकाग्र करने से भावों में ऐसी निर्मलता और उज्ज्वलता आती है जिसके द्वारा साधक में कर्मनिर्मुक्त विशुद्ध आत्मस्वरूप का संस्फुरण होता है।

संस्थानविचय ध्यान :

इस ध्यान का संबंध लोक के स्वरूप पर मन का एकाग्रता के साथ जुड़ना है। यह लोक अनादि और अनन्त है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है। अपने मूल स्वरूप की दृष्टि से ध्रुव है, पर्यायों की दृष्टि से उत्पत्ति और विनाशयुक्त है। एतन्मूलक चिन्तन से साधक में वस्तु स्वरूप का यथार्थ बोध उत्पन्न होता है। इसे संस्थान विचय ध्यान कहा गया है।¹⁰⁰ इस ध्यान से साधक आत्मानुभावित होता है तो वह अस्तित्व बोध का साक्षात्कार करता है। क्योंकि वह इस लोक के अनन्तानन्त प्राणियों में से एक है। यह ध्यान वस्तुतत्त्व की यथार्थ पृष्ठभूमि पर आश्रित है।

इस लोक में नाना प्रकार के अनेकानेक द्रव्य हैं। एक-एक द्रव्य के अनन्तानन्त पर्याय हैं। उन पर्यायों पर राग भाव करने से उन्हीं में व्यक्ति आसक्त बनता है। उन पर तात्त्विक दृष्टि से चिन्तन करने से मन को एकाग्र करने से साधक के मन में राग-द्वेषादिजनित आकुलता मिट जाती है। वह उनसे विरत होने की दिशा में अग्रसर होता है।¹⁰¹

धर्मध्यान की आराधना का सुपरिणाम :

धर्मध्यान क्षायोपशमिक आदि भावों से सम्बद्ध है जो कर्मों के क्षय और उपशम से प्रस्फुटित होते हैं। ध्यान योगी ज्यों-ज्यों अपनी साधना में आगे बढ़ता जाता है त्यों-त्यों लेश्याएँ क्रमशः पीत, पद्म और शुक्ल रूप में विशुद्धि प्राप्त करती जाती हैं। इसमें नितान्त वैराग्य भाव का उद्भव होता है। इससे योगी अतीन्द्रिय स्वसंवेद्य

99. वही, 10.12-13

100. वही, 10.14

101. वही, 10.15

अध्यात्म रस का अनुभव करता है।¹⁰²

उक्त विवेचन का सार यह है :

आज्ञा-विचय से वीतराग भाव की प्राप्ति होती है। अषाय-विचय से राग-द्वेष और मोह और उनसे उत्पन्न होने वाले दुःखों से मुक्ति मिलती है। विपाक-विचय से दुःख कैसे होता है, क्यों होता है, किस प्रवृत्ति का क्या परिणाम होता है ? इनकी जानकारी प्राप्त होती है। संस्थान विचय से मन अनासक्त बनता है; विश्व की उत्पाद-व्यय और ध्रुवता जान ली जाती है, उसके विविध परिणाम-परिवर्तन जान लिये जाते हैं, तब मनुष्य का मन स्नेह, घृणा, हास्य, शोक आदि विकारों से विरत हो जाता है।

धर्मध्यान चित्त-निरोध या चित्त-विशुद्धि का प्रारम्भिक अभ्यास है। शुक्लध्यान में यह अभ्यास परिपक्व हो जाता है। मन चंचल है। इन्द्रियाँ उसे प्रेरित करती हैं, इसलिए उसकी चंचलता और बढ़ जाती है। वह समूचे विश्व की परिक्रमा करने लग जाता है। ध्यान का कार्य उस भ्रमणशील मन को शेष विषयों से हटा कर किसी एक विषय पर स्थिर कर देना है।

ज्यों-ज्यों स्थिरता बढ़ती है, त्यों-त्यों मन शान्त और निष्प्रकम्प हो जाता है। शुक्ल ध्यान के अन्तिम चरण में मन की प्रवृत्ति का पूर्ण निरोध, पूर्ण संवर या समाधि प्राप्त हो जाती है।

शुक्ल ध्यान का अधिकारी :

वज्र वृषभनाराच संहनन वाले और पूर्वश्रुत के धारक मुनि ही शुक्ल ध्यान करने में समर्थ होते हैं। अल्पसामर्थ्य वाले मनुष्यों के चित्त में किसी भी तरह शुक्ल ध्यान के योग्य स्थिरता नहीं आ सकती।

इन्द्रियजन्य विषयों के सेवन से व्याकुल बना हुआ मनुष्यों का मन स्वस्थ, शान्त एवं स्थिर नहीं रह पाता। यही कारण है कि अल्प सत्त्व वाले प्राणियों को शुक्ल ध्यान करने का अधिकारी नहीं माना गया है।

वर्तमान में न तो वज्रऋषभनाराच संहनन वाले हैं, न ही पूर्वधर। अतः कोई

102. वही, 10.16-17

शुक्ल ध्यान के अधिकारी भी नहीं हैं। ऐसी स्थिति में शुक्ल ध्यान का वर्णन करने की क्या उपयोगिता है ? प्रस्तुत प्रश्न को समाहित करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है- आजकल के मनुष्यों के लिए शास्त्रानुसार शुक्ल ध्यान का वर्णन हुआ है।¹⁰³

शुक्ल ध्यान के भेद :

शुक्ल ध्यान के चार भेद हैं -

1. पृथक्त्व श्रुत सविचार, 2. एकत्व श्रुतअविचार, 3. सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति और 4. उत्सन्न क्रिया अप्रतिपाति।¹⁰⁴

पृथक्त्व श्रुतसविचार :

जैन परम्परानुसार वितर्क का अर्थ श्रुतावलम्बी विकल्प है। विचार का अर्थ है परिवर्तन। परमाणु आदि किसी एक द्रव्य में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य आदि पर्यायों का, द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक आदि नयों के अनुसार, पूर्वगत श्रुत के आधार से चिन्तन करना पृथक्त्व श्रुत सविचार ध्यान कहलाता है। इस ध्यान में अर्थ-द्रव्य, व्यंजन, शब्द और योग का संक्रमण होता रहता है। ध्याता कभी अर्थ का चिन्तन करते-करते शब्द का और शब्द का चिन्तन करते-करते अर्थ का चिन्तन करने लगता है। इसी प्रकार मनोयोग से काययोग में या वचन योग में, काययोग से मनोयोग में या वचनयोग में और वचनयोग से मनोयोग या काययोग में संक्रमण करता रहता है।

अर्थ, व्यंजन और योग का संक्रमण होते रहने पर भी ध्येय द्रव्य एक ही होता है, अतः उस अंश में मन की स्थिरता बनी रहती है। इस अपेक्षा से हमें ध्यान करने में कोई आपत्ति नहीं है।¹⁰⁵

एकत्व श्रुत अविचार :

श्रुत के अनुसार अर्थ, व्यंजन और योग के संक्रमण से रहित, एक

103. वही, 11.2-4

104. वही, 11.5

105. (क) वही, 11.6 (ख) स्थानांग वृत्ति, 4.1.247 पत्र 191

पर्यायविषयक ध्यान एकत्व श्रुत अविचार ध्यान कहलाता है।

पहला और दूसरा शुक्ल ध्यान सामान्यतः पूर्वधर मुनियों को ही होता है, परन्तु कभी किसी को पूर्वगत श्रुत के अभाव में अन्य श्रुत के आधार से भी हो सकता है। पहले प्रकार के शुक्ल ध्यान में शब्द, अर्थ और योगों का आवर्तन-परिवर्तन बंद हो जाता है। प्रथम शुक्ल ध्यान में एक द्रव्य की विभिन्न पर्यायों का चिन्तन होता है, दूसरे में एक ही पर्याय को ध्येय बनाया जाता है।¹⁰⁶

पहले में पृथक्त्व है, इसलिए वह सविचार है, दूसरे में एकत्व है इसलिए वह अविचार है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि पहले में वैचारिक संक्रम है, दूसरे में असंक्रम। पृथक्त्व-वितर्क-सविचारी अर्थात् भेद प्रधान ध्यान का अभ्यास दृढ़ होता है, तब एकत्व वितर्क अविचारी अर्थात् अभेदप्रधान ध्यान होता है। इसके अभ्यास से मोह क्षीण होता है, उसके साथ-साथ ज्ञान और दर्शन के आवरण तथा अन्तराय कर्म क्षीण हो जाते हैं। आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग और अनन्त शक्ति सम्पन्न बन जाता है।

सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाति :

निर्वाण-गमन का समय सन्निकट आ जाने पर केवली भगवान मनोयोग और वचनयोग तथा स्थूल काययोग का निरोध कर लेते हैं, केवल श्वासोच्छ्वास आदि सूक्ष्म क्रिया ही शेष रह जाती है, तब जो ध्यान होता है वह सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति नामक शुक्ल ध्यान कहलाता है।¹⁰⁷

उच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाति :

पर्वत की तरह निश्चल केवली भगवान जब शैलेशीकरण को प्राप्त करते हैं, उस समय होने वाला शुक्ल ध्यान उच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाति कहलाता है।¹⁰⁸

106. वही, 11.7

107. वही, 11.8

108. वही, 11.9

शुक्ल ध्यान में योग विभाग :

प्रथम शुक्ल ध्यान एक योग या तीनों योग युक्त मुनियों को होता है, दूसरा एक योग युक्त को ही होता है, तीसरा सूक्ष्म काययोग युक्त केवली को और चौथा अयोगी केवली को ही होता है।¹⁰⁹

केवली और ध्यान :

सामान्यतः मन की स्थिरता को ध्यान कहते हैं, परन्तु तीसरे और चौथे शुक्ल ध्यान के समय, मन का अस्तित्व नहीं रहता है। ऐसी अवस्था में उन्हें ध्यान कैसे कहा जा सकता है ? इसका समाधान यह है कि “ध्यान के विशेषज्ञ पुरुष जैसे छद्मस्थ के मन की स्थिरता को ध्यान कहते हैं, उसी प्रकार केवली के काय की स्थिरता को भी ध्यान कहते हैं। क्योंकि जैसे मन एक प्रकार का योग है, उसी प्रकार काय भी एक प्रकार का योग है।”¹¹⁰

अयोगी और ध्यान :

चौदहवें गुणस्थान में पहुँचते ही आत्मा तीनों योगों का निरोध कर लेती है। अतः अयोगी अवस्था में स्थित केवली में योग का सद्भाव नहीं रहता है, फिर भी वहाँ ध्यान का अस्तित्व माना गया है। उसका कारण यह है कि :

1. जैसे कुम्हार का चक्र दण्ड आदि के अभाव में भी पूर्वाभ्यास से घूमता रहता है, उसी प्रकार योगों के अभाव में भी पूर्वाभ्यास के कारण अयोगी अवस्था में भी ध्यान होता है।
2. जैसे पुत्र न होने पर भी पुत्र के योग्य कार्य करने वाला व्यक्ति पुत्र कहलाता है, उसी प्रकार ध्यान का कार्य कर्म-निर्जरा वहाँ पर भी विद्यमान है अतः वहाँ ध्यान भी माना गया है।
3. एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। यहाँ ध्येय धातु चिन्तन अर्थ में है, काययोग के निरोध अर्थ में भी है और अयोगित्व अर्थ में भी

109. वही, 11.10

110. वही, 11.11

है अतः अयोगित्व अर्थ के अनुसार अयोगी केवली में ध्यान का सद्भाव मानना उचित ही है।

4. जिनेन्द्र भगवान के अयोगी केवली अवस्था में भी ध्यान कहा है। इस कारण उनमें ध्यान का सद्भाव मानना चाहिए।¹¹¹

शुक्ल ध्यान के स्वामी :

चार प्रकार के शुक्ल ध्यानों में से पहले के दो ध्यान पूर्वगत श्रुत में प्रतिपादित अर्थ का अनुसरण करने के कारण श्रुतावलम्बी हैं। वे प्रायः पूर्वी के ज्ञाता छद्मस्थ योगियों के ही होते हैं।

‘प्रायशः’ कहने का आशय यह है कि कभी-कभी वे विशिष्ट अपूर्वधरों को भी हो जाते हैं।

अन्तिम दो प्रकार के शुक्ल ध्यान समस्त दोषों का क्षय करने वाले अर्थात् वीतराग, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी केवली में ही पाए जाते हैं।¹¹²

शुक्ल ध्यान का क्रम :

मतिमान पुरुष को श्रुत में से किसी एक अर्थ का अवलम्बन करके ध्यान आरम्भ करना चाहिए। उसके बाद उन्हें अर्थ से शब्द के विचार में आना चाहिए। फिर शब्द से अर्थ में पुनः लौटना चाहिए। इसी प्रकार एक योग से दूसरे योग में और फिर दूसरे योग से पहले योग में आना चाहिए।

ध्यानकर्ता जिस प्रकार शीघ्रता पूर्वक अर्थ, शब्द और योग में संक्रमण करता है, उसी प्रकार शीघ्रता से उससे पुनः लौट भी आता है।

इस प्रकार से योगी जब पृथक्त्व में तीक्ष्ण अभ्यास वाला हो जाता है, तब विशिष्ट आत्मिक गुणों के प्रकट होने पर उसमें एकत्व का ध्यान करने की योग्यता उत्पन्न हो जाती है।

111. वही, 11.12

112. वही, 11.13, 14

जब ध्यानकर्ता तीन योगों में से किसी एक योग का आलम्बन करके उत्पाद, व्यय और द्रौव्य आदि पर्यायों में से किसी एक पर्याय का चिन्तन करता है, तब 'एकत्व अविचार' ध्यान कहलाता है।

जैसे मन्त्रवेत्ता मन्त्र के बल से सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हुए विष को एकदेश स्थान में लाकर केन्द्रित कर देता है, उसी प्रकार योगी ध्यान के बल से तीनों जगत् में व्याप्त अर्थात् सर्वत्र भटकने वाले मन को अणु पर लाकर स्थिर कर लेते हैं।

जलती हुई आग में से ईंधन को खींच लेने या बिल्कुल हटा देने पर थोड़े ईंधन वाली अग्नि बुझ जाती है, उसी प्रकार जब मन को विषय रूपी ईंधन नहीं मिलता है, तो वह भी स्वतः ही शान्त हो जाता है।¹¹³

शुक्ल ध्यान का फल :

जब ध्यान रूपी जाज्वल्यमान प्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित होती है तो योगीन्द्र के समस्त चारों घातिकर्म क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं,¹¹⁴ यही बात 'प्रशमरतिप्रकरण' में कही गई है। शुक्ल ध्यान में आरूढ़ योगी विश्व भर के जीवों के कर्मबन्धन को तोड़ डालने में समर्थ होता है, यदि ऐसा हो सके तो¹¹⁵ ध्यान की महिमा इससे अधिक और क्या हो सकती है।

'योगशास्त्र' के बारहवें अध्याय के प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने लिखा है कि श्रुतज्ञानमय शास्त्र रूपी समुद्र से और गुरुजन के मुख से योग के संदर्भ में मैंने जो अधिगत किया उसका यहाँ भली-भाँति दिग्दर्शन कराया है। अब अपने अनुभव से जो मैंने प्राप्त किया उसका यहाँ विवेचन करूँगा।¹¹⁶

अपनी अनुभूति के परिणामस्वरूप मन के संदर्भ में जो उन्हें विशेष तथ्य आत्मसात् हुए उसका उन्होंने मन की विभिन्न दशाओं या भेदों के रूप में निरूपण किया है। मन ही साधना का मुख्य साधन है। अत एव उसी को उद्दिष्ट कर उनका प्रस्तुत विवेचन है।

113. वही, 11.15-20

114. वही, 11.21

115. प्रशमरति प्रकरण 264

116. योगशास्त्र 12.1

मन के भेद :

ध्यान के संदर्भ में विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट और सुलीन के रूप में मन चार प्रकार का है। इनको जानना चित्तविशुद्धि में अत्यन्त उपयोगी है। जो चित्त चंचलता लिये रहता है उसे विक्षिप्त कहा गया है। वह इधर-उधर क्षेपयुक्त रहता है, भटकता रहता है। यातायात मन कुछ इष्ट प्रीतिकर आनन्दप्रद होता है। वह कभी बाहर जाता है कभी अन्तःप्रविष्ट होता है। ध्यान के प्राथमिक या प्रारंभिक अभ्यासी जनों में चित्त की ये दोनों स्थितियाँ होती हैं।

इसका आशय यह है कि चित्त सर्वप्रथम चंचलता लिये रहता है किन्तु उसे सुस्थिर बनाने का ज्यों-ज्यों अभ्यास किया जाता है, तब उसमें चंचलता के साथ कुछ स्थिरता भी समाविष्ट होने लगती है। इन दोनों मानसिक स्थितियों में चैतसिक विकल्पों के साथ बाह्य पदार्थ भी गृहीत होते रहते हैं।¹¹⁷

जो मन स्थिर तथा स्थिरता के परिणामस्वरूप आनन्दमय बन जाता है, उसे श्लिष्ट कहा जाता है। वहाँ चित्त जब अत्यन्त स्थिर हो जाता है तो वह परमानन्दमयी अवस्था पा लेता है, उसकी सुलीन संज्ञा है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जैसे-जैसे क्रमशः चित्त की स्थिरता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे आन्तरिक आनन्द की मात्रा भी वृद्धिगत हो जाती है। क्रमशः अभ्यास को आगे बढ़ाता हुआ ध्यानयोगी विक्षिप्त से यातायात, यातायात से श्लिष्ट और श्लिष्ट से सुलीन चित्त की भूमि का संस्पर्श करे। इसके परिणामस्वरूप निरालंबन ध्यान की सिद्धि होती है। वैसा होने पर अन्तरात्मा में समरस भाव का अभ्युदय और परमानन्द का अनुभव होता है। साधक को चाहिए कि वह ध्यानाभ्यास में अग्रसर होकर बहिरात्म भाव का परित्याग कर अन्तरात्म भाव में होता हुआ परमात्म भाव का चिन्तन करे, अनुभव करे।¹¹⁸

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भिक भाग में साधक के लिए आचारमूलक धर्म का निरूपण किया है क्योंकि जो अपने दैनंदिन आचरण को पवित्र,

117. वही, 12.2-3

118. वही, 12.4-6

निर्मल बना लेता है वही योगसाधना का अधिकारी होता है। उन्होंने क्रमशः योग के अंगोपांगों का जैनत्व अनुप्राणित विस्तार करते हुए अन्त में विशेष रूप से ध्यान का विश्लेषण किया है। आगम, शास्त्र और अपने अनुभव तीनों ही दृष्टियों से उन्होंने ध्यान का जो विस्तार से वर्णन किया है वह ध्यानसाधना के विकास का महत्त्वपूर्ण अंग है क्योंकि दैहिक मानसिक परिशुद्धि के अनन्तर आत्मविशुद्धि ही साधक का परम ध्येय है। योग की भाषा में वह समाधि की अवस्था है जिसे सिद्ध करने का अनन्य साधन ध्यान है। योग के अन्य अंग तो ध्यान के परिपोषक हैं।

आचार्य हेमचन्द्र महान् वैयाकरण, कोषकार, उत्कृष्ट कवि, ध्यान योगी होने के साथ-साथ मन्त्रविद्या, तंत्रविद्या आदि में भी निष्णात थे। 'योगशास्त्र' के अध्ययन से ऐसा प्रकट होता है। यद्यपि उन्होंने 'योगशास्त्र' की रचना गुर्जरेश्वर कुमारपाल के माध्यम से गृही साधकों को उपलक्षित कर की, किन्तु इस ग्रन्थ में कतिपय ऐसे वर्णन क्रम हैं जिनसे उक्त तथ्य प्रकट होता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य हेमचन्द्र के समय में मंत्र, तंत्रादि जनित चमत्कारों में लोगों की रुचि थी। विभिन्न परम्पराओं में मंत्र विद्या, तंत्र विद्या आदि का प्रचलन भी रहा हो। अतएव उन्होंने अपने ग्रन्थ में संक्षिप्त रूप में वैसा विवेचन भी यथाप्रसंग किया है।

ध्यानचर्चा के संदर्भ में आचार्य हेमचन्द्र पूर्वी की आगमिक परम्परा के साथ-साथ तंत्र आदि से प्रभावित प्रतीत होते हैं। उन्होंने धर्मध्यान के प्रसंग में पृथिवी, आग्नेयी, वारुणी और वायवी धारणा की एवं धर्म ध्यान के भेदों के संबंध में पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत की जो चर्चा की है, वह प्राचीन आगमिक परम्परा में एवं तत्त्वार्थसूत्र और उसकी प्राचीन टीकाओं में वर्णित नहीं है। जैन परम्परा में इनका सर्वप्रथम उल्लेख दिग्म्बर परम्परा में शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव में मिलता है। श्वेताम्बर परम्परा में इनका प्रथम विस्तृत उल्लेख हमें आचार्य हेमचन्द्र में ही मिलता है।¹¹⁹

योगप्रदीप :

जैन योग साहित्य में 'योगप्रदीप' नामक कृति सुप्रसिद्ध है। यह कलेवर में

119. डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ (प्रकाशक) पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी,

बहुत संक्षिप्त है। इसमें अनुष्टुप् छन्द में रचित मात्र 143 श्लोक हैं। इस छोटे से कलेवर में रचयिता ने योग जैसे गंभीर विषय पर संक्षेप में जो प्रकाश डाला है, वह वास्तव में गागर-में-सागर भरने जैसा उनका उपक्रम है। इस कृति की भाषाशैली अत्यन्त सरल है, प्रसादगुण युक्त है, प्रभावक एवं प्रेरक है। नेमिदास द्वारा रचित 'पंच परमेष्ठी मंत्रराज ध्यानमाला' में इस रचना का पतंजलि रचित 'योगदर्शन' और आचार्य हेमचंद्र के 'योगशास्त्र' के साथ उल्लेख हुआ है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उस समय यह ग्रन्थ जैनयोग के क्षेत्र में अतिप्रचलित रहा होगा। ग्रन्थ की रचना एवं प्रतिपादन शैली को देखते हुए ऐसा लगता है कि यह मौलिककृति नहीं है।

'ज्ञानार्णव', 'योगशास्त्र' आदि योगविषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के आधार पर यह संक्षिप्त, सारभूत संग्रह कृति है। 'योगप्रदीप' का मुख्य विषय आत्मस्वरूप का दर्शन या साक्षात्कार है। आत्मा अपने शुद्ध परमात्म भाव के रूप में किस प्रकार परिणत हो सकती है तथा सर्वसंकल्पवर्जित परमानन्द को कैसे प्राप्त कर सकती है, इस विषय का इसमें विशेष रूप से निरूपण हुआ है।

'योगप्रदीप' में ध्यान :

आत्मा की परमात्म भाव की दिशा की ओर गतिशील आध्यात्मिक यात्रा में उन्मनी भाव, समरसी भाव, ध्यान, सामायिक इत्यादि किस प्रकार सहयोगी बन सकते हैं, यह प्रतिपादित हुआ है।

रचनाकार-संग्राहक के समय आदि के संबंध में प्रामाणिक रूप से कोई विशेष ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त नहीं होती। इतना ही कहा जा सकता है कि ये आचार्य हेमचन्द्र के पश्चातवर्ती थे।

रचनाकार ने साधक का ध्यान देहवर्ती आत्मा के शुद्ध स्वरूप की ओर मोड़ते हुए लिखा है - जिसका दर्शन करने के लिए तीर्थ-तीर्थ में लोग धूमते हैं वह देव परमेश्वर अपनी देह में ही विद्यमान है, उसे देख नहीं सकते, उस ओर देखने का लोग प्रयास नहीं करते। जिनकी बुद्धि में अज्ञान भरा है वे स्थान-स्थान पर देवदर्शन हेतु जाते रहते हैं, वह देव तो उनके शरीर में ही आत्मा के रूप में संप्रतिष्ठित है, उसे नहीं देख पाते।

आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में सब धातुओं से विनिर्मुक्त ज्ञानस्वरूप, निरञ्जन, निरावरण, कर्मनिर्मुक्त है, मोक्ष की जो आकांक्षा करते हैं, उन्हें उसी का ध्यान करना चाहिए।

सन्तोष रूपी अमृत में निमग्न, सुख-दुःख का परिज्ञाता, शत्रु-मित्रभाव से सर्वथा अस्पृष्ट सर्वत्र सदैव समभाव युक्त, राग-द्वेष से पराङ्मुख, ज्ञानात्मक दिव्य प्रभा राशि से समायुक्त, आध्यात्मिक लक्ष्मीयुक्त, श्रीमान् समस्त जगत् के उपकारक, शाश्वत आनन्द एवं सुख से परिपूर्ण अपनी आत्मा का ही ध्यान करना चाहिए।

निर्मल शुद्ध स्फटिक के सदृश सर्वज्ञत्व रूप गुण से विभूषित, परमात्म गुणोपपन्न अपनी आत्मा ही ज्ञानीजनों के लिए ध्येय रूप में स्वीकार करने योग्य है।

मुमुक्षुजनों द्वारा षट्चक्र, चार पीठ इत्यादि समस्त बाह्य साधनोपकरणों का परित्याग कर रूपविवर्जित शुद्ध आत्मा पर ही अपना ध्यान एकाग्र करना चाहिए।

ध्यान योग के अभ्यासी साधक इस प्रकार ध्यान का अभ्यास कर शरीर में अवस्थित आत्मा के यथार्थ स्वरूप का अवलोकन करते हैं।

अपनी देह में विद्यमान किन्तु वस्तुतः देहवर्जित परमपदारूढ़ सर्वोत्तम परमात्म पद पर अवस्थित अपनी निरञ्जन आत्मा को ही ध्येय आलम्बन के रूप में स्वीकार कर ध्यान करना चाहिए।¹²⁰

लेखक का दृष्टिकोण नितान्त आध्यात्मिक या विशुद्ध आत्मपरक रहा है। अतएव उन्होंने ध्यान की उस भूमिका का विवेचन में संस्पर्श किया है जहाँ लौकिक उपादान गौण हो जाते हैं। इसीलिए उन्होंने षट्चक्र आदि हठयोग निरूपित विधाओं को विशुद्ध एवं आध्यात्मिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं दिया।

आकाशरूप आकाश की ज्यों अपने आप में अवस्थित कल्याणकारी होने से समस्त जगत् के स्वामी क्रिया और काल आदि से अतीत, सांसारिक सृष्टि से उन्मुक्त, विलक्षण सर्वतेजमय, केवलज्ञान से परिपूर्ण केवलानन्द में समाश्रित देवों द्वारा पूज्य वीतराग प्रभु केवल ध्यान द्वारा ही प्राप्य हैं।

अनन्त गुणों से आकीर्ण-व्याप्त, सुखमय, जन्म-मरण रहित, देवपूज्य, मुक्ति पदारूढ सिद्ध भगवान का ध्यान करना चाहिए।¹²¹

उन्होंने आगे और उल्लेख किया है कि योगवेत्ता द्वैतभाव में अद्वैत को स्थापित कर अन्तरात्मा और परमात्मा, ध्यान और ध्येय दोनों को एक रूप में परिनिष्ठित कर परमात्मस्वरूप अपनी आत्मा का एकाग्रभाव से चिन्तन करें, ध्यान करें।

वह ऐसा चिन्तन करे कि मैंने आध्यात्मिक आनन्द का साम्राज्य प्राप्त कर लिया है। मैं केवलज्ञानरूप ज्योतिर्मय भास्कर हूँ, परमात्मस्वरूप हूँ। संसार रूपी सागर का मैं परित्याग कर चुका हूँ, मैं निरञ्जन, सर्वकर्मावरण रहित हूँ, समस्त लोक के अग्र भाग में अवस्थित परमात्म स्वरूप हूँ।

जो आत्मा के ध्यान में लीन होकर निरंजन निर्विकार परमात्मा का दर्शन, साक्षात्कार करता है उसके नेत्रों से आनन्द के अश्रु गिरने लगते हैं और वे आत्मोल्लास से रोमांचित हो जाते हैं।¹²²

रचनाकार ने आगे अष्टांगपूर्वक पातंजलयोग का उल्लेख करते हुए कहा है- यम, नियम, करण-आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, समाधि, धारणा और ध्यान ये योग के आठ अंग हैं। ज्ञानिजनों को चाहिए कि वे इन्हें यथावत् रूप में समझें। सम्पूर्ण विधिपूर्वक यदि इनकी आराधना की जाय तो सत्पुरुषों, साधकों के लिए ये मुक्ति के हेतु बन सकते हैं।¹²³

रचनाकार ने आठ योगांगों की चर्चा करते हुए ध्यान का सबसे अन्त में वर्णन किया है। धारणा का समाधि के बाद वर्णन किया है। यह जो व्यतिक्रम हुआ है, उसका कारण छन्द की यथावत् व्यवस्थित रूप में स्थापना करना है। छन्द की रचना में गुरु, लघु आदि के भेद से जो क्रम है, वह योग के आठों अंगों को क्रमशः देने में घटित नहीं होता। अतः इनको आगे, पीछे करने का आशय ग्रन्थकार द्वारा किया गया क्रमभेद नहीं है।

121. वही, श्लोक 39-41

122. वही, श्लोक 47-50

123. वही, श्लोक 51-52

योग के आठों अंगों का उल्लेख करने से यह प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार की दृष्टि व्यापक एवं समन्वयात्मक रही है। अन्त में, उन्होंने इन अंगों का सम्पूर्ण विधिपूर्वक अभ्यास करने का जो उल्लेख किया है उसका आशय यह है कि आध्यात्मिक साधक इन योगांगों का अपने आत्मोन्नयन की दृष्टि से उपयोग करे, वैसा करने से ये उसके परमात्मभावोन्मुख साधनाक्रम में सहयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

उन्होंने पूर्ववर्णित त्रिषयों को और अधिक वैशद्य देने हेतु कहा है, वही धर्म, व्रत, ध्यान, तप, योग है, वही साधनाभ्यास है जहाँ मन में संक्लेश पैदा न हो।

योगी संकल्प-विकल्पविहीन, बाह्य कारणों से रहित, धारणा और ध्येय से युक्त निर्मल स्थान समायुक्त, ध्रुव-शाश्वत परमात्म पद पर अपने चित्त को भावपूर्वक नियोजित करे। यों करने वाला फिर पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता।¹²⁴

ध्यानसाधना में उन्मनी भाव का बड़ा महत्त्व है। अतएव रचनाकार ने इसका विशेष रूप से वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है-मानसिक व्यापार से विमुक्त, सदैव साधना के अभ्यास में तल्लीन उन्मनी भाव को प्राप्त साधक परमपद को प्राप्त करता है। साधक जब विषयासक्ति रहित हो जाता है, मन का निरोध कर लेता है तब वह उन्मनी भाव को प्राप्त करता है जो परम पद की प्राप्ति का हेतु है।

अध्यात्म रस में लीन होना योग की भाषा में समरसी भाव है। उसका वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है जहाँ ध्याता और ध्यान दोनों का अभाव हो जाता है, दोनों ध्येय में ऐक्य प्राप्त कर लेते हैं उसे उन्मनी भाव कहा गया है, वहाँ मन का एकीकरण सिद्ध हो जाता है।¹²⁵

उन्मनी भावयुक्त चित्त जहाँ और कुछ भी चिन्तन नहीं करता, वह निराकार महासूक्ष्म ध्यान कहा जाता है।¹²⁶

ध्यान में साधक जागृत रहे इसलिए उन्होंने विशेष रूप से परिज्ञापित किया है कि आवरणतुल्य सांसारिक विषय-भोगों से जिनके ज्ञानरूपी नेत्र आच्छादित हैं वे

124. वही, 53-55

125. वही, 63-65

126. वही, 73

सिद्धि-मुक्ति रूपी नगरी के द्वार तक पहुँचाने वाले ध्यान की साधना नहीं कर सकते।

ध्यानयोगी अपने अभीष्ट विषयों की ओर आकृष्ट पाँचों इन्द्रियों से अपने मन को खींच लेता है, पृथक् कर लेता है। जो इन्द्रियों का निरोध नहीं कर पाता उसके ध्यान नहीं सधता। कषायों का शमन करने और इन्द्रियों को जीत लेने के बाद साधक को चाहिए कि वह अपने चित्त को संकल्पवर्जित बनाये।

ध्यान का संबंध मन के साथ है, मन चल-अचल है, कभी टिकता है, कभी दौड़ता है इसलिए उसे वश में करना चाहिए। जिसने मन को वश में कर लिया मानों समस्त जगत् उसका वशवर्ती हो गया।¹²⁷

ध्यान की उत्तम फल निष्पत्ति का संकेत करते हुए लिखा है कि निरालम्बन-आलम्बन रहित, निराकार-आकार रहित, अमूर्त, नित्य आनन्दमय शुभ ध्यान रूपी प्रासाद पर आरूढ़ योगी का सत्त्व, स्वात्म स्वरूप स्तंभ की ज्यों दृढ़ हो जाता है। जिस प्रकार अग्नि के लव-छोटे से कण द्वारा काठ का बहुत बड़ा ढेर जल जाता है उसी प्रकार ध्यान के लव से कर्म रूपी ईंधन जल जाता है।¹²⁸

इसी का आगे और विस्तार करते हुए कहा है जैसे कमलिनी के पत्ते पर स्वभावतः जल नहीं टिकता, जैसे पानी के मध्य में स्थित पाषाण लिप्त नहीं होता, जैसे स्फटिक रज से आच्छादित होने पर भी मलिन नहीं होता, वैसे ही उत्तम ध्यान में रत साधक पापों से लिप्त नहीं होता।¹²⁹

ध्यान की आदेयता का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा - परमानंदास्पद सूक्ष्म, अपने अनुभव से लक्ष्य उत्तम, अनाहतनाद का साधक ध्यान करे।

यहाँ ग्रन्थकार ने हठयोग की उच्चतम साधना से लभ्य अनाहतनाद की ओर संकेत किया है जहाँ हठयोगी दिव्यनाद का अनुभव करते हैं। ग्रन्थकार का आशय यहाँ परम दिव्य स्वरूप का गुणन, अनुभवन और अनुव्यंजन है।¹³⁰

127. वही, 76, 77, 79

128. वही, 100-101

129. वही, 104-105

130. वही, 115

उन्होंने यथाप्रसंग संक्षेप में स्थूल और सूक्ष्म के भेद से स्वरूप और रूपातीत ध्यानों का भी उल्लेख किया है।

अन्त में, उन्होंने लिखा है कि साधक स्थूल या सूक्ष्म, साकार-मूर्त या निराकार अमूर्त ध्येय पर अभ्यास करता है, स्थिरतापूर्वक चित्त को एकाग्र करता है, ऐसा करने से ध्यान की सिद्धि होती है।

‘योगप्रदीप’कार ने अपने ग्रन्थ में शुद्ध परमात्म स्वरूप का निरूपण किया है और उसी के आधार पर या उसका अवलम्बन लेकर ध्यान करने की प्रेरणा दी है। ध्यान की, विशेषतः उसकी फल-निष्पत्ति आदि के विवेचन के साथ-साथ उन्होंने ध्यान में विघ्न रूप या प्रतिबन्धक बनने वाले चंचल मन को वश में करने का तथा इन्द्रियों का उन-उन विषयों से पृथक् करने का विशेष रूप से निर्देश दिया है। उनके अनुसार ऐसा करने से ही ध्यान में सजीवता आती है।

ध्यानाभ्यासी साधकों के लिए यह कृति निःसन्देह बहुत ही प्रेरणास्पद है। इसके परिशीलन से ध्यान के प्रति मन में आकर्षण उत्पन्न होता है तथा उसमें उत्साह पूर्वक संलग्न होने की मानसिकता बनती है।

ध्यान दीपिका :

उपाध्याय श्री सकलचन्द्र : -

‘ध्यानदीपिका’ के प्रणेता श्वेताम्बर मन्दिरमार्गी परम्परा के अन्तर्गत तपागच्छीय उपाध्याय श्री सकलचन्द्र थे। इसमें संस्कृत में रचित 204 श्लोक हैं, साथ-साथ में तद्विषयक अर्द्धमागधी गाथार्ये भी हैं। ऐसा माना जाता है कि उपाध्याय श्री सकलचन्द्र आचार्यश्री दानविजय के शिष्य थे। उन्होंने तपागच्छ के सुप्रसिद्ध आचार्य श्री हीर विजय सूरि से, जिन्होंने मुगल सम्राट् अकबर को अपनी विद्वता एवं उच्च जीवन चर्या से प्रभावित किया था, विद्याध्ययन किया। आचार्य श्री हीर विजय सूरि का देहावसान वि.सं. 1652 में हुआ। ऐसा माना जाता है। ध्यान दीपिका के रचयिता उपाध्याय सकलचन्द्र का देहान्त उनसे पहले ही हुआ। इस ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक में इसके रचे जाने का समय वि.सं. 1621 सूचित किया गया है।¹³¹

131. ध्यान दीपिका श्लोक 204, पृ. 249

उपाध्याय सकलचन्द्र की जन्म-भूमि के संबंध में ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक रूप में कुछ भी ज्ञात नहीं है। दन्तकथा या जनश्रुति के अनुसार ऐसा माना जाता है कि ये गुजरात के अन्तर्गत सूरत के निवासी थे। इनका जन्म वैश्य जाति में हुआ। ये अत्यन्त आत्मार्थी थे। प्रसंगविशेष से प्रेरित होकर इनका वैराग्य भाव जागृत हो उठा, इन्होंने श्रमण दीक्षा स्वीकार कर ली। ये उच्चकोटि के महान् साधक थे।

ध्यान और योग इनके प्रिय विषय थे। 'ध्यान दीपिका' के परिशीलन और पर्यवेक्षण से ऐसा प्रतीत होता है कि यह उपाध्याय सकलचन्द्र की सर्वथा स्वतंत्र रचना हो, ऐसा नहीं है। इसमें जो अर्द्धमागधी की गाथाएँ आयी हैं वे अधिकांशतः आचार्य हरिभद्रसूरि रचित 'योगशतक' से ली गई हैं।

संस्कृत के कतिपय श्लोक आचार्य हेमचन्द्र के 'योगशास्त्र' और शुभचंद्र के 'ज्ञानार्णव' से लिये गये हैं। बाकी के श्लोक इनके द्वारा रचित हैं, यह देखते हुए इसे एक संकलनात्मक ग्रन्थ कहा जा सकता है।

‘ध्यानदीपिका’ में ध्यान संबंधी विवरण :

'ध्यानदीपिका' में ध्यान की आवश्यक भूमिका के रूप में ज्ञान भावना, दर्शन भावना, चारित्र भावना और वैराग्य भावना का वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् अनित्यादि बारह भावनाओं का विवेचन है। फिर इन्होंने मुमुक्षुओं को उनके हित की शिक्षा प्रदान करते हुए बतलाया है कि यदि काकतालीय न्याय से उत्तम गुणयुक्त मनुष्य जीवन प्राप्त हो गया हो तो व्यक्ति को सदैव उसे मोक्षमूलक साधनों द्वारा सफल करना चाहिए।¹³²

काकतालीय न्याय संस्कृत में उदाहरणों के रूप में प्रयुक्त विधाओं में से एक है। जैसे कोई कौआ ताड़ के वृक्ष पर बैठा। ज्योंही उसका बैठना हुआ, ताड़ का फल गिर गया। साथ कौआ भी गिर पड़ा, ऐसा कभी संभावित नहीं था किन्तु संयोगवश हो गया। मनुष्य जीवन भी इसी प्रकार का है। कर्मों का आत्यन्तिक क्षय मोक्ष है। वह ज्ञान और चारित्र से होता है। ज्ञान निर्मल उज्ज्वल ध्यान से ही प्राप्त होता है। इस कारण जो मोक्षपथ के पथिक हैं उनके लिए ध्यान बड़ा हितकारी है। सम्यक्ज्ञान

से कर्मक्षय के परिणाम स्वरूप मोक्ष होता है, वह ध्यान द्वारा साध्य है।¹³³

ग्रन्थकार ने आगे कहा है कि अपनी आत्मा के प्रयोजन परम लक्ष्य की सिद्धि के लिए संयमी साधक को चाहिए कि वह धर्म ध्यान स्वीकार करे।¹³⁴ ध्यान रूपी सुधारस का पान करने की प्रेरणा देते हुए आगे उन्होंने लिखा है कि असत् कल्पनाओं से परिपूर्ण अर्थ-प्रयोजन को परित्याग कर मुमुक्षुओं ने धर्मध्यान को समाश्रित किया, जो समस्त गुणों का संस्थान आश्रय है।

“जन्ममरण आदि को स्वीकार कर धर्मध्यान में अभिरत बनो। अविद्या के अन्धकार का परित्याग कर मोहनिद्रा को छोड़कर दोषों का वर्जन कर स्थिर होकर ध्यान रूपी अमृत रस का पान करो।”¹³⁵

ध्यान के अधिकारी या पात्र का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि संयमी मुनि ही प्रायः ध्याता, ध्यान का अधिकारी हो सकता है, गृही नहीं होता क्योंकि परिग्रह आदि में निमग्न होने के कारण उसका चित्त चंचल रहता है। वे लिखते हैं-

**खरस्यापि हि किं शृङ्गं खपुष्पमथवा भवेत् ।
तथांगनादिसक्तानां नराणां क्व स्थिरं मनः ॥**

इसके आगे उन्होंने लिखा है कि गर्दभ के सींग होना, आकाश में पुष्प होना कदाचित् संभव हो जाय किन्तु अंगनादि में आसक्त गृहीजनों का मन ध्यान में स्थिर नहीं हो सकता। ‘धर्म दीपिका’ का यह श्लोक ‘ज्ञानार्णव’ के निम्नांकित श्लोक से तुलनीय है-

**खपुष्पमथवाशुंगं, खरस्यापि प्रतीयते !
न पुनर्देशकालेऽपि ध्यानसिद्धिर्गृहाश्रमे ॥**

ध्यानदीपिकाकार ने आचार्य शुभचन्द्र द्वारा व्यक्त किये गये भाव को शब्दान्तर द्वारा प्रकट किया है। तथाकथित साधुवेषधारी ध्यान करने का प्रदर्शन करते हैं, उनका ध्यान कदापि शुद्ध नहीं होता - इस तथ्य को उद्घाटित करते हुए उन्होंने लिखा है

133. वही, 46-47

134. वही, 5.2.48

135. वही, 52.54

कि जो सदाचार से भ्रष्ट हैं, प्रवंचना द्वारा लोगों को ठगते हैं, जो केवल साधुलिग या भेष धारण किये रहते हैं उनके द्वारा किया जाने वाला ध्यान शुद्धिपरक नहीं होता। जिनका चित्त सदा विभ्रान्त रहता है उनकी कुत्सित चेष्टाओं को तो देखो। जो संयत का रूप धारण करते हुए अपना संसार-भवभ्रमण बढ़ा रहे हैं, उनका मानवजन्म पाना निष्फल है।¹³⁶

आचार्य शुभचन्द्र ने 'ज्ञानार्णव' में इसी विषय को बड़े विस्तार के साथ कहा है जिसका इन श्लोकों में संक्षेप में सार संगृहीत हुआ है।

आगे उन्होंने लिखा है कि आत्मधर्म का मूल ध्यान ही है, वही मोक्ष का साधन है किन्तु अशुभ ध्यान हेय है जिसे मिथ्यावादी जन प्रदर्शित करते हैं।¹³⁷

ध्यान को परिभाषित एवं व्याख्यायित करते हुए उन्होंने लिखा है - जिनेश्वर भगवन्तों ने एकाग्रचिन्ता-निरोध को ध्यान कहा है। दृढ़ संयमी मुनि को भी अन्तर्मुहूर्त मात्र ध्यान होता है, छद्मस्थों को होने वाला ध्यान भी अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त टिकता है। वीतराग प्रभु के योगनिरोध ध्यान होता है, वह कर्मसमूह का घातक या नाशक होता है। चिन्तन को एकाग्र करना किसी एक ध्येय पर रोकना ध्यान है। उसके अतिरिक्त मन की अवस्थाएँ भावना हैं अथवा पदार्थ विशेष के चिन्तन रूप अनुप्रेक्षण ध्यानसंतान-ध्यान का ताना-बाना कहा गया है।¹³⁸

तत्पश्चात् आर्त एवं रौद्र ध्यान का वर्णन करते हुए उनके अनिष्टयोगज, इष्टवियोगज, रोगार्त तथा वियोगार्त चार भेदों का वर्णन किया है।

धर्म ध्यान के स्वरूप का वर्णन करने से पूर्व ग्रन्थकार ने तन्मूलक पृष्ठभूमि के रूप में अपने प्रेरक उद्गार प्रकट किये हैं। उन्होंने लिखा है - दुष्ट दोषपूर्ण अनुष्ठान, दूषित आचार से विरत संयमी साधक मन की शुद्धि के लिए शम, प्रशान्त भाव रूप सागर में प्रवेश कर योग के आठों अंगों का चिन्तन करे।¹³⁹

136. वही, 59-60

137. वही, 61

138. वही, 64-66

139. वही, 97

पतंजलि के अष्टांग योग का किसी-न-किसी रूप में उल्लेख प्रायः परवर्ती जैन लेखकों ने किया है, किन्तु उसके उपपादन में उनका अपना जैन सिद्धान्तानुरूप विशिष्ट दृष्टिकोण रहा है।

‘ध्यानदीपिका’कार को हठयोग मूलक साधना में कोई विशेष आस्था एवं अभिरुचि नहीं थी। यही कारण है कि उन्होंने प्राणायाम को प्रपञ्च रूप, देह और हृदय के लिए क्लेशकारी बतलाते हुए ज्ञानीजनों के लिये अनादृत कहा है।¹⁴⁰

इन्द्रियअर्थनिरोधमूलक प्रत्याहार¹⁴¹ व धारणा का प्रतिपादन करते हुए कहा है- ज्ञानीजनों द्वारा परब्रह्मात्म रूप ध्येय वस्तु में अथवा गुणीजनों के सदगुणों में, अर्थ आदि के अंग रूप ध्येय में अपने ललाट, नेत्र, मुख पर मन को लीन किया जाता है, उसे धारणा कहा जाता है।¹⁴²

‘योगसूत्र’ में धारणा को परिभाषित करते हुए कहा है- अपने देह के किसी अंग विशेष अथवा सूर्य, चंद्र, तारा आदि किन्हीं बाह्य पदार्थों में से किसी एक पर चित्त को टिकाना धारणा है। यहाँ उपाध्याय सकलकीर्तिचन्द्र ने चित्त को एकदेश पर टिकाने में परब्रह्म के स्वरूप, गुणियों के गुण, अर्हत् आदि के अंगादि को भी स्वीकार किया है। इसका कारण उनका अध्यात्मपरक दृष्टिकोण है।

साधारणतः धारणा विषयक श्लोकों को देखने से सहसा यह भ्रम होता है कि इनमें ध्यान की परिभाषा दी गई है या धारणा की। सूक्ष्मतया पर्यवेक्षण करने से यह प्रकट होता है कि यद्यपि ध्येय वस्तु के रूप में परब्रह्म के स्वरूप आदि को भी लिया गया है किन्तु वहाँ मन की लीनता प्रत्येकतानता एकाग्रता रूप नहीं है अतएव वह ध्यान से पहले की स्थिति है।

तदनन्तर धर्मध्यान, शुक्लध्यान के भेदों का संकेत करते हुए कहा गया है कि योगी पापभोग से विरत होकर ध्यान का आश्रय ले।¹⁴³

140. वही, 100

141. वही, 102

142. वही, 103-104

143. वही, 105

धर्म के सहायक के रूप में मैत्री आदि चार भावनाओं का विशेष रूप से उल्लेख किया है।¹⁴⁴

ध्यान में साधक किस प्रकार स्थित हो, इसका उल्लेख करते हुए कहा है कि ध्यान-अभ्यासी पूर्व या उत्तर की ओर मुख कर ध्यान हेतु स्थित हो। ध्यान के समय में उसका मुख सुप्रसन्न रहे, मन में धैर्य या सहिष्णुता रहे।¹⁴⁵

फिर पिण्डस्थ ध्यान, तत्संबंधी धारणायें पदस्थ, रूपस्थ एवं रूपातीत ध्यान का उन्होंने वर्णन किया है जिसमें आचार्य शुभचन्द्र और आचार्य हेमचन्द्र की प्रतिच्छाया है। तत्पश्चात् धर्मध्यान, शुक्लध्यान के भेदों का विस्तार से वर्णन किया है जो जैन सैद्धान्तिक परम्परानुगत है। यह ग्रन्थ संकलनात्मक है, फिर भी ग्रन्थप्रणेता ने विभिन्न विषयों के प्रतिपादन में जो अपने श्लोक उपस्थापित किये हैं, प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से वे महत्त्वपूर्ण हैं।



144. वही, 106-107

145. वही, 117



खण्ड : - अष्टम

यशोविजय और आनन्दघन के साहित्य में ध्यानसाधना

- उपाध्याय यशोविजय
- अध्यात्मसार
- अध्यात्मोपनिषद्
- ज्ञानसार
- आनन्दघन
- आनन्दघन पदावली
- अन्य पद



खण्ड:- अष्टम

यशोविजय और आनन्दघन के
साहित्य में ध्यानसाधना

उपाध्याय यशोविजय :

उपाध्याय यशोविजय जैन विद्या के क्षेत्र में एक ऐसे उच्च कोटि के विद्वान् हुए जिन्होंने विविध विषयों पर अपनी लेखनी चलाई। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर उपाध्याय यशोविजय का जन्म गुजरात में हुआ था। उनका जन्मस्थान कनीदा ग्राम है जो मेहसाना और पाटन के बीच विद्यमान है। इनके पिता का नाम नारायण तथा माता का नाम शोभागदे था। इनका बचपन का नाम जसवंत था। इनके भाई का नाम पद्मसिंह था। मुगलसम्राट् अकबर के प्रतिबोधक आचार्यश्री हीरविजय सूरि की शिष्य परम्परा में नयविजय नामक मुनि थे। उनसे प्रभावित होकर दोनों भाइयों ने उनका सान्निध्य प्राप्त किया।

वि.सं. 1688 में आचार्य श्री हीरविजय सूरि के प्रपट्टधर आचार्य श्री विजय देव सूरि के पास दोनों भाई प्रव्रजित हुए। क्रम से उनके नाम यशोविजय, पद्मविजय रखे गये। यशोविजय की बुद्धि अत्यन्त प्रखर थी। अतः उन्हें विद्याध्ययन करने के लिए विद्यानगरी काशी भेजा गया। उन्होंने वहाँ तीन वर्ष रहकर षड्दर्शन, प्राचीन न्याय एवं नव्य न्याय, व्याकरण, साहित्य इत्यादि विषयों का गहन अध्ययन किया। वि.सं. 1718 में आचार्य श्री विजयप्रभ सूरि ने इनको उपाध्याय पद से अलंकृत किया। उपाध्याय यशोविजय ने अनेकान्तव्यवस्था, जैनतर्कभाषा, ज्ञान-बिन्दु, नयप्रदीप, नयरहस्य, नयोपदेश, स्याद्वाद कल्पलता, अध्यात्ममत-परीक्षा आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की। इनके अतिरिक्त उन्होंने 32 पदों में 32 द्वात्रिंशिकाओं की रचना की। उनमें से 21 वीं, 22 वीं एवं 24 वीं द्वात्रिंशिकाओं में उन्होंने आचार्य हरिभद्र सूरि प्रणीत 'योगदृष्टिसमुच्चय' में निरूपित आठ दृष्टियों का विस्तार से विवेचन किया है। उन्होंने

आचार्य हरिभद्र सूरि रचित योगविशिका, षोडशक आदि पर भी टीकाओं की रचना की। वि.सं. 1743 में उन्होंने समाधिमरण प्राप्त किया। उपाध्याय यशोविजय ने योग का गहन एवं व्यापक अध्ययन किया था। यही कारण है कि उन्होंने जैनयोग को नई उद्भावना दी। उनके द्वारा रचित अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद् एवं ज्ञानसार जैसी महत्वपूर्ण रचनाएँ इसी का परिणाम हैं। एक महत्वपूर्ण उल्लेखनीय बात यह है कि उन्होंने महर्षि पतंजलि द्वारा रचित 'योगसूत्र' पर भी टीका लिखी। 'योगसूत्र' के कतिपय सूत्रों का उन्होंने जैन योग के साथ समन्वय करते हुए अपनी विलक्षण प्रतिभा और स्वानुभूति का परिचय दिया।

अध्यात्मसार :

अध्यात्मसार में ग्रन्थकार ने ध्यान के स्वरूप आदि का विवेचन किया है। उन्होंने ध्यान और भावना का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है- स्थिर अध्यवसाय-स्थिर चित्त ध्यान है अर्थात् चित्त की स्थिरता, पूर्ण एकाग्रता ध्यान का लक्षण है। जो चित्त स्थिर नहीं होता, एक केन्द्रबिन्दु से दूसरे केन्द्रबिन्दु पर आता जाता रहता है वह भावना, अनुप्रेक्षा, या चिन्ता है,¹ इसको और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि एक आलम्बन पर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त मन का स्थिर या एकाग्र रहना ध्यान है। उनके पदार्थों या आलम्बनों पर संक्रमण करते हुए जो अविच्छिन्न ध्यानात्मक स्थिति होती है, उसे ध्यानसंतति कहा जाता है।²

तत्पश्चात् उन्होंने आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यानों तथा उनके भेदों का वर्णन किया है।

आर्तध्यान में कापोत, नील और कृष्ण लेश्याओं के होने का उल्लेख किया है। कापोत लेश्या के अन्तर्गत कम क्लिष्ट परिणाम होते हैं। नील लेश्या में कापोत लेश्या की अपेक्षा अधिक क्लिष्ट परिणाम होते हैं। कृष्ण लेश्या में नील लेश्या की अपेक्षा और अधिक क्लिष्ट परिणाम होते हैं।³

1. अध्यात्मसार गा. 1

2. वही, गा. 2

3. वही, गा. 6

तदनन्तर उन्होंने ध्यान के लिंगों अर्थात् पहचान रूप चिह्नों का वर्णन किया है।

आर्त्त रौद्र ध्यान की हेयता का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है- ये दोनों ध्यान अप्रशस्त हैं। इनका परिणाम बहुत ही दुःखद है। फिर भी ये चिर परिचित हैं, सहज ही मनुष्य की प्रवृत्ति इनकी ओर चली जाती है। इसलिए साधक अध्यवसाय या अभ्यास से प्रशस्त ध्यान के सोपान पर आरोहण करे।⁴ ध्यानयोगी देश, काल, आसन, आलम्बन, अनुक्रम, ध्यातव्य, ध्यानयोग्य केन्द्रबिन्दु, ध्याता, अनुप्रेक्षा, लेश्या, लिंग, फल आदि का ज्ञान प्राप्त कर इन्हें भलीभाँति समझने के पश्चात् धर्मध्यान में प्रवृत्त बने।

ध्यान के सन्दर्भ में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य नामक चार भावनाओं का कथन किया गया है। इन चारों भावनाओं के अभ्यास से क्रमशः निश्चलता एवं असम्मोह की प्रवृत्ति होती है, पूर्वार्जित कर्मों की निर्जरा होती है, संग-आसक्ति, आशंसा तथा भय का उच्छेद या नाश होता है।⁵ इस प्रसंग में श्रीमद्भगवद्गीता के छठे अध्याय के 36,37,38 वें श्लोक को उद्धृत किया है जहाँ गीताकार ने मन की चंचलता, प्रमथनशीलता, बलवत्ता और दृढ़ता का वर्णन करते हुए उसे वश में कर पाना वैसा ही दुष्कर और दुर्गम बताया है जैसा वायु को नियंत्रित कर पाना। वह दुर्निवार, दुर्निग्रह मन अभ्यास और वैराग्य से ही वश में किया जा सकता है।

ग्रन्थकार ने आगे लिखा है कि साधक अपने मन को बाह्य अर्थ से अर्थात् आत्मेतर पदार्थों से निवृत्त करे। सांसारिक विषयों के प्रति वितृष्णा का भाव स्वीकार करने से उपर्युक्त भावनाओं द्वारा भावित आत्मा में वे बातें घटित होती हैं जो उसे निर्मल और शुद्ध बनाती हैं, ध्यान के योग्य पृष्ठभूमि प्रदान करती हैं।⁶

धर्मध्यान के लिए उपयुक्त स्थान का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है जहाँ योगों का अर्थात् मन-वचन-काय का समाधान हो, योगानुकूल स्थिति या वातावरण हो, वही समय और स्थान ध्यान के लिए अभीष्ट है। ध्यानयोगी के लिए दिन-रात आदि समयविशेष का कोई निर्धारण नहीं है। आसन के सम्बन्ध में इनका

4. वही, गा. 17

5. वही, गा. 18-20

6. वही, गा. 25

अभिमत है कि जिस अवस्था या आसन से अभ्यस्त हो, जिसका भली-भाँति अभ्यास किया हो, जिसमें ध्यान का उपघात न हो, ध्यान में बाधा उपस्थित न हो उसी आसन से साधक खड़े, बैठे या सोते हुए ध्यान कर सकता है। सभी देश, काल और अवस्थाओं में संयमी साधकों ने केवलज्ञान प्राप्त किया है। इसलिए ध्यान में भी देश-काल आदि का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। योग की सुस्थिरता ही एकमात्र शर्त है। जहाँ मनोयोग स्थिरता प्राप्त करे वही उपयुक्त है। ध्यान के लिए वाचना, पृच्छा, आवृत्ति, चिन्तन, क्रिया और आलम्बन ये आवश्यक हैं।⁷

ध्यान पर आरोहण करने के लिए यहाँ जिन-जिन के अभ्यास को आवश्यक बताया गया है उन पर चिन्तन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि उपाध्याय यशोविजय ध्यान से पूर्व तत्त्वाभ्यास को आवश्यक मानते थे। शास्त्र के अर्थ को असंदिग्ध बनाने हेतु पृच्छा, उसकी स्थिरता हेतु आवृत्ति, सूक्ष्म अर्थ को आत्मसात् करने हेतु अनुचिन्तन आवश्यक है। सद्ज्ञान के अनुरूप जीवन में सत् क्रियाशीलता भी हो, यह भी आवश्यक है। जैसे मजबूत यष्टिका आदि आलम्बन के सहारे पुरुष विषम-ऊबड़ खाबड़ स्थान पर भी आरोहण कर सकता है, उसी प्रकार सूत्र आदि के आलम्बन को लेकर योगी उत्तम ध्यान रूपी मंजिल पर आरूढ़ हो सकता है। यहाँ आलम्बन शब्द का प्रयोग ध्यान को जिस ध्येयबिन्दु पर एकाग्र किया जाय उस अर्थ में नहीं है किन्तु सहारे या सहयोग के अर्थ में है। आलम्बन का आदर करने से रुचिपूर्वक उसे साध लेने से ध्यान में आने वाले विघ्न नष्ट हो जाते हैं। ध्यान रूपी पर्वत पर आरोहण करते हुए योगी का पतन नहीं होता।⁸

नये चार भेदों का निरूपण :

ग्रन्थकार ने आज्ञा, अयाय, विपाक और संस्थान पर आधारित धर्मध्यान के भेदों को सूचित किया है। आज्ञा का विश्लेषण करते हुए लिखा है - नय, भंग तथा प्रमाण से समृद्ध-सिद्ध हेतुओं तथा उदाहरणों से युक्त अप्रमाण के कलंक से विरहित जिनेन्द्र देव की आज्ञा का ध्यान करना चाहिए। यह धर्मध्यान का आज्ञा-विचय नामक प्रथम भेद है।

7. वही, गा. 28-31

8. वही, गा. 32-33

राग-द्वेष, कषाय आदि से पीड़ित प्राणी ऐहिक और पारलौकिक विविध प्रकार के कष्ट पा रहे हैं। इस पर एकाग्रतया चिन्तन करना, अपने चिन्तन को केन्द्रित करना अपायविचय नामक दूसरा भेद है।

भिन्न-भिन्न योगों के प्रभाव से उत्पन्न प्रकृतिबन्ध आदि चार प्रकार के बन्धों के कर्मों के शुभ या अशुभ विपाक पर एकाग्रचिन्तन करना धर्मध्यान का विपाकविचय नामक तीसरा भेद है।

उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य युक्त द्रव्य तथा पर्यायों से परिव्याप्त लोकाकाश का चिन्तन करना संस्थान विचय नामक चौथा धर्म ध्यान है।

साधक यह अनुचिन्तन करे कि आत्मा ही इस लोक में अपने कर्मों का कर्ता और भोक्ता है। तत्त्वतः यह आत्मा रूप रहित, नाश रहित है। उसका लक्षण उपयोग है।

यह संसार-सागर अत्यन्त दुष्कर है। यह जीव के अनेक जन्मों के कर्मों के परिणाम स्वरूप जन्म, वृद्धावस्था और मृत्यु रूपी पानी से भरा हुआ है। उसमें मोहरूपी बड़े-बड़े आवर्त या भँवर हैं। यह कर्म विपाक रूपी बड़वाग्नि के कारण अत्यन्त भयंकर है। भोग-तृष्णा रूपी आशाओं के अत्यन्त प्रचण्ड वायु से आन्दोलित है। क्रोध, मान, माया, लोभ रूप चार पाताल कलशों से उसमें जल उछल रहा है। यह पाप रूपी समुद्र हिंसा आदि अशुभ विकल्प रूपी तरंगों से व्याप्त है। इसके कारण हृदय में इन्द्रिय-विषयों से जनित विकारों का महाप्रभाव उठ रहा है जिससे यह दुर्गम, दुस्तीर्ण हो गया है। विषय-सुख की अभिलाषा रूपी लताओं की परम्परा से युक्त इसमें ज्वार उठता है। इसका विषय-वासना रूपी उदर-मध्य भाग करोड़ों उपायों से भी पूर्ण न हो सके ऐसा है। इसके ऊपर दुर्दिनवत् यह अज्ञान बादलों सदृश आच्छादित है। विविध प्रकार की विपत्ति-आपत्ति रूप बिजलियों के गिरने से यह अत्यन्त भयोत्पादक है। दुराग्रह रूपी दुष्ट वायु उस पर गतिशील है जिससे हृदय काँप उठता है, विविध व्याधियों एवं रोग रूपी मत्स्यों, कच्छपों से यह व्याप्त है। राग-द्वेष-मोह आदि दोषरूपी पर्वतों के कारण यह अत्यन्त दुर्गम, दुस्तर एवं दुर्लघ्य है। इस प्रकार के अत्यन्त भयंकर संसार-सागर का एकाग्रचित होकर चिन्तन करना इस ध्यान के अन्तर्गत है।⁹

साधक फिर अपने चिन्तन को इस प्रकार आगे बढ़ाये कि संसार-सागर को पार करने के लिए चारित्र रूपी जहाज में ज्ञानीजन बैठें तो वे उसे पार कर मोक्षनगर तक पहुँच सकते हैं। वह चारित्र रूपी जलयान संसार रूपी समुद्र को तैरने के लिए, उसे पार करने के लिए एक मात्र उपाय है। सम्यक्त्व उस जलयान का अत्यन्त शक्तिशाली बन्धन है। वह जलयान भग्न न हो जाये, टूट न जाये इसके लिए इसमें अठारह सहस्र शीलांग-आचार रूपी काठ के तख्ते लगे हैं। ज्ञान रूपी निर्यामक-समुद्र के मार्ग के ज्ञाता पुरुष उसमें संलग्न हैं। 57 भेद युक्त संवर द्वारा आस्रवस्रोत बन्द कर दिये गये हैं, जिससे नूतन कर्मरूपी जल उसमें प्रवेश नहीं कर पा रहा है। समस्त दिशा-विदिशाओं में मनोगुप्ति आदि तीन गुप्तियों से वह सुरक्षित है, जिससे वह जलयान शीघ्रतापूर्वक गतिशील हो आगे बढ़ रहा है। वह ज्ञानाचार आदि आचार रूपी मण्डपों तथा विश्रामस्थलों से विभूषित है। उस जलयान की अपवाद एवं उत्सर्ग मार्ग रूपी दो मंजिलें हैं। उसमें शुभ अध्यवसाय रूपी योद्धा नियुक्त हैं जो दुस्सह मोह रूपी शत्रुओं से भी रोके नहीं जा सकते। द्वादश प्रकार के तपश्चरण रूपी अनुकूल वायु से कर्म रूपी रज का हरण किये जाने से उत्पन्न संवेग, मोक्षाभिलाष रूप उपाय में प्रवृत्त होने से संसार के प्रति औदासीन्य रूप मार्ग में प्रवृत्त, चारित्र रूपी जलयान में बैठे हुए पुरुष जगत् के जीवों के लिए हितैषी होने हेतु शुभ, अनित्यादि भावना रूपी बड़ी-बड़ी पेटियों में रक्षा हेतु प्रयत्न पूर्वक शुभ मन रूपी रत्नों को रखे हुए निर्विघ्नता पूर्वक मुक्ति रूपी नगर को प्राप्त करते हैं।¹⁰

आलंकारिक भाषा में लोक-संस्थान के ध्यान का यह बड़ा ही सुन्दर और उद्बोधक रूप है। लोक को रूपक अलंकार द्वारा दुस्तर समुद्र के रूप में आरोपित कर चारित्र रूपी जलयान द्वारा उसे पार करने का जो सांगोपांग विवेचन किया गया है, वह काव्यशास्त्र के अनुसार सांगरूपक का अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है। समुद्र की विकरालता, भयानकता साधक को पापपूर्ण जीवन से हटाकर धर्मानुप्राणित ध्यानसाधनाजीवन की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा प्रदान करता है।

तत्पश्चात् विद्वान् ग्रन्थकार ने रूपक के माध्यम से धर्मराज और मोहराज के युद्ध का चित्रण किया है। क्योंकि मोह को जीते बिना ध्यानसाधना में सफलतापूर्वक आगे बढ़ना बहुत ही कठिन है।

10. वही, गा. 46-50

जैसे दो राजा अपनी साज-सज्जा के साथ युद्ध करते हैं, उसी प्रकार इन दोनों का युद्ध होता है। अन्त में धर्मरूपी राजा द्वारा मोहरूपी राजा अपने दोनों पुत्रों-द्वेष रूपी गजेन्द्र, राग रूपी मृगेन्द्र सहित मार डाला जाता है।¹¹

धर्मराज द्वारा मोहराज को यों पराजित कर दिये जाने पर संयमी साधक रूपी व्यापारी अत्यन्त आनन्दित होते हैं और सांसारिक व्यापारियों की तरह वे कृतार्थ होते हुए अपने धर्मासाधना रूप व्यापार में संलग्न हो जाते हैं।¹²

ग्रन्थकार ने धर्म ध्यान के भेदों का जो अत्यन्त पांडित्यपूर्ण विवेचन किया है वह बड़ा ही विलक्षण है। वह केवल वस्तुपरक नहीं है अपितु अत्यन्त प्रेरणापरक स्फूर्तिप्रद भी है।

धर्मध्यान के ध्याता का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि जिस योगी का मन एवं इन्द्रियाँ विकार रहित हो गये हों वही शान्त दान्त साधक धर्मध्यान का ध्याता प्रकीर्तित हुआ है।¹³

यहाँ ध्याता के लिए प्रकीर्तित शब्द का प्रयोग किया गया है, वह बड़ा ही महत्वपूर्ण है, प्रकृष्टा कीर्तिः प्रकीर्तिः तयाःयुक्तःप्रकीर्तितः। यह शब्द प्रशस्तता का द्योतक है। इन गुणों से युक्त पुरुष प्रशस्त या उत्तम कोटि का ध्याता होता है। ग्रन्थकार ने यहाँ गीताकार द्वारा व्याख्यात स्थितप्रज्ञ को स्मरण किया है और कहा है कि जैसे ध्याता में वे सब गुण फलित हो जाते हैं जो स्थितप्रज्ञत्व के साथ जुड़े हैं।¹⁴

शुक्लध्यान के आलम्बन का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है - क्षान्ति, क्षमाशीलता, मृदुता, ऋजुता, निस्पृहता से युक्त छद्मस्थ संयमी साधक परमाणु पर अपना मन लगाकर शुक्ल ध्यान स्वीकार करे, किन्तु वीतराग केवली मन का निरोध कर शुक्लध्यान करते हैं।¹⁵

11. वही, गा. 51-59

12. वही, गा. 60

13. वही, गा. 62

14. वही, गा. 63

15. वही, गा. 73

फिर उन्होंने शुक्ल ध्यान के भेदों का विवेचन किया है। शुक्ल ध्यान में किन-किन लेश्याओं का किस प्रकार समावेश बनता है, उसे उद्घाटित करते हुए उन्होंने लिखा है कि शुक्ल ध्यान के पहले दो भेदों में शुक्ल लेश्या होती है। तृतीय भेद में परम शुक्ल लेश्या होती है। चतुर्थ भेद में जिनेश्वर देव लेश्या रहित होते हैं।¹⁶

इस अधिकार के अन्त में उन्होंने लिखा है कि जो भगवान की आज्ञानुरूप ध्यान के शुद्ध क्रम को जान लेता है उसका अभ्यास करता है वह समग्र अध्यात्म का वेत्ता हो जाता है।

ध्यानस्तुति :

उपाध्याय यशोविजय ने ध्यान का शुद्ध स्वरूप, अभ्यास-प्रक्रिया, भेद आदि का विस्तृत विवेचन करने के पश्चात् इस अधिकार में ध्यान की वरेण्यता या स्तवनीयता का विवेचन किया है। उसमें निष्णात और सफल हो जाने पर साधक को जो आध्यात्मिक उपलब्धि होती है, वह वास्तव में अत्यन्त महनीय है। अधिकार के प्रारम्भ में ही उन्होंने लिखा है कि जब साधक ध्यान योग में पर-परिपाक-उत्कृष्ट परिपक्वता या सिद्धि प्राप्त कर लेता है तब वह इन्द्र के पद को भी तृण तुल्य समझता है। अतएव आत्मप्रकाशमय, आनन्दबोधमय एवं भवभ्रमण विनाशक ध्यान का सेवन करना चाहिए।

अस्थिर, अज्ञ पुरुषों द्वारा भी विषयों का प्रत्यक्ष रूप में तो आसानी से परित्याग किया जा सकता है किन्तु उन विषयों में विद्यमान राग या रस का उनके द्वारा त्याग नहीं किया जा सकता। ध्यानयोगी ही परमद्युति-परमात्म प्रकाश का दर्शन करने के कारण आत्मतृप्त होते हैं। अतः वे राग को स्वीकार नहीं करते हैं।¹⁷

ग्रन्थकार ने यहाँ त्याग का बड़ा ही धार्मिक विश्लेषण किया है। भोग्य पदार्थों को छोड़ना मात्र यथार्थ रूप में त्याग की भूमि का स्पर्श नहीं करता, जब तक उन विषयों के प्रति व्यक्ति के मन में राग या रसात्मकता बनी रहती है क्योंकि ऐसा होने के कारण वे परित्यक्त विषय समय पाकर फिर उभार पा लेते हैं और व्यक्ति पतन के

16. वही, गा. 82

17. वही, गा. 5.17.1-2

गर्त में गिर पड़ता है। इसलिए विषयावर्ती राग या रस का परित्याग ही वास्तविक त्याग है। यह तभी सधता है जब ध्यान द्वारा साधक आत्मज्योति रूप प्रकाश पा लेता है और अध्यात्म के रस का आस्वाद पा लेता है। आध्यात्मिक तृप्ति, सुख या आनन्द बड़ा विलक्षण है, शब्दों द्वारा उसे व्याख्यात नहीं किया जा सकता। वह तो गूंगे का गुड़ है, अनिर्वचनीय है। ध्यान की ही यह फल निष्पत्ति है कि वह साधक को अध्यात्म के दिव्य रस का अनुभोक्ता बना देता है।

उन्होंने बड़े ही सचोट शब्दों में आगे कहा है- जिस गूढ़ रहस्य को प्रकट करने में सूर्य-चन्द्र, तारे और दीपकों की ज्योति के लिए भी अवकाश नहीं है, ये भी जिसे प्रकट नहीं कर सकते वह रहस्य उन साधकों के लिए सुप्रकटित है जो ध्यान द्वारा अज्ञानांधकार का भेदन कर आत्मज्योति का साक्षात्कार कर लेते हैं।¹⁸

ध्यान वह मित्र है जो चिरकाल से वियोग प्राप्त शमभावानुरति रूप प्रेयसी को शीघ्र ही मिला देता है। इसलिए साधक के लिए तो वही मित्र हितकर है, संसार के कृत्रिम मित्रों से उसे क्या प्राप्त होगा।

प्रस्तुत श्लोक में आत्मज्योति की दिव्यता, प्रोज्ज्वलता और प्रकृष्टता का जो उल्लेख हुआ है उसी के प्रभाव से साधक अध्यात्म के गूढ़ रहस्य को स्वायत्त कर सकता है।

अत्यन्त उच्च ध्यानरूपी प्रासाद में प्रशम रूपी पलंग पर स्थित साधक परम आनन्द का अनुभव करता है। वह प्रासाद ऐसा है जहाँ काम के बल रूपी आलाप का संचार अवरुद्ध है तथा जहाँ शील रूपी शीतल सुगंध परिव्याप्त है।¹⁹

इस वर्णन क्रम को आगे बढ़ाते हुए कहा है- ध्यान रूपी प्रासाद में व्यक्त रूप में आहूत-आमंत्रित पवित्र उत्तम महान् अतिथि आत्मा की पूजा-सत्कार शील रूपी आसन से दम रूपी चरणोदक-चरण प्रक्षालन के जल से प्रातिभभाव-स्वाभाविक या आध्यात्मिक समतारूपी मधुपर्क द्वारा पूजा-अर्चना निष्पादित होती है।²⁰

18. वही, गा. 5.17.7-8

19. वही, गा. 5.17.9

20. वही, गा. 5.17-10

भारतवर्ष में आतिथ्य का बड़ा महत्त्व रहा है। जब कोई भी अतिथि कहीं आता है तो उसका सत्कार-सम्मान किया जाता है। उसे बैठने हेतु आसन दिया जाता है, उसके चरण प्रक्षालित किये जाते हैं और मधुपर्क भेंट किया जाता है। ग्रन्थकार ने पूजा योग्य पदार्थों को बड़े ही सुन्दर रूप में रूपक के आधार पर आध्यात्मिक ढाँचे में ढाला है। आत्मा रूपी अतिथि का तो शील, शुद्ध शिष्टाचार, शुद्धाचार, दमनशीलता, तितिक्षा, आध्यात्मिक उल्लास आदि उत्तम भावों द्वारा ही पूजन किया जा सकता है।

ध्यानयोगी अपनी ध्यान रूपी एकाग्रता में महान् अतिथि के रूप में शुद्ध आत्मभाव को स्वीकृत कर उसके पवित्र गुणों के स्मरण चिन्तन-अनुचिन्तन द्वारा अनुप्राणित होता है।

आत्मा और परमात्मा में अभेदबुद्धि की अनुभूति कराने हेतु ग्रन्थकार ने आगे इस प्रकार वर्णन किया है- आत्मा और परमात्मा में जो भेदबुद्धिजनित विवाद उत्पन्न हुआ, ध्यान रूपी संधिकर्ता ने अविलम्ब ही उसे दूर कर दोनों में अभेद एकत्व करवा दिया।²¹

दो राजाओं में, विशिष्ट जनों में अथवा किन्हीं दो व्यक्तियों में पारस्परिक मतभेद के परिणाम स्वरूप विवाद उत्पन्न हो जाता है। दोनों परस्पर खिंचे हुए होते हैं। इसलिए विवाद मिट नहीं सकता। किन्तु कोई बीच का संधिकारक योग्य पुरुष आकर दोनों का भेद मिटा देता है और उनमें परस्पर एकता घटित कर देता है। ग्रन्थकार ने ध्यान को मध्यस्थ, सुयोग्य, संधिकारक पुरुष के रूपक द्वारा बड़े ही समीचीन रूप में व्याख्यात किया है। ध्यान से आत्मा-परमात्मा का भेद मिट जाता है क्योंकि विशुद्ध भाव की दृष्टि से उनमें कोई भेद है ही नहीं। किन्तु संसारी जीव अज्ञानवश अपने को परमात्मा से भिन्न मानता है। ध्यान इस अज्ञान के आवरण को मिटा देता है और जीव को अपने विशुद्ध आत्मस्वरूप के चिन्तन की दिशा की ओर मोड़ देता है। वैसा होने पर आत्मा के शुद्ध स्वरूप का उसे भान हो जाता है क्योंकि विशुद्ध आत्मा ही परमात्म रूप है।

21. वही, 5.17-11

ग्रन्थकार के शब्दों में ध्यान में ही अमृत रूप सर्वोत्कृष्ट पेय सन्निहित है। उन्होंने लिखा है कि हलाहल विष से परिपूर्ण नागलोक में, प्रतिदिन क्षीण होते चन्द्र में और अप्सराओं के साथ प्रेमक्रीड़ा में संलग्न देवों के लोक में भी अमृत कहाँ संभव है, ज्ञानीजनों द्वारा पान करने योग्य अमृत तो ध्यान में ही है। ध्यान से जनित, धैर्य के रूप जिस रस को ज्ञानी अनुभूत करता है वह रस न तो द्राक्षाओं में है, न शर्करा में, न अमृत में, न वनिताओं के अधरोष्ठ में ही प्राप्त होता है।²²

भौतिक बाह्य रस अमृत आदि की विविध परिकल्पनायें इस लोक में तथा देवलोक में की जाती हैं। विविध मनोज्ञ, मधुर, सुन्दर पदार्थों में उसे सन्निहित माना जाता है। किन्तु उससे कदापि अविनश्वर सुख तृप्ति या शान्ति नहीं मिलती। जिस शान्ति के लिए जीव व्याकुल है वह शान्ति तो ध्यान साधना द्वारा उत्पन्न सन्तोष से ही प्राप्त होती है। ध्यान योगी इतना आत्मतृप्त, सन्तुष्ट या आत्मकाम हो जाता है कि उसे फिर तथाकथित बाह्य पदार्थों में कोई रसानुभूति नहीं होती क्योंकि तत्त्वतः यह सब मिथ्या है।

परिपक्व सुदृढ़ अवस्था प्राप्त ध्यान से आविर्भूत फल की गरिमा-महिमा को अपने मन द्वारा भली भाँति समझकर जो उसमें प्रीति करता है, अभिरुचिशील बनता है, उस प्रौढ़ मनीषी तेजस्वी, साधक को शीघ्र ही यशःश्री कीर्ति रूपी लक्ष्मी अपनी ध्यान साधना में सफलतापूर्वक गतिशील होने से श्लाघनीयता प्राप्त होती है।²³

अध्यात्मोपनिषद् :

अध्यात्मोपनिषद् में शास्त्रयोग शुद्धि, ज्ञानयोग शुद्धि, क्रियायोग शुद्धि तथा साम्ययोग शुद्धि नामक चार अधिकारों में अध्यात्मयोग का विविध अपेक्षाओं से वर्णन किया गया है। शास्त्रयोग शुद्धि :- साधक के लिए सबसे पहले अपने मन का संमार्जन करना परम आवश्यक है। इस संसार में शास्त्र के नाम से अनेकानेक परम्पराओं के ग्रन्थ विद्यमान हैं। उन सबमें जो आत्मतत्त्व का भली भाँति दर्शन कराता है, जीवन के मोक्ष रूप परम लक्ष्य से परिचित कराता है, वही शास्त्र परम आदरणीय है अतः

22. वही, गा. 5.17.12-13

23. वही, गा. 5.17-14

ग्रन्थकार ने सबसे पहले अध्यात्म पर जोर दिया है। सच्छास्त्रों के परिशीलन से मन परिष्कृत होता है। ग्रन्थकार ने विभिन्न शास्त्रों के तत्त्वों का संक्षेप में दिग्दर्शन कराते हुए सर्वज्ञ प्रभु द्वारा भाषित तत्त्वों में आस्थाशील होने की प्रेरणा दी है। उन्होंने लिखा है कि वीतराग प्रभु असत्य भाषण नहीं करते। वे हेतु, युक्ति, तर्क, न्यायविरुद्ध उपदेश नहीं देते, जो उनके वाक्यों में विश्वास नहीं करते, जो महामोह द्वारा ग्रसित हैं जो शास्त्र को अपने आगे रखता है, सम्मान देता है, अपना मार्गदर्शक मानता है, एक प्रकार से वीतराग प्रभु को ही अपना पथदर्शक समझता है ; वैसा समझने वाले निश्चय ही समस्त सिद्धियों को प्राप्त करते हैं।²⁴

ज्ञानयोग शुद्धि :

ग्रन्थकार ने ज्ञानयोग शुद्धि नामक दूसरे अधिकार में ज्ञानयोग की चर्चा करते हुए लिखा है- शास्त्रों द्वारा दर्शित साधना मार्ग पर चलता हुआ निर्मल बुद्धि पुरुष साधना की विशिष्ट उपलब्धि हेतु ध्यानयोग का प्रयोग करे अर्थात् वह सद्ज्ञान का अवलम्बन लिये हुए अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता जाये।²⁵ सद्ज्ञान का साहचर्य योगसाधना में निश्चय ही बड़ा उपकारक सिद्ध होता है।

क्रियायोग शुद्धि :

तीसरे अधिकार में क्रियायोग की विशुद्धि की चर्चा है। क्रियायोग का तात्पर्य शास्त्राध्ययन से प्राप्त ज्ञानपूर्वक आत्मजागरूक भाव से क्रियाकलाप में संलग्न रहना है। वहाँ व्यक्ति का मन उन क्रियाओं में आसक्त या ग्रस्त नहीं होता। साधक अपने आप में जो सिद्ध करना चाहते हैं, वह तभी साधित हो सकता है जब वे शान्तचित्तपूर्वक क्रियाशील हो।²⁶ जो चैतसिक शान्ति के साथ क्रियाशील होते हैं वे क्रिया में लिप्त नहीं होते। आगे उन्होंने कहा है कि शान्त भाव सहित अनासक्त चित्त के साथ जो क्रियाशील होते हैं उनका आत्मबल उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार अन्न में चावल का छिलका या भूसा तथा माँजने से ताँबे की कालिमा नष्ट हो जाती है।²⁷

24. अध्यात्मोपनिषद् गा. 1.13-14

25. वही, गा. 2.1

26. वही, गा. 3.12

27. वही, गा. 3.21

साम्ययोग :

इस अधिकार के प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने बड़े ही अन्तःस्पर्शी शब्दों में कहा है कि जो ज्ञान और क्रिया रूप दो अश्वों से युक्त साम्यरूप रथ पर आरूढ़ होकर मोक्षमार्ग की ओर गतिशील होता है वह गाँवों में, नगरों में विघ्नरूपी काँटों से उत्पन्न होने वाली पीड़ा को, जिससे पादरक्षिका रहित-जूते न पहना हुआ व्यक्ति पीड़ित होता है, नहीं पाता। वैसा योगी आत्मप्रवृत्ति में अत्यन्त जागरूक रहता है तथा परप्रवृत्ति में वह बहरे, अंधे या गूंगे की तरह रहता है अर्थात् न उन्हें सुनता है, न उन्हें देखता है और न उनके सम्बन्ध में बोलता ही है। वह सदा परम ज्ञान एवं परमानन्दमय पद की दिशा में समुद्यत रहता है। वह लोकोत्तर-विलक्षण साम्यभाव को प्राप्त करता है।²⁸

शास्त्राध्ययन द्वारा समर्जित सदज्ञान और उस ज्ञान द्वारा किये गये क्रियाकलाप और उनसे उत्पन्न समत्वभाव वास्तव में आत्मश्रेयस् के अनन्य उपादान हैं। उन्हें स्वायत्त कर लेने पर ध्यान योगी में आन्तरिक ऊर्जा का स्रोत फूट पड़ता है जिसके सहारे वह जीवन का परम लक्ष्य साधने में समर्थ हो जाता है।

ज्ञानस :

उपाध्याय यशोविजय द्वारा रचित 'ज्ञानसार' में बत्तीस अष्टक हैं। आठ श्लोकों में रचित प्रकरण अष्टक कहे जाते रहे हैं। इन अष्टकों में क्रमशः (1) पूर्णता (2) लग्नता (3) स्थिरता (4) मोहत्याग (5) ज्ञान (6) शम (7) इंद्रिय जय (8) त्याग (9) त्रिया (10) तृप्ति (11) निर्लेप (12) निस्पृहा (13) मौन (14) विद्या (15) विवेक (16) माध्यस्थ (17) निर्भयता (18) अनात्मसंसार (19) तत्त्वदृष्टि (20) सर्व-समृद्धि (21) कर्मविपाक (22) भवोद्वेग (23) लोकसंज्ञा (24) शास्त्र (25) परिग्रह (26) अनुभव (27) योग (28) नियाग (29) भावपूजा (30) ध्यान (31) तप (32) सर्व नयामय।

इन सभी अष्टकों में विविध अपेक्षाओं से आत्मा के परिशोधन एवं परिमार्जन के उपायों का विवेचन किया गया है, जो ग्रन्थकार के गहन अध्ययन और प्रगाढ़ वैदुष्य का सूचक है। उन्होंने ध्यानाष्टक में ध्यान का विवेचन किया है। लिखा है-ध्याता,

28. वही, गा. 4.1-2

ध्येय और ध्यान ये तीनों जहाँ एकता प्राप्त कर लेते हैं तो संयमी साधक का चित्त अन्यत्र कहीं नहीं जाता। उसे किसी प्रकार का दुःख या क्लेश नहीं होता।

अन्तरात्मा ध्याता है। परमात्मा को ध्येय कहा गया है। एकाग्रता पूर्वक संविति-चिन्तन ध्यान है। इनकी एकता समापत्ति या समाधि है।

जिस प्रकार मणि में किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब या प्रतिच्छाया व्यक्त होती है, उसी प्रकार आत्मा में परमात्मा की प्रतिच्छाया समाधि है। जब ध्यान से चित्तवृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं, अन्तरात्मा निर्मल हो जाती है तब समाधि की स्थिति घटित होती है। वैसा होने पर पवित्र तीर्थकर नामकर्म का बन्ध होता है अर्थात् भावी जीवन में वे साधक तीर्थकर का पद पाते हैं। आत्मा की निर्मलता की ओर जब साधक अभिमुख रहता है तो क्रमशः वह ऊर्ध्वगामी बनता जाता है, जो अभव्यजनों के लिए होना सर्वथा दुर्लभ है। उनके योगोपक्रम केवल कष्टमात्र होते हैं। जो योगी अपनी इन्द्रियों को जीत चुका हो, धीर आत्मबली हो, प्रशान्त और सुस्थिर हो, सुखासनलीन जिसकी दृष्टि नासाग्र पर लगी हो, जिसने बाह्य मनोवृत्ति का निरोध कर लिया हो उसकी धारणा की धारा ध्यान के रूप में परिणत होती हुई निष्पन्नता प्राप्त कर लेती है, वैसा ध्यानयोगी चिदानन्दमय आध्यात्मिक सुधा का आस्वाद लेता है। निर्बाध निर्विघ्न आत्मसाम्राज्य को वह प्राप्त कर लेता है। इस लोक में न तो देवताओं में और न ही मानवों में ध्यानी साधकों की उपमा प्राप्त होती है। वह निरुपमता स्वायत्त कर लेता है।²⁹

‘ध्यानाष्टक’ में ध्यान और तद्जन्य आध्यात्मिक उपलब्धि का उपाध्याय यशोविजय ने संक्षेप में जो दिग्दर्शन कराया है उसका एक-एक शब्द अध्यात्म-पुंज है। उपाध्यायश्री के अनुसार ध्यान ही वह विलक्षण साधना है जिसको साधने वाला साधक तीर्थकर के सर्वोत्कृष्ट पद को प्राप्त करने का अधिकारी बन जाता है। इस लोक में उससे उच्च अन्य कुछ नहीं है।

आध्यात्मयोगी महान् साधक श्री आनन्दघन जी :

जैन परम्परा के अध्यात्मयोगियों में महान् साधक श्री आनन्दघन जी का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। तीर्थकरों की स्तवना के रूप में उनके द्वारा रचित ‘आनन्दघन

29. ज्ञानसार 30.1-8

चौबीसी' भक्ति, आत्मसमर्पण, साधना और योग के उन अनुभूत उच्चभावों से संपृक्त है, जिनके अनुभवन-अनुसरण से जीवन में मुमुक्षु साधकों के मन में निश्चय ही एक दिव्य आनन्द की अनुभूति होती है। उनका जीवन पवित्रतम, उच्चतम साधनाओं का एक उत्कृष्टतम संगमस्थल जैसा था। वे जैन परम्परा के एक संयमी साधक थे। अतः आर्हत चिन्तनधारा तो उनमें व्याप्त थी ही, साथ-ही-साथ उन्होंने अन्यान्य परम्पराओं में व्याप्त अध्यात्म योग विषयक तत्त्वबिन्दुओं को भी गृहीत करते हुए उन्हें आर्हती साधना के निर्मल रूप में परिणत कर दिया।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाय तो आनन्दघन जी के संबंध में कोई प्रामाणिक सामग्री प्राप्त नहीं होती। विभिन्न विद्वानों के उनके जीवन, जन्मस्थान आदि के विषय में विभिन्न मत हैं। कुछ उनको मारवाड़, कुछ गुजरात, कुछ सौराष्ट्र तो कुछ उत्तरप्रदेश से भी जोड़ते हैं। जैन साहित्य के विख्यात मनीषी और अनुसंधाता श्री अगरचंद नाहटा ने 'आनन्दघन ग्रंथावली' में इन महापुरुष की जन्मस्थली, कर्मस्थली और साधना स्थली का उल्लेख किया है जो वर्तमान युग के सुप्रसिद्ध जैनयोगी सहजानन्द के मत पर आधारित है। उन्होंने उनका जन्म मेड़ता में होना बताया है, वे वहीं के एक श्रावक के पुत्र थे। उन्होंने ऐसा भी सूचित किया है कि उनकी साधना-स्थली और कर्मस्थली मुख्य रूप से मेड़ता ही रही। वे अधिकांश समय तक मेड़ता के ही आस-पास के स्थानों में विचरण करते रहे। इनकी भाषा गुजराती मिश्रित राजस्थानी है। अतः कुछ विद्वान् इनके गुजरात में जन्म लेने और उसी क्षेत्र में अधिक विचरण करने पर अधिक बल देते हैं। किन्तु यहाँ यह ज्ञातव्य है कि गुजरात और राजस्थान में भाषा, संस्कृति, धर्म इत्यादि की दृष्टि से परस्पर बड़ा तादात्म्य रहा है। अब से लगभग 5 शताब्दी के पूर्व जो भाषा प्राप्त होती है, उसे गुजरातियों द्वारा जूनी गुजराती और राजस्थानियों द्वारा पुरानी मारवाड़ी कहा जाता है। अतः एक ही भाषा प्रचलित रही है जो लगभग गुजरात और पश्चिमी राजस्थान में समान रूप से बोली, समझी जाती रही है। इतिहासज्ञों ने इसे मरुगुर्जर के नाम से अभिहित किया है। अवश्य ही योगिराज आनन्दघन गुजरात में भी विचरणशील रहे हैं, इसमें कोई संशय नहीं। गुजरात और राजस्थान दोनों ही इनके कार्यक्षेत्र रहे हैं। संभव है, मेड़ता की पावन धरा में विशेष प्रवास और विचरण रहा हो।

आनन्दघन जी के वर्णन में एक चामत्कारिक बात यह परिलक्षित होती है कि

वे अपने आपको परमात्मा की प्रेयसी या प्रियतम के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनकी यह विधा निर्गुण परम्परा के महान् संत कबीर की अन्तर्भावना के साथ जुड़ जाती है।

राम मेरो पीव, मैं तो राम की बहुरिया।

राम पर-ब्रह्म-परमात्मा मेरे प्रिय पति हैं, मैं तो उनकी बधू-बहू हूँ। कबीर जिन भावों की अभिव्यंजना करते हैं, आनन्दधन जी भी अपने आपको भगवान् ऋषभदेव की प्रेयसी के रूप में जोड़ते हुए शब्दान्तर से प्रायः ऐसी ही बात कहते हैं। कबीर और आनन्दधन गृही पति-पत्नी के भाव से सर्वथा अतीत, निरंजन, असंलग्न थे। दोनों ने ही इस भाव को अध्यात्म के परम पवित्र ढाँचे में ढालने का जो प्रयास किया वह भारतीय साहित्य में निश्चय ही विलक्षण है।

भौतिकता या सांसारिकता की दृष्टि से पुरुष के लिए सबसे अधिक प्रियता का स्थान उसकी पत्नी होती है। नारी के लिए सर्वाधिक मनोज्ञता, प्रियता और स्नेह का सर्वोत्कृष्ट भाव अपने पति में सन्निहित रहता है और सभी सांसारिक संबंध पति-पत्नी के नैकट्य की तुलना में सर्वथा मौन हो जाते हैं। इस निकटतम संबंध को रूपक द्वारा इन दोनों ही महान् संतों ने आत्म-परमात्मभावमूलक हो पावनतम रूप प्रदान किया, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। कामराग का स्थान यहाँ वीतरागभाव ले लेता है।

अधिकतर विद्वानों की यह राय है कि वे तपागच्छीय श्वेताम्बर मंदिरमार्गी परम्परा से सम्बद्ध थे। श्री अगरचंद नाहटा ने इनका खरतरगच्छीय परम्परा से संबंधित होना बतलाया है। खैर, जैसा भी रहा हो, इनके जीवन में एक समय ऐसा आता है, जब ये साम्प्रदायिक परम्पराओं से विलग होकर विशुद्ध ध्यान-योगी के रूप में साधनारत हो जाते हैं। “सम्प्रदायो गुरुक्रमः” हेमचन्द्रजी की इस परिभाषा के अनुसार सम्प्रदाय तो गुरुपरम्परा से सम्बद्ध व्यवस्था है। जब साधक अपने आपको सर्वथा साधना में समर्पित कर देता है, तो सम्प्रदाय और औपचारिकताएँ वहाँ गौण हो जाती हैं, महान् योगी आनन्दधन के साथ ऐसा ही घटित हुआ। वे वनों पर्वतों, अन्यान्य एकान्त स्थानों में जाकर साधना-निरत रहते, ध्यानस्थ रहते, संयम तो उनके जीवन के कण-कण में व्याप्त था ही। वे जैन दर्शन-न्याय आदि के प्रसिद्ध विद्वान् यशोविजय के सम-सामयिक थे। दोनों की अवस्था में थोड़ा सा अन्तर था। उपाध्याय यशोविजय इनके साधनानिष्ठ जीवन से बड़े प्रभावित थे। यशोविजय ने महान् योगी आनन्दधन की स्तुति में एक

अष्टपदी की भी रचना की थी।

भगवान ऋषभदेव के स्तवन के रूप में 'आनन्दघन पदावली' का पहला पद विशेष रूप से अनुशीलन करने योग्य है। उन्होंने लिखा है-

जिनेश्वर ऋषभदेव मेरे प्रियतम हैं, मुझे और किसी कान्त या प्रियतम की चाह नहीं है। यदि वे मुझ पर प्रसन्न हो जाते हैं तो मेरा संग-साहचर्य कभी नहीं छोड़ते और उनका मेरे साथ संबंध आदि सहित तो होगा, किन्तु वह अन्तरहित होगा, वह मिटेगा नहीं। इस संसार में प्रेम का नाता तो सभी जोड़ते हैं, किन्तु वह प्रेम वास्तविक प्रेम नहीं है- वास्तविक प्रेम तो वह है, जो सभी प्रकार की उपाधियों से वर्जित, भौतिक अभीप्साओं से, पदार्थों से मुक्त हो। मेरा प्रेम संबंध तो प्रभु के साथ निरुपाधिक है- किन्हीं भी सांसारिक अभिलाषाओं से बंधनों से वह विमुक्त है, कोई प्रेयसी अपने पति के मरण प्राप्त कर लेने पर इस आशा के साथ कि उसका पति के साथ शीघ्र ही मिलन हो, उसकी चिंता के साथ सती हो जाती है।

कोई पत्नी पति को प्रसन्न करने के लिए उग्र तप करती है और समझती है देह को परिताप देने से प्रियतम प्रसन्न होंगे। पति को इस प्रकार अनुरजित करने में मेरी मानसिकता नहीं है, यह तो दैहिक मिलन की बात है, कई कहते हैं यह सांसारिक संबंध तो प्रभु की लीला है, किन्तु निर्दोष, निरंजन, निर्मल प्रभु में यह लीला घटित नहीं होती-क्योंकि यह लीला दोषपूर्ण है। अपने प्रियतम में समर्पण रूप पूजन का परिणाम चित्त की विशुद्धि है, चैतसिक विशुद्धिजनित एकाग्रता है, जो कभी खण्डित नहीं होती। जो निष्कपट-निश्चलभाव से आत्मा को परमात्मा में समर्पित कर देता है वह तो मोक्ष की ओर ले जाने वाली पगडण्डी पर चल पड़ता है।³⁰

योगिवर्य ने परमात्मपद प्राप्त प्रभु ऋषभ के प्रति समर्पण की उदग्र भावना का परिणाम चित्त की प्रशान्ति के रूप में घटित होना बतलाया है, यह भक्तियोग में अध्यात्म योग, ध्यान योग को ढाल देने का एक विलक्षण उपक्रम है।

सामान्यतः भक्त और योगी में अन्तर माना जाता है। भक्ति में समर्पण की प्रधानता होने से ज्ञान का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं, ऐसी मान्यता है। अतएव वहाँ

30. आनन्दघन पदावली श्री ऋषभजिन स्तवन - 1

योग के फलित होने की बात भी नहीं कही जा सकती। इस एकांगी दृष्टिकोण को योगिवर्य ने भक्ति, ज्ञान और योग के समन्वित रूप में प्रस्तुत किया है। इस पद का गहराई और सूक्ष्मता से अध्ययन करने पर ऐसा निष्कर्ष निकलता है कि यहाँ 'चित्त प्रशस्ति' शब्द योग से संबद्ध है। इसका तात्पर्य यह है कि भक्ति से योगसाधना फलित होती है। आनन्दधन भक्त होते हुए भी इसीलिए योगिवर्य कहे गये हैं। उन्होंने भौतिक प्रेम को आध्यात्मिक प्रेम का पवित्र परिवेश देते हुए उसै भुक्ति की साधना के अनन्य अंग के रूप में परिणत कर दिया है।

चन्द्रप्रभ स्वामी के स्तवन में रचनाकार ने शुद्ध चेतना और उसकी सखी श्रद्धा के रूपक द्वारा अपने भावोद्गार व्यक्त करते हुए कहा है- चेतना श्रद्धा से कहती है कि मुझे चन्द्रप्रभ स्वामी के मुखचन्द्र को देखने दो। वह तो उपशम रस का कन्द है, देवेन्द्र और नरेन्द्र सब उनकी सेवा करते हैं, वे कलियुग के कालुष्य और दुःख द्वन्द से रहित हैं। सखि ! मुझे उनका मुखचन्द्र निहारने दो। वह मुखचन्द्र न तो मैंने सूक्ष्म निगोद में, न बादर निगोद में, न पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पतिकाय में कभी देखा है। द्वीन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यायों में भी मैं उस मुखचन्द्र के दर्शन किये बिना जल की रेखा के सदृश निष्फल रही। देवलोक में, तिर्यक् एवं नारक योनि में भी उनका मुखचन्द्र दृष्टिगोचर नहीं हो सका। अनार्यजनों के संसर्ग के कारण दुर्लभ मनुष्यभव में भी वैसा नहीं हो सका। अन्तर्मुहूर्त काल परिमित स्थिति युक्त अपर्याप्त अवस्था में भी वे ज्ञानी परमात्मा मेरे हस्तगत नहीं हुए। इस प्रकार जिनेन्द्रदेव श्रीचन्द्रप्रभ के दर्शन के बिना अनेक स्थान, काल व्यतीत होते गये। अब तो जिनागमों में बुद्धि निर्मलकर निष्काम भाव से निर्मल भक्ति मुझमें आए। निर्मल भक्ति के योग से ही त्रय अवञ्चक योग की प्राप्ति होती है, जिसके फलस्वरूप सत्पुरुषों का योग मिलता है, तदनु रूप क्रियाएँ भी अवञ्चक होती हैं, आत्मकल्याणकारिणी होती हैं और उनका फल भी अवञ्चक होता है, आत्मोन्मुख समीचीन फल प्राप्त होता है। सद्गुरु के योग से ही अवञ्चक त्रय की प्राप्ति होती है।

जिनेन्द्रदेव की प्रेरणा से वैसा सुअवसर प्राप्त होता है, उनकी अचिन्त्य अनिर्वचनीय शक्ति द्वारा मोहनीय कर्म क्षीण हो जाते हैं। प्रभु चन्द्रप्रभ के चरण कमल इच्छित फल प्रदान करने में कल्पवृक्ष के सदृश हैं।³¹ भौतिक सौन्दर्य के आकर्षण

को आध्यात्मिक सौन्दर्य में बदल देने की अनुपम विलक्षण क्षमता योगिराज साथ-ही-साथ भक्तवर्च श्री आनन्दघन में थी, चेतना और श्रद्धा जीवन के दो मुख्य तत्त्व हैं। चेतना आत्मा के अस्तित्व की बोधिका है, लक्षण स्वरूप है, श्रद्धा सत्यनिष्ठा का प्रतीक है। श्रद्धा चेतना में अध्यात्म का वह रस उँड़ेलती है जिससे चेतना कृत-कृत्य हो जाती है। योगिराज की चेतना श्रद्धा से यह मांग करती है कि मुझे परमात्मदेव के सौन्दर्य में तन्मय होने की प्रेरणा दो-क्योंकि ऐसा श्रद्धा ही करती है। श्रद्धा के बिना चेतना नेत्रशून्य होती है। नेत्र द्वारा जैसे पथिक को मार्ग सही रूप में दृष्टिगोचर होता रहता है, उसी प्रकार श्रद्धा द्वारा चेतना गतिशील होती है। यदि श्रद्धा कुमार्गगामिनी हो तो चेतना उन्नति की दिशा में प्रयाण नहीं कर सकती, वह गलत राह अपना लेती है।

योगिराज यहाँ योगनिष्णात आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा-‘योगदृष्टि समुच्चय’ में निरूपित अवञ्चक त्रय का उल्लेख करते हैं जिससे स्पष्ट है कि योग की पुरातन जैन परम्परा से उनकी मानसिकता एवं साधना जुड़ी हुई थी। उन्होंने अपनी अनुभूति द्वारा उन्हें और ऊर्जस्वल और निर्मल बनाया।

वे मानते थे कि ध्यानयोग में आगे बढ़ने के लिए सबसे पहले उत्तम गुरु के योग की आवश्यकता है। उनका सान्निध्य प्राप्त करना अपेक्षित होता है, क्योंकि उत्तम गुरु ही प्रवञ्चना रहित होते हैं, अवञ्चक होते हैं। अधम और स्वार्थान्ध तथाकथित गुरु मात्र वञ्चक ही होते हैं। गुरु का योग सध जाने से साधक की क्रियाएँ वञ्चनापरक नहीं होतीं, वे वञ्चनाशून्य होती हैं अर्थात् असत् से रहित होती हैं- सत्वोन्मुख होती हैं। उनके सहारे साधक की गति साधना के मार्गपर अनवरुद्धतया आगे बढ़ती जाती है, उस क्रिया का फल भी बड़ा उत्तम होता है। आचार्य हरिभद्र के शब्दों में जो अवञ्चक होता है वह आत्मा की वञ्चना नहीं करता, उसका श्रेयस् या कल्याण साधता है।

जब ये तीनों अवञ्चक प्राप्त हो जाते हैं, तब साधक सद्गुरु द्वारा उपदिष्ट पथ का अवलम्बन कर उस पर आगे बढ़ता जाता है। तदनु रूप सत्क्रियाएँ करता जाता है। निश्चय ही उनका फल उसे आध्यात्मिक दृष्टि से ऊर्ध्वगामी बनाता है।

रचनाकार द्वारा भगवान् शान्तिनाथ की स्तुति में विरचित पद आत्मशांति, अध्यात्मयोग और तदर्थ अपेक्षित ध्यानयोग का बड़ा ही सुन्दर भावचित्र उपस्थित करता है। योगिवर्य बड़े ही भावपूर्ण अभ्यर्थनामय शब्दों में भगवान् शान्तिनाथ की सेवा में

यह निवेदित करते हैं, “प्रभुवर ! लोकत्रय के राज-राजेश्वर मेरी कृपया यह विनती सुनें, मैं आपके शांत स्वरूप को कैसे पहचान सकूँ, कृपया मुझे बतलाएँ,” फिर वे आत्मोल्लासमयभाव से व्यक्त करते हैं, मानों प्रभु से प्रेरित होकर ऐसा कहते हैं- “आत्मन् ! तू धन्य है जिसे ऐसा प्रश्न करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। तू धीरज धारण कर सुन तो सही, शक्ति का जैसा स्वरूप मुझे प्रतीत अनुभूत हुआ है- वैसा ही यहाँ कथनीय है। मानों जिनेन्द्रदेव योगी, भक्त और साधक के मन में ऐसा भावोद्रेक कर रहे हों। रचनाकार की भाषा से यह व्यक्त होता है। श्री जिनेश्वर देव ने जिन भावों को शुद्ध और जिनको अशुद्ध कहा है, उनको यथार्थ भाव से जानकर उन पर श्रद्धा रखना शान्तिपद पाने का पहला रूप है।

आगमों के परमार्थमय भावों के संवाहक, जिनेन्द्र प्रभु द्वारा प्ररूपित शास्त्रों के ज्ञाता सावद्यवर्जन रूप संवर क्रिया के अभ्यासी, मोक्षमार्ग के अनुयायी वीतराग श्री शान्तिनाथ परम्परा के अनुपालक सदैव निष्कपट, निर्मल, आत्मानुभव के स्वामी, ऐसे उत्तम गुरु की सेवा, शांति के स्वरूप का बोध पाने का उत्तम मार्ग है।

जो समग्र लौकिक जंजालों का त्याग कर, शुद्ध आत्मस्वरूप का आलम्बन कर, समस्त तामसिक तमोगुणमयी वृत्तियों के राग-द्वेष आदि कषायों को त्यागकर, मैत्री, प्रमोद, करुणा आदि सात्त्विक वृत्तियों को स्वीकार करते हैं, वे आत्मशान्ति के स्वरूप को पा सकते हैं।³²

आध्यात्मिक शांति प्राप्त करने में तत्त्व का यथार्थ ज्ञान, आत्मा के शुद्ध भाव का अवलम्बन, वीतरागपथ के अनुगामी, त्यागी, समस्त सावद्यकर्म त्यागी, आत्मानुभव के धनी सद्गुरु का सान्निध्य अत्यन्त उपयोगी है। साधक को साधना में आगे बढ़ने के लिए इन बातों का ध्यान रखना परम आवश्यक है।

शांतिस्वरूप का साक्षात्कार कैसे हो, इस अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए और लिखा है- आत्मरूप को केन्द्र में रखकर ही विधि-निषेध की व्यवस्था एवं निर्णय होता है। जिन का क्रियाओं आत्मभाव से वैपरीत्य नहीं है, उनका आचरण करना विधिमार्ग है, जो क्रियाएँ आत्मभाव के विरुद्ध हैं वे निषिद्ध हैं, अकरणीय हैं। इसके अनुसार जो विधिमार्ग और निषेधमार्ग का अवलम्बन करता है, आत्मानुकूल क्रियाएँ

32. वही, श्री शान्तिनाथ स्तवन - 16.1-4

करता है, आत्मप्रतिकूल क्रियाओं से दूर रहता है, वह आध्यात्मिक शांति के पथ पर अग्रसर होने से स्फूर्तिमान होता है।³³ उन्होंने क्रोध आदि कषाय, अशुभयोग आदि की त्याज्यता, तप संयम आदि की ग्राह्यता का प्रतिपादन किया है, साथ-ही-साथ मानापमान के प्रति चित्त में समान भाव, स्वर्ण एवं पाषाण में समान दृष्टि, वन्दक और निन्दक में समान भाव को स्वीकार करने का संकेत किया है।³⁴

ध्यानयोगी का क्रियाकलाप जितना स्वभावानुरत, परभावविरत होता है, वह उतना ही अपनी साधना में आगे बढ़ सकता है।

उन्होंने निष्कर्ष के रूप में अन्त में कहा है कि आत्मभाव वस्तुतः चेतना के आधार पर ज्ञानदर्शन रूप ज्ञायक भाव ही है, यही वास्तव में आत्मा का वास्तविक परिवार है। अन्य सब सांसारिक परिजन आदि तो संयोगजन्य हैं, अस्थिर हैं।

इस आशय के साथ ग्रंथकार ने अपने आपको सम्बोधित कर कहा है- आत्मन् ! तू समस्त जागतिक प्रपंचों का त्याग कर आत्मभाव में ही, आत्मध्यान में रमण कर, उसी से शांति का स्वरूप अधिगत होगा।³⁵

योगिराज अन्त में आत्मविभोर होकर कहते हैं, अहो ! मेरा बड़ा सौभाग्य है, मैं धन्य हूँ, मेरे आत्माराम को मेरा वन्दन हो, अनन्त फलप्रदायक दानेश्वर महान् दानी, परमेश्वर प्रभु से जिसकी भेंट हो जाती है वह वस्तुतः धन्य है।³⁶

भक्तियोगी, ज्ञानयोगी या ध्यानयोगी जब आत्मानुभूति के सरोवर में निमग्न हो जाता है, तब उसे परमात्मभाव की ऐसी दिव्य आध्यात्मिक झलक अधिगत होती है, जिससे उसके हर्ष का कोई पार नहीं रहता।

मुनिसुव्रतस्वामी के स्तवन में योगिवर्य ने एक ऐसा भावचित्र उपस्थित किया है जो साधक के सामने विद्यमान अनेक मतमतान्तरों को प्रस्तुत करता है। आत्मा के सम्बन्ध में परस्पर इतने भिन्न मत-मतान्तर हैं कि मनुष्य उनमें विभ्रान्त हो जाता

33. वही, 16.7

34. वही, 16.8-9

35. आनन्दधन पदावली - श्री शान्तिनाथ स्तवन 16.11

36. वही, 16-13

है। उन मतमतान्तरों का इस पद में संक्षेप में संकेत करते हुए उन्होंने मुनिसुव्रत स्वामी की सेवामें इस अभ्यर्थना का भाव व्यक्त किया है कि इन मत-मतान्तरों के जंजाल में मुझे चित्तसमाधि कैसे प्राप्त हो, भगवन् ! मुझे मार्ग दिखाएँ।

तत्पश्चात् वे प्रभु-सुव्रतस्वामी से अंतःप्रेरित होकर ये उद्गार व्यक्त करते हैं कि जगत् में प्रचलित मत-मतान्तरों का पक्षपात छोड़कर, उनमें किसी भी प्रकार का भाव न रखकर आत्मा में रत होने से ही चित्त-समाधिरूप लक्ष्य प्राप्त होता है। जो आत्मा के ध्यान में निरत रहता है, एकाग्रता पूर्वक चिन्तन करता है, वह पुरुष इन मतवादों के जंजाल में नहीं पड़ता है, ये सब तो वाग्जाल के प्रकार हैं। वास्तव में, सारभूत तो आत्मचिन्तन ही है। वही चित्त के लिए अभिलक्षणीय है।³⁷ इस पद्य में योगिराज ने उन सब विभिन्न मतवादों की चर्चा की है, जिनमें अपने द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों को लेकर परस्पर विवाद करते रहते हैं। जिनमें इतना वाक्पाटव होता है, वे अपने सिद्धान्तों को उतनी ही प्रबलता से सिद्ध करने का प्रयास करते हैं किन्तु ऐसे वाद-विवादमय उपक्रमों से जीवन में आत्मा का परम साध्य सध जाये यह कदापि सम्भव नहीं है। वाद-विवाद तो परस्पर राग-द्वेष, मोहावेश ही बढ़ाते हैं। आध्यात्मिक साधक कदापि इनमें नहीं पड़ता। क्योंकि आत्मा के उत्थान और विकास की दृष्टि से इनका कोई स्थान नहीं है। वह इनको आत्मसाधना में प्रतिबंधक मानकर आत्मा के ध्यान में, परमात्मभाव में, अपने आपको एकाग्रचिन्तन द्वारा जोड़ने में निरत होते हैं, वे ही यथार्थ तत्त्वज्ञान को आत्मसात् करते हैं। जिन्होंने सत्-असत् का विवेक पूर्वक चिन्तन-परिशीलन कर आत्मचिन्तन के पक्ष को स्वीकार किया है, वे ही वास्तव में तत्त्वज्ञानी हैं। अन्त में, योगिवर्य अभ्यर्थना के शब्दों में निवेदन करते हैं कि प्रभुवर श्री सुव्रतस्वामी आप कृपा करें, आपकी कृपा से ही परमानन्दमय पद प्राप्त होगा।

अन्त में इस पद्य में आया हुआ आनन्दघन शब्द एक ओर रचनाकार के नाम का संकेत करता है, तो दूसरी ओर परमानन्द स्वरूप सधन अतिशय सुख का द्योतक भी है जो मुक्तावस्था में सदा उपलब्ध रहता है।

बावीसवें तीर्थंकर श्री अरिष्ट नेमिनाथ स्वामी की स्तुति में ऐसा लगता है कि श्री आनन्दघन जी ने दाम्पत्य राग आलापा है। इसमें आध्यात्मिकता का एक

37. वही, श्री मुनिसुव्रत जिन स्तवन - 20

अंश भी नहीं है। परन्तु इस स्तुति का गहराई से अध्ययन-चिन्तन करने पर ज्ञात होता है कि इसमें ध्येय (परमात्मा) के साथ ध्याता की एकता सतत ध्यान के कारण जुड़ती है लेकिन बहिर्मुखी चित्तवृत्ति की तरफ आत्मा रूपी पति के आकर्षित हो जाने पर परमात्मा से दूरी बढ़ती चली जाती है। प्रारम्भ की दस गाथाओं तक राजीमती के द्वारा नेमिनाथ स्वामी को मोहाविष्ट, रागातुर एवं सांसारिक प्रीति की ओर आकृष्ट करने के लिए उपालम्भ वचन आदि युक्तियों से प्रयत्न किया जाता है, फिर एक नया मोड़ लिया जाता है, परमात्मा के वीतराग स्वरूप को पहिचानते हुए भी रागाविष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है। फिर चौदहवीं गाथा से राजीमती की मोहदशा कम हो जाती है, वह परमात्मा की वीतरागदशा का ध्यान करके स्व-कर्तव्य का विचार करती है- स्वामी नेमिनाथ मेरी भावना को जरूर समझते हैं, फिर भी वे मेरे मन का समाधान क्यों नहीं करते ? कोई-न-कोई कारण अवश्य है जिसे मैं समझ नहीं पा रही हूँ। उसके अन्तर में परमात्मा (शुद्ध आत्मा) की ओर से अन्तःस्फुरणा होती है- राजीमती! मोहनीय कर्मवश पराधीन बनकर तू यह क्या कर रही है ? किसको उपालम्भ दे रही है ? प्रभु नेमीश्वर तो पूर्ण वैराग्यवान बन चुके हैं। वे वीतरागता को अपना चुके हैं। वे अब सर्वात्मभूत बन गए हैं। अतः तू यदि उनकी सच्ची सेविका-प्रेमिका है तो तुझे उनके जैसी बनना पड़ेगा। तेरे आठ जन्मों के प्रेम की अब इस जन्म में सच्ची कसौटी प्रभु कर रहे हैं। अतः तू अपने प्राणनाथ भगवान नेमिनाथ की तरह ही वीतराग भाव को धारण कर। राजीमती के हृदय में तीव्र मन्थन होता है और वह मोहदशा को छोड़ नेमिनाथ की वीतरागता को आरपार देखती है। वह एकत्व भावना भाती है कि “अब तक तो मैं मोहदशा धारण करके चिन्तन करती थी। सांसारिक दृष्टि से आपके जीवन की घटनाओं का सामंजस्य स्थापित करती थी, लेकिन अब मेरे चित्त में आपका तत्त्वविचार जागृत हो चुका है। आप अपनी भूमिका में जो कर रहे हैं, वह बिल्कुल ठीक है।”

“मैं पतिव्रता हूँ अतः आप ही के मार्ग का अनुसरण करूँ। प्राणनाथ ने तो वीतराग द्वारा अपनाये योग्य मार्ग ही अपनाया है तो मुझे भी उन्हीं के मार्ग का अनुसरण कर आगे बढ़ना चाहिए।” ऐसा सोच राजीमती स्वयं उस मार्ग पर बढ़ने का दृढ़ निश्चय करती है।

यहाँ पर राजीमती के विचारों में सहज सरलता एवं कृतनिश्चयता है।

राजकुमारी होते हुए भी गार्हस्थ्यिक विवाह के बदले अपने प्राणनाथ के आत्मिक विचारों को अपना कर सर्वत्याग के मार्ग पर बढ़ने का निश्चय करती है, यह उनके भावों की भव्यता है।

ज्यों-ज्यों राजीमती आत्मा की आवाज सुनती जाती है त्यों-त्यों वह एकत्व भावना में तल्लीन होकर गहरी उतरती जाती है।

नेमिनाथ भगवान को पति के रूप में अपनाने के लिए राजीमती मन-वचन-काया के शुद्ध प्रणिधान पूर्वक, अथवा इच्छादि तीन योगों से उन्हें सच्चे स्वामी के रूप में स्वीकार करती है अर्थात्-जैसे नेमिनाथ प्रभु ने त्रिकरण, त्रियोग से साधुता एवं मन, वचन, काया से वीतरागता धारण की है, वैसे ही राजीमती भी त्रिकरण योग से या त्रियोग से साधुता एवं वीतरागता स्वीकार करके नेमिनाथ प्रभु की आराधना प्रारम्भ करती है। (ज्ञानदशा से प्रभु धारणकर्ता हैं, भक्तिदशा से पोषणकर्ता हैं तथा वैराग्यदशा से तारणकर्ता हैं।)

राजीमती हृदय में निश्चय करती है कि स्वामी के हाथ से ही दीक्षा प्राप्त करने से उसका योगवंचक योग सफल हुआ, स्वामी की आज्ञानुसार दीक्षा-साधुता का यथार्थ पालन करने से उसका क्रियावंचक योग सफल हुआ और स्वामी से पहले ही मोक्ष में जाना सम्भव होने से उसका फलावंचक योग भी सफल होगा।

राजीमती सर्वविरति साधु धर्म अंगीकार करके वीतराग परमात्मा नेमिनाथ को सांगोपांग रूप से सर्वतोभावेन हृदय में धारण करती है।

आत्मार्थी एवं मुमुक्षु की आत्मा के लिए भी बाह्यचित्तवृत्ति का त्याग करके अन्तर्मुखी बनकर परमात्मा वीतराग के पथ का अनुसरण करना और वीतरागता प्राप्त करना अभीष्ट है, यही मार्ग उपादेय है।

ध्याता राजीमती अपने उपादान को शुद्ध और सर्वोच्च पदारूढ़ करने के लिए प्रबल निमित्त रूप परमात्मा नेमिनाथ प्रभु को ध्येय मानकर एकाग्रतापूर्वक उन्हीं के ध्यान में तल्लीन होकर प्रभु से पहले मोक्ष गमन करती है।

कवि आनन्दधन जी ने ध्याता के लिए राजीमती की तरह एकस्वामित्व-निष्ठा से ध्येय का ध्यान करना आवश्यक बताया है। सम्पूर्ण स्तुति का सार और उद्देश्य

यही बताना है कि सच्ची एकनिष्ठा, ध्येय के प्रति ध्याता की एकाग्रता ही उसे गन्तव्य तक पहुँचाती है।³⁸

योगी आनन्दघन जी ने इसी प्रकार मोहादि षड्विकारों से परे होकर मुक्तिपद-प्राप्ति के इच्छुक भव्य मुमुक्षु आत्माओं को इस स्तुति द्वारा यही बोध दिया है कि बाह्य ध्येय तो निमित्त रूप ही होता है, सच्चा और अन्तिम ध्येय तो ध्याता के शरीर में रहा हुआ आत्मतत्त्व ही है। इसलिए इस निमित्त का नाम मात्र को अवलम्बन लेकर भी भव्यात्मा को स्व-आत्म तत्त्व के साथ ही एकता साधनी है। ऐसा होने से ध्याता और ध्येय की एकरूपता हो जाती है, जो इस स्तुति का खास प्रयोजन है।

दूसरा एक महत्त्वपूर्ण तथ्य इस स्तुति में गुप्त रहस्य के रूप में शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से यह ज्ञात होता है कि आत्मा जब इन्द्रियों के भोगोपभोगों का त्याग करके आत्मदृष्टि से स्थिर होने का प्रयत्न करता है, तब उसकी बहिर्मुखी चित्तवृत्ति उसे अपने में रमण करते रहने के लिए प्रेरित करती है और विविध मोहक प्रलोभनों से उसे अपनी ओर खींचने का प्रयास करती है परन्तु स्थितप्रज्ञ आत्मा जब उन बहिर्मुखी इन्द्रियों के भ्रामक मोहजाल में नहीं फँस कर आत्मदृष्टि में ही स्थित होने का दृढ़ प्रयत्न करता है तब बहिर्मुखी बनी हुई वह चित्तवृत्ति ही अन्तर्मुखी हो जाती है। यह चित्तवृत्ति ही आत्मा के ऊर्ध्वगामी पद को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो जाती है। फलतः वह अन्तर्मुखी आत्मा ही आत्मस्थित बन कर परमानन्द प्राप्त कर लेती है।

इस तथ्य को योगी आनन्दघन जी ने इस स्तुति में रूपक के माध्यम से बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है।

आत्मा के अनुजीवी स्वगुणों या स्वशक्तियों को प्राप्त करने के लिए जब तक आत्मा में वीरता प्रकट न हो जाय अथवा आत्मा आत्मशक्ति या आत्मवीर्य से परिपूर्ण न हो जाय तब तक स्वगुण या स्वशक्ति का प्रकटीकरण नहीं हो सकता। अतएव प्रस्तुत स्तुति में आनन्दघन जी ने वीतराग परमात्मा से वीरता की याचना की है, आत्मवीर्य कैसे प्राप्त किया जाय, उसका क्रम क्या है ? प्राप्त वीर्य को स्थायी कैसे रखा जा सके। इन सबका समाधान प्रस्तुत स्तुति में किया गया है।

38. अध्यात्मदर्शन, श्री अरिष्टनेमिनाथ जिन स्तवन 22-14-17, पृ. 486-511

योगी आनन्दधन जी बताते हैं कि “वीरतापूर्वक आत्मा स्व-स्वभाव या आत्मगुण में उपयोगी बना रहे तो एक दिन अयोगी बन जाता है। वीरता जिसकी याचना में वीर प्रभु से कर रहा हूँ वह मेरी आत्मा में ही है। वीरत्व के प्रेरक वीर्य का यथार्थ मूलस्थान, मूलभूत अधिष्ठान या आधार तो आत्मा ही है। यह मैंने आपकी रागद्वेषरहित निस्वार्थ निष्पक्ष वाणी से जाना है।”

आगे प्रश्न उठाते हुए कहते हैं कि वीरत्व की स्थिरता की पहिचान क्या है, किसी आत्मा में वीरत्व कैसे स्थिर हो सकता है ? यह भी कैसे जाना जा सकता है कि किस आत्मा में कितना वीर्य स्थिर हुआ ? इसके उत्तर में इसी गाथा के उत्तरार्द्ध में बताया है कि “**ध्यान-विज्ञाने शक्ति-प्रमाणे, निज ध्रुवपद पहिचाणे रे !!**”³⁹ अर्थात् शास्त्रीय धर्म, शुक्ल ध्यान के विज्ञान का आधार ले कर अपनी शक्ति के अनुसार आत्मा ज्यों-ज्यों ध्यान में आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों वीर्य की कितनी स्थिरता, कितना सामर्थ्य, कितनी ध्रुवता प्राप्त हुई है, यह अपने ध्यान के ज्ञान से जीव स्वयं पहचान सकता है क्योंकि वीर्य की स्थिरता और ध्यान ये दोनों लगभग एकार्थक शब्द हैं। वास्तव में ध्यान आत्मवीर्य की स्थिरता-एकाग्रता का नाम ही है। ध्यान केवल शरीर या मन की एकाग्रता ही नहीं, मुख्यतया आत्मा की स्थिरता है। शरीर, मन और पवन (श्वासोच्छ्वास) की स्थिरता को उपचार से ध्यान कहा जाता है, पर वास्तव में ऐसा है नहीं। इसलिए कहा गया है कि ध्यान और विज्ञान से अपनी आत्मा में निहित वीरत्व या वीर्य की स्थिरता को व्यक्ति पहचान सकता है। ध्यान और विज्ञान की शक्ति से ही आत्मस्थिरता तथा आत्मशक्ति के सामर्थ्य को जाना-परखा जा सकता है।⁴⁰

वैय पद :

योगिवर्य आनन्दधन ने चौबीसी के अतिरिक्त भी अनेक पदों की रचना की है। विरहिणी अपने प्रियतम के दर्शन की जिस लगन से प्रतीक्षा करती है, इच्छा करती है, तरसती है, उसी प्रकार योगिवर्य ने आत्मारूपी विरहिणी को परमात्मा रूपी प्रियतम के विरह में अहर्निश प्रतीक्षारत दिखलाया है। आत्मा में यह तीव्रतम उत्कण्ठा है कि मैं परमात्म भाव को प्राप्त करूँ। यह उत्कण्ठा इतनी तीव्रता लिये हुए है, जितनी एक

39. वही, श्री महावीर जिन स्तुति 24.6

40. अध्यात्मदर्शन (आनन्दधन चौबीसी पर पदमन भाष्य) पृ. 543-44

पतिव्रता वियोगिनी नारी में, जिसका पति कहीं दूर देश चला गया हो, होती है और जो प्रतिक्षण उसकी प्रतीक्षा में आँसू बहाती रहती है। अध्यात्म प्रेम की यह पीर, पीड़ा आत्मा में परम उज्ज्वल परमात्मभावसे संयुक्त होने की प्रेरणा जगाती है, जिसका फल परमात्मा के ध्यान में सतत एकाग्र और अविचल रहना है। इस अन्तर्वेदना या पीड़ा से जो अपने अभीष्ट लक्ष्य में एकाग्र हो जाता है, वह कभी उससे पृथक् नहीं होता। भोग को योग में, वासना को साधना में और मोह को त्याग में परिणत कर देने वाले योगिवर्य के ये पद्य निस्संदेह आध्यात्मिक अमृत के अमर निर्झर हैं।

इन्हीं भावों से अनुप्राणित होकर योगिराज ने एक विरहिणी के रूप में कहा है- मेरे प्रियतम घर आओ, मैं रात-दिन आपकी बाट जोहती हूँ- मुझ जैसी तो आपको लाखों मिल सकती हैं। मेरे तो आप एक मात्र अमूल्य अनुपम प्रियतम हैं। जौहरी लाल का मूल्य कर सकता है, किन्तु मेरा लाल तो ऐसा है, जिसकी कोई कीमत आँकी ही नहीं जा सकती, जिसके समकक्ष-सदृश कोई है ही नहीं, क्या उसका मूल्य आँका जा सकता है ? मेरे निर्निमेष नेत्र आपका पथ निहारते हैं। जिस प्रकार एक योगी ध्यान-समाधि में अविचल ध्यान में बैठा है, मैं वैसी स्थिति में हूँ, मेरी बात कौन सुने, आपके अतिरिक्त मैं अपनी पीड़ा किसको बताऊँ, मैं किसके समक्ष अपना आँचल फैलाऊँ। आपके मुखदर्शन से ही मेरे मन का आवरण दूर हो सकता है, वह विशुद्धि प्राप्त कर सकता है।⁴¹

विरहिणी आत्मा भावाभिव्यंजना करती हुई कहती है, केवल आँचल पकड़ने मात्र से ही आन्तरिक पीड़ा दूर नहीं होगी। परमात्म स्वरूप के लिए मानसिक चंचलता को मिटाना होगा। तभी आत्मा परमात्म स्वरूप में समाधिस्थ बन सकती है। विवेक ने चेतना के पास जाकर विचार-विमर्श किया और समझाया जिससे चेतना ने सुमति को आनन्दधन, परमानन्दमय प्रभु के आधीन कर दिया।⁴²

अपने इस पद में योगिवर्य ने आत्मा में शक्तिसंचय कैसे हो सकता है, इस भाव को रूपात्मक शैली में बड़े ही रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। जब तक आत्मा केवल परमात्मा का आँचल पकड़ती रहे, दीनतापूर्वक उनकी कृपा की याचना करती

41. आनन्दधनपदावली अन्यपद 18.3

42. वही, अन्यपद 25.4-5

रहे, तब तक उसका कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि कार्यसिद्धि तो तब होती है जब मन की चंचलता दूर हो जाए। विवेक द्वारा ही आत्मा में ऐसा होता है, वैसा होने पर आत्मा परमानन्दमय परमेश्वर के आधीन हो जाती है। उसमें परमात्मभाव का अभ्युदय हो जाता है। यह प्रेयसी और प्रियतम के मिलन का आध्यात्मिक रूपक है।

सांसारिक आशा एवं तृष्णा या कामना का बंधन और जंजीर या साँकल का बंधन सर्वथा एक दूसरे के विपरीत हैं। साँकल से बँधा प्राणी अपने स्थान से जरा भी इधर-उधर नहीं हो सकता। किन्तु आशा और तृष्णा की साँकल से बँधा हुआ प्राणी संसार में दौड़ता ही रहता है, भवचक्र में भटकता रहता है। जो आशा-तृष्णा से मुक्त हो जाता है वह स्थिरता पा लेता है, भवभ्रमण से मुक्त हो जाता है। आगे अपनी आत्मा को सम्बोधित कर कहते हैं-आत्मन् ! देहरूपी मठ में क्या सोये पड़े हो ? जरा जागकर अपने आन्तरिक स्वरूप को तो देखो। इस देह रूपी मठ की तुम प्रतीति मत करो। जरा भी इसका विश्वास मत करो। यह पलभर में ढह सकता है, नष्ट हो सकता है। इसलिए अपनी हलचल-चंचलवृत्तियों को मिटाकर अपने घर को, अपने हृदय को टटोलो। हृदय रूपी सरोवर में रमण करने वाले आत्मा को पहचानो। देह रूपी मठ में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश इन पाँच भूतों का निवास है। देह रूपी मठ में श्वास रूपी धूर्त दुष्ट दानव प्रतिक्षण छल कर रहे हैं। हे अवधूत योगी ! तुम इस बात को समझते क्यों नहीं ? यह पुद्गल से निर्मित है और तू ज्ञानघन-ज्ञानस्वरूप चेतनामय है। देह तो इन पौद्गलिक जड़ पदार्थों में, भौतिक भोगों में सुख मानती है। इनके संयोग से अनादिकाल से तुम वंचित किये जाते रहे हो और अनन्त चेतनामय स्वरूप भूल बैठे हो, अब तो इस भूल को सुधारो। जरा सोचो, पंच परमेष्ठी का तेरे मस्तक पर निवास है। तेरे घर में सम्यक्त्व रूपी सूक्ष्म बारी-खिड़की है, जिससे होकर तू क्षायिक भाव रूपी ध्रुवतारे के दर्शन कर सकती है किन्तु ऐसी ज्योति दीर्घकालीन अभ्यास के परिणामस्वरूप किसी बिरले ही साधक में उद्भूत होती है। जब तक हृदय में अनेकानेक कामनाएँ तथा सुखभोग-आशाएँ हैं, तब तक आत्मचिन्तन फलित नहीं होता। हृदय की वासनाओं को छोड़कर, आशाओं को मारकर घर में आसन लगा ले, आत्मस्वरूप में स्थिर हो जाए और अजपा जाप सहज रूप में आत्मचेतनामय संस्फुरण को जागृत करे, जगाये, तब वह परमानन्दमय चैतन्यमूर्ति निरंजन सर्वकर्मबंधनरहित परमात्मभाव को प्राप्त कर लेता है।⁴³

योगिवर्य ने देह को मठ और घर को हृदय के रूपक द्वारा व्याख्यात किया है। जिस प्रकार मठ ईंट-पत्थर आदि से निर्मित होता है, उसी प्रकार देह पाँचभूतों से निर्मित है। मठ न जाने कब गिर जाय, नष्ट हो जाय-कहा नहीं जा सकता, वह विनश्वर है, उसी प्रकार देह भी क्षणभंगुर है। क्षणभंगुर देह को अपना स्थायी आवास या आश्रम न मानकर हृदय में आत्मस्वरूप को जगाओ, उसका अनुभव करो। जब अनुभूतियों का ताना-बाना निरन्तरता पा लेता है तो साधक के मन में एक ऐसी अन्तःप्रेरणा, अन्तःस्फुरणा उत्पन्न हो जाती है, जिससे आत्मा में प्रतिक्षण परमात्मा का ही स्मरण रहता है।

इस पद में प्रयुक्त अजपा-जाप योग का शब्द है। महर्षि पतंजलि ने ईश्वर के प्रणिधान में जप का बड़ा महत्त्व बतलाया है। जब साधक योग में तन्मयता पा लेता है, तब फिर जप करना नहीं पड़ता, स्वयं होता जाता है। अनवरत स्वयं चलता रहता है, इसे अजपा जाप कहा गया है।

जैन योग की दृष्टि से जब आत्मा और परमात्मा का तादात्म्य सिद्ध हो जाता है, तब आत्मा से अनवरत सतत आत्मभाव परिणत होता रहता है।

आत्मा परमात्मा के ऐक्य भाव का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने लिखा है, वर्षा की बूँद जब समुद्र में चली जाती है तो कोई उसका पता नहीं लगा सकता क्योंकि वह समुद्र के जल के साथ तन्मयता पा लेती है। जब आत्मा की ज्योति मनचिन्तन ध्यान द्वारा परमात्मा में लीन हो जाती है, परमात्मस्वरूप को प्राप्त कर लेती है, तब वह अलक्ष्य होती जाती है। किसी भी प्रकार परिलक्षित नहीं होती। वैसी स्थिति पाकर वह आत्मा आनन्दघन परमानन्दमय बन जाती है।⁴⁴

आत्मरूपी नगर में श्रद्धा निपुण सूत्रधार या व्यवस्थापक का रूप लिये हुए है। उसी के संकेत निर्देश सम्पूर्ण शासन चलता है। मैत्री आदि भावनाएँ यहाँ का विनोदपूर्ण व्यवहार है। वैराग्य मित्र के रूप में है, जो कभी दूर नहीं होता, साथ नहीं छोड़ता, आत्मरमण ही यहाँ क्रीड़ा है। द्वादश भावना रूपी नदियाँ यहाँ नित्य प्रवाहित रहती हैं जो समता रूपी गहरे जल से परिपूर्ण हैं। ध्यान रूपी हौद सदैव परिपूर्ण रहता है तथा सम्पूर्ण भाव रूप पवन का सदा संचार रहता है।⁴⁵

44. वही, अन्यपद 59-4

45. वही, अन्यपद 74.3-4

रचनाकार ने यहाँ नगर के रूपक द्वारा आत्मसाधना का जो स्वरूप प्रकट किया है वह बड़ा ही उद्बोधक है। आत्मसाधना में श्रद्धा का सर्वोपरि स्थान है, भावनाएँ उसमें स्फूर्ति और गति का संचार करती हैं, वैराग्य एक मित्र की भाँति है जो सदैव सहयोगी रहता है। ध्यान से आन्तरिक शांति का अनुभव होता है। परमात्मभाव आत्मभाव का समर्थन, साधना में सहजता का समावेश करता है।

योग की पद्धति से आत्म-परमात्म भाव के सामंजस्य का बड़ा ही मार्मिक चित्रण प्रस्तुत करते हुए रचनाकार योगिवर्य ने कहा है कि आत्मानुभूतिमूलक प्रेम बड़ा विलक्षण है। यह स्त्री-पुरुष एवं नपुंसक तीनों वेदों से, तन्मूलक भोगानुभूति से परे है। इस प्रेम के आनन्द का अनुभव तो वीतराग प्रभु ही ले सकते हैं। आत्मारूपी बालयोगी, संन्यासी, अल्पवय, अल्पअभ्यासी, अल्पकालिक, सम्यक्त्व युक्त इस देह रूपी मठ में निवास करता है। इड़ा एवं पिंगला नामक नाड़ियों का मार्ग छोड़कर सुषुम्ना नाड़ियों में आगमन करता है। वह आसनस्थ होकर सुषुम्ना नाड़ी द्वारा प्राणवायु को ब्रह्मरन्ध्र में ले जाता है। वहाँ वह अनहदनाद युक्त होता हुआ चित्तवृत्ति को ब्रह्मरन्ध्र में लीन कर देता है। यम-नियम का परिपालक, दीर्घकाल पर्यन्त आसन-साधक, प्राणायाम-अभ्यासी, प्रत्याहार, धारणा एवं ध्यान का अभ्यासी साधक शीघ्र ही समाधि अवस्था प्राप्त कर लेता है। आत्मा रूपी बाल संन्यासी संयम के मूलगुणों तथा उत्तरगुणों का संवाद है। पर्यक आसन का उसको अभ्यास है। रेचक, पूरक, कुंभकात्मक प्राणायाम उसने साधा है। मन तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की है। इस प्रकार योगमार्ग-योगसाधना का अनुसरण करता हुआ, उस दिशा की ओर अग्रसर होता हुआ वह बालयोगी स्थिर रहता हुआ, आत्मस्वरूप का चिन्तन करता हुआ, आत्मा द्वारा परमात्मपद का साक्षात्कार करता है। इसके समस्त कार्य शीघ्र ही सिद्ध हो जाते हैं। हठयोग और राजयोग की पद्धति को जैनयोग के साथ जोड़ते हुए योगिवर्य ने जो समन्वयात्मक भावों का निरूपण किया है, वह निस्संदेह उनकी उदार भावना का द्योतक है। हठयोग और राजयोग की पद्धति के साथ उन्होंने जैन सिद्धान्तों के अनुसार आत्मा के मूलगुणों और उत्तरगुणों को स्वीकार कर योग पद्धति के साथ जोड़ दिया है, उससे उसका रूप आध्यात्मिक बन गया है, क्योंकि मूलगुण, संवेग, निर्वेद, शील, वैराग्य, संयम, समिति, गुप्ति आदि साधना के आन्तरिक पक्षों के साथ जुड़े हुए हैं।



खण्ड : - नवम

आधुनिक चिन्तक और ध्यानसाधना

- श्रीमद् राजचन्द्र
- विपस्सना ध्यान पद्धति
- आचार्य तुलसी का मनोनुशासन
- समीक्षण ध्यान
- महासती श्री उमरावकुँवर 'अर्चना' म.सा. का मुद्राध्यान
- आचार्य शिवमुनि का ध्यानयोग
- आचार्य महाप्रज्ञ का प्रेक्षाध्यान

खण्ड:- नवम

आधुनिक चिन्तक और ध्यानसाधना

श्रीमद् राजचन्द्र की ध्यान साधना :

आधुनिक युग के जैन परम्परा के ध्यान-साधकों में श्रीमद् राजचन्द्र जी का स्थान सर्वोपरि माना जा सकता है। क्योंकि यशोविजयजी के बाद कालक्रम से जैन परम्परा में ध्यान साधना की जो विधियाँ विकसित हुईं उनमें वर्तमान में तो श्रीमद् राजचन्द्र का क्रम पहला ही है। यद्यपि श्रीमद् राजचन्द्र ने अपनी ध्यान विधि को कोई नया नाम नहीं दिया और न उसके सैद्धान्तिक पक्ष को ही अलग से प्रस्तुत किया। उन्होंने परम्परागत आधारों पर ही उसे प्रायोगिक स्तर पर अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न किया। उन्होंने स्वयं ध्यान की गहराइयों में उतर कर उसका अनुभव किया है। उनकी कृतियों में ध्यानविधि का विवेचन तो नहीं है, किन्तु ध्यान की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति अवश्य मिल जाती है। 'अपूर्व अवसर' में वे स्वयं लिखते हैं।

एह परमपद प्राप्तिनुं कर्युं ध्यान मे,
गजा वगर ने हाल मनोरथ रूप जो,
तो पन निश्चय 'राजचन्द्र' मनने रह्यो,
प्रभु आज्ञाये थाशुं तेज स्वरूप जो;¹

श्रीमद् राजचन्द्र के अनुसार ध्यान का जो ध्येय रहा है वह परमपद अर्थात् आत्मा का शुद्ध स्वरूप ही है, इसलिए उनकी ध्यान पद्धति को यदि कोई नाम देना ही हो तो वह 'आत्मध्यान' ही है, वह अपने ही शुद्धस्वरूप का ध्यान है। 'अध्यात्म राजचन्द्र' नामक कृति में भी उनकी ध्यान साधना विधि को 'आत्मध्यान' के नाम

1. अपूर्व अवसर - 21

से ही अभिव्यक्त किया गया है। श्रीमद् राजचन्द्र की दृष्टि में ध्यान स्वरूपानुभूति है। वे स्वयं लिखते हैं कि 'परमसत्य तेनुं अमे ध्यान करीये छीये'² अर्थात् उनके अनुसार ध्येय 'परमसत्य' है और यह परमसत्य अन्य कुछ नहीं शुद्ध स्वभाव दशा में अवस्थिति है। 'अध्यात्मराजचन्द्र' में स्पष्ट रूप से लिखा है कि परमात्मा का ध्यान करने से ही परमात्मा बना जा सकता है। किन्तु यह ध्यान सत्पुरुषों के चरण कमल की विनयोपासना के बिना सम्भव नहीं है यह निर्ग्रन्थ भगवान का सर्वोत्कृष्ट वचनामृत है।³

इस आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीमद् राजचन्द्र अपने ही शुद्ध परमात्म स्वरूप के ध्यान का निर्देश करते हैं यह ध्यान उनके जीवन का अंग रहा है। उनके सम्पूर्ण जीवन की साधना को हम देखें तो वह ध्यान साधना से ही ओत-प्रोत है। श्रीमद् राजचन्द्र की रुचि धार्मिक कर्मकाण्डों में नहीं रही, वे सदैव आत्म साक्षात्कार और आत्मदर्शन में निमग्न रहते थे। वे स्वयं कहते हैं कि 'हसतां रमतां प्रगट हरि देखु रे'⁴ वस्तुतः यह ध्यान साधना निर्विकल्प सहज समाधि की स्थिति है। ध्यान उनके लिए उपदेश का विषय नहीं था, उनके लिए तो वह अनुभूति का विषय था। वह बहिर्मुखता का त्याग कर अपने शुद्ध स्वरूप में अवगाहन की स्थिति है। ध्यान के लिए वे बहिर्मुखता का त्याग आवश्यक मानते थे, क्योंकि उनकी दृष्टि में ध्यान मात्र चित्तवृत्ति की एकाग्रता नहीं है, अपने आप में अपने शुद्धस्वरूप में डूब जाना है। श्रीमद् राजचन्द्र की ध्यानविधि के सम्बन्ध में श्री ब्रह्मचारीजी लिखते हैं कि "शास्त्रों में ध्यान के अलग-अलग प्रकार बताये हैं, उसमें शास्त्र की मान्यता के अनुरूप वर्णन होता है। परन्तु मुख्य ध्यान तो सत्पुरुषों के वचन में चित्त रहे, मंत्र में ध्यान रहे अथवा पुस्तक का वाचन करे तो उसमें एकाग्रता रहे, यह सब धर्म-ध्यान ही है। अमुक आसन से अमुक प्रकार से ही ध्यान होता है, ऐसा कुछ नहीं है। संसार का आधार कषाय है, अन्तरात्मा सदैव कषाय के निवारण का प्रयत्न करता है- चलते-फिरते यदि उसी अन्तरात्मा में मन रहे तो वही ध्यान है। उसमें अभ्यास की खास जरूरत है।"⁵

2. अध्यात्म राजचन्द्र, पृ. 443

3. वही, पृ. 444

4. वही, पृ. 445

5. श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम अगास 13.8.49 बोधामृत प्रथम विभाग, पृ. 34

इस प्रकार हम देखते हैं कि ध्यान के संबंध में श्रीमद् राजचन्द्र का बल किसी विशेष विधि विधान पर नहीं था। उनके लिए ध्यान सदैव आत्म-सजगता था, शुद्ध स्वरूप की अनुभूति थी, अपने में रहने या जीने का अभ्यास था।

विपश्यना एवं जैन ध्यान साधना :

वर्तमान काल में देश-विदेश में ध्यानयोग का विशेष प्रकार से प्रचार-प्रसार परिलक्षित होता है। इस ओर लोगों में अभिरुचि भी दिखलायी पड़ती है। आज यद्यपि भौतिक दृष्टि से लोगों ने बड़ी उन्नति की है, किन्तु जनमानस अनेक समस्याओं से उद्विग्न है। ज्यों-ज्यों भौतिक उपलब्धियाँ होती जाती हैं त्यों-त्यों अभिलाषायें वृद्धिगत होती जाती हैं 'इच्छा हु आगाससमा अणन्तया' भगवान् महावीर की यह उक्ति आज के मानव समुदाय में स्पष्ट रूप में देखी जा सकती है। मानव यह जानते हुए भी कि ये भौतिक प्राप्तियाँ शान्ति और सुख नहीं दे सकतीं इनसे मुक्त नहीं होड़ता। यही कारण है कि वह आज सब कुछ पाने पर भी खोया हुआ जैसा है। मानसिक दृष्टि से वह अतीव दुःखित एवं उद्विग्न है। ऐसी स्थिति में वह ध्यान के अभ्यास में आशा की किरण पाता है। ध्यान प्रायः सभी धर्मों में साधना का एक महत्वपूर्ण अंग है और कहा जाता है कि उसके द्वारा सभी मानसिक समस्यायें और स्वयं अर्जित यातनायें भी मिट सकती हैं। वैदिक तथा जैन आदि परम्पराओं के संन्यासी, योगी, ब्रह्मचारी, श्रमण, मुनि आदि आध्यात्मिकजन का इस ओर विशेष ध्यान गया है और वे विविध रूपों में ध्यान के प्रसार का प्रयत्न कर रहे हैं।

बौद्ध धर्म और जैन धर्म दोनों ही श्रमण संस्कृति के दो मुख्य स्तंभ रहे हैं। यद्यपि दोनों की अपनी-अपनी दार्शनिक, तात्त्विक पृष्ठभूमि है किन्तु श्रामण्य के मूल आदर्शों के रूप में उनमें बहुत कुछ सामीप्य या नैकट्य है। बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों के आधार पर पिछले कई वर्षों से भारतवर्ष में विपश्यना नामक ध्यान की एक विशेष पद्धति चल रही है। उसके प्रतिष्ठापक-प्रसारक श्री सत्यनारायण गोयनका हैं। उनके अनुसार भगवान् बुद्ध के समय में इस ध्यान पद्धति का ही प्रचलन था। किन्तु ज्यों-ज्यों बौद्ध धर्म अधिक विस्तार पाता गया तो उसके मूल रूप में भी परिवर्तन होता गया। इस धर्म की प्राचीन हीनयान परम्परा में साधक अपने कल्याण को ही सर्वोपरि मानता था, उसका लक्ष्य अर्हत् पद पाना था, किन्तु आगे चलकर जब बौद्ध

धर्म की महायान शाखा विकसित हुई तब तक मात्र अपने कल्याण का लक्ष्य गौण हो गया। करुणा या लोक मंगल ने उसका की भावना स्थान ले लिया। ऐसा माना गया कि महाकरुणा-करुणा का परमोत्कृष्ट रूप है। जैसे एक माता अपने शिशु को सीढ़ियों से लुढ़कता देखकर करुणा विह्वल होती हुई अपने प्राणों का मोह त्याग कर उसे बचाने को दौड़ पड़ती है, उसी प्रकार मनुष्य हर किसी प्राणी के प्रति करुणाभाव से परिपूर्ण हो जाता है, तब वह महाकरुणा का रूप ले लेती है, तब परम ज्ञानलभ्य महाशून्य का साक्षात्कार होता है जो बौद्धदर्शन का परम सत्य या निर्वाण है।

इस धार्मिक वातावरण में ध्यान-साधना गौण होती गई। आगे चलकर महायान का वज्रयान या सहजयान या सिद्धयान के रूप में विकास हुआ। तब इस प्राचीन ध्यान साधना का प्राचीन रूप गौण हो गया। क्रमशः वह विस्मृत होती गई। भारत में उसका प्रचार-प्रसार लगभग समाप्त हो गया। बर्मा आदि देशों में जो मूलतः हीनयानी बौद्ध परम्परा के अनुयायी हैं, वहाँ यह विपश्यना नामक ध्यान पद्धति सुरक्षित रही। सन् 1972 से भारतवर्ष में पुनः इस पद्धति का प्रचलन हुआ जो उत्तरोत्तर विकास पाता गया। इसके प्रसारक श्री सत्यनारायण जी गोयनका हैं। इनके पूर्वजों का पीढ़ियों से बर्मा में व्यापार था। इनका 1924 में बर्मा में ही जन्म हुआ। वहीं वे बड़े हुए, शिक्षा प्राप्त की तथा व्यापार-उद्योग में लग गये। बर्मा के व्यावसायिक एवं उद्योग के क्षेत्र में इन्होंने अच्छी प्रतिष्ठा अर्जित की। समाजसेवा के कार्यों में इन्हें स्वभावतः अच्छी रुचि थी। एक धर्मानुरागी हिन्दू परिवार में इनका जन्म हुआ था। उसी के अनुरूप इनकी दिनचर्या चलती थी। अपने व्यवसाय एवं परिवार का सुखपूर्वक संचालन, यही उनका जीवन क्रम था। समृद्धि एवं साधन भी यथेष्ट परिमाण में थे।

कुछ समय बाद श्री गोयनका मस्तक-पीड़ा से भयंकर रूप से पीड़ित हो गये। कभी-कभी तो वह पीड़ा इतनी अधिक हो जाती कि दो दो-तीन दिन तक अपना सिर त्क नहीं उठा पाते, निश्चेष्ट से पड़े रहते। साधनसम्पन्न होने के कारण उन्होंने बर्मा में एवं अन्य देशों में चिकित्सा करवायी किन्तु कोई लाभ नहीं हो सका। बर्मा में इन्होंने अपने हितैषी मित्रों से सुना कि श्री ऊ.वा. खिन नामक सज्जन जो बर्मा के महालेखाकार के पद पर कार्यशील हैं, ध्यान-साधना का अभ्यास कराते हैं, उससे मन का परिष्कार और विशोधन होता है तथा शारीरिक व्याधियाँ भी दूर हो जाती हैं। यद्यपि गोयनकाजी को तब तक आध्यात्मिक उत्थान जैसे विषयों में कोई आकर्षण

नहीं था किन्तु वे मस्तक पीड़ा से, जो चिकित्सा द्वारा नष्ट नहीं हो सकी, बहुत ही दुःखी थे। वे विपश्यना के एक शिविर में गये। यद्यपि उन्हें कहा गया कि यह कोई शारीरिक चिकित्सा का केन्द्र नहीं है फिर भी गोयनकाजी ने विपश्यना के साधना शिविर में भाग लिया।

श्वास निःश्वास को देखने, उस ओर अभ्यास करने का विविध रूपों में क्रम चला। श्री गोयनका ने भी शिविरार्थियों के साथ उसका अभ्यास किया। पहले तो उन्हें यह सब बड़ा नीरस लगा और वे शिविर से लौटने की तैयारी करने लगे। साथियों के समझाने पर वे शिविर के समापन तक रुके। धीरे-धीरे उन्हें कुछ परिवर्तन प्रतीत होने लगा। उनकी उसमें अभिरुचि बढ़ती गई। शिविर के समाप्त होते-होते उन्होंने अनुभव किया कि वे मस्तक पीड़ा से मुक्त हो गये हैं। उन्होंने उसे जीवन का एक नया प्रकाश माना। गोयनका को इससे एक नया जीवन मिला। वे ऊ. वा खिन महोदय का सान्निध्य प्राप्त करने का निरन्तर प्रयत्न करते रहे। ऊ.वा. खिन ने बर्मा के किसी बौद्ध भिक्षु से विपश्यना की ध्यान साधना पद्धति उसके मूल रूप में, जैसी वह वहाँ प्रचलित थी, प्राप्त की। श्री ऊ.वा. खिन एक उच्च राजकीय अधिकारी थे। उपदेश या प्रचार-प्रसार उनका कार्य नहीं था। वे अपनी आन्तरिक शान्ति हेतु अभ्यास करते और अभिरुचिशील जनों को शिक्षण देने हेतु समय-समय पर कार्यक्रम आयोजित करते। लोगों का इस ओर आकर्षण बढ़ता गया। बाह्य रोग निवारण आदि के साथ-साथ मानसिक दृष्टि से भी विशेष फल दृष्टिगोचर होने लगे। जीवन में कार्यशक्ति का नवनिर्माण होने लगा। श्री ऊ.वा. खिन महोदय समय-समय पर अपने विभाग के अधिकारियों और कर्मचारियों को भी अपने कार्यालय के एक पृथक् प्रकोष्ठ में अभ्यास कराते थे। आन्तरिक निर्मलता के साथ-साथ बाहरी दृष्टि से भी इसका बड़ा सुन्दर परिणाम दृष्टिगोचर हुआ। कर्तव्यनिष्ठा एवं चरित्रनिष्ठा की दृष्टि से भी विभाग के व्यक्तियों ने आशातीत उन्नति की।

उस समय बर्मा के प्रशासन में कार्यरत अधिकारियों और कर्मचारियों में नैतिक दृष्टि से हास दिखाई देता था। सरकार ने श्री ऊ. वा. खिन को अपने उनके विभाग के अतिरिक्त अन्य विभागों के अधिकारियों में भी विपश्यना अभ्यास का कार्यक्रम चलाने का अनुरोध किया। तदनु रूप व्यापक कार्यक्रम चलने लगा। उसका सुन्दर परिणाम दृष्टिगोचर हुआ।

प्रशासकीय सेवा से निवृत्त होने के पश्चात् श्री ऊ.वा. खिन ने अपने आपको पूर्णतया इस कार्य में लगा दिया। श्री सत्यनारायण गोयनका, निरन्तर उनके सम्पर्क में रहे और उनके मार्गदर्शन में ध्यान-साधना में उत्तरोत्तर अग्रसर होते रहे। वे अपने ध्येय के प्रति समर्पित थे अतः उन्होंने श्रद्धेय गुरुवर से वह सब प्राप्त किया जो भगवान बुद्ध के परम्परागत स्रोत से सम्बद्ध था। श्री ऊ.वा. खिन महोदय ने साधना की दृष्टि से गोयनका को अपने उत्तराधिकारी आचार्य के रूप में घोषित किया। उनको विपश्यना की दीक्षा देने और उसका प्रसार करने का अधिकार दिया।

श्री ऊ.वा. खिन के दिवंगत हो जाने के पश्चात् श्री गोयनका विपश्यना के अधिकारी आचार्य के रूप में साधकों को ध्यान का मार्गदर्शन देने लगे।

बर्मा में एक ऐसा राजनैतिक दौर चला कि वहाँ प्रवास करने वाले भारतीयों को भारत लौटना पड़ा। उसी दौरान सन् 1969 में कल्याणमित्र श्री गोयनका भारतवर्ष आए। विपश्यना पद्धति युक्त ध्यान-साधना इसी भारत भूमि में भ. बुद्ध द्वारा समुपदिष्ट हुई थी। उनके अनुयायी, उत्तरवर्ती महान् बौद्ध-भिक्षुओं ने उसका व्यापक रूप में प्रचार किया। किन्तु कालान्तर में यहाँ से लुप्त हो गई, उसे गोयनका ने पुनः प्रसारित करना प्रारंभ किया। साधना शिविर लगाने शुरू किये। देश में विपश्यना की चर्चा होने लगी। जिज्ञासु भाई-बहिन शिविरों में सम्मिलित होने लगे। विदेशी जिज्ञासु जन भी आने लगे। भाग लेने वाले सभी साधकों ने नव अनुभूति प्राप्त की। श्री गोयनका की यह मान्यता है कि यही वह मार्ग है जिससे क्लेश, अशान्ति तथा वासना से कलुषित जीवन विमुक्ति पा सकता है। महाराष्ट्र में नासिक जिले के अन्तर्गत इगतपुरी में 'विपश्यना विश्व विद्यापीठ' तथा आंध्रप्रदेश के अन्तर्गत 'विपश्यना अन्तरराष्ट्रीय साधना केन्द्र' की स्थापना की गई है जो उनके निर्देशन में संचालित हैं ऐसा माना जाता है कि योग्य अधिकारी व्यक्ति से ही विपश्यना का सूक्ष्मदर्शन या अभ्यास क्रम प्राप्त किया जा सकता है। क्योंकि विपश्यना केवल दार्शनिक सिद्धान्त नहीं है, वह तो अपने जीवन में सत्य को क्रियान्वित करने का साधन है, जिसकी फल-निष्पत्ति अभ्यास से ही होती है। केवल तात्त्विक चर्चा एवं विश्लेषण से महत्त्वपूर्ण कुछ भी नहीं पाया जा सकता है।

ऐसा होते हुए भी विपश्यना के स्वरूप का प्रारंभिक तत्त्व या रूपरेखा जिज्ञासु साधकों को प्राप्त हो, यह अपेक्षित है। इसके स्वरूप का सम्यक् बोध विपश्यना के

विज्ञ अभ्यासी जनों के संपर्क और मार्गदर्शन से होता है।

विपश्यना के साथ यह तत्त्वदर्शन जुड़ा है कि इस जीवन में लोग जो दुःख, अशान्ति तथा क्लेश का अनुभव करते हैं उसका मूल कारण उनके मन में चिरसंचित काम, मोह, लोभ जैसे संस्कार हैं। वे भिन्न-भिन्न स्थितियों में जब उभार पाते हैं तो उनका मन विकारग्रस्त हो जाता है, उनकी शान्ति भंग हो जाती है और वे दुःखित हो जाते हैं। यद्यपि रागद्वेष आदि की परित्याज्यता की लोग चर्चाएँ करते हैं, सुनते हैं किन्तु स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं, तब वे सब भूल जाते हैं। अपने आपको उन दूषित स्थितियों से बचा नहीं पाते, फलतः विचलित हो जाते हैं, विकारग्रस्त हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि हम अपने पूर्व संचित कलुषित संस्कारों से पृथक्ता नहीं कर पाते तब तक उनसे नहीं छूट सकते हैं।

यद्यपि राग-द्वेषात्मक स्थितियों से बचने का एक साधारण उपाय यह है कि मन में जब कोई विकार उभरे, तत्क्षण अपने मन को किसी दूसरे विषय में लगा दिया जाये। इसका परिणाम यह होता है कि उस समय तो कुछ देर के लिए वह विकार मिट जाता है, किन्तु समय पाकर फिर उभर आता है। इसलिए विकार का यह प्रतिकार किसी स्थायी लाभ का हेतु नहीं बनता। अचेतन मन में जो विकारोत्पादक संस्कार संचित या व्याप्त हैं वे तो पहले की ज्यों अवस्थित रहते हैं, अतः ज्यों-ज्यों प्रसंग उपस्थित होते हैं, वे उभार पाते रहते हैं। इसके परिणामस्वरूप जीवन अशान्त और दुःखित होता रहता है। इसलिए यह आवश्यक है कि मूल प्रहार उन विकृत संस्कारों पर किया जाए। यहाँ प्रहार से अभिप्राय उनका सूक्ष्मतापूर्ण अवलोकन करना है। परिणामस्वरूप व्यक्ति में द्रष्टा भाव जागृत होगा। इससे सहज रूप में विकार तथा काम, क्रोध, राग-द्वेष, छल-कपट आदि क्षीण होते जायेंगे। यह देखना या विशेष रूप से देखना, अत्यन्त सूक्ष्म रूप से पर्यवेक्षण करना विपश्यना है।

किसी वस्तु या पदार्थ को सूक्ष्मतापूर्ण देखने से उसके सत्यस्वरूप का या उस पदार्थ की वास्तविकता का साक्षात्कार होता है, यह आन्तरिक प्रक्रिया है जो बहुत ही सूक्ष्म है, बाहर से ज्ञात नहीं होती, किन्तु अन्तःकरण के भीतर इसका आवर्तन-प्रत्यावर्तन होता रहता है। जब यह दर्शन सूक्ष्मता में जाता है तब उस पदार्थ अथवा विचार की हेयता का अनुभव होता है जो केवल उपदेश-श्रवण या पुस्तक-पठन से

नहीं होता। वह दर्शन ज्यों-ज्यों सूक्ष्मता लेता जाता है, हेय-क्षीण होता जाता है। जैनागमों में इसका अनेक प्रसंगों पर उल्लेख हुआ है।

आचारांग सूत्र में कहा गया है: **उद्देशो पासगस्स नत्थि । उपदेश पश्यकस्य (दर्शकस्य) नास्ति** जो देखता है, उसके लिए उपदेश की आवश्यकता नहीं होती। आचारांगकार का यहाँ आशय यह है कि जब साधक में द्रष्टाभाव सुदृढ़ता पा लेता है तब पर-पदार्थों के प्रति उसमें औदासीन्य आ जाता है, राग-द्वेष आदि विकारों को परभाव मानकर वह उनसे छूटता जाता है।

एक-दूसरे स्थान पर आचारांग में कहा गया है कि सुख और दुःख को जानकर उनकी अनतिक्रान्त अवस्थाओं का संप्रेक्षण कर उस क्षण को जानो-तत्क्षणवर्ती अवस्था को जानो। जो क्षण को जानता है वही पंडित या ज्ञानी है। यहाँ जो संप्रेक्षण शब्द आया है, वह विपश्यना का ही संसूचक है। इसका आशय यह है कि हम अपने सुख-दुःख को भोगते तो हैं किन्तु जानते नहीं। भोगने में कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व भाव है, जानने-देखने में ज्ञाता-द्रष्टा भाव है। स्वयं देखने और जानने, फिर अपने भीतर उसका अनुशीलन करने से विवेक जागृत होता है। जब किसी तत्त्व को, पदार्थ को जानेगे ही नहीं तो उसकी उत्तमता-अधमता का बोध कैसे होगा ? उसके परित्याग का भाव ही कैसे उत्पन्न होगा ? परित्याग किया नहीं जाता, वह हो जाता है और तब होता है जब परित्याज्य या परिहेय भाव या पदार्थ को व्यक्ति देख लेता है, जान लेता है, विवेक द्वारा उसकी व्यर्थता का उसे बोध हो जाता है तो उसे छूटते देर नहीं लगती। आचारांगकार द्वारा कहे गये उपर्युक्त कथन का यही सार है, विपश्यना का भी यही हार्द है।

जैन आगमों में विपश्यना और प्रेक्षा दोनों शब्द प्राप्त होते हैं। दोनों का लगभग एक ही आशय है। विपश्यना के साथ लगा हुआ वि उपसर्ग विशिष्टता या सूक्ष्मता का द्योतक है। ईक्षा के पूर्व लगा हुआ 'प्र' उपसर्ग प्रकृत या उत्कृष्ट का द्योतक है। अर्द्धमागधी प्राकृत में प्रेक्षा के लिए पेक्खा का प्रयोग हुआ है। विपश्यना के लिए पालि और प्राकृत में 'विपस्सना' का प्रयोग हुआ है। विपश्यना और प्रेक्षा उसके संस्कृत रूप हैं। संस्कृत में दृश् धातु को पश्य आदेश होता है। पश्यति पश्यन्ति आदि उसी के रूप हैं। पालि और प्राकृत में दृश् धातु के साथ-साथ पश्य (पश्य) पृथक् धातु

रही है। इसलिए उससे सीधा विपश्यना शब्द बन जाता है। यदि भाषाशास्त्रीय दृष्टि से विचार किया जाय तो ऐसा अनुमान होता है कि भारोपीय भाषा परिवार में प्रारम्भसे ही देखने के अर्थ में इन दोनों ही धातुओं का प्रयोग होता रहा है। आगे चलकर संस्कृत में केवल इस अर्थ में दृश् धातु ही अवशिष्ट रही है। पालि और प्राकृत में दोनों धातुएँ विद्यमान रहीं।

जैन वाङ्मय और बौद्ध वाङ्मय में प्रचलित इन दोनों शब्दों पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि विपश्यना पद्धति को प्रेक्षा या संप्रेक्षण के आधार पर की जाने वाली ध्यान-साधना का पर्याय कहा जा सकता है। उसमें बौद्ध दर्शन सम्मत तत्त्वों का आधार जुड़ता रहा। अतः अपने आप को अन्तःरिक्तीकरण-अपने आपको भीतर से खाली करने के उद्यम के रूप में एक विशेष भाव और जुड़ा। जब साधक श्वास आदि का प्रेक्षण करे, उसका उस समय यह प्रयास रहे कि निरन्तर आते रहने वाले दूसरे भावों से वह अपने आप को खाली करता जाए। अपने आपको रिक्त करने की यह प्रक्रिया जब बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त कर लेती है तब फिर कोई भी भाव बाकी नहीं रह जाता है। बौद्ध दर्शन में उसे महाशून्य कहा जाता है जो परिनिर्वाण का सूचक है। बौद्ध दार्शनिकों ने उसे अभावमूलक नहीं माना है किन्तु निर्वाण के रूप में सद्भावमय स्वीकार किया है। उसे परब्रह्म या सिद्ध परमेश्वर की तरह शब्दों द्वारा अनिर्वचनीय बतलाया है।

विपश्यना का अभ्यास श्वास-अंग-प्रत्यंग आदि के वीक्षण द्वारा मन की एकाग्रतापूर्वक पूर्व-संचित संस्कारों का नाश कर परम शान्ति के, परिनिर्वाण के मार्ग की ओर ले जाता है। मनोगत विकारों का मिटना, दूषित संस्कारों का प्रक्षालन, अन्तःकरण का परिमार्जन, द्रष्टा भाव का उदय, कर्ताभाव का विलय ये सब इस साधना में सधते जाते हैं। जिसका परिणाम यह होता है कि साधक का ऐहिक या सांसारिक जीवन भी सुखमय बन जाता है क्योंकि जब द्रष्टा या दर्शक भाव उदित रहता है तो अहंकार या अभिमान, आसक्ति-ममत्व-मोह ये सहज ही अपगत होते जाते हैं।

विपश्यना में श्वासोश्वास और शारीरिक स्पन्दनों को देखने के क्रम में वह एड़ी से चोटी तक देह के सारे अंगोपांगों को देखने का अभ्यास करता है। यह देखने का क्रम अंगों के बाह्य-आभ्यन्तर, चार्मगत-धमनीगत, अत्यन्त सूक्ष्म स्पन्दन, संवेदन

तक जाता है। अंग-अंग में उत्पन्न होते, विलीन होते, पुनः उत्पन्न होते एवं विलीन होते-जाते संवेदनों का साक्षी-भाव से दर्शन, उनका अनित्यता का, अशाश्वतता का एवं नश्वरता का स्वरूप सिद्ध करता है। मन में वैसा स्थापित होता है जिससे विकार के साथ मन का तादात्म्य सहज ही टूट जाता है। जिस तरह वृक्ष का जीर्ण पत्ता शीघ्र ही झड़ जाता है उसी तरह वे विकार भी मिटते जाते हैं।

यह श्वास-प्रेक्षण, अंगप्रत्यंगादि का बाह्य एवं आन्तरिक दृष्टि से प्रेक्षण, उनके संवेदनों का अनुभवन केवल जानने एवं समझने मात्र से सिद्ध नहीं होता, उसके लिए सुयोग्य गुरु की सन्निधि में विधिवत् अभ्यास करना अत्यन्त अपेक्षित है।

विपश्यना की अभ्यास-पद्धति में पहले आनापानसति का अभ्यास आवश्यक है। यह बौद्ध दर्शन का शब्द है जो श्वास-प्रश्वास का द्योतक है। इसके अनुसार मन को अतीत, अनागत, मनोज्ञ-अमनोज्ञ, राग-द्वेष आदि से प्रसूत कल्पनाओं से हटाकर वर्तमान क्षण में बाहर जाते, भीतर आते श्वास-प्रश्वास को जो नासिका में स्पर्शमूलक अनुभूतियाँ होती हैं उनको देखने और जानने का प्रयत्न करना है। साधक यह देखता रहता है। श्वास नासिका का स्पर्श करता हुआ बाहर निकल रहा है। स्पर्श करता हुआ भीतर जा रहा है। श्वास के बाहर निकलते समय और भीतर जाते समय वह नासिका के भीतरी भाग का स्पर्श करता है। उस स्पर्श पर साधक अपने मन को प्रेषित करता है और अनुभव करता है। यही क्रम चलता रहता है। श्वास केवल आते-जाते समय नासिका का ही स्पर्श नहीं करता, किन्तु वह देह के अन्तर्वर्ती भागों का भी स्पर्श करता है। नासिका उनमें केन्द्र रूप या मुख्य है क्योंकि इसके द्वारा ही श्वास का बाहर निकलना या भीतर आना होता है। आनापानसति के अनन्तर साधक विपश्यना पर आता है जो उसका सूक्ष्म अग्रिम रूप है। जैसा पहले सूचित किया गया है वहाँ वह अपने मस्तक से पैर के अंगूठे तक होने वाले संवेदनों को देखता है, जानता है। उसकी आँखें मुँदी रहती हैं। प्रशिक्षण के निर्देशों एवं संकेतों के अनुसार मन द्वारा समस्त देह की परिक्रमा करता है। यह देखने या अनुभव करने की परिक्रमामूलक प्रक्रिया और अधिक गहराई तक चली जाती है जिससे वह देह के किसी भी भाग पर होने वाली अत्यन्त सूक्ष्म से भी सूक्ष्म सिहरन तक का अनुभव करता है। शरीर का प्रत्येक भौतिक परमाणु प्रतिक्षण निर्मित हो रहा है, विनष्ट हो रहा है। वह ऐसा जानता है, अनुभव करता है।

बौद्ध दर्शन के अनुसार पदार्थ का अस्तित्व तो क्षणवर्ती है। इसलिए इसे क्षणिकवादी या अनित्यत्ववादी कहा जाता है। क्षणों का सन्तान या तानों-बानों का योग ही मूर्त रूप में दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ-जल का प्रवाह एकरूप दिखलाई देता है, किन्तु वहाँ प्रवाह में आने-जाने वाले जलकणों का पिछले जलकण निरन्तर स्थान लेते रहते हैं। यह इतनी सूक्ष्म प्रक्रिया है कि दृष्टिगोचर नहीं होती। किन्तु तत्त्वतः पदार्थ का अपना एकाकार रूप नहीं है, वह तो क्षण-क्षणवर्ती कण-कण के संयोग का प्रतिफलन है। विपश्यना का साधक साक्षीभाव से इस अनित्यता का अपनी देह में दर्शन करता रहता है। क्षण भर में उसका मन मस्तिष्क से पैर तक, मुख के तालु से अंगुष्ठ तक, रोम-रोम तक यात्रा करता जाता है। क्षणवर्ती, प्रतिक्षण विनश्वर परमाणुओं के प्रतिक्षण अन्तर्दर्शन की जो स्थिति बनती है वह साधक में साक्षीभाव या द्रष्टाभाव उत्पन्न करती है। इसका परिणाम यह होता है कि उस व्यक्ति के मन में फिर विकार उत्पन्न नहीं होते। उसके अचेतन मन में संचित संस्कार, यहाँ पड़ी हुई ग्रन्थियाँ मिट जाती हैं। वस्तुतः यह तो अभ्यास का विषय है, व्याख्या का नहीं। बौद्ध दर्शन के क्षणिकवादी और शून्यवादी दर्शन पर यह पद्धति आधारित है। दार्शनिक दृष्टि से क्षणिकवाद पर अनेक महायानी आचार्यों ने नैयायिक शैली से संस्कृत में बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे हैं क्योंकि वह युग विभिन्न मतवादियों में परस्पर शास्त्रार्थ और तात्त्विक वाद-विवाद की मुख्यता लिये हुए था। यही कारण है कि महायान और उसकी उत्तरवर्ती परम्परा के युग में बुद्धकालीन यह ध्यान पद्धति विस्मृत सी होती गई।

कल्याणमित्र गोयनकाजी एवं उनके अनुयायियों के प्रयास से भारतवर्ष तथा कतिपय अन्य देशों में भी इसके अनेक केन्द्र कार्यशील हैं।

जैनध्यान पद्धति के साथ इसकी सम्पूर्णतः संगति तो सिद्ध नहीं होती किन्तु विपश्यना-संप्रेक्षण-अन्तर्वीक्षण तथा तद्गत संवेदानुभव आदि दृष्टि से दोनों में सामंजस्य सिद्ध होता है।

साक्षीभाव या द्रष्टाभाव पर विपश्यना पद्धति में जो जोर दिया गया है वह वास्तव में साधक को विचारमुक्त होने का एक मार्ग देता है। यह वह मार्ग है जिसे जैन तीर्थंकर धर्मप्रतिष्ठापक अनादिकाल से बतलाते आ रहे हैं। आत्मा जब विशुद्धावस्था प्राप्त कर लेता है तब वह सर्वथा ज्ञायक स्वरूप हो जाता है। मात्र ज्ञाता

द्रष्टा रहता है। जैन जगत् के महान् आचार्य कुन्द कुन्द ने अपने 'समयसार', 'प्रवचनसार' आदि ग्रन्थों में शुद्धात्मा-आत्मा के ज्ञायकस्वरूप का बड़े विस्तार से विवेचन किया है और उन्होंने बतलाया है कि इसकी अनुभूति ही परम सत्य की अनुभूति है। यही निश्चय दृष्टि है जिसमें किसी भी प्रकार का विवाद या संशय नहीं है। इसके अतिरिक्त जगत् के सभी भाव व्यावहारिक हैं, पर हैं। व्यवहार से निश्चय में लौटना ही शुद्ध स्वरूप का अधिगम है।

कल्याणमित्र श्री सत्यनारायण गोयनका के शब्दों में विपश्यना सत्य की उपासना है। वर्तमान क्षण में जीने का अभ्यास है। वह क्षण जिसमें भूत की अथवा भविष्य की कोई कल्पना नहीं। यादों की आकुल आहें अथवा स्वप्नों की व्याकुल चाहें नहीं। आवरण, माया, विपर्यास, भ्रम-भ्रांति-विहीन इस क्षण का जो सत्य है, जैसा भी है उसे ठीक वैसा ही, उसके सही स्वभाव में देखना-समझना यही विपश्यना है। विपश्यना सम्यक्दर्शन है। विपश्यना सम्यक् ज्ञान है। विपश्यना सम्यक् आचरण है।

विपश्यना आत्मदर्शन, आत्मनिरीक्षण, आत्म-परीक्षण है। स्वयं अपना लेखा-जोखा रखते रहने की जागरूकता विपश्यना है। अज्ञान से ज्ञान, मैल से निर्मलता, रोग से आरोग्य, दुःख से दुःखविमुक्ति की ओर बढ़ते रहने का स्वप्रयास विपश्यना है।

विपश्यना आत्मसंवर है। अपने मन पर मैल न चढ़ने का संवर। विपश्यना आत्म-निर्जरा है। अपने मन के पुराने मैल उतार फेंकने की निर्जरा। नया मैल कोई दूसरा नहीं, हम स्वयं मोह-विमूढ़ होकर चढ़ाते रहते हैं। अतः स्वयं ही प्रयत्नपूर्वक सतत जागरूक रहकर नया मैल न चढ़ने देना विपश्यना है। पुराना मैल किसी अन्य ने नहीं, प्रमादवश स्वयं हमने चढ़ाया है। इसे दूर करने की सारी जिम्मेदारी हमारी अपनी है, किसी अन्य की नहीं। अतः अपना पुराना मैल स्वयं उतारते रहना विपश्यना है। धीरज-पूर्वक प्रयत्न करते हुए थोड़ा-थोड़ा मैल उतारते रहेंगे तो एक दिन पूर्ण निर्मलता प्राप्त हो ही जाएगी। मन निर्मल होगा तो सद्गुणों से भर जाएगा, दूषित मन पर आधारित सारे शारीरिक रोग, सारे दुःख स्वतः दूर हो जाएंगे। विपश्यना आरोग्यवर्धिनी संजीवन औषधि है, चित्तशोधनी धर्म-गंगा है, दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा है, मुक्तिदायिनी धर्मवीथी है।

विपश्यना शील, समाधि में स्थित होकर अन्तर्प्रज्ञा जाग्रत करने का पालन-

अभ्यास है। स्थितप्रज्ञ होने का शुभायास है। यही विपश्यना है। विपश्यना निस्संग दर्शन है, निर्लिप्त निरीक्षण है, नितांत अनासक्ति है।

विपश्यना आत्म-शुद्धि है, आत्म-विमुक्ति है। विकार-विमुक्त शुद्ध चित्त में मैत्री और करुणा का अजस्र झरना अनायास झरता रहता है। यही मानव जीवन की चरम उपलब्धि है। यही विपश्यना साधना की चरम परिणति है।⁶

आचार्य तुलसी का 'मनोनुशासन' :

जैन आम्नाय के प्रबुद्धचेता, धर्मप्रभावक आचार्यों एवं मुनियों ने जैन विद्या, दर्शन, साहित्य, योग आदि के सन्दर्भ में समय-समय पर जो महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं, वे जैन इतिहास के गौरवास्पद पृष्ठ हैं, आज भी वे जिज्ञासु एवं मुमुक्षुजनों के लिए प्रेरणास्पद हैं।

आचार-विचार विषयक कतिपय भिन्नताओं के बावजूद जैन संस्कृति, धर्म और दर्शन एक व्यापक रूप लिये हुए है, जो अनेकान्त की दृष्टि से सभी परम्पराओं को अपने में समाविष्ट कर लेता है।

वर्तमान शताब्दी में जैन धर्म के जिन महापुरुषों ने धर्मप्रभावना, लोकजागरण एवं जैन तत्त्व-ज्ञान के विकास की दृष्टि से जो महनीय कार्य किये हैं, उनमें आचार्य श्री तुलसी का नाम बड़े आदर के साथ लेने योग्य है।

आचार्य श्री तुलसी श्वेताम्बर परम्परा के अन्तर्वर्ती तेरापंथ धर्मसंघ के नवम आचार्य थे। राजस्थान के मारवाड़ संभाग के अन्तर्गत लाडनूँ में उनका जन्म हुआ। नौ वर्ष की अल्पायु में वे तेरापंथ के अष्टमाचार्य श्री कालू गणि के द्वारा दीक्षित हुए। उन्हीं की छत्र-छाया में उन्होंने विद्याध्ययन किया। उनके विद्याध्ययन के अनन्य सहयोगी एवं मार्गदर्शक आशु कविरत्न पं. रघुनन्दन शर्मा थे। व्याकरण, साहित्य, न्याय, दर्शन आदि का उन्होंने गहन अध्ययन किया। जैन आगम एवं शास्त्रों का अध्ययन उन्होंने अपने परम पूज्य गुरुवर्य से तथा विद्वान् सन्तों से किया। बावीस वर्ष की अवस्था में ही वे तेरापंथ धर्मसंघ के आचार्य पद पर समासीन हुए।

6. धर्म जीवन जीने की कला : विपश्यना क्या है ? 65-67

उनके युवाहृदय में जैन संस्कृति, विद्या और साधना के विकास के अनेक स्वप्न थे, जिन्हें पूरा करने के लिए वे अपने सहवर्ती साधुओं सहित संलग्न हुए। उनका ऐसा चिन्तन था कि जैन आगम, शास्त्र तथा तत्सम्बद्ध विषयों के उच्चस्तरीय अध्ययन, अनुसंधान, अनुशीलन आदि का अधिकाधिक प्रसार हो। इसके लिए लाडलू (राजस्थान) में जैन विश्वभारती संस्थान की स्थापना की गई। उससे कई वर्ष पूर्व दीक्षार्थिनी बहनों के अध्ययन के लिए पारमार्थिक शिक्षण संस्थान नामक विद्यापीठ की स्थापना हो चुकी थी, जिसमें दीक्षार्थिनी बहनों के अध्ययन तथा श्रमणजीवनोचित क्रियाभ्यास आदि की सुन्दर व्यवस्था है। वह संस्था इस समय ब्राह्मी विद्यापीठ के रूप में कार्यरत है।

जैन विश्व भारती में अध्ययन-अध्यापन, साहित्य-सर्जन-अनुसंधान आदि के कार्य उत्तरोत्तर बढ़ते गये तब उसे (Deemed University) मान्य विश्वविद्यालय का स्थान प्राप्त कराने का समाज की ओर से प्रयत्न किया गया। संस्थान की गतिविधि का अवलोकन-पर्यवेक्षणकर उसे भारत सरकार और यू.जी.सी. की ओर से 'डीम्ड यूनिवर्सिटी' की मान्यता प्रदान की गई। प्राकृत, जैनदर्शन, जीवन विज्ञान, अहिंसा-दर्शन इत्यादि के रूप में वहाँ अनेक विभाग कार्यशील हैं। अनेक छात्र-छात्राएँ अनुसंधान में रत हैं। पत्राचार के रूप में बी.ए. तथा एम.ए. के पाठ्यक्रम भी चल रहे हैं। इस प्रकार यहाँ जैन-विद्या के व्यापक प्रसार का एक सुन्दर उपक्रम है।

उनके आचार्यकाल का दूसरा चरण जन-जन के आध्यात्मिक एवं नैतिक उत्थान की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण रहा। उन्होंने जैनधर्म की व्रत-परम्परा के आधार पर लोकजनित दृष्टि से एक ऐसे आन्दोलन का संप्रवर्तन किया जिसके आधार पर जन-जन की नैतिक बुराइयाँ दूर हो सकें और वे आध्यात्मिक दिशा में आगे बढ़ सकें।

जैन आगमों का विवेचनात्मक, विश्लेषणात्मक रूप में उनके सान्निध्य में संपादन हुआ जिसका मुख्य दायित्व उनके प्रमुख अन्तेवासी मुनि श्री नथमल जी, वर्तमान में आचार्य महाप्रज्ञ पर रहा। आचार्य तुलसी ने संस्कृत में 'जैन सिद्धान्त दीपिका' एवं 'भिक्षु न्यायकर्णिका' ग्रन्थों की रचना की। राजस्थानी के वे प्रखर प्रतिभाशाली महाकवि थे। अपने गुरुवर्य आचार्य श्री कालूगणि के जीवन पर उनके द्वारा रचित 'कालू यशोविलास' नामक महाकाव्य है जो निस्सन्देह राजस्थानी साहित्य

की वर्तमानयुगीन महान् कृति है।

आचार्य श्री तुलसी की योग में अनन्य रुचि और आस्था थी। वे केवल इसके अध्येता ही नहीं थे वरन् इसके अभ्यासी भी थे। उन्होंने जैन योग पर 'मनोनुशासनम्' नामक ग्रन्थ की संस्कृत में सूत्रबद्ध शैली में रचना की। योगसाधना में चित्त या मन का सबसे अधिक महत्त्व है। यह मन ही ऐसा है जो यदि दुश्चिन्तन से ग्रस्त और दुष्प्रवृत्त हो जाय तो मनुष्य को पतन के अत्यन्त गहरे गर्त में धकेल सकता है। वही यदि सत् चिन्तन में संलग्न हो जाय तो उन्नति के उच्च शिखर तक पहुँचा सकता है। ध्यान साधना तो विशेष रूप से मन या चित्त के साथ ही जुड़ी हुई है। इसके लिए मन को अनुशासित, नियंत्रित या सुव्यवस्थित करना परम आवश्यक है। आचार्य श्री तुलसी के 'मनोनुशासनम्' में इसी विषय को लेकर जैन सैद्धान्तिक दृष्टि से और स्वानुभूति के आधार पर विवेचन किया गया है।

यह ग्रन्थ सात प्रकरणों में विभक्त है। पहले प्रकरण में मन की परिभाषा, इन्द्रिय और मन, आत्मा का स्वरूप, बद्ध और मुक्त आत्मा की परिभाषा, आत्मा के प्रकार, आत्मशोधन में योग का स्थान, शोधन और निरोध की प्रक्रिया, आहारशुद्धि, इन्द्रियशुद्धि, श्वासोच्छ्वास शुद्धि और कायशुद्धि तथा मन-वाक्शुद्धि के उपायों का विवेचन किया गया है।

द्वितीय प्रकरण के पहले सूत्र से चौदहवें सूत्र तक मूढ़, विक्षिप्त यातायात, श्लिष्ट, सुलीन, निरुद्ध मन तक इन छह भेदों का विश्लेषण किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने 'योगशास्त्र' में मूढ़ से सुलीन मन तक पाँच भेदों का अनुभूति के आधार पर विवेचन किया है। आचार्य तुलसी ने निरुद्ध मन के नाम से छठा भेद और जोड़ दिया है। उन्होंने लिखा है कि जो मन मिथ्यादृष्टि तथा चारित्रमोह से व्याप्त होता है, उसे मूढ़ कहा जाता है, वैसा मन योगसाधना के योग्य नहीं होता क्योंकि जिसकी दृष्टि सम्यक् नहीं होती, जिसका चारित्र व्रत या यम-नियम आदि से युक्त नहीं होता वह व्यक्ति योगसाधना का अधिकारी नहीं हो सकता क्योंकि उसके मन में तो मोहप्रसूत मूढ़ता व्याप्त रहती है।

विक्षिप्त मन का विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा है जो मन इधर-उधर विचरण करता रहता है उसे विक्षिप्त कहा जाता है। आचार्य हेमचन्द्र ने विक्षिप्त मन

को चल कहा है। तदनुसार वह कभी बाहर चला जाता है, कभी भीतर। उन्होंने उसे इष्ट भी कहा है अर्थात् वह आनन्दप्रद भी है क्योंकि वह अन्तरात्मा में जाकर कुछ ही समय तक स्थिर होता है। वे क्षण उसके लिए आनन्दप्रद होते हैं। आचार्य श्री तुलसी ने अन्तरात्मा में स्थिर होने की मन की स्थिति की इष्टता या आनन्दप्रदता की चर्चा नहीं की है। उन्होंने उसका किसी एक विषय पर निश्चल नहीं होना बताया है। यातायात मन को उन्होंने कभी अन्तर्मुखी बनने, कभी बहिर्मुखी बनने वाला कहा है। हेमचन्द्र भी लगभग ऐसा ही कहते हैं।

विक्षिप्त और यातायात ये दोनों मानसिक स्थितियाँ, जो योग का प्रारम्भिक अभ्यास करते हैं, उनमें प्रकट होती हैं। आगे उन्होंने कहा है कि इन दोनों मानसिक भूमिकाओं के विकल्पपूर्वक बाह्य वस्तुओं का ग्रहण होता रहता है। इसलिए इनमें जो स्थिरता होती है उसकी मात्रा और काल स्वल्प होता है।

जो मन अपने ध्येय में स्थिर बन जाता है उसे श्लिष्ट कहा है। जो अपने ध्येय में लीन या तन्मय बन जाता है उसे सुलीन कहा जाता है।

जिस योगी की ध्यानाभ्यास की भूमिका परिपक्व हो जाती है, उस योगी के मन की ये दोनों भूमिकायें निष्पन्न होती हैं। इनमें बाह्य वस्तुओं का ग्रहण नहीं होता। अतएव भूमिकाओं में स्थिरता एवं दृढ़ता, दीर्घकालीन होती है तथा सहजानन्द की विपुल अनुभूति होने लगती है। इन दोनों मनो का विषय आत्मगत सूक्ष्मध्वेय ही होता है।

जब मन बाह्य आडम्बरो से शून्य होकर केवल आत्मा में परिणत हो जाता है, सभी बाह्य आलम्बन निरोध पा लेते हैं तब उस मन को निरुद्ध कहा जाता है। यह भूमिका वीतरागावस्था से प्राप्त होती है।

आचार्य तुलसी ने जो विवेचन किया है वह आचार्य हेमचन्द्र द्वारा किये गये विश्लेषण का ही सुन्दर और परिष्कृत रूप है, जिससे पाठक इस विषय को विशदतापूर्वक आत्मसात् कर सके। निरुद्ध मन के रूप में आचार्य तुलसी ने जिस भेद की परिकल्पना की है वह मन की सूक्ष्मतम परिकल्पना स्थिति के पर्यवेक्षण की दृष्टि से महत्वपूर्ण है क्योंकि सुलीनता का अग्रिम चरण निरुद्धता है। सुलीनता में तो मन का अस्तित्व बना रहता है, निरुद्धता में इसका विलय हो जाता है।

तीसरे प्रकरण में ध्यान की परिभाषा, ध्यान के सहायक तत्त्व, ध्यान और आहार, ध्यान और आसन इत्यादि विषयों के साथ-साथ मौन, प्रतिसंलीनता, स्वाध्याय एवं व्युत्सर्ग आदि का भी निरूपण किया गया है।

ध्यान की परिभाषा करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है कि किसी आलम्बन पर मन को संनिविष्ट करना-टिकाना अथवा मन-वचन एवं शरीर के योगों एवं प्रवृत्ति का निरोध करना ध्यान है।⁷

आचार्य तुलसी के द्वारा की गई इस परिभाषा में जैन योग एवं पातंजल योग द्वारा दिये गये ध्यान के लक्षणों का समावेश है। एकाग्रचिन्तन और चित्तवृत्ति-निरोध दोनों ही इसमें आ जाते हैं। यदि सूक्ष्मता में जायें तो जहाँ चित्त की एकाग्रता होती है वहाँ योगों का निरोध भी हो जाता है। चैतसिक एकाग्रता और योगनिरोध लगभग अन्बो-न्याश्रित हैं। फिर भी स्पष्टीकरण की दृष्टि से इस परिभाषा की अपनी उपयोगिता है।

तत्पश्चात् उन्होंने ऊनोदरी, रसपरित्याग, उपवास, स्थान, आसन, मौन, प्रतिसंलीनता, स्वाध्याय, भावना एवं व्युत्सर्ग का उल्लेख किया है जो ध्यान में सहायक हैं।⁸ उसके बाद ऊनोदरी-अल्पाहार, रसपरित्याग और उपवास को परिभाषित किया है क्योंकि ध्यानयोगी के लिए आहार का विशेष महत्त्व है। लघु, सात्त्विक, सुपथ्य आहार उसे प्रमाद, आलस्य और अवसाद से दूर रखता है।

स्थान या आसन का लक्षण बतलाते हुए उन्होंने कहा है-शरीर को विधिवत् स्थिर बनाना, स्थिर बनाकर बैठना, स्थान या आसन कहा जाता है।⁹

खड़े होकर, बैठकर, लेटकर किये जाने वाले आसनों के आधार पर उन्होंने ऊर्ध्वस्थान, निषीदन स्थान, शयन स्थान के रूप में आसन के तीन भेद बतलाये हैं।¹⁰

आगे उन्होंने तीनों भेदों की चर्चा की है।¹¹ मौन, प्रतिसंलीनता, स्वाध्याय,

7. मनोनुशासनम् 3.1

8. वही, 3.2-5

9. वही, 3.6

10. वही, 3.7

11. वही, 3.8-11

व्युत्सर्ग-कायोत्सर्ग का वर्णन करने के बाद उन्होंने अनित्यादि द्वादश भावनाओं एवं मैत्र्यायादि चार भावनाओं का विवेचन किया है।¹²

चतुर्थ प्रकरण में ग्रन्थकार ने ध्याता का लक्षण, उसके गुण, ध्यान की प्रक्रिया, ध्यानमुद्रा, ध्यान के लिये उपयोगी स्थान, आसन, ध्यान के भेद, सालम्बन ध्यान के प्रकार, प्रेक्षा की परिभाषा, पार्थिवी आदि धारणार्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत ध्यान, निरालम्बन ध्यान का स्वरूप, समाधि की परिभाषा, उसके उपाय, लेश्या का लक्षण उसके भेद इत्यादि विषयों का विवेचन किया है जो ध्यानयोग में सहयोगी हैं।

ध्याता को परिभाषित करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है कि जिस व्यक्ति में अपने स्वरूप को अधिगत करने की, जानने की अभीप्सा होती है, वही ध्यान का अधिकारी होता है। वह अधिकारी स्वस्थ, दृढ़ शरीरयुक्त, विनीत, कलहरहित, अरसलोलुप, अप्रमत्त, आलस्यरहित हो। यह वांछित है। ध्यान का अधिकारी मुमुक्षु-मोक्षाभिलाषी, संवृत कर्मावरणों का संवरण करने में लीन तथा स्थित आशय युक्त या चैतसिक चंचलता रहित हो,¹³ यह भी अपेक्षित है।

ध्यानाभ्यासी किस प्रकार ध्यान में संलग्न हो, इसका निरूपण करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है कि वह अपनी देह को आगे की ओर थोड़ी झुकायी रखे, नेत्रों को बन्द रखे, अपनी इन्द्रियों को विषयों से निवृत्त किया रहे, शरीर को सुस्थिर-शिथिल बनाये रहे, बाँहों को घुटनों की ओर प्रलम्बित कर पैरों की एड़ियों को परस्पर मिलाकर पूर्व दिशा या उत्तर दिशा की ओर मुँह कर ध्यान का अभ्यास करे अथवा वह पचासन आदि में स्थिर होकर ध्यान करे।¹⁴

ध्यान के बतलाये गये उपयोगी स्थल लगभग उसी प्रकार के हैं, जैसा प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त होता है। उन्होंने जैन परम्परानुगत सालम्बन और निरालम्बन के रूप में ध्यान के दो भेद बतलाये हैं।

सालम्बन ध्यान के भेदों में उन्होंने पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत ध्यान

12. वही, 3.12-27

13. वही, 4.1-4

14. वही, 4.5-6

का विवेचन किया है जिनका आचार्य शुभचन्द्र के 'ज्ञानार्णव' और हेमचन्द्र के 'योगशास्त्र' में उल्लेख हुआ है।

तत्पश्चात् पार्थिवी, आग्नेयी, मारुति, वायवी, धारणाओं का, जो पूर्ववर्ती जैन योग के ग्रन्थों में व्याख्यात हैं, संक्षेप में सूचन किया है।

पार्थिवी धारणा के सम्बन्ध में लिखा है-अपने आधारभूत स्थान पृथ्वी, समुद्र, पर्वत आदि विशाल आकार का विमर्श करना, उस पर चिन्तन को एकाग्र करना, फिर उन पर अपने को स्थित मानकर अपनी आत्मा के सामर्थ्य का उद्भावन करना अथवा अपने सर्व शक्ति सम्पन्न वीतराग स्वरूप का अनुभव करना पार्थिवी धारणा है। नाभि में परिकल्पित कमल के प्रज्वलित होने के कारण सब दोष दग्ध होते जा रहे हैं, ऐसा अनुभव करना आग्नेय धारणा है, नाभिकमल में दोषों के दग्ध हो जाने के कारण जो भस्म रूप अवशेष रहता है उसे प्रचण्ड वायु का झोंका उड़ाकर ले जा रहा है, सर्वत्र विकीर्ण कर रहा है, ऐसा चिन्तन करना मारुति धारणा है। उस अवशिष्ट भस्म के प्रक्षालनार्थ विशाल मेघराशि की अनुभूति करना वारुणी धारणा हैं।¹⁵

पदस्थ ध्यान को परिभाषित करते हुए लिखा है कि जो श्रुतज्ञान ॐ, ह्रीं, हँ नमो अरहंताणं, अ, सि, आ, उ, सा आदि शब्द-मन्त्रों, शब्दों एवं नामों का आलम्बन लेकर किया जाता है, वह पदस्थ ध्यान है।

जो संस्थान आकृति-विशेष का आलम्बन लेकर किया जाता है वह रूपस्थ ध्यान कहा जाता है। जो सब प्रकार के कर्मरूप मल से रहित परम ज्योतिर्मय स्वरूप आत्मा के अमूर्त स्वरूप का आलम्बन लेकर किया जाता है, वह रूपातीत ध्यान हैं।¹⁶

आगे उन्होंने ध्यान एवं स्वाध्याय की विलक्षणता या भेद बतलाते हुए लिखा है-स्वाध्याय और ध्यान में यह अन्तर है कि ध्यान में तन्मयता होती है। स्वाध्याय में संलग्नता होती है।¹⁷ जो निर्विचार-विचारों और भावों से अतीत होता है उस ध्यान को निरालम्बन ध्यान कहा जाता है।¹⁸

15. वही, 4.16-21

16. वही, 4.22-24

17. वही, 4.25

18. वही, 4.26

पार्थिवी आदि धारणाओं का सूत्र में जो संक्षिप्त लक्षण दिया गया है, उसमें तद्गत मूल तत्त्व का ही संकेत है। उतने मात्र से अभ्यासी के लिए उनके विशद रूप को स्वायत्त करना संभव नहीं है। अतः उन सूत्रों की हिन्दी में जो व्याख्या की गई है, उसमें धारणाओं की परिकल्पनाओं का विस्तार से उल्लेख है। प्राचीन आचार्यों ने इन धारणाओं का जो वर्णन किया है, 'मनोनुशासनम्' में तद्विषयक सूत्रों की व्याख्या में उसका संक्षिप्त रूप प्रांजल एवं सरल भाषा में प्रतिपादित किया गया है जो पाठकों एवं अभ्यासियों के लिए उपयोगी है।

पाँचवें प्रकरण में प्राणवायु की परिभाषा, इसके भेद, वायुविजय के साधन, कूर्म नाड़ी, कंठकूप, जिह्वाग्र, नासाग्र, चक्षु कमल तथा ब्रह्मरन्ध्र में वायुधारण से लाभ आदि का विवेचन है।

'योगशास्त्र' में वायुविजय आदि के सन्दर्भ में जो विवेचन आया है, उसका परिमार्जित एवं लोकोपयोगी रूप में ग्रन्थकार ने विश्लेषण किया है।

पातंजल योग का पहला अंग यम है। यम का अर्थ आत्मसंयम या अपने आप को हिंसा आदि से बचाना है। यमों के स्थान में जैनधर्म में महाव्रतों का उल्लेख है, व्रत के साथ जुड़ा हुआ महा शब्द उनकी विशेषता का द्योतक है। जैन धर्म में महाव्रत द्वारा व्रतों का वह रूप गृहीत है, जिसमें मन वचन, काय योग और कृत-कारित-अनुमोदित करण की दृष्टि से कोई भी अपवाद स्वीकृत नहीं है। वहाँ सब स्थितियों में सावद्यकार्यों के वर्जन का विधान है। महाव्रत शब्द पातंजल योग द्वारा निरूपित यमों की व्याख्या में प्रयुक्त हुआ है। वहाँ भी ऐसा ही माना गया है कि यम जब देश, काल, स्थिति आदि किसी भी अपेक्षा सर्वथा हिंसादि दोषों के वर्जन के साथ परिपालित होते हैं तब महाव्रत कहे जाते हैं। वहाँ कोई विकल्प या अपवाद स्वीकृत नहीं है। यहाँ जैन दर्शन और योग दर्शन की विचारधारा समानता पा लेती है।

'मनोनुशासनम्' के रचयिता ने इस ग्रन्थ के छठे प्रकरण में महाव्रतों की परिभाषा, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह का स्वरूप, महाव्रतों की भावनार्थ, अणुव्रत की परिभाषा, क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, अकिंचनता, ब्रह्मचर्य-दश रूपों से युक्त श्रमण धर्म का वर्णन किया है।¹⁹

19. वही, 6.1-25

सूचित किया गया है कि यम योग के प्रथम अंग के रूप में स्वीकृत है अर्थात् योग साधना का एक भाग है। साधना की पूर्ति इसे आगे के छह अंगों को पार कर आठवें अंग समाधि में पहुँचने में होती है। किन्तु महाव्रत जैन दर्शन में बड़ी व्यापकता लिये हुए हैं। वहाँ संयममूलक साधना का समग्रतया समावेश हो जाता है, क्योंकि महाव्रती की दैनंदिनी चर्या, महाव्रतों के अक्षुण्ण रूप में परिपालन हेतु स्वीकृत विभिन्न आध्यात्मिक उपक्रम, उनकी भावना, समिति-गुप्ति तथा उनके सम्यक् परिपालन हेतु नवतत्त्वों का विशिष्ट ज्ञान, इन सब का समावेश होता है। किन्तु ऐसे हुए बिना महाव्रतों का पालन सम्यक् रूप में सध नहीं सकता। महाव्रत रूप संयम के निर्बाध-निरपवाद परिपालन हेतु ही साधना के विभिन्न अंगों का विकास हुआ। दैहिक, मानसिक चंचलता, अस्थिरता यदि बनी रहती है तो महाव्रतों का पालन दुःशक्य हो जाता है। इसी कारण महाव्रती के लिए स्थिरचेता, दृढ़ संयमी, आत्मपराक्रमी और मनोजयी होना अपरिहार्य है। इसी के लिए ध्यान आदि की विशेष उपयोगिता है। ध्यान का साध्य आत्मस्वरूप का अधिगम है। महाव्रतमय संयम का अन्तिम लक्ष्य भी वही है जिसे मोक्ष कहा जाता है।

ध्यान साधक के जीवन में उस केन्द्र का संशोधन करता है जिस पर साधना के विविध अंग समाश्रित हैं। उससे जब मन का चांचल्य अपगत हो जाता है तो साधक का आत्मपराक्रम प्रस्फुटित होता है। मानसिक एकाग्रता, स्थिरता के कारण उनकी वृत्तियाँ, इन्द्रियों के विषयों से मुड़कर आत्मोन्मुखता पा लेती हैं। इसलिए साधक सहज ही सावद्य कार्यों का वर्जन करता जाता है। जब वृत्तियाँ आत्मस्वरूप में टिक जाती हैं तब भौतिक एषणायें विलुप्त हो जाती हैं, कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं, वासनार्यें क्षीण हो जाती हैं। फलतः महाव्रत सधते जाते हैं। महाव्रतों की इन्हीं विशेषताओं के कारण ही सम्भवतः ग्रन्थकार ने एक पूरे प्रकरण में लगभग इन्हीं का विवेचन किया है।

सातवें प्रकरण में साधना के परमोच्च रूप जिनकल्प और उसकी भावनाओं का निरूपण है।

जिनकल्प जैन साधना का उच्चतम रूप है। यहाँ साधक अपने साधनाक्रम में जिन अर्थात् वीतराग परमात्मा के समान अत्यन्त उच्च, पवित्र, निर्दोष, उदग्र तपोमय साधना में संलग्न रहता है। वह क्षुधा, तृषा, स्थानादि की अनुकूलता इत्यादि की जरा

भी चिन्ता किये बिना एक मात्र अपने आत्मस्वरूप के परिशीलन में संलग्न रहता है। वह सदा एकत्व भावना के साथ अपनी आत्मा में ही रमण करता हुआ दैहिक स्थितियों एवं उपकरण आदि से अपने को भिन्न मानता है। वह सर्व प्रकार की आकांक्षा और आसक्तियों से विवर्जित रहता है। इन्हीं सब तथ्यों का ग्रन्थकार ने इस अध्याय में विश्लेषण किया है।²⁰

मन के अनुशासन की चरम परिणति समस्त बहिर्भावों के विजय के रूप में परिणत होती है वहाँ आत्मभाव परिपुष्ट होता है, आत्मपराक्रम उद्घाटित होता है, आत्मा के शुद्ध स्वरूप का भान होता है। वहाँ राग-द्वेष भी विलीन होते जाते हैं और साधक वीतरागता की भूमिका की ओर बढ़ता जाता है, यही जिनकल्प-साधना का हार्द है, जिसकी सिद्धि में ध्यान योग की अपनी विशेषता है। जिनकल्प की ऊँची मंजिल तक पहुँचने में ध्यान एक सुव्यवस्थित सोपान का रूप लिये हुए है। धर्मध्यान से प्रारम्भ कर उसकी उत्तरोत्तर भूमिकाओं का संस्पर्श करता हुआ ध्यानयोगी शुक्ल ध्यान में संप्रवृत्त होता है, उसकी अन्तिम मंजिल को पा लेता है, उसकी आध्यात्मिक यात्रा सफल हो जाती है, वह परमात्म स्वरूप बन जाता है फिर उसकी आत्मा और परमात्मा में जरा भी भेद नहीं रहता।

आचार्य नानेश का समीक्षण ध्यान :

वर्तमान में प्रचलित जैन ध्यान विधाओं में समीक्षण ध्यान पद्धति भी एक है। स्थानकवासी परम्परा के साधुमार्गी जैनसंघ के अष्टम आचार्य श्री नानालाल जी म.सा. ने 'समीक्षण' के नाम से इस ध्यान पद्धति का सम्प्रवर्तन किया। श्री नानालालजी के गुरुवर्य श्री गणेशीलाल जी म.सा. अपने समय के बड़े ही उच्चकोटि के साधक और निर्मलचेता महापुरुष थे। उनके गुरु आचार्य श्री जवाहरलाल जी म.सा. का स्थानकवासी जैनसंघ में अप्रतिम महत्त्व था। वे अपने समय के महान् विद्वान्, प्रवचनकार, क्रांतिकारी आचार्य थे। वे परम ज्योतिर्धर कहे जाते थे। आचार्य श्री नानालाल जी म.सा. को अपने पूर्व पुरुषों के साथ-साथ विशेषतः अपने गुरुवर्य एवं प्रगुरुवर्य की गरिमा विरासत के रूप में प्राप्त थी। धर्मप्रभावक संघनायक होने के साथ-साथ वे ध्यान-साधना के अनन्य अनुरागी थे।

20. वही, 7.1-15

वर्तमान में प्रचलित ध्यान पद्धति के परिप्रेक्ष्य में इनके मन में जो भावोद्बलन हुआ उसी की परिणति 'समीक्षण' ध्यान पद्धति के रूप में हुई। यह शब्द सम् उपसर्ग और ईक्षण के मेल से बना है। सम् का अर्थ सम्यक् रूप से या समभाव पूर्वक और ईक्षण का अर्थ - देखना है। आज का संसार अत्यन्त घोर मोह निद्रा में सुप्त है, वैभाविक परिणतियों, भौतिक उपादानों में विमूढ़ बनकर आत्मविस्मृत होकर वह अहर्निश ऐसी गतिविधियों के साथ जुड़ा है जिनमें व्यक्ति सुख का स्वप्न देखता है, किन्तु सर्वथा दुःख, विषाद तथा संक्लेश से परिपूर्ण है। उनसे छुटकारा तभी मिल सकता है जब वह बहिर्दर्शन से मुख मोड़कर अन्तर्यात्रा की ओर उद्यत हो। वह अन्तर्यात्रा केवल ईक्षण या दर्शन से घटित नहीं होती, वह तो सम्यग्दर्शन से घटित होती है। ईक्षण तो सामान्यदर्शन का पर्याय है जो सत् और असत् दोनों प्रकार का हो सकता है। जब तक उसके साथ सम्यक् नहीं जुड़ता उसे लेकर चलने वाली अन्तर्यात्रा स्व-स्वरूप में अवस्थिति की मंजिल प्राप्त नहीं करा सकती। इसी मूल तत्त्व को लेकर आचार्य-प्रवर ने समीक्षण ध्यान पद्धति का सम्प्रवर्तन किया। उसके लिए उन्होंने सबसे पहले भूमिकाशुद्धि पर जोर दिया है। यह भूमिका बहिर्जगत् से सम्बद्ध नहीं है। यह अन्तर्यात्रा से सम्बन्धित है। जब साधक समीक्षण हेतु उद्यत हो तो वह अपनी विशृंखलित चित्तवृत्तियों को विशोधनपूर्वक नियंत्रित करे। अनादिकाल से चित्तवृत्तियाँ बहिर्मुखता लिये हुए हैं। अत एव मन अस्थिरता एवं चंचलता पूर्वक अनवरत भटकता रहता है। उसे सुनियोजित करने के लिए एक विशेष प्रकार की भूमिका अपेक्षित है। जिस प्रकार किसान बीज बोने के पहले खेत की ओर ध्यान देता है, चित्रकार चित्र बनाने के पहले कांस्य फलक या वस्त्र की ओर ध्यान देता है, उसी प्रकार ध्यानसाधक को चित्त-विशुद्धि पर ध्यान देना चाहिए। झाड़-झंखाड़ से विमुक्त भूमि जिस प्रकार बीज के उगने और पौधे के रूप में वृद्धिगत होने के लिए उपयुक्त होती है, स्वच्छ कांस्यपात्र या वस्त्रखण्ड सुन्दर चित्रांकन के लिए उपादेय होता है, वैसे ही समीक्षण ध्यान के लिए शुद्ध भूमिका की आवश्यकता है, जो चित्तवृत्तियों के साथ उनके नियन्त्रण से जुड़ी है। यह एक ऐसा कार्य है जिसके लिए साधक को भावनात्मक रूप से अन्तर में जूझना पड़ता है।

भूमिका के बाद संकल्प का स्थान आता है। साधक दृढ़ संकल्प के साथ ध्यानयोग में उद्यत रहे। साथ-ही-साथ उसका परिपार्श्विक वातावरण भी सात्त्विक,

शुद्ध और सत्प्रेरक हो, भौतिक ऐश्वर्य और बाह्य आकर्षणों से विमुक्त हो, ऐसा वातावरण साधक के अन्तःप्रवेश में सहयोगी बनता है, उससे सहजता आती है। साधक का वेश-परिवेश सभी सात्त्विकता युक्त होना चाहिए।

साधना में समय की भी नियमितता हो, क्योंकि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समय के नियमन का मन पर प्रभाव पड़ता है, जिस प्रकार बाह्य जीवन में समय की सुव्यवस्था का महत्त्व है उसी प्रकार आन्तरिक जीवन में भी समय का महत्त्व है।

साधक सबसे पहले मन की चंचलता को रोकने के लिए सम्प्रवर्त हो। मन द्वारा ही मन का समीक्षण या सम्यक् वीक्षण करना है। समीक्षण ध्यान एक आन्तरिक प्रज्ञाचक्षु है जिसके द्वारा अन्तरंग को देखा जाता है। बाहर के चर्मचक्षु अवरुद्ध हो जाते हैं वहाँ प्रज्ञा के आन्तरिक चक्षु कार्यशील होते हैं। सम्यक् ईक्षण पूर्वक मनोवृत्तियों को देखने से उन पर लगा हुआ कालुष्य का दाग मिटता जाता है। अन्तर्वृत्तियों को देखने के रूप में ध्यान के समय मन भौतिक आकर्षणों से सर्वथा पृथक् रहे। तदर्थ साधक को अत्यन्त सावधानी से काम लेना पड़ता है। यह केवल निरीक्षण से ही नहीं होता सम्यक् निरीक्षण से होता है, तब वह देखता है राग-द्वेषात्मक विकास, वृत्तियाँ कितनी तीव्र हैं, उन वृत्तियों के उद्दीपन और संवर्द्धन में कौन-कौन से प्रयत्न सफल हो सकते हैं ? इस प्रकार के अनुचिन्तन से परिपूर्ण निरीक्षण, समीक्षण ध्यान की विशिष्ट भूमिका का कार्य करता है। इससे साधक राग-द्वेष और विकारों की वैभाविकता को जानता है। विभाव तो पर हैं, अपने नहीं हैं। यह अन्तःबोध उसे प्राप्त होता है। साथ-ही-साथ उन हेतुओं को, निमित्तों को अपगत करने का उत्साह और आत्मबल जागता है, जो इन वृत्तियों को उद्दीप्त करते हैं। जागृत आत्म-पराक्रम कभी निष्फल नहीं होता। यदि यह समीक्षण का क्रम चलता रहता है तो राग-द्वेष आदि विकारी वृत्तियाँ न केवल नियन्त्रित ही होती हैं, बल्कि नष्ट होने लगती हैं।

समीक्षण ध्यान की अन्तिम परिणति विभावों का अपगम कर आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप में संप्रतिष्ठ करना है, जहाँ कार्मिक आवरण विलुप्त हो जाते हैं। इस समीक्षण ध्यान मूलक अन्तर्यात्रा की वह अन्तिम मंजिल है या परम लक्ष्य है, जहाँ आत्मा स्वरूपाधिष्ठित होकर शाश्वत शान्तिमय परम ज्योतिर्मय परमानन्दमय स्थान प्राप्त कर लेती है।

महासती उमराव कुंवर 'अर्चना' का मुद्रा-ध्यान :

वर्तमान काल में अनेक जैनाचार्यों-मनीषियों आदि द्वारा ध्यान-साधना के सन्दर्भ में शास्त्रीय और स्व-स्वअनुभूतिपरक जो विधिक्रम प्रस्तुत किये गये हैं वे जैन साधना पद्धति के विकास के परिचायक हैं। उनमें ध्यानयोग की महान् साधिका, विद्या-चारित्र और सेवा की प्रतिमूर्ति गुरुवर्या महासती श्री उमराव कुंवर जी म.सा. 'अर्चना' द्वारा प्रतिबोधित सर्वोपयोगी सरल, सहज, रोचक साधना पद्धति का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

महासती जी श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ की प्रखर विदुषी, धर्मप्रभाविका महासतियों में अपना प्रतिष्ठापूर्ण स्थान लिये हुए हैं। वे जैन जगत् के प्रखर प्रतिभाशील, निर्विकार चेता आगमोद्धारक महामहिम स्वर्गीय युवाचार्यप्रवर श्री मिश्रीमल जी म.सा. 'मधुकर' की साध्वी परम्परा से सम्बद्ध हैं।

राजस्थान के अजमेर जिले के अन्तर्गत दादिया नामक ग्राम में इनका जन्म हुआ। इनके पिता श्री मांगीलाल जी अपने क्षेत्र के प्रसिद्ध प्रभावशाली पुरुष थे। समृद्ध, संपन्न परिवार था। आपकी माताश्री आपको सात दिन की छोड़कर दिवंगता हो गई। पिताश्री की छत्रछाया में आपका लालन-पालन हुआ। शैशवावस्था में ही आपकी विलक्षण प्रतिभा, तितिक्षावृत्ति परिलक्षित होती थी। 'होनहार बिरवान के होत चिकने पात' के अनुसार आपके प्रारम्भिक लक्षणों से ऐसा प्रतीत होता था कि भविष्य के गर्भ में आपका परम ज्योतिर्मय व्यक्तित्व छिपा है। संयोगवश अल्पावस्था में ही आपका परिणय-संस्कार हुआ और दूसरा एक दुःखद संयोग बना। विवाह के कुछ ही समय पश्चात् आपके पतिश्री दिवंगत हो गये। पूर्वार्जित संस्कारवश आपकी अन्तरात्मा में सन्निहित, वैराग्य, निर्वेद और संवेग के भाव प्रकटित हुए। वैधव्य का शोक, आत्मजागरण में परिणत होने लगा। एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संयोग और घटित हुआ जिसने आपके जीवन को अध्यात्मयोग की दिशा में मोड़ दिया। आपके पूज्य पिताश्री महान् कर्मयोगी होने के साथ-साथ अध्यात्मयोगी भी थे। आपकी माताश्री के स्वर्गवास के बाद उनका मन योग और साधना की दिशा में मुड़ता गया। समग्र लौकिक कार्यों का दायित्व वहन करते हुए भी उनका मन परमात्मोपासना में ही लीन रहता था। इसी बीच लगभग छह वर्ष तक वे घर से दूर अज्ञातवास में रहे और महान् योगियों के

सान्निध्य में रहे, अनवरत साधना में संलग्न रहे। जब मन सर्वथा तन्मयता-पूर्वक किसी कार्य में झुक जाता है तो स्वल्पकाल में ही वैसी सफलताएँ प्राप्त कर लेता है जो औरों द्वारा बहुत लम्बे समय में भी उपलब्ध नहीं की जा सकतीं। आपने अपने छह वर्षीय अज्ञात साधना-काल में योग की उच्च भूमिका का संस्पर्श किया। अनेक योगविभूतियाँ या लब्धियाँ अर्जित कीं।

मन तो आपका समग्र जीवन वहीं बिताने का था, किन्तु पारिवारिक दायित्व बोध को सोचते हुए अनासक्त भाव से उसका निर्वहन करने की दृष्टि से आप घर लौट आये। सर्वथा निष्क्रिय, आकांक्षा-शून्य, उदासीन भाव से अपने लौकिक कार्य करते हुए, घर में रहने पर भी आपका ध्यान साधना में ही रहता और अपना अधिकांश समय आप मन्दिर आदि एकान्त स्थानों में ही ध्यान-साधना में व्यतीत करते। महासती जी महाराज तब बालिका अवस्था में थीं किन्तु आपकी भी नैसर्गिक प्रतिभा अत्यन्त प्रखर और तीव्र थी। अपने पिताश्री के जीवन को आप बड़ी सूक्ष्मता से निहारतीं। संसार के अन्यान्य लोगों से उनमें विलक्षणता देखतीं। पिताश्री के योगलब्धिजनित चामत्कारिक प्रसंगों को जब देखतीं तो सहसा आपके मन में आता, यह कौनसा रहस्य है, गुणतत्त्व है जिसके परिणामस्वरूप पिताश्री का सबसे पृथक् एक अद्भुत व्यक्तित्व है। आपका मन उस रहस्य की खोज में खोया रहता। भीतर-ही-भीतर आपके चित्त में भी विरक्ति भाव की साधना एवं आध्यात्मिक ऊर्ध्वगामिता का उद्वेलन होता रहता।

आचार्य हरिभद्र के विवेचन के अनुसार यह कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि महासती जी में कुलयोगी के जन्मजात संस्कार थे। पैतृक वातावरण ने उनको जागृत होने का विशेष बल प्रदान किया। हृदय में उठते, उपजते, बढ़ते इन भावों का परिणाम आपकी श्रामण्य दीक्षा के रूप में परिसम्पन्न हुआ। स्थानकवासी श्रमण संघ मरुधरामंत्री मुनि श्री हजारीमल जी म.सा. की छत्रछाया में महासतीजी गुरुणीवर्या श्री सरदारकुंवर जी की अन्तेवासिनी के रूप में आप दीक्षिता हुईं।

जब किसी अंकुरित पादप को समुचित भूमि, वायु, जल, प्रकाश आदि अनुकूल साधनों का सहयोग मिल जाता है तो वह स्वल्पकाल में ही विकसित, संबर्द्धित, पल्लवित और पुष्पित होने लगता है। महासती जी के जीवन में ऐसा ही घटित हुआ। अपने गुरुदेव हजारीमल जी म.सा., उनके गुरुबन्धु स्वामी जी श्री ब्रजलाल

जी म.सा. तथा पं. रत्न प्रबुद्ध ज्ञानयोगी श्री मिश्रीमल जी म.सा. 'मधुकर' इन तीनों का सान्निध्य और उनसे प्राप्त विद्या, साधना और आत्मोन्नति के बीजमन्त्रों को महासती जी ने बड़ी ही लगन और तन्मयता से सहज आत्मसात् किया। आप विद्या एवं आत्मोपासना में उत्तरोत्तर अग्रसर होती गईं। आगम, शास्त्र, दर्शन, साहित्य आदि अनेक विषयों का प्रबुद्ध मनीषियों के सहयोग से आपने अध्ययन किया और अपने उस प्राप्त ज्ञान को अध्यात्मयोग के ताने-बाने में बुन लिया। आप ज्ञान द्वारा अपनी साधना को परिपक्व बनाने की दिशा में सदैव अग्रसर रहीं।

अध्यात्मयोग-साधनामय जीवन में वाञ्छित गुण यथा निरहंकार, निःस्पृहता, अकिंचनता, सरलता, मृदुता, ऋजुता, सहजता, सौम्यभाव आदि अपने गुरुजनों से विशेषतः महान् साधक श्री मधुकर मुनि जी से प्राप्त किये। मुनिश्री के जीवन की ये दुर्लभ विशेषताएँ थीं, जो मानों उन्होंने अपनी इस योग्य शिष्या को भलीभाँति सँभला दी। आचार्य हरिभद्र सूरि ने जिन गुणों को योगी के लिए पूर्व सेवा के रूप में व्याख्यात किया है उन्हें महासती जी ने सहज रूप में आत्मसात् कर लिया।

योग के गहन अध्ययन और तदनुसार साधनाप्रवण रहने का भाव आपके मन में समुदित रहा। आपने पातंजल योग, आचार्य हरिभद्र का योग साहित्य, आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र इत्यादि ग्रन्थों का परिशीलन किया। आपकी सदैव यह भावना रही है कि हर व्यक्ति चाहे श्रमण जीवन में हो या श्रमणोपासक के जीवन में हो, अध्यात्मयोग की साधना करे। अबसे 39 वर्ष पूर्व आपने मुनि समदर्शी जी तथा पं. शोभाचन्द्र जी भारिल्ल के साथ 'योगशास्त्र' का सम्पादन किया, जिसका दिल्ली से प्रकाशन हुआ। हिन्दी अनुवाद के साथ 'योगशास्त्र' का संभवतः यह पहला संस्करण था। उसकी भूमिका जैनजगत् के महान् विद्वान्, लेखक, कवि, उपाध्याय श्री अमरमुनि जी ने लिखी। इससे महासती जी की योग में अनन्य अभिरुचि सिद्ध होती है। अध्ययन के क्षेत्र में इस ग्रन्थ का अत्यधिक उपयोग हुआ और आज भी हो रहा है।

महासतीजी के विचारों में सदा से बड़ी ही उदारता, असंकीर्णता और व्यापकता रही है। यही कारण है कि आपने जैन-जैनेतर सभी महापुरुषों तथा महान् साधकों से वैचारिक आदान-प्रदान करने के महत्त्वपूर्ण अवसर प्राप्त किये। विशेषतः निर्गुणमार्गी सन्त परम्परा के रामस्नेही सम्प्रदाय के साधक-साधिकाओं के साथ महासती

जी का अनेक बार मिलना-जुलना होता रहा है। परस्पर साधना-विषयक विचारों का आदान-प्रदान, परीक्षण-समीक्षण आदि होता रहा है। आपकी सदैव यह मानसिकता रहती है कि आपकी सद्वस्तु औरों तक पहुँचे तथा औरों के सद्वस्तुओं से हम लाभान्वित हों। इसे आपका सौभाग्य ही मानना चाहिए कि वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ के प्रथम पट्टधर जैनधर्मदिवाकर, आगमों के उद्भट विद्वान् योगिराज श्री आत्माराम जी म. सा. का निरन्तर छह मास का सान्निध्य आपको प्राप्त हुआ। महासती जी को सुयोग्य शिष्या जानते हुए पू. आत्माराम जी म.सा. ने अपने बहुमूल्य ज्ञान रूपी रत्न आपको सस्नेह समर्पित किये क्योंकि वे जानते थे कि आप उनका आत्म-कल्याण और लोककल्याण में सदुपयोग करती रहेंगी। उन्होंने अपनी रहस्यमय साधना के सूत्र भी आपके समक्ष उद्घाटित किये।

राजस्थान, मालवाप्रदेश, पंजाब, काश्मीर, सौराष्ट्र आदि यात्राओं में जहाँ एक ओर महासती जी द्वारा धर्मोद्योत का महान् कार्य चलता, साथ-ही-साथ आप अपनी ध्यानमूलकसाधना में निरन्तर संप्रवृत्त रहती तथा जहाँ भी अवसर-सुयोग मिलता महान् सन्तों-साधिकाओं के साथ आध्यात्मिक विचार-विमर्श करतीं। इसे आप अपनी ज्ञानाराधना और साधना का ही अंग मानती हैं।

महासती जी की यह भावना है कि जैन आचार्यों के योगविषयक ग्रन्थ यदि हिन्दी अनुवाद के साथ जन-जन के हाथों में आयें तो वे उनके लिए बड़े कल्याणकारी सिद्ध हो सकते हैं। यही कारण है कि उनकी प्रेरणा से सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ. छगनलाल जी शास्त्री ने आचार्य हरिभद्र के द्वारा रचित 'योगदृष्टि-समुच्चय', 'योगबिन्दु', 'योगशतक', 'योगविशिका' नामक चार ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद और विवेचन प्रस्तुत किया। इन ग्रन्थों का 'योगचतुष्टय' के नाम से सन् 1981 में मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन समिति, ब्यावर की ओर से प्रकाशन हुआ। इन चारों ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद होने एवं उसके प्रकाशित होने का यह पहला अवसर था, जिसका श्रेय परम श्रद्धेया गुरुवर्या श्री उमरावकुंवर जी म.सा. 'अर्चना' को है। जैन विद्या के क्षेत्र में यह ग्रन्थ आज समस्त भारतवर्ष में अध्ययन-अध्यापन के उपयोग में आता है।

ध्यान का महासतीजी के साथ वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा देह के साथ अन्न एवं जल का। जैसे शरीर टिकाने हेतु इनका उपयोग आवश्यक है वैसे ही महासती

जी के लिए नियमित रूप से ध्यान करना आवश्यक है। इसी का यह परिणाम है कि आपकी वाणी, भाव, मुद्रा और व्यक्तित्व में एक आध्यात्मिक ओजस्विता, वर्चस्वता और साथ-ही-साथ सुकुमारता के भी दर्शन होते हैं। महासती जी ने योग को जन-जन के लिए उपयोगी और अभ्यास करने योग्य बनाने के लिए एक संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित पद्धति का आविष्कार किया है, जिसका वह साधक-साधिकाओं को शिक्षण-प्रशिक्षण देती रहती हैं। यद्यपि यह विषय तो साक्षात् उनसे सीखने का ही है किन्तु संक्षेप में उसका निष्कर्ष यहाँ उपस्थित किया जा रहा है।

महासती जी की यह ध्यान विधि प्रार्थनामुद्रा, योगमुद्रा, दीपकमुद्रा, वीतरागमुद्रा तथा आनन्दमुद्रा के रूप में पाँच विधाएँ लिये हुए हैं। इसके सहारे अनेक साधक-साधिकाओं ने अभ्यास किया है और उसमें स्पृहणीय प्रगति भी की है।

महासती जी इस सम्बन्ध में समय-समय पर प्रशिक्षण भी दिया करती हैं। उसी के आधार पर यहाँ इस ध्यान विधि को संक्षेप में प्रस्तुत कर रहे हैं-

मुद्रा और ध्यान का सम्बन्ध :

मुद्रा शब्द मुद् धातु से बना है, जिसका सामान्य अर्थ प्रसन्नता है। पारम्परिक दृष्टि से देवताओं को प्रसन्न करने के लिए अथवा जिन्हें देखकर देवता प्रसन्न होते हैं, उन्हें तन्त्र शास्त्र में मुद्रा कहा जाता है।

मुद्रा में सामान्यतया हाथ और अंगुलि की विशेष प्रकार की आकृतियाँ बनाई जाती हैं। विभिन्न परम्पराओं में मुद्रा शब्द के विभिन्न अर्थ रहे हैं किन्तु योगपरम्परा में मुद्रा का अर्थ विशिष्ट प्रकार के आसन आदि में रहा है। जैन धर्म में मुद्रा का मुख्य प्रयोजन चित्त की प्रसन्नता ही माना गया है। जैन दर्शन आत्मोन्मुखी दर्शन है अतः उसकी दृष्टि में मुद्रा वस्तुतः वह पद्धति है जिसके माध्यम से चित्तवृत्ति को एकाग्र करने का अभ्यास किया जाता है। जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में कहा गया है कि बन्दन, ध्यान एवं सामायिक करते समय मुख एवं शरीर के विभिन्न अंगों की आकृति बनाई जाती है, उसे मुद्रा कहते हैं। वस्तुतः जैन परम्परा में जिन मुद्राओं को उल्लिखित किया गया है और पूज्या साध्वी श्री उमरावकुंवर जी म.सा. 'अर्चना' ने जिन्हें ध्यानसाधना का एक आवश्यक अंग माना है, उनमें योगमुद्रा, जिनमुद्रा आदि महत्त्वपूर्ण हैं। जिनमुद्रा

वस्तुतः कायोत्सर्ग की एक विधि विशेष है। दोनों भुजाओं को लटकाकर दोनों पैरों में चार अंगुल का अन्तर रखकर तथा दृष्टि को पैरों के अंगूठे पर केन्द्रित करने को जिनमुद्रा कहते हैं। इसी प्रकार पद्यासन या पत्यंकासन में बैठकर दोनों हाथों की हथेलियों को एक के-ऊपर-एक रखकर तथा दृष्टि को नासाग्र पर स्थिर रखने को योगमुद्रा कहते हैं। वस्तुतः इन मुद्राओं का प्रयोजन शारीरिक स्थिरता भी है। जब तक शरीर चंचल रहता है चित्त भी स्थिर नहीं हो पाता। अतः चित्तवृत्तियों की एकाग्रता के लिए शरीर की एकाग्रता आवश्यक मानी गयी है। शरीर की स्थिरता पर ही मन की स्थिरता बनती है। जैन परम्परा में कायोत्सर्ग के पूर्व तीन आवश्यक शर्तें हैं। एक शरीर की स्थिरता, वचन की मौनता और चित्त की एकाग्रता। पूज्या महासती जी का मानना है कि जब तक शरीर स्थिर नहीं होगा, वाणी का मौन नहीं होगा तब तक चित्त की स्थिरता सम्भव नहीं होगी।

अतः आपने चित्त की स्थिरता के लिए मुद्राओं के महत्त्व को विशेष रूप से रेखांकित किया है। मुद्रा के माध्यम से दैहिक गतिविधियाँ स्थिर होती हैं और उन दैहिक गतिविधियों के स्थिर होने से मन में भी स्थिरता आती है। स्थिर मन में प्रसन्नता या आनन्द की अनुभूति होती है। उनका मानना है कि तनावों से मुक्ति के लिए, हमें ध्यान के इस प्रथम अंग पर विशेष रूप से ध्यान देना होगा। सामान्यतया आज ध्यान की जो विधियाँ प्रचलित हैं वे इस प्राथमिक आवश्यकता को दृष्टि से ओझल कर देती हैं। यही कारण है कि दैहिक स्थिरता के अभाव में ध्यान की विविध पद्धतियाँ लक्ष्य को प्राप्त करने में असफल रही हैं। इसीलिए पूज्य साध्वीजी ने ध्यानविधि में मुद्राओं की आवश्यकता को विशेष रूप से रेखांकित किया है। जैन ध्यान साधना की विकासयात्रा में आपका यह दृष्टिकोण निश्चित रूप से मूल को पकड़ने जैसा है। अपनी ध्यान साधना विधि में आपने मुख्य रूप से चित्त को केन्द्र में ही माना है किन्तु उसके लिए मुद्रा को प्राथमिक आवश्यक बताया है। उनकी यह बात जैन परम्परा से भी सम्मत लगती है क्योंकि कायोत्सर्ग या ध्यान करने के पूर्व जैन परम्परा में जो “तस्स उत्तरी” या “आगार सूत्र” बोला जाता है उसमें स्पष्ट रूप से अन्तिम वाक्य “ठाणेणं मोणेणं झाणेण अप्पाणं वोसिरामि” है ठाणेणं का अर्थ दैहिक स्थिरता ही है और उसे ही मुद्रा कहा जाता है और वही ध्यान साधना का प्रथम चरण है। इस प्रकार पूज्या महासती जी ने जैन ध्यान विधि में मुद्रा को महत्त्व देकर अपना विशेष योगदान किया है।

(1) प्रार्थना मुद्रा :

श्रद्धा जीवन की दिव्यता का निदर्शन है। श्रद्धा में अहंकार-विसर्जन तथा स्वरूप-दर्शन का दिशाबोध है। वह अन्तःपरिष्कार की प्रक्रिया है। प्रार्थना श्रद्धा प्रसूत थी, है और श्रद्धावर्द्धक भी है। प्रार्थना में अर्चना के साथ जुड़ा प्र उपसर्ग चाह या मांग में एक वैशिष्ट्य का सूचक है। वह विशिष्ट पुरुषार्थ या आत्मजागरण का सन्देश है। रागद्वेषातीत, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परमात्मा, परम पुरुष या परब्रह्म का आदर्श प्रार्थी के समक्ष रहता है। प्रार्थी, प्रार्थना जो अन्तःप्रेरणा संजोने का रहस्यमय अर्थ लिये है, करता हुआ बहिरात्मभाव से अन्तरात्मभाव में जाकर परमात्मभाव की उपलब्धि के लिए उद्यम करता है।

प्रार्थनावस्था में साधक वज्रासन में स्थित हो। ध्यान रहे, यहाँ वज्रासन का कोई आग्रह नहीं है। यदि साधक को अधिक अनुकूलता हो तो वह सुखासन, कमलासन आदि किसी अन्य आसन का भी उपयोग कर सकता है। साधक के दोनों हाथ जुड़े हों। संयुक्त दोनों अंगुष्ठ नासाग्र पर लगे हों। यह कार्य-स्थिति भावों के अन्तःपरिणमन में प्रेरक और सहायक होती है।

साधक शब्दानुरूप भावानुभूति का प्रयत्न करता हुआ निम्नांकित वाक्यों का उच्चारण करे-

मुझे सिद्धि की कामना है,

प्रसिद्धि की नहीं।

मुझे प्रेम चाहिए,

दया नहीं।

अपने पुरुषार्थ से ही प्राप्य को पाना है,

किसी की दया से नहीं।

आत्मा में समग्र, सर्वव्यापी प्रेम, विश्ववात्सल्य के उद्रेक द्वारा संकीर्ण स्वार्थ का परिहार और वीतरागभाव के स्वीकार का उत्साह इनसे ध्वनित होता है।

योग मुद्रा के प्रकार



प्रार्थनामुद्रा



योगमुद्रा



आनन्दमुद्रा



वीतरागमुद्रा



दीपकमुद्रा

यह अभ्यास की प्रथम भूमिका है, जिससे साधक निर्विकार और निर्मल मनःस्थिति को पाने की ओर अग्रसर होता है।

४) योग मुद्रा :

यह मुद्रा ध्यान साधना की दूसरी स्थिति है। साधक पद्मासन या सुखासन में संस्थित हो। दोनों हाथों की मध्यमा, अनामिका और कनिष्ठिका-तीनों अंगुलियाँ सीधी रहें। अंगुष्ठ और तर्जनी परस्पर संयुक्त रहें। यह कायस्थिति एक विशेष भाव-बोध की उद्भाविका है। तीनों सीधी अंगुलियाँ मानसिक शुद्धि, वाचिक शुद्धि और कायिक शुद्धि की प्रतीक हैं जिनसे आधि, व्याधि और उपाधि अपगत होती है। आधि मानसिक रुग्णता, वेदना या व्यथा के अर्थ में है। व्याधि से आशय दैहिक अस्वस्थता, पीड़ा या कष्ट है। उपाधि मन-वचन एवं देह की संकल्प-विकल्प युक्त स्थिति की या असंतुलित, अस्थिर और अव्यवस्थित दशा की द्योतक है। मानव की ये बहुत बड़ी दुर्बलताएँ हैं। इन्हें पराभूत करने का अर्थ सत्य-पथ पर अग्रसर होना है। सत्य को आत्मसात् करना, उस पर सुप्रतिष्ठ होना ही वस्तुतः सम्यक्त्व है जो आत्मोत्कर्ष का आद्य सोपान है।

सांख्यदर्शन के अनुसार यह जागतिक सृष्टि त्रिगुणात्मिका है। सत्त्व, रजस् तथा तमस्-इन तीनों गुणों का समवाय-सहवर्तित्व जगत् है। गुणत्रय से अतीत होने का आशय शुद्ध स्वरूप का अधिगम है। तीनों सीधी अंगुलियाँ त्रिगुणातीत होने को उत्प्रेरित करती हैं।

अंगुष्ठ परमात्मा, ब्रह्मा, समाधि या परमधाम का प्रतीक है और तर्जनी जीवात्मा की। तर्जनी और अंगुष्ठ का संयोग जीव के ब्रह्म-सारूप्य को या आत्मा की परमात्मभाव की ओर गतिशीलता का सूचक है।

उपर्युक्त चिन्तन-धारा का आधार लेकर साधक बहिर्निर्पेक्ष बन आत्मसापेक्ष और अन्ततः परमात्म-सापेक्ष स्थिति प्राप्त करने को तत्पर या प्रयत्नशील रहता है।

५) दीपकमुद्रा :

दीपक ज्योति का प्रतीक है। दीपक का अर्थ भी बड़ा सुन्दर है, जो दीप्त करे। दीपक मुद्रा में साधक सुखासन या पद्मासन में संस्थित हो, अपने दोनों हाथों

की मध्यमा अंगुलियों को सीधा करे, उनके सिरों को परस्पर मिलाए, अवशिष्ट अंगुलियों तथा अँगूठों को मोड़े रहे। यों दीपज्योति जैसा स्थूल आकार निर्मित होता है।

दीपक मुद्रा आत्मा की दिव्य ज्योति, शक्ति या ऊर्जा की प्रतीति कराती है। योगमुद्रा द्वारा उत्प्रेरित अन्तर्जगत् की यात्रा में बाह्य उपादान छूटते जाते हैं, अन्तर्जगत् की ओर साधक के कदम बढ़ते जाते हैं, साधक आत्मज्योति पर अपने को टिकाता है। इस टिकाव से पूर्वाभ्यास प्राप्त उत्कर्ष की स्थिरता सधती है।

यह बड़ी सूक्ष्म, स्फूर्त एवं ज्वलन्त चिन्तनधारा है। इसके द्वारा चिन्तनक्रम पर-पराङ्मुख और स्वोन्मुख बनता है। साधक आगे बढ़ता जाता है।

(4) वीतराग मुद्रा :

वीतराग वह दशा है, जहाँ साधक राग, द्वेष, काम-क्रोध, लोभ, मोह आदि से विरत होने की अनुभूति करता है। यद्यपि तात्त्विक दृष्ट्या तदनु रूप कार्यक्षयात्मक स्थिति जब तक निष्पन्न नहीं होती, तब तक पूर्ण वीतरागता सर्वथा प्राप्त नहीं हो सकती, किन्तु तदनु रूप कर्मक्षयोन्मुख पुरुषार्थ पुरस्कार हेतु साधक वीतरागत्व के ध्यानात्मक अभ्यास में अभिरत होता है, जो उसके लिए परम हितावह है।

इस मुद्रा में साधक प्रशान्तभाव से सुखासन में स्थित हो। बायें हाथ (हथेली) पर दायें हाथ (हथेली) को रखे। निम्नांकित श्लोक के आदर्श को दृष्टि में रखे-

रागद्वेषविजेतारं, ज्ञातारं विश्ववस्तुनः।

शक्रपूज्यं गिरामीशं, तीर्थेशं स्मृतिमानये ॥

रागद्वेषविजय, देहातीत एवं साक्षीभाव की अनुभूति इस मुद्रा का उद्दिष्ट है। जगत् देह के प्रति सर्वथा अनासक्त, असंपृक्त भावमूलक चिन्तन, मनन एवं निदिध्यासन आगे बढ़े, अपने शुद्ध स्वरूप की ज्ञप्ति, प्रतीति अनुभूति सधे, इस दिशा में साधक की स्थिरतामय दशा इस मुद्रा में निष्पन्न होती है। यह अनुभूतिप्रवण दशा है, जिसे शब्दबद्ध नहीं किया जा सकता। इससे साधक निःसन्देह अपने जीवन में दिव्य शान्ति एवं समाधि दशा का अनुभव करते हैं।

आनन्दमुद्रा :

पिछली चार मुद्राओं की फलनिष्पत्ति इस पाँचवीं मुद्रा में है। प्रार्थना बीज, योगमुद्रा, अंकुर, दीपकमुद्रा पादप, वीतरागमुद्रा फलोद्गम तथा आनन्दमुद्रा फल की रसानुभूति से उपमित की जा सकती है।

साधनारत आत्मा का परमात्मभाव के साक्षात्कार की दिशा में अभिवर्धनशीलक्रम के अन्तर्गत ज्यों-ज्यों बहिर्भाव से पार्थक्य होता जाता है, उसकी दृष्टि स्वोन्मुख बनती जाती है। रग-द्वेष के बंधन तड़ातड़ टूटने लगते हैं। यह सब ज्यों ही सध जाता है, असीम आनन्द की अनुभूति होती है जो सर्वथा पर-निरपेक्ष और स्व-सापेक्ष होती है। यह वह आनन्द है, जिसके लिए जगत् में कोई उपमान नहीं है। इस अखण्ड, अनवच्छिन्न, असीम आनन्द की अनुभूति के कुछ ही क्षण अन्तरतम में ऐसी उत्कण्ठा जगा जाते हैं, जो जीवन को एक नया मोड़ देती है, जो इस मुद्रा द्वारा गम्य है।²¹

महासती जी ने विभिन्न मुद्राओं के आधार पर जो ध्यान विधि आविष्कृत की है वह जैनयोग, पातंजल योग, निर्गुणमार्गी सन्तों द्वारा स्वीकृत ध्यानयोग से समन्वित है। साथ-ही-साथ इसमें वीतरागभाव का संयोजन होने से यह उपक्रम आर्हतं दृष्टिकोण में समाहित हो जाता है।

व्यस्त जीवन में लोगों के पास इतना अवकाश नहीं है कि वे साधना या ध्यान में अधिक समय दे सकें। न योगविषयक विस्तृत ग्रन्थों के पढ़ने का ही उन्हें समय है। अत्यन्त संक्षिप्त और सरल विधि ही व्यावहारिक दृष्टि से जन-जन के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती है। यही कारण है कि महासती जी जहाँ प्रवास करती हैं वहाँ नित्य प्रति इसके अभ्यासार्थी साधक-साधिकाओं का निरन्तर आवागमन रहता है और वे सभी लाभान्वित होते हैं। महासती जी से इस विधि को सीखे हुए योग्य भाई-बहन अपने परिवार में तथा अपने यहाँ के आध्यात्मिक योग में रुचिशील जनों में इसका यथासम्भव प्रसार करते हैं।

जिन-जिन ने इसका अभ्यास किया है उनकी ऐसी प्रतिक्रियायें ज्ञात हुई हैं

कि मन में जो तनाव रहता था, वह दूर हो गया है। लौकिक कार्यों में जो ममत्व व आसक्ति रहती थी वह भी धीरे-धीरे घटती जा रही है। प्रतिकूल परिस्थितियों में आत्मस्थ और धीर रहने का उनका अभ्यास बढ़ता जा रहा है। धार्मिक कार्यक्रमों में अभिरुचि जागृत हुई है और अब अन्यायपूर्ण कार्यों में हाथ डालने का दुस्साहस नहीं होता। अधिक जन-संकुल स्थान में मन ऊबने लगता है। शान्त परिवेश और वातावरण मन को भाने लगा है।

न केवल जैन समाज में महासती जी का समत्व भाव सहज रूप में व्याप्त है, अपितु आप जैन-जैनेतर किन्हीं में भेद नहीं करती हैं। यही कारण है कि आपके पास सभी सम्प्रदाय के भाई-बहन बड़े उत्साह एवं श्रद्धा भाव के साथ आते हैं और आपसे कुछ सीखने का प्रयत्न करते हैं। जहाँ भी आपका प्रवास होता है एक प्रकार से वह स्थान ध्यान शिविर या ज्ञान यज्ञ का रूप ले लेता है।

आचार्य शिवमुनि की ध्यान साधना विधि :

जैन योग ध्यान-साधना के वर्तमान में गतिशील विभिन्न पद्धति क्रमों के उद्भावक महापुरुषों में श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ के चतुर्थ पट्टधर आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी म.सा. का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

आपने जैनेतर साधना पद्धतियों का ज्ञान केवल तद्विषयक साहित्य पढ़कर ही प्राप्त नहीं किया, बल्कि स्वयं उनमें संलग्न होकर अनुभव प्राप्त किया। ऐसा करने से ही किसी विषय का वास्तविक बोध हो सकता है। केवल सिद्धान्तों के पठन से यह नहीं होता। आचार्यप्रवर ने इन सब ध्यान मूलक साधनाओं के सूक्ष्म, गंभीर परिशीलन और अभ्यास पूर्वक क्रियान्वयन के अनन्तर एक विशेष ध्यान पद्धति प्रस्तुत की है जिसका अवलम्बन कर संयमी एवं गृही दोनों ही प्रकार के साधक अपने जीवन में आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त कर सकते हैं।

आचार्य श्री शिव मुनि द्वारा संचालित ध्यान-योग-साधना-विधि का मूल आधार है - वर्तमान में जीना, चित्त का मौन और आत्मशुद्धि। उनका कहना है कि वर्तमान के प्रति सजगता, चित्त की समाधि-दशा एवं प्रेम का जब मिलन होता है, तब साधक को आनन्दानुभव होता है। उस आनन्द को प्रतिक्षण जीना और जानना यह सूत्र इस साधना का अभिन्न अंग है।

ध्यान है चित्त का मौन हो जाना : साधक स्वभाव में लीन होकर, संकल्प-विकल्प रहित होकर चित्त की वृत्तियों को शांत करने का प्रयास करता है। चित्त की वृत्तियों का शांत हो जाना ही आन्तरिक मौन है, वह मौन ही ध्यान है।

सम्यग्दर्शन : दृष्टि में दोष विरहित, मौन समाधिस्थ चित्त विश्व को जैसा है, वैसा जानता है इसे हम सम्यक् दृष्टि कहते हैं। वस्तुतः मौन ध्यान सम्यग्दर्शन का अनुभव है।

आत्म-शुद्धि - आत्मशुद्धि अर्थात् स्वयं की शुद्धि। स्वयं की शुद्धि के अन्तर्गत निम्न पहलुओं का समावेश होता है

- (1) **काय शुद्धि** - विभिन्न पुरातन यौगिक क्रियाओं के माध्यम से कायशुद्धि।
- (2) **वचन शुद्धि** - वाणी-संयम एवं मौन के अभ्यास द्वारा वचन शुद्धि।
- (3) **आहार शुद्धि** - जैसा खाए अन्न, वैसा होवे मन अतः सात्त्विक आहार का बोध।
- (4) **प्राण शुद्धि** - प्राणायाम एवं विभिन्न ध्वनियों के माध्यम से प्राणशुद्धि।
- (5) **चित्त शुद्धि** - विभिन्न विकारों एवं विचारों से ग्रस्त चित्त का ध्यान एवं समाधि के माध्यम से शुद्धीकरण, शुद्ध चैतन्य की अनुभूति।

इस प्रकार यह एक पूर्ण साधना है। आत्मा की सर्वाङ्गीण शुद्धि है। शरीर और मन से भी परे यह ध्यान साधना है। प्रस्तुत साधना का मूल है - अकर्म अर्थात् कुछ न करते हुए भी पूर्ण आनन्द से भर जाने की साधना और यह होता है आत्मशुद्धि से।

इस साधना से सहज, सरल और तनावमुक्त होकर प्रतिक्षण आनन्दित जीवन जीने का अनुभव साधक को मिलता है तथा वह वर्तमान में बढ़ते हुए असाध्य रोगों से छुटकारा पाता है। उसकी कार्यक्षमता में वृद्धि होती है, आपसी सम्बन्धों में मधुरता आती है, बुद्धि के स्तर से ऊपर उठकर हृदय की भावनाओं का विस्तार होता है 'शिवमस्तु सर्वजगतः' या 'जीवो मंगल के' की भावना होता है। स्वयं का, परिवार का एवं विश्व का मंगल होता है।²²

22. ध्यान एक दिव्य साधना, पृ. 66-70

आचार्य महाप्रज्ञ का प्रेक्षाध्यान :

वर्तमान में जैनध्यानविधाओं में प्रेक्षाध्यान का बहुत प्रसार है। अधुना, जैन श्वेताम्बर तेरापंथ के दशम आचार्य संस्कृत, प्राकृत आदि प्राच्य भाषाओं एवं भारतीय दर्शनों के विशेषतः जैनदर्शन के भारतविख्यात विद्वान् आचार्य श्री महाप्रज्ञ हैं। नाम के अनुरूप ही वास्तव में वे विलक्षण प्रज्ञा व प्रतिभा के धनी हैं। महान् लेखक हैं, संस्कृत के आशुकवि हैं। आचार्यश्री तुलसी के वाचना-प्रमुखत्व में आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने अनेक जैनागमों के सूक्ष्म विश्लेषण एवं विवेचन के साथ उनका संपादन-अनुवाद आदि किया है। वास्तव में, पाठ-शोधन तथा सुव्यवस्थित संपादन की दृष्टि से ये आगम बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। अध्येताओं और अनुसंधाताओं के लिए बड़े ही उपयोगी हैं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ जी का जन्म झुंझुनू जिले में टमकोर नामक ग्राम में हुआ। उन्होंने बाल्यावस्था में ही अपनी माता और बहन के साथ आचार्यश्री कालू गणि से श्रमणदीक्षा प्राप्त की। जन्मजात प्रज्ञा से विभूषित थे। बचपन से ही अपने दीक्षागुरु आचार्यश्री कालूगणि के सान्निध्य में रहे तथा उनकी छत्रछाया में आचार्यश्री तुलसी से विद्याध्ययन किया। आचार्यश्री तुलसी बड़े सुयोग्य विद्वान् थे। आचार्य श्री कालूगणि ने बालसंतों के अध्यापन का कार्य उन्हें सौंपा था।

श्री महाप्रज्ञ जी का पूर्व नाम मुनिश्री नथमल जी था। आप अध्ययन में उत्तरोत्तर प्रगति करते गये। संस्कृत तथा भारतीय वाङ्मय का उच्च अध्ययन करने में आपको संस्कृत के महान् विद्वान् आशुकविरत्न पं. रघुनन्दन शर्मा का योगदान मिला। मुख्य बात तो यह है कि महाप्रज्ञ जन्म से ही विद्या के अत्यन्त उच्च संस्कार लेकर आये थे, जो विकास और उन्नयन का ज्यों-ज्यों अवसर मिला, सम्बर्द्धित होते गये। अपने मुनि जीवन में ही आपने संस्कृत, हिन्दी में अनेक ग्रन्थों की रचना की, जो आदर्श साहित्य संध, जैन विश्व भारती आदि संस्थाओं की ओर से प्रकाशित हैं। आपने पूना, वाराणसी आदि विद्या केन्द्रों में अपने वैदुष्य से अनेक प्रशस्तियाँ अर्जित कीं। आप आचार्यश्री तुलसी के परमकृपापात्र थे। आपके व्यक्तित्व और कृतित्व से आचार्यश्री तुलसी प्रभावित थे। उन्होंने आपको अपने जीवन-काल में ही युवाचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया तथा विशेष रूप से जैन योग पर युगानुकूल सरल समीचीन ध्यान पद्धति आदि के निष्पादन का महत्त्वपूर्ण कार्य सौंपा। आपने अपने गुरुदेव द्वारा

सौंपे गये उत्तरदायित्वों को बड़ी ही निष्ठा, लगन एवं अभिरुचि के साथ संपन्न करने में अपने आपको लगा दिया। उन्हीं की प्रेरणा से प्रेक्षा ध्यान के रूप में एक अभिनव मौलिक जैन ध्यान पद्धति का सूत्रपात किया जो आज भारतवर्ष में अनेक स्थानों पर प्रचार-प्रसार करती जा रही है। श्रमण-श्रमणियों के माध्यम से यूरोप-अमेरिका आदि में भी इसका प्रचार हो रहा है।

प्रेक्षा शब्द की संरचना 'प्र' उपसर्ग और 'ईक्ष्' धातु के योग से हुई है। 'प्र' उपसर्ग का अर्थ उत्कृष्ट या प्रकृष्ट है। ईक्ष् धातु देखने के अर्थ में है। यों प्रेक्षा का अर्थ उत्कृष्ट रूप में, गहराई से, सूक्ष्मता से देखना है। विपश्यना का भी यही अर्थ है। जैन साहित्य में प्रेक्षा और विपश्यना ये दोनों शब्द प्रयुक्त हैं। विपश्यना बौद्ध साधना पद्धति की एक प्रक्रिया के रूप में विश्रुत है। जैन और बौद्ध पद्धतियाँ एक ही समय और एक ही क्षेत्र में विकसित हुईं, इसलिए दोनों साधन-पद्धतियाँ एक नाम से पहचानी जाती हैं। हम सामान्य आँखों से देखते हैं उसे ईक्षा या ईक्षण कहा जाता है। यह सामान्य दर्शन भी बड़ा विलक्षण है। विज्ञान के अनुसार मनुष्य का यह छोटा सा शरीर छह सौ खरब कोशिकाओं से बना है। संसार के अनेक जटिलतम यन्त्रों से सज्जित एक कारखाने से भी यह शरीर कहीं ज्यादा जटिल और संग्रथित है। शरीर के एक-एक अंग की अपनी विलक्षणता है। वैज्ञानिक बतलाते हैं कि एक आँख के सिक्के जितने भाग में एक करोड़ बीस लाख 'कोन' और सित्तर लाख 'रोड़' कोशिकायें हैं। मस्तिष्क में दस लाख नर्व युक्त ऑप्टिक नर्व हैं जो दृष्टिकेन्द्र तक दृष्टि को पहुँचाती हैं। बहिर्जगत् को देखने और जानने की यह क्रिया नेत्र एवं मस्तिष्क द्वारा प्रतिक्षण होती रहती है। इस क्रिया से अन्य को तो देखा जा सकता है किन्तु अपने आपको पहचानने में ये चर्म-चक्षु सफल नहीं होते। बाह्य जगत् को देखने के ये सब प्रयोग ईक्षण या ईक्षा के अन्तर्गत हैं। किन्तु अपने आपको पहचानने में ये चर्म-चक्षु समर्थ नहीं होते। उसकी पहचान तो आन्तरिक चक्षुओं के प्रयोग के द्वारा ही होती है।²³ "संपिक्खए अप्पगमप्पणं" दशवैकालिक सूत्र की इस युक्ति में प्रेक्षा का मूल बीज सन्निहित है। साधक आत्मा द्वारा आत्मा का संप्रेक्षण करें। इस सूत्रात्मक वाक्य में प्रेक्षा का हार्द समाविष्ट है।

जानना और देखना चेतना का लक्षण है। आवृत्त चेतना में जानने और देखने

23. प्रेक्षा : एक परिचय

की क्षमता क्षीण हो जाती है। उस क्षमता को विकसित करने का सूत्र है-जानो और देखो। भगवान महावीर ने साधना के जो सूत्र दिये हैं, उनमें 'जानो और देखो' यही मुख्य है। 'चिन्तन, विचार या पर्यालोचन करो', यह बहुत गौण और बहुत प्रारम्भिक है। यह साधना के क्षेत्र में बहुत आगे नहीं ले जाता।

'आचारांग सूत्र' में पुनःपुनः यह कहा गया है कि हे आर्य ! तू जन्म और वृद्धि के क्रम को देख।²⁴ जो क्रोध को देखता है, वह मान को देखता है। जो मान को देखता है, वह माया को देखता है। जो माया को देखता है, वह लोभ को देखता है, जो मोह को देखता है वह गर्भ को देखता है, वह जन्म को देखता है। जो नरक और तिर्यच को देखता है, वह दुःख को देखता है, जो दुःख को देखता है, वह क्रोध से लेकर दुःख पर्यन्त होने वाले इस चक्रव्यूह को तोड़ देता है।²⁵ यह निरावरण द्रष्टा का दर्शन है।²⁶ तू देख, यह लोक चारों ओर प्रकम्पित हो रहा है।²⁷ ऊपर स्रोत हैं, नीचे स्रोत हैं और मध्य में स्रोत हैं। उन्हें तुम देखो।²⁸ महान् साधक अकर्म (ध्यानस्थ मन, वचन और शरीर की क्रिया का निरोध कर,) होकर जानता-देखता है,²⁹ जो देखता है, उसके लिए कोई उपदेश नहीं होता।³⁰ जो देखता है, उसके कोई उपाधि होती है या नहीं होती ? उत्तर मिला-नहीं होती।³¹

आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में- "देखना साधक का सबसे बड़ा सूत्र है। जब हम देखते हैं तब सोचते नहीं हैं और जब हम सोचते हैं तब देखते नहीं हैं। विचारों का जो सिलसिला चलता है, उसे रोकने का सबसे पहला और अन्तिम साधन है-देखना। कल्पना के चक्रव्यूह को तोड़ने का सबसे सशक्त उपाय है-देखना। आप स्थिर होकर अनिमेष चक्षु से किसी वस्तु को देखें, विचार समाप्त हो जायेंगे, विकल्प शून्य हो जाएंगे। आप

24. आचारांग सूत्र, 3.26

25. वही, 3.83, 84

26. वही, 3.85

27. वही, 4.37

28. वही, 5.118

29. वही, 5.120

30. वही, 2.185

31. वही, 3.87

स्थिर होकर अपने भीतर देखें-अपने विचारों को देखें या शरीर के प्रकर्मों को देखें तो आप पाएंगे कि विचार स्थगित हैं और विकल्प शून्य हैं। भीतर की गहराइयों को देखते-देखते सूक्ष्म शरीर को देखने की क्षमता अपने आप आ जाती है।”

देखना वह है जहाँ चैतन्य सक्रिय होता है। जहाँ प्रियता और अप्रियता का भाव आ जाए, राग और द्वेष उभर जाएँ, वहाँ देखना गौण हो जाता है। यही बात जानने पर लागू होती है।

हम पहले देखते हैं फिर जानते हैं। इसे इस भाषा में स्पष्ट किया जा सकता है कि हम जैसे-जैसे देखते जाते हैं वैसे-वैसे जानते चले जाते हैं। मन से देखने को पश्यना (पासयणा) कहा गया है। इन्द्रिय-संवेदन से शून्य चैतन्य का उपयोग देखना और जानना है।

जो पश्यक है-द्रष्टा है, उसका दृश्य के प्रति दृष्टिकोण ही बदल जाता है।³²

भ. महावीर ऊँचे, नीचे और मध्य में प्रेक्षा करते हुए समाधि को प्राप्त हो जाते थे।³³ उक्त चर्चा के संदर्भ में प्रेक्षाध्यान का मूल्यांकन किया जा सकता है।

माध्यस्थ या तटस्थता प्रेक्षा का ही दूसरा रूप है। जो देखता है, वह सम रहता है। वह प्रिय के प्रति राग-रंजित नहीं होता और अप्रिय के प्रति द्वेषपूर्ण नहीं होता। वह प्रिय और अप्रिय दोनों की उपेक्षा करता है-दोनों को निकटता से देखता है इसीलिए वह उनके प्रति सम, मध्यस्थ या तटस्थ रह सकता है। उपेक्षा या मध्यस्थता को प्रेक्षा से पृथक् नहीं किया जा सकता। जो इस महान् लोक की उपेक्षा करता है, उसे निकटता से देखता है, वह अप्रमत्त विहार कर सकता है।³⁴ भ. महावीर ने अपने शिष्यों को भी यही उपदेश दिया कि हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।³⁵

आगमों में यत्र-तत्र अप्रमत्त की साधना के अनेक आलम्बनों का उल्लेख हुआ है। उनकी विधियाँ अनुपलब्ध हैं। आलम्बनों की विधियों का अनुसंधान व

32. वही, 2.118

33. वही, 9.4.14

34. सूत्रकृतांग सूत्र 1.12.18

35. उत्तराध्ययन सूत्र 10-1

अनुभव कर आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने प्रेक्षाध्यान के अन्तर्गत उन्हें व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया है। प्रेक्षाध्यान में आलम्बनों या प्रयोगों को बारह भागों में विभक्त किया गया है। कालान्तर में पुनः वर्गीकरण के दौरान उन्हें आठ मुख्य, चार सहायक व तीन विशिष्ट अंग के रूप में बाँटा गया है।

प्रेक्षाध्यान के मुख्य अंग : कायोत्सर्ग, अन्तर्यात्रा, श्वासप्रेक्षा, शरीरप्रेक्षा, चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा, लेश्याध्यान, अनुप्रेक्षा और भावना।

सहायक चार अंग : ध्वनि (जप), मुद्रा, आसन और प्राणायाम।

विशिष्ट तीन अंग : वर्तमान क्षण की प्रेक्षा, विचार प्रेक्षा और अनिमेष प्रेक्षा।

1. कायोत्सर्ग : काय × उत्सर्ग-इन दो शब्दों से कायोत्सर्ग शब्द बना है। इसका शाब्दिक अर्थ है शरीर का उत्सर्ग करना। इसका प्रायोगिक अर्थ है-शारीरिक-शिथिलीकरण-श्वास को शान्त करना, शरीर की चेष्टाओं को शांत करना, मन को रिक्त करना। आत्मा का अनुभव होना और शरीर के अनुभव का समाप्त हो जाना कायोत्सर्ग है। आत्मा तक पहुँचने का द्वार है कायोत्सर्ग। इससे आत्मा भिन्न है, शरीर भिन्न है, इस भेदविज्ञान का साक्षात्कार होता है।

कायोत्सर्ग के अभ्यास से अनेक निष्पत्तियाँ होती हैं-तनावमुक्ति, आत्मविशुद्धि, तितिक्षा, अनुप्रेक्षा और एकाग्रता, ज्ञाताद्रष्टा भाव का विकास, चैतन्य का साक्षात्कार आदि।

2. अन्तर्यात्रा : अन्तर्मुख होने का एक महत्त्वपूर्ण उपाय है अन्तर्यात्रा। पृष्ठरज्जु का प्रदेश ध्यान-साधना की दृष्टि से बहुत मूल्यवान है। योगशास्त्र के अनुसार इडा और पिंगला का प्राणप्रवाह शरीर की सक्रियता का प्रवाह है। सुषुम्ना निष्क्रियता या निवृत्ति का प्राण-प्रवाह है। एकाग्रता, सधन एकाग्रता और निर्विचारता-इन तीनों की साधना सुषुम्ना के प्राणप्रवाह की अवस्था में सम्यक् प्रकार से हो सकती है।³⁶

3. श्वास प्रेक्षा : शरीर और मन के साथ श्वास का गहरा सम्बन्ध है। यह एक ऐसा सेतु है, जिसके द्वारा नाड़ी संस्थान, मन और प्राणशक्ति तक पहुँचा जा सकता

है। चैतन्य के द्वारा प्राणशक्ति संचालित होती है। प्राणशक्ति के द्वारा मन, नाड़ी संस्थान और शरीर संचालित होता है। श्वास शरीर की ही एक क्रिया है। कहा जा सकता है कि श्वास को देखने का अर्थ है-प्राणशक्ति के स्पन्दनों को देखना और चैतन्य शक्ति को देखना, जिसके द्वारा प्राणशक्ति स्पन्दित होती है।

श्वासप्रेक्षा के प्रकार : श्वास दो प्रकार का होता है-ऐच्छिक और अनैच्छिक। प्रयत्न के द्वारा श्वास को दीर्घ किया जा सकता है तथा किसी एक नासारन्ध्र से लेकर दूसरे नासारन्ध्र से निकाला जा सकता है। श्वास प्रेक्षा तीन प्रकार की है -

1. सहज-श्वास प्रेक्षा, 2. दीर्घश्वास-प्रेक्षा, 3. समवृत्ति-श्वास प्रेक्षा।

4. शरीर प्रेक्षा : इसका प्रयोजन है आत्मा के प्रति जागरूकता में निरन्तरता का विकास।

सांसारिक जीव के जितना शरीर का आयतन है उतना ही आत्मा का आयतन है। जितना आत्मा का आयतन है, उतना ही चेतना का आयतन है। इसका तात्पर्य यह है कि शरीर के कण-कण में चैतन्य व्याप्त है। इसलिए शरीर के प्रत्येक कण में संवेदन होता है। उस संवेदन से मनुष्य अपने स्वरूप को देखता है, अपने अस्तित्व को जानता है, अपने स्वभाव का अनुभव करता है। शरीर में होने वाले संवेदनों को देखना चैतन्य को देखना है, उसके माध्यम से आत्मा को देखना है अर्थात् स्थूल शरीर की प्रेक्षा करते-करते सूक्ष्म शरीर का साक्षात्कार करते हैं और सूक्ष्म शरीर को देखते-देखते आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है।

5. चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा :- आत्मा और चैतन्य पूरे शरीर में व्याप्त हैं। पूरा नाडीतन्त्र चैतन्य से ओतप्रोत है। फिर भी शरीर के कुछ भाग ऐसे हैं जहाँ चैतन्य सघन रूप में व्याप्त है।

जहाँ चैतन्य सघन होता है, वह स्थान आयुर्वेद की भाषा में मर्मस्थान और हठयोग की भाषा में चक्र कहलाता है। प्रेक्षाध्यान की पद्धति में उसे चैतन्यकेन्द्र कहा जाता है।

हमारे शरीर में अनेक चैतन्यकेन्द्र हैं। प्रेक्षाध्यान की पद्धति में तरह चैतन्य केन्द्रों पर जप और ध्यान के प्रयोग किये जाते हैं, वे इस प्रकार हैं³⁷

37. वही, पृ. 102, 103

नाम	स्थान
1. शक्ति केन्द्र	पृष्ठरज्जु के नीचे के छोर पर
2. स्वास्थ्य केन्द्र	पेडू (नाभि से चार अंगुल नीचे)
3. तैजस केन्द्र	नाभि
4. आनन्द केन्द्र	हृदय के पास जहाँ गड़दा पड़ता है।
5. विशुद्धि केन्द्र	कण्ठ का मध्य भाग
6. ब्रह्म केन्द्र	जिह्वाग्र
7. प्राण केन्द्र	नासाग्र
8. अप्रमाद केन्द्र	आँखों के भीतर
9. चाक्षुष केन्द्र	कानों की लोल
10. दर्शन केन्द्र	भृकुटि का मध्यभाग
11. ज्योति केन्द्र	ललाट का मध्यभाग
12. शान्ति केन्द्र	मस्तिष्क का अग्रभाग
13. ज्ञान केन्द्र	चोटी का स्थान।

चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा चेतना के जागरण की प्रक्रिया है। चैतन्यकेन्द्रों पर ध्यान करने से सुप्त-चैतन्य केन्द्रों को जागृत किया जाता है। चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा में एक-एक केन्द्र पर चित्त को केन्द्रित कर प्रेक्षा करते हैं और वहाँ होने वाले प्राण के प्रकम्पनों का अनुभव करते हैं, क्योंकि चैतन्यकेन्द्रों को विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र माना गया है। वहाँ ध्यान करने से वे जागृत होते हैं तो अतीन्द्रिय ज्ञान की क्षमता भी उपलब्ध हो जाती है।

शक्तिकेन्द्र से ऊपर के सारे चैतन्यकेन्द्र शुभ हैं। शक्तिकेन्द्र से नीचे एड़ी तक के चैतन्यकेन्द्र अशुभ हैं। उनका सम्बन्ध मूल मनोवृत्तियों से है।

शक्ति केन्द्र मध्यवर्ती है। वह मनुष्य के विकास का पहला सोपान है और पशु के विकास का अन्तिम सोपान है।³⁸

6. लेश्याध्यान : लेश्याध्यान का प्रयोजन लेश्या की शुद्धि और उससे भावों

की विशुद्धि है। लेश्या की मंदता से अध्यवसाय की शुद्धि होती है और अध्यवसाय की शुद्धि से लेश्या की शुद्धि होती है, भावों की शुद्धि होती है।³⁹

लेश्या के दो भेद हैं : द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या। पौद्गलिक लेश्या और आत्मिक लेश्या। वह निरन्तर बढ़ती रहती है। लेश्या प्राणी के ओरा (आभामण्डल) का नियामक तत्त्व है। भावों के अनुरूप रंग बदलते रहते हैं।

हमारी सूक्ष्म चेतना, सूक्ष्म शरीर के स्तर से निकलने वाली भाव रश्मियों और भाव तरंगों का नाम है लेश्या।

कषाय की तरंगें और कषाय की शुद्धि होने पर आने वाली चैतन्य की तरंगें- इन सब तरंगों का भाव के रूप में निर्माण करना और उन्हें विचार, कर्म और क्रिया तक पहुँचाने का कार्य लेश्या करती है अर्थात् सूक्ष्म शरीर से स्थूलशरीर के बीच सम्पर्क सूत्र है लेश्या। इस के छह भेद हैं-

1. कृष्ण लेश्या, 2. नील लेश्या, 3. कापोत लेश्या, 4. तेजोलेश्या, 5. पद्म लेश्या, 6. शुक्ल लेश्या।

ये प्रत्येक प्राणी में होती हैं पर इनमें कोई लेश्या प्रधान होती है कोई गौण।

लेश्या के परिवर्तन के द्वारा ही जीवन में रूपान्तरण सिद्ध हो सकता है। साधना का प्रयोग लेश्याजनित स्वभाव के आधार पर निर्धारित करना चाहिए।⁴⁰

लेश्या	स्वभाव	साधना
1. कृष्ण लेश्या प्रधान	आर्त	भजन
2. नील लेश्या प्रधान	प्रमत्त (अजगर की भाँति)	वाचिक जप
3. कापोत लेश्या प्रधान	चंचल (प्रमत्त बंदर की भाँति)	वाचिक जप
4. तेजो लेश्या प्रधान	अचपल	एकाग्रता ध्यान
5. पद्म लेश्या प्रधान	प्रशान्त	निर्विकल्प ध्यान
6. शुक्ल लेश्या प्रधान	उपशान्त	दीर्घकालीन निर्विकल्प ध्यान

39. मूलाराधना 7.1911

40. भीतर की ओर, पृ. 136

लेश्या ध्यानसाधना द्वारा साधक अपने व्यक्तित्व में रूपान्तरण कर अपूर्व, अद्वितीय आनन्द और अनिर्वचनीय सुख-शान्ति को उपलब्ध हो सकता है।

7. वर्तमान क्षण की प्रेक्षा : आचारांग सूत्र में भ. महावीर ने कहा है- हे साधक ! तुम क्षण को जानो।⁴¹ इसी क्षण को जानो।⁴²

अतीत बीत जाता है, भविष्य अनागत होता है, जीवित क्षण वर्तमान होता है। अतीत के संस्कारों की स्मृति से भविष्य की कल्पनाएँ और वासनाएँ होती हैं। वर्तमान क्षण का अनुभव करने वाला स्मृति और कल्पना दोनों से बच जाता है। स्मृति और कल्पना राग-द्वेषयुक्त चित्त का निर्माण करती हैं। जो वर्तमान क्षण का अनुभव करता है, वह सहज ही राग-द्वेष से बच जाता है। तथागत अतीत और भविष्य के अर्थ को नहीं देखते। कल्पना को छोड़ने वाला महर्षि वर्तमान का अनुपश्यी (देखनेवाला) हो, कर्मशरीर का शोषण कर उसे क्षीण कर डालता है।⁴³

8. विचारप्रेक्षा और समता : एकाग्रता और विचार में द्वन्द्व है। यदि विचार का प्रवाह है तो एकाग्रता नहीं हो सकती और यदि एकाग्रता है तो विचार का प्रवाह नहीं हो सकता। एकाग्रता के लिए जरूरी है एक विचार पर केन्द्रित होना और विचार के प्रवाह को अवरुद्ध करना।

विचार को रोकने का प्रयत्न एकाग्रता में सहायक नहीं होता। विचार को देखना शुरू करो, प्रवाह रुक जायेगा।⁴⁴ यह कहा जा सकता है कि केवल जानना और देखना ही समता है।

9. संयम : संयम की भूमिका में इच्छा का निरोध, संकल्पशक्ति का विकास व स्व-निर्देश प्रधान होता है। जिसके संयम की शक्ति विकास पाती है उसके विजातीय तत्त्व पलायन कर जाते हैं।

प्रेक्षा संयम है, उपेक्षा संयम है। पूर्ण एकाग्रता के साथ अपने लक्ष्य को देखने

41. आचारांग सूत्र, 2.24

42. सूत्रकृतांग सूत्र, 1.2.73

43. आचारांग सूत्र, 3.60

44. भीतर की ओर, पृ. 163

से संयम स्वतः घटित हो जायेगा। फिर मन, वचन और शरीर की अपेक्षाएँ साधक को विचलित नहीं करेंगी। उसके साथ उपेक्षा-मन, वचन और शरीर का संयम स्वतः ही हो जायेगा।

10. भावना : जिस विषय का अनुचिन्तन बार-बार किया जाता है या जिस प्रवृत्ति का बार-बार अभ्यास किया जाता है, उससे मन प्रभावित हो जाता है, इसलिए उस चिन्तन या अभ्यास को भावना कहते हैं।⁴⁵ ध्यान की योग्यता के लिए चार भावनाओं का अभ्यास आवश्यक है। ज्ञान भावना, दर्शन भावना, चारित्र भावना और वैराग्य भावना। भावना के अभ्यास के अनेक प्रयोजन हैं आत्म-संस्थिति, समस्या समाधान, शांति, वांछनीय संस्कारों का निर्माण और अवांछनीय संस्कारों का उन्मूलन।

11. अनुप्रेक्षा : ध्यान का अर्थ है प्रेक्षा, देखना। उसकी समाप्ति होने के पश्चात् मन की मूर्च्छा को तोड़ने वाले विषयों का अनुचिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। प्रमुखतः चार अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास किया जाता है। 1. एकत्व अनुप्रेक्षा, 2. अनित्य अनुप्रेक्षा, 3. अशरण अनुप्रेक्षा और 4. संसार अनुप्रेक्षा।

प्रेक्षाध्यान में अलग-अलग तेईस अनुप्रेक्षाओं का विवेचन एवं प्रयोग उपलब्ध है। साधक उनका प्रयोग कर जीवन में सफलताएँ हासिल कर सकता है।

12. एकाग्रता : साधक की साधना एकाग्रता पर निर्भर करती है। जैसे-जैसे एकाग्रता सघन होती जाती है, निर्विचार अवस्था आ जाती है। इस अवस्था में मस्तिष्क में अल्फा तरंगें प्रभावित होती हैं और व्यक्ति अपूर्व आनन्द का अनुभव करता है। एकाग्रता के लिए अप्रमाद और जागरूक भाव परम आवश्यक है। किन्तु इनका महत्त्व तभी सिद्ध हो सकता है जब ये लम्बे समय तक निरन्तर रहें। देखने और जानने की क्रिया में बार-बार व्यवधान न आए। चित्त उस क्रिया में प्रगाढ़ और निष्प्रकम्प हो जाए। अन्तर्मुहूर्त तक एक आलम्बन पर चित्त को प्रगाढ़ स्थिरता के साथ अभ्यास में लगाएँ। इस अवधि के बाद ध्यान की धारा रूपान्तरित होती है। आगे साधक अपने दीर्घकालीन प्रयास से धारा को नये रूप में पकड़कर उसे और प्रलम्ब बना देता है।

आध्यात्मिक साधना पारलौकिक उन्नति की द्योतक तो है ही किन्तु उससे

साधक को ऐहिक या सांसारिक दृष्टि से भी शान्ति प्राप्त होती है, उद्विग्नता मिटती है। इसी कारण वह सर्वथा आदेय या उपादेय है। जो केवल परलोक की बात करें, स्वर्ग-प्राप्ति की ही चर्चा करें, आज के वैज्ञानिक वायुमण्डल में पलने वाले जन-जीवन में उस ओर आकर्षण नहीं होता-जादू वह है जो सिर पर चढ़कर बोले-इस कहावत के अनुसार आज का व्यक्ति यह चाहता है कि धर्म की आराधना से उसे सांसारिक जीवन में भी कुछ प्राप्त होना चाहिए। स्वर्ग-प्राप्ति ही उन्हें पर्याप्त नहीं लगती क्योंकि वह तो परोक्ष है। मिलेगा या न मिलेगा या कब मिलेगा इस सब के आगे प्रश्नचिह्न लगे हैं।

ऐसे वैचारिक युग में आचार्य महाप्रज्ञ ने प्रेक्षा ध्यान का संप्रवर्तन कर इन प्रश्नों का निश्चय ही समाधान दिया है। मानव आज के तनावग्रस्त जीवन में प्रेक्षा ध्यान द्वारा तनावमुक्ति की ओर बढ़ सकता है। देह, मन और उनके विविध पर्यायों के पर्यवेक्षण से जीवन में यथार्थता का बोध होता है, जिससे लालसा और कामनाओं के जंजाल में ग्रस्त अशान्त मानसिकता प्रशान्त भाव प्राप्त कर सकती है। प्रेक्षा द्वारा जनित आन्तरिक अनुभूतियों से विकारग्रस्त बहिर्जीवन भी उत्तम संस्कारनिष्ठ बन सकता है। मानसिक संक्लेश और उद्वेग से शरीर पर भी प्रभाव पड़ता है। उससे कई प्रकार की व्याधियों का होना भी आशंकित है। यदि संक्लेश, उद्वेग मिट जाते हैं तो जैसे संकटों से मुक्त रहा जा सकता है। प्रेक्षा ध्यान मानसिक संक्लेश और उद्वेग को प्रशान्त भाव से परिणत करने का सफल मार्ग है।

आज का लोकमानस विविध सम्प्रदायों में बँटे हुए धर्म में, कर्म में रुचिशील होता जा रहा है। वह तो एक ऐसा मार्ग चाहता है जो सम्प्रदायातीत हो, सर्वग्राह्य हो। प्रेक्षा ध्यान एक ऐसा ही साधनाक्रम है जो जैन-जैनेतर सभी के द्वारा निःसंकोच ग्राह्य है। आज प्रायः सभी धर्मों के अनुयायी इसमें सोत्साह भाग लेते जा रहे हैं। इन सब कारणों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि प्रेक्षा ध्यान वर्तमान युग की धार्मिक बुभुक्षा तथा साधना विषयक पिपासा के लिए अन्न और जल की तरह एक पौष्टिक और बलप्रद खुराक है।



उपसंहार

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का मुख्य प्रयोजन जैनधर्म में ध्यान साधना के ऐतिहासिक विकास क्रम को स्पष्ट करना है। यद्यपि प्रस्तुत कृति में हमने जैन ध्यान साधना विधि के स्वरूप, भेद, प्रकार आदि का निर्देश यथाप्रसंग किया है फिर भी हमारी दृष्टि ध्यान के स्वरूप एवं प्रकारों की चर्चा तक सीमित न होकर कालक्रम में जैन ध्यान विधि में कैसे-कैसे परिवर्तन आये, इसकी चर्चा करने की ओर रही है। जैन परम्परा में ध्यान साधना की नोआगमिक विधि रही है वह तो अति प्राचीन है। उसका सम्बन्ध तो आदि तीर्थंकर भ. ऋषभदेव के साथ जोड़ा जाता है। भ. ऋषभदेव के काल में ध्यान साधना का क्या स्वरूप रहा होगा यह बताना तो आज कठिन है क्योंकि आज हमारे पास जो आगम उपलब्ध हैं वे भ. महावीर की परम्परा के ही हैं। ऋषभदेव की ऐतिहासिकता केवल इसी आधार पर सिद्ध होती है कि उनके उल्लेख जैन और जैनेतर ग्रन्थों में मिलते हैं। उनसे हमें यह तो ज्ञात हो जाता है कि ऋषभदेव ने ध्यान साधना की धी और उसी के माध्यम से केवलज्ञान का प्रकटन किया था, किन्तु ऐतिहासिक प्रामाणिक साक्ष्यों के अभाव में हम इस सम्बन्ध में अधिक कुछ बताने में समर्थ नहीं हैं। ऋषभदेव की वास्तविक ध्यान विधि का परिचय देना तो सम्भव नहीं है, किन्तु कुछ विद्वानों ने मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा की सीलों के आधार पर यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि वे पद्मासन, अर्द्धपद्मासन या खड्गासन में ध्यान करते थे लेकिन वे किसका और किस विधि से ध्यान करते थे इस सम्बन्ध में हमें कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। फिर भी उन्हें भारतीय ध्यान साधना विधि के आद्य पुरुष के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। वेदों में ऋषभ या वृषभ शब्द का उल्लेख तो अनेक बार हुआ है किन्तु वहाँ उनकी ध्यान साधना विधि का कोई निर्देश नहीं है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में यह बताया गया है कि भगवान ऋषभदेव के श्रमण संघ से विकसित हुई विभिन्न श्रमण धाराओं में हमें ध्यानसाधना के निर्देश मिलते हैं। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से मिली ध्यानस्थ योगियों की सीलों तथा ध्यानमुद्रा का एक कबन्ध इसका प्रमाण है। जैन परम्परा में 'ऋषिभाषित' में और बौद्ध परम्परा में 'थेर गाथा' में श्रमण परम्परा के जिन ऋषियों का उल्लेख है वे तप और ध्यान से युक्त होते थे, ऐसे साक्ष्य उत्तराध्ययन सूत्र में और स्वयं 'ऋषिभाषित' में मिलते हैं। ऋषि-में भाषित' में गर्हभाल ऋषि के द्वारा ध्यान का सभी साधना विधियों

में शीर्षस्थ स्थान बताना तथा उत्तराध्ययन में उनके ही शिष्य संजय के तप और ध्यान में निरत रहने के उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय श्रमणधारा में तप और ध्यान का विशिष्ट महत्त्व था। औपनिषदिक ऋषि भी तप ध्यान आदि करते थे, ऐसे निर्देश भी उपलब्ध हैं। इसकी चर्चा भी प्रथम अध्याय में की गई है।

जैन तीर्थकरों की मूर्तियों की ध्यानस्थ मुद्रा से भी यही सिद्ध होता है कि भारतीय श्रमण परम्परा मुख्यतया तप और ध्यान पर बल देती रही है और ध्यान उनकी साधना का एक विशिष्ट अंग होता था। पार्श्व के कथानक में भी कमठ के उपसर्ग के समय उनका ध्यान में स्थिर होना यही सूचित करता है कि भारतीय संस्कृति में ध्यान साधना अति प्राचीन काल से प्रचलित रही है।

इस प्रकार प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में आगे हमने यह भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि भारतीय श्रमण संस्कृति में ध्यान का क्या महत्त्व और स्थान रहा है। हमें न केवल जैन परम्परा से अपितु वैदिक और बौद्ध परम्परा से भी अनेक सन्दर्भ मिले हैं जिनसे महावीर की पूर्वकालीन ध्यान साधना की परम्परा के प्रमाण प्राप्त होते हैं। जैन ध्यान साधना विधि के सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख हमें आगम काल से ही मिलते हैं।

आगमों में 'आचारांग' जैसे प्राचीन आगम से लेकर परवर्ती कालीन अनेक आगमों में ध्यान साधना के विविध संदर्भ उपलब्ध होते हैं। 'आचारांग' में महावीर की ध्यान साधना की विधि का स्वरूप उपलब्ध है। आगमों में स्थानांग, समवायांग और औपपातिक ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें ध्यान के आलम्बन, लक्षण, स्वरूप एवं प्रकारों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इनकी विशद चर्चा हमने प्रस्तुतकृति के द्वितीय अध्याय में की है। आगमों में प्रायः चारों ही ध्यानों का उल्लेख हुआ है। फिर भी यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि आगमयुग में साधनात्मक दृष्टि से तो केवल धर्मध्यान और शुक्लध्यान का ही महत्त्व स्वीकार किया गया है। षट्खण्डागम में इन्हीं दो ध्यानों की विस्तृत चर्चा है। आगम के समकालीन बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में भी श्रमणों के ध्यान सम्बन्धी कुछ उल्लेख मिलते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि आगमिक साधना पद्धति में ध्यान का महत्त्व और स्थान अक्षुण्ण रूप से बना रहा है। आगमों में ध्यान को श्रमण जीवन की साधना का विशेष अंग बताया गया है। आगमों में श्रमण जीवन चर्या में छह घण्टे ध्यान और 12 घण्टे स्वाध्याय करने के निर्देश हैं।

अर्द्धमागधी आगमों के साथ-साथ उनकी निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णियों तथा

टीकाओं में ध्यान से सम्बन्धित जो सामग्री हमें उपलब्ध हुई है उसे हमने आगमों के साथ ही रखने का प्रयास किया है। इसका मूल कारण यह है कि सामान्यतया ये आगमिक व्याख्यायें ध्यान विधि के स्वरूप एवं प्रकार आदि की चर्चा करते हुए आगमों का ही अनुसरण करती हैं। इनमें हमें कोई ध्यान सम्बन्धी मौलिक चर्चा दृष्टिगत नहीं हुई है। आगम में जो कुछ कहा गया है उसे ही किंचित् स्पष्टता के साथ यहाँ व्याख्यायित किया गया है। इन आगमिक व्याख्याओं में जिनभद्रगणि का विशेषावश्यक भाष्य महत्त्वपूर्ण कृति है। उसमें एवं चूर्णि साहित्य में ध्यान की परिभाषा एवं स्पष्टीकरण तो मिल जाता है किन्तु जो आगमिक मान्यता है उससे हटकर वहाँ हमें कोई भी नवीन बात नहीं मिलती है। विशेषावश्यक भाष्य के कर्ता जिनभद्रगणि का ध्यान शतक या 'ज्ञाणाञ्जयणं' उपलब्ध होता है जिसमें ध्यान सम्बन्धी विस्तृत चर्चा है। इस सम्बन्ध में हमने चतुर्थ अध्याय में चर्चा की है अतः यहाँ उसका विशेष उल्लेख आवश्यक नहीं। इस प्रकार आगमों में चारों ध्यानों के उपप्रकारों, लक्षणों, आलम्बनों एवं भावना आदि का ही उल्लेख मिलता है। उत्तराध्ययन में विशेष रूप से यह बात कही गई है कि ध्यान या कायोत्सर्ग की साधना से आत्मविशुद्धि होती है और उससे जीव चित्त की समाधि पूर्वक सुख का अनुभव करते हैं।

आगम और आगमिक व्याख्याओं के पश्चात् तीसरे अध्याय में शौरसेनी आगम तुल्य साहित्य में ध्यान सम्बन्धी विवरणों को प्रस्तुत करने और उनकी समीक्षा करने का प्रयत्न किया गया है। अर्द्धमागधी आगम साहित्य तथा निर्युक्ति आदि प्राचीन आगमिक व्याख्याओं के समकालीन इस साहित्य में कषायपाहुड, षट्खण्डागम आदि कर्म साहित्य के ग्रन्थ, मूलाचार, भगवती आराधना, जैन साधनापरक ग्रन्थ एवं आचार्य कुन्दकुन्द के अध्यात्मपरक ग्रन्थ समाहित हैं। इनके अतिरिक्त भी शौरसेनी भाषा में निबद्ध साधनापरक अन्य ग्रन्थ यथा कार्तिकेयानुप्रेक्षा, योगसार, द्रव्यसंग्रह आदि में भी ध्यान सम्बन्धी निरूपण उपलब्ध होता है। यद्यपि षट्खण्डागम, मूलाचार, भगवती आराधना आदि में चारों ध्यानों का उल्लेख मिल जाता है, किन्तु विशेष रूप से इन ग्रन्थों का प्रतिपाद्य आत्मविशुद्धि के हेतु धर्मध्यान और शुक्लध्यान ही रहे हैं। इन ग्रन्थों में ध्यान को परिभाषित या व्याख्यायित करने की अपेक्षा वह आध्यात्मिक विकास यात्रा में किस प्रकार सहायक है, इसका उल्लेख हुआ है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने तो अपने ग्रन्थों में ध्यान का प्रयोजन शुद्ध आत्मतत्त्व में अवस्थिति को माना है। उनका विवेचन निश्चय नय प्रधान है। वे स्वस्वरूप में

अवस्थिति को ही ध्यान का लक्ष्य मानते हैं। दूसरे वे ध्याता, ध्येय और ध्यान की त्रिपुटी के मूल में आत्मा को ही देखते हैं। उनके अनुसार आत्मा ही ध्याता है और शुद्ध आत्म तत्त्व ही ध्येय है और शुद्ध आत्म तत्त्व के स्वरूप में रमण करना ही ध्यान है। ध्याता, ध्येय और ध्यान में तादात्म्य की यह चर्चा आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की विशेषता है। दूसरी बात आचार्य कुन्दकुन्द के ध्यान सम्बन्धी विवेचन में जो प्रमुख रूप से उभर कर सामने आती है वह यह है कि वे ध्यान का साध्य निर्विकल्प दशा को मानते हैं और इसलिए धर्मध्यान की अपेक्षा शुक्ल ध्यान उनकी विवेचना का प्रमुख विषय रहा है।

जहाँ तक 'मूलाचार' के ध्यान सम्बन्धी विवेचनों का प्रश्न है, हम देखते हैं कि मूलाचार में अर्द्धमागधी आगम साहित्य के समरूप ही ध्यान के प्रकारों, लक्षणों, आलम्बनों आदि का विवेचन उपलब्ध होता है। इस प्रकार जहाँ मूलाचार और अर्द्धमागधी आगम साहित्य के ध्यान सम्बन्धी विवेचन में समरूपता है वहीं आचार्य कुन्दकुन्द ध्यान के सम्बन्ध में एक अलग दृष्टि ही प्रस्तुत करते हैं।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा या वारस्साणुपेक्खा में भावनाओं को ही या अनुप्रेक्षाओं को ही ध्यातव्य माना गया है। तत्त्वार्थसूत्र, ध्यानशतक, इष्टोपदेश, समाधितंत्र आदि संस्कृत ग्रन्थों के ध्यान सम्बन्धी विवेचन को प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में समाहित किया गया है। यद्यपि तत्त्वार्थ सूत्र मूल और उसकी श्वेताम्बर और दिगम्बर टीकाओं में ध्यान के स्वरूप, प्रकार, आलम्बन आदि की जो सामान्यतया चर्चा हमें उपलब्ध होती है वह आगमों का अनुसरण करती प्रतीत होती है। किन्तु तत्त्वार्थसूत्र की यह विशेषता है कि उसमें चारों ध्यानों के स्वामी की चर्चा भी की गई है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जहाँ भाष्यमान पाठ में धर्म ध्यान का स्वामी बताया है, वहाँ दिगम्बर पाठ में उसके स्वामी की कोई चर्चा ही नहीं है। भाष्यमान पाठ में धर्म ध्यान का स्वामी अप्रमत्त संयत को बताया है, जबकि तत्त्वार्थ सूत्र और कर्म सिद्धान्त तथा षट्खण्डागम आदि में अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर आगे के गुणस्थानों में उसकी सत्ता मानी है।

तत्त्वार्थ-टीकाओं में न केवल ध्यान के स्वरूप आदि का गम्भीर दार्शनिक विश्लेषण किया गया है अपितु ध्यान के काल, स्थान, ध्याता के संहनन आदि का भी विचार किया गया है। यह चर्चा भी प्रस्तुत की गई है कि किस गुणस्थान में कौनसा ध्यान सम्भव होगा। गुणस्थानों के आधार पर ध्यान की सम्भावनाओं का यह विचार अर्द्धमागधी आगम साहित्य में प्रायः अनुपलब्ध है। तत्त्वार्थ की टीकाओं की एक अन्य

यह भी विशेषता है कि उनमें ध्यान सम्बन्धी विवेचन के प्रसंग पर अन्य दार्शनिक मतों की समीक्षा भी की गई है और उनकी कमियों को इंगित भी किया गया है। इस प्रकार तत्त्वार्थ सूत्र की टीकाओं का ध्यान सम्बन्धी विवेचन समीक्षात्मक है। इसके मूल सूत्र में ही यह बताया गया है कि चार ध्यानों में अन्तिम दो ध्यान ही मोक्ष के हेतु हैं।

सम्भवतः, जैन दर्शन में ध्यान पर सबसे पहले कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा गया है तो वह जिन-भद्रगणि क्षमाश्रमण का 'ध्यान शतक' ही है। यह ग्रन्थ ध्यान के स्थल, ध्यान के काल, ध्यान की अवधि, ध्यान के आसन, ध्यान के अवलम्बन, ध्यान का विषय, ध्याता की योग्यता आदि सभी तत्त्वों पर सर्वांगीण प्रकाश डालता है। यह ग्रन्थ मूलतः तत्त्वार्थ की टीकाओं से परवर्ती है और इसलिए हम कह सकते हैं कि तत्त्वार्थ की टीकाओं में जो ध्यान के स्थल, काल आदि का विवेचन है वह सम्भवतः प्रथम बार सुव्यवस्थित रूप से 'ध्यान शतक' में ही उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ की एक अन्य विशेषता यह है कि इसमें ध्यान के क्रमिक सोपानों पर आरोहण के पश्चात् साधक किस प्रकार आत्मस्वरूप में लीन होता है, इसका भी उल्लेख किया गया है।

इष्टोपदेश आचार्य पूज्यपाद की एक आध्यात्मिक साधनाप्रधान रचना है। इस कृति को भी इसी चतुर्थ अध्याय में समाहित किया गया है। पूज्यपाद ने अपने ध्यान सम्बन्धी विवेचन में मुख्य रूप से तीन बातें प्रस्तुत की हैं। प्रथम तो उन्होंने यह बताने का प्रयास किया है कि ध्यान प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकार का हो सकता है। साधक को प्रशस्त ध्यान की ओर ही अपने कदम बढ़ाने चाहिए। दूसरे, ध्यान में हमारा लक्ष्य स्व स्वरूप की उपलब्धि ही होना चाहिए। तीसरे, वे कुन्द-कुन्द का अनुसरण करते हुए स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित करते हैं कि ध्याता, ध्येय और ध्यान में तादात्म्य है। अशुद्ध आत्मा ध्याता है, शुद्ध आत्मतत्त्व ध्येय है और शुद्ध आत्म तत्त्व के स्वरूप का चिन्तन करना ही ध्यान है। इसी प्रकार उन्होंने अपने दूसरे ग्रन्थ 'समाधितंत्र' में आत्मानुभूति को ही ध्यान माना है। इस ग्रन्थ में उन्होंने ध्यान के स्थान पर उपासक, उपास्य और उपासना के एकत्व पर बल दिया है और स्वस्वरूप में अवस्थिति को ही साधना का लक्ष्य बताया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आगमिक युग से प्रारम्भ होकर जैन ध्यान परम्परा में एक क्रमिक विकास हुआ है। परवर्ती आचार्यों ने यद्यपि आगमिक अवधारणाओं को अपना आधार बनाया है किन्तु उन्होंने आगमिक संकेतों से आगे बढ़ते हुए एक युगानुकूल ध्यान विधि का

विकास भी किया है।

किन्तु यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि 'आचारांग' जैसे प्राचीन स्तर के आगमों में आत्मसजगता या साक्षी भाव की जिस ध्यान विधि के संकेत उपलब्ध होते हैं वह ध्यानविधि कालक्रम में विस्मृत होती गयी और मुख्य रूप से चित्त की एकाग्रता को ही आधार बनाकर ध्यानविधि का विकास किया गया। दूसरी ओर आध्यात्मिक दृष्टिप्रधान आचार्यों ने ध्यान को आत्मानुभूति से एवं आत्मरमण से जोड़कर ध्यान की एक व्यवस्थित प्रक्रिया की उपेक्षा की। इस प्रकार महावीर से लेकर लगभग आठवीं शताब्दी के पूर्व तक जैन परम्परा में ध्यानविधि में अनेक रूपान्तरण हुए।

पुनः आठवीं शताब्दी में आचार्य हरिभद्र ने जैन ध्यान विधि को योगसाधना के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया। आचार्य हरिभद्र के व्यापक चिन्तन के परिणामस्वरूप जहाँ एक ओर जैन ध्यानविधि योग-दर्शन से प्रभावित हुई वहीं दूसरी ओर जैन परम्परा के वैशिष्ट्य को सुरक्षित रखने के लिए आचार्य हरिभद्र ने आठ योगदृष्टियों का विकास किया और उन्हें अष्टांग योग के रूप में प्रतिष्ठित किया। वस्तुतः ये आठ दृष्टियाँ ध्यान साधना के क्रमिक विकास की सूचक रही हैं। इसी प्रसंग में उन्होंने गोत्रयोगी, कुलयोगी, प्रवृत्तचक्रयोग, निष्पन्न योग आदि योगियों के भेद किये, साथ ही योग के भेद करते हुए इच्छायोग, शास्त्रयोग, सामर्थ्ययोग आदि की सुव्यवस्थित विवेचना प्रस्तुत की। इसके परिणामस्वरूप जैन ध्यान साधना में पुनः एक रूपान्तरण आया। इसमें जैन ध्यान विधि पातंजल के अष्टांग योग से अंशतः प्रभावित हुई है। इसकी चर्चा पाँचवें अध्याय में की गई है। उसके पश्चात् लगभग दसवीं शताब्दी में दिगम्बर आचार्य शुभचन्द्र ने 'ज्ञानार्णव' नामक ग्रन्थ की रचना की और उसमें ध्यान-साधना का विस्तृत विवेचन भी प्रस्तुत किया। किन्तु एक ओर उन्होंने जैन परम्परा की ध्यानसाधना विधि को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया तो दूसरी ओर वे तांत्रिक साधना विधि के प्रभाव से अपने को मुक्त नहीं रख सके। उन्होंने सर्वप्रथम धर्मध्यान के अन्तर्गत पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ऐसे चार ध्यानों का तथा पार्थिवी आदि धारणाओं का उल्लेख किया। श्वेताम्बर परम्परा में आचार्य हेमचन्द्र ने भी उन्हीं का अनुसरण करते हुए जैन ध्यानविधि में रूपस्थ, पदस्थ, पिण्डस्थ आदि ध्यानों और पार्थिवी आदि धारणाओं का न केवल उल्लेख किया अपितु उन्हें जैन परम्परा के साथ समायोजित करने के लिए उनकी विधि में आंशिक परिवर्तन भी किया।

इसी प्रकार उन्होंने पातंजल योग से प्रभावित होकर एकाग्रता की अपेक्षा से

मन की चार अवस्थाओं का चित्रण किया और ध्यान की एकाग्रता के लिए यह आवश्यक माना कि व्यक्ति विक्षिप्त या यातायात मनःस्थितियों से ऊपर उठता हुआ श्लिष्ट और सुलीन मन को प्राप्त करे। तभी उसकी ध्यान साधना सफल हो सकती है। हेमचन्द्र द्वारा उल्लिखित मन की ये चार अवस्थायें पातंजल योग में वर्णित पाँच अवस्थाओं का ही रूपान्तर था। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन धर्म में ध्यान का एक ऐतिहासिक क्रम में विकास हुआ।

आचार्य शुभचन्द्र की एक दूसरी विशेषता यह भी रही कि उन्होंने त्रितत्त्व के अन्तर्गत शिवतत्त्व, काम तत्व और गरुड़ तत्व का जो विवेचन किया है वह ध्यान में परमोच्च श्रेयस् भाव, तीव्रतम उत्साह और परम पराक्रम को संयोजित करने के लिए किया गया है। वस्तुतः आचार्य शुभचन्द्र की इस चर्चा पर भी शैव तांत्रिकों का स्पष्ट प्रभाव है। आचार्य शुभचन्द्र के पश्चात् आचार्य हेमचन्द्र के पूर्ववर्ती आचार्यों ने 'यशस्तिलकचम्पू' के कर्ता आचार्य सोमदेव का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने 'यशस्तिलक चम्पू' के उपासकाध्ययन, जो स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में भी प्रकाशित हुआ है, उसमें ध्यान का विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त भी उनका एक स्वतंत्र ग्रन्थ 'योगमार्ग' है जो ध्यान से सम्बन्धित है। इस ग्रन्थ में यह बताया गया है कि ध्यान एक ऐसी रसायन विधि है जिससे आत्मा निष्कलुष, निर्दोष और निर्मल बन जाती है। योगमार्ग, में सामान्यतया परम्परागत चारों ध्यानो की चर्चा हुई है। इसमें केवल एक ही विशेषता परिलक्षित होती है वह यह कि ग्रन्थकार ने ध्यान-साधना के साथ-साथ प्राणायाम आदि को भी जोड़ने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ जैन परम्परा सम्मत ध्यान के साथ-साथ योग परम्परा की प्राणायाम आदि की विधि को भी सम्मिलित करता है। इस प्रकार यह ग्रन्थ पातंजल योग और जैनदर्शन का समन्वित रूप प्रतीत होता है। इसकी अपेक्षा उपासकाध्ययन अति विस्तृत है और परम्परागत जैन ध्यानविधि को प्रस्तुत करता है।

जैन ध्यान परम्परा के ऐतिहासिक विकास क्रम की दृष्टि से भास्करानन्दी का 'ध्यानस्तव' एक प्रमुख ग्रन्थ माना जा सकता है। आप शुभचन्द्र से पूर्ववर्ती और हेमचन्द्र के समकालीन माने जाते हैं। इनका काल बारहवीं शताब्दी है। इस ग्रन्थ में भास्करानन्दी ने जहाँ एक ओर आगमसम्मत ध्यान के चार भेदों, उनके लक्षणों, अवलम्बन आदि की चर्चा की है वहीं उन्होंने शुभचन्द्र और हेमचन्द्र के समरूप ही पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपवर्जित तथा पार्थिवी आदि धारणाओं का उल्लेख

किया है। इससे ऐसा लगता है कि वे भी शुभचन्द्र के समान ही शैव तान्त्रिकों की ध्यान परम्परा से प्रभावित रहे। यही कारण है कि उन्होंने भी पिण्डस्थ आदि ध्यानों की और पार्थिवी आदि धारणाओं की चर्चा की। उनके इस ग्रन्थ में शुभचन्द्र की परम्परा का अनुसरण देखा जाता है।

प्रस्तुत प्रबन्ध का सप्तम अध्याय आचार्य हेमचन्द्र से सम्बन्धित है। आचार्य हेमचन्द्र का काल लगभग बारहवीं शताब्दी है। अतः ये शुभचन्द्र के परवर्ती हैं। उनके योगशास्त्र में जिन पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ऐसे चार ध्यानों का और पार्थिवी आदि धारणाओं का वर्णन मिलता है उसकी चर्चा हम शुभचन्द्र के साथ कर चुके हैं। वहाँ हमने यह भी बताने का प्रयास किया है कि आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र में इन धारणाओं का जैन परम्परा के साथ किस प्रकार समायोजन किया है। आचार्य हेमचन्द्र की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने अपने ग्रन्थ में ध्यान साधना के साथ-साथ प्राणायाम, प्रत्याहार और धारणा का भी उल्लेख किया है। यह उल्लेख शुभचन्द्र आदि में भी पाया जाता है। इससे ऐसा लगता है कि लगभग दसवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक जैन ध्यान विधि एक ओर योगसाधनाविधि और दूसरी ओर शैव तान्त्रिकों की विधि से प्रभावित रही है। हेमचन्द्र की विशेषता यह है कि उन्होंने पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चार ध्यानों पर स्वतन्त्र अध्याय लिखे हैं। साथ ही प्राणायाम और प्रत्याहार के द्वारा परकाय प्रवेशविधि का तथा विभिन्न शुभाशुभ संकेतों के आधार पर मृत्यु के काल-ज्ञान की विधि का भी विकास किया। यद्यपि इनका सम्बन्ध सीधे रूप से ध्यानसाधना से नहीं है।

‘योगप्रदीप’ का उल्लेख ‘पंच परमेष्ठिमंत्रराज ध्यानमाला’ में आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र और पतंजलि के योगसूत्र के साथ हुआ है। यह तो निश्चित है कि योगप्रदीप हेमचन्द्र से परवर्ती है। ध्यानसाधना के क्षेत्र में इसका विशिष्ट महत्त्व इस दृष्टि से माना जा सकता है कि इस पर तान्त्रिक ध्यानसाधना का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक हुआ। इसमें षट्चक्र और चार पीठ का उल्लेख भी मिलता है। इसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि यह रचना भी तान्त्रिकों के प्रभाव से मुक्त नहीं है। इसके साथ ही इसमें आठ योगांगों की चर्चा भी विस्तार से उपलब्ध होती है। इस प्रकार इस कृति में प्रस्तुत ध्यानसाधना भी अष्टांगयोग और शैव तन्त्र से अप्रभावित नहीं है। चाहे हमें कृति का काल स्पष्ट ज्ञात न हो किन्तु हम इतना कह सकते हैं कि यह कृति हेमचन्द्र के योगशास्त्र से प्रभावित है और उसका अनुसरण भी करती है।

हेमचन्द्र के पश्चात् यद्यपि जैन योग पर 'योगप्रदीप' एक महत्त्वपूर्ण कृति के रूप में जानी जाती है किन्तु इसके लेखक, लेखनकाल और परम्परा आदि का हमें कुछ भी पता नहीं चलता है। श्वेताम्बर परम्परा में हेमचन्द्र के बाद उपाध्याय सकलचन्द्र गणि ने 'ध्यानदीपिका' नामक एक स्वतंत्र कृति की रचना की। यह कृति विक्रम सं. 1621 अर्थात् सन् 1565 की रचना है। इस कृति में ध्यान के महत्त्व, ध्यान के पात्र या अधिकारी के साथ-साथ ध्यान विधि का उल्लेख हुआ है। यह कृति आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव से अधिक प्रभावित प्रतीत होती है। इसमें भी परम्परागत चारों ध्यानों का उल्लेख हुआ है। इस कृति की विशेषता यह है कि इसमें जहाँ एक ओर शुभचन्द्र, हेमचन्द्र आदि से समरूपता देखी जाती है वहीं दृष्टिकोण की अपेक्षा दोनों में अन्तर है। सकलचन्द्र आसन आदि ध्यान के सहायक तत्त्वों पर कोई विशेष बल नहीं देते अपितु वे आसन और प्राणायाम को ध्यान के क्षेत्र में विघ्नकारी ही मानते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सकलचन्द्र गणि ने आसन, प्राणायाम आदि की ध्यान के लिए व्यर्थता सिद्ध करके प्राचीन आगमिक धारा का समर्थन किया है। इसे हम ध्यान के क्षेत्र में नवीन परिवर्तन तो नहीं कह सकते किन्तु इतना अवश्य कह सकते हैं कि सकलचन्द्र गणि की दृष्टि कहीं न कहीं आगमिक परम्परा से प्रभावित है। किन्तु दूसरी ओर यह भी देखा जाता है कि वे भी आचार्य शुभचन्द्र और हेमचन्द्र के समान ही पिण्डस्थ आदि ध्यानों का विवेचन करते हैं, फिर भी उनके चिन्तन में कहीं-न-कहीं आगमिक दृष्टि समाहित है। यही कारण है कि उन्होंने भी शुभचन्द्र, हेमचन्द्र आदि का अनुसरण करते हुए मैत्री प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ इन चार भावनाओं का वर्णन किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस सप्तम अध्याय में सामान्यतया आगमिक परम्परा को सुरक्षित रखते हुए भी ध्यान सम्बन्धी विवेचन में कहीं-न-कहीं पातंजल योग और शैव तन्त्र के प्रभाव परिलक्षित होते हैं।

प्रस्तुत प्रबन्ध का आठवाँ अध्याय मुख्य रूप से उपाध्याय यशोविजय, योगिराज आनन्दधनजी से सम्बन्धित है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि उपाध्याय यशोविजय जी और आनन्दधनजी दोनों ही आध्यात्मिक दृष्टि संपन्न व्यक्तित्व हैं। उपाध्याय यशोविजयजी ने पातंजल योगसूत्र पर अपनी वृत्ति लिखी है। उनकी कृतियों में अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद् और ज्ञानसार मुख्य रूप से आत्मोपलब्धि को ही अपना प्रतिपाद्य बनाते हैं। यद्यपि इन कृतियों में ध्यान सम्बन्धी प्रकीर्ण-निर्देश तो उपलब्ध

हैं किन्तु इन्हें ध्यानयोग के स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता है। 'ज्ञानसार' के प्रतिपाद्य विषयों में जो 32 अष्टक हैं, उनमें एक ध्यानाष्टक भी है। ध्यानाष्टक में उपाध्याय यशोविजयजी ने ध्यान से होने वाली आध्यात्मिक उपलब्धि का निर्देश किया है। उनका कथन है कि ध्यान वह विलक्षण साधना है जिसके माध्यम से तीर्थकर के सर्वोत्कृष्ट पद को प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार ध्यानाष्टक में भी उपाध्यायश्री ने ध्यान के महत्त्व को प्रतिपादित किया है किन्तु ध्यानसाधना की किसी विशिष्ट विधि को रेखांकित नहीं किया।

अध्यात्मयोगी आनन्दघन की कृतियाँ भी अध्यात्म रस से ही परिपूर्ण हैं। उनकी कृतियों में चौबीसी और स्वतन्त्र पद महत्त्वपूर्ण हैं। आनन्दघन एक रहस्यवादी चिन्तक हैं। सामान्यतया उन्होंने आत्मा से परमात्मा के मिलन की अपेक्षा रखते हुए विरह वेदना में अपनी तड़प को ही अभिव्यक्त किया है। फिर भी उनकी रचनाओं में चित्तवृत्ति की एकाग्रता पर बल दिया गया है। मात्र यही नहीं, उन्होंने हठयोग से प्रभावित होकर ईडा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों की तथा षट्चक्रों के भेदन की बात भी कही है। इन ग्रन्थों में हमें ध्यान विधि का कोई स्पष्ट विवेचन तो उपलब्ध नहीं होता है किन्तु तत्सम्बन्धी संकेत अवश्य उपलब्ध हो जाते हैं। इन दोनों ही आध्यात्मिक साधकों की दृष्टि में ध्यान का मुख्य लक्ष्य परमात्मस्वरूप की उपलब्धि या आत्मा या परमात्मा का मिलन है। इस प्रकार इन्होंने ध्यान साधना के ध्येय को तो स्पष्ट किया है किन्तु उसकी व्यवस्थित विधि का कहीं कोई निर्देश नहीं किया। इनका आध्यात्मिक रहस्यवाद साधना मूलक होने की अपेक्षा अनुभूति मूलक है। वह विधि-विधान के अनुसरण को इतना महत्त्व नहीं देता। यही कारण है कि इन्होंने ध्यान साधना की स्पष्ट विधि का कोई उल्लेख नहीं किया। यशोविजय और आनन्दघन के बाद जैन परम्परा में लगभग तीन शताब्दियों तक ऐसा कोई प्रखर आचार्य परिलक्षित नहीं होता है जिसने जैन ध्यान साधना विधि को नया आयाम दिया हो।

जैन ध्यान साधना के ऐतिहासिक विकासक्रम में सबसे महत्त्वपूर्ण युग बीसवीं शताब्दी का माना जा सकता है। इस युग में श्रीमद् राजचन्द्र एक ऐसे व्यक्तित्व हैं जो ध्यान साधना को अत्यन्त महत्त्व प्रदान करते हैं। यद्यपि उनकी आत्मसिद्धि आदि कृतियों का मुख्य प्रतिपाद्य स्वरूपानुभूति ही है, फिर भी उस स्वरूपानुभूति में वे ध्यान-साधना को महत्त्व देते थे। ध्यानसाधना की उनकी पद्धति आगमिक परम्परा का ही अनुसरण करती है। वे परम्परागत चारों ध्यानों, उनके लक्षणों, आलम्बनों और प्रकारों

का निर्देश करते हैं। उनकी ध्यानसाधना विधि में आगमिक परम्परा से भिन्न कोई परिवर्तन हमें परिलक्षित नहीं होता है।

इसी क्रम में आचार्य तुलसी की कृति 'मनोनुशासनम्' महत्त्वपूर्ण मानी जा सकती है। यह आधुनिक युग की जैन योग पर एक महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें विशेष रूप से मन के भेद, ध्यानसाधना में मन का स्थान, ध्यान का स्वरूप, ध्यान के भेद, ध्यान-ध्याता-ध्येय आदि का विवेचन उपलब्ध होता है। इस कृति में एक वैशिष्ट्य यह परिलक्षित होता है कि जहाँ हेमचन्द्र ने मन के भेदों की चर्चा में चार मनो का उल्लेख किया है वहाँ इन्होंने उसमें मूढ़ और निरुद्ध इन दो को जोड़कर मन के छहः भेद किये हैं। इसमें उन्होंने विक्षिप्त के पूर्व मूढ़ और सुलीन के पश्चात् निरुद्ध मन को रखा है। इस प्रकार जहाँ पातंजल ने पाँच और हेमचन्द्र ने चार मनो का उल्लेख किया है वहाँ आचार्य तुलसी ने छहः मनो का विवेचन किया है। विशेषकर उन्होंने मिथ्यादृष्टि के लिए मूढ़ और अयोगी केवली के मन के लिए निरुद्ध शब्द का प्रयोग किया है। इस कृति की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें ध्यानसाधना विधि की चर्चा भी की गई है और उसे प्रेक्षा ध्यान के साथ जोड़ने का प्रयत्न भी किया गया है। ध्यान के स्वरूप, लक्षण, आलम्बन और भावना को लेकर जहाँ आगमिक दृष्टिकोण से समरूपता देखी जाती है वहीं सालम्बन ध्यान के भेद के रूप में पिंडस्थ आदि भेदों को और पार्थिवी आदि धारणाओं को स्वीकार करके शुभचन्द्र और हेमचन्द्र का अनुसरण किया गया है। इसके अतिरिक्त पातंजल योगसूत्र से प्रभावित होकर प्राणायाम सम्बन्धी कुछ विधियों का भी उल्लेख किया गया है। इस प्रकार ध्यान के सन्दर्भ में इस युग की यह एक समग्र कृति कही जा सकती है। आचार्य तुलसी के 'मनोनुशासन' तक जैन ध्यान विधि में कोई युगान्तरकारी परिवर्तन हुआ हो, यह कहना कठिन है। जैन ध्यान विधि में जो एक युगान्तरकारी परिवर्तन परिलक्षित होता है वह बौद्ध परम्परा से आचार्य सत्यनारायण जी गोयनका द्वारा लायी गई विपश्यना पद्धति के बाद ही परिलक्षित होता है। विपश्यना की यह पद्धति मूलतः हीनयानी बौद्ध परम्परा की मूलभूत पद्धति है जिसके कुछ बीज और आंशिक समरूपता जैन आगम आचारांग में दृष्टिगोचर होते हैं। वस्तुतः यह चित्त की सजगता और साक्षीभाव की साधना का ही एक रूप है। इस पद्धति के भारत आगमन के साथ जैन ध्यानसाधना विधि में एक क्रांतिकारी परिवर्तन आया है। वह पुनः अपनी मूल धारा से जुड़ने को उद्यत हुई है। सर्वप्रथम आचार्य तुलसी के विद्वान् शिष्य और तेरापंथ के वर्तमान के आचार्य महाप्रज्ञ जी ने गोयनकाजी के विपश्यना के शिविरों में भाग लिया और उस पद्धति को सीख कर

यह अनुभव किया कि यह जैन परम्परा की भी प्राचीनतम पद्धति रही है। फिर उन्होंने उस विपश्यना की पद्धति को जैन आगमों से जोड़ते हुए 'प्रेक्षा ध्यान' की एक नवीन विधि का विकास किया। यह विधि जहाँ एक ओर विपश्यना या आचारांग आदि की प्राचीन आगमिक ध्यान परम्परा से योजित है वहीं इसमें परवर्ती जैन आचार्य, पातंजल योगसूत्र, हठयोग की परम्परा और आधुनिक मनोविज्ञान का एक सम्मिश्रण देखा जाता है। उन्होंने विपश्यना की या साक्षी भाव की साधना की प्राचीन पद्धति को युग के अनुरूप रूपान्तरित करने का प्रयत्न किया। इसे जैन ध्यान विधि का एक नवीन मौलिक रूपान्तरण माना जा सकता है। इसी क्रम में विपश्यना और प्रेक्षा की विधि से प्रभावित हो स्थानकवासी परम्परा के आचार्य नानालाल जी म.सा. ने 'समीक्षण ध्यान' का विकास किया। इस विधि में विशेषता यह है कि यह चित्तवृत्तियों के समीक्षण द्वारा चित्त विशुद्धि का प्रयत्न करती है। जहाँ विपश्यना और प्रेक्षा में साक्षीभाव की प्रमुखता है वहाँ समीक्षण ध्यान विधि में साक्षीभाव के साथ-साथ विवेक दृष्टि का सम्मिश्रण भी किया गया है। इसी क्रम में स्थानकवासी श्रमण संघ के वर्तमान आचार्य शिवमुनि ने भी गोयनकाजी के समीप विपश्यना को सीखकर उसे जैन आगमिक परम्परा के साथ संयोजित करते हुए अपनी ध्यान पद्धति प्रस्तुत की है। इसी क्रम में पूज्या साध्वी उमरावकुँवर जी 'अर्चना' ने मुख्य रूप से मुद्राओं पर बल देते हुए मुद्रा ध्यान की एक पद्धति का विकास किया है। ज्ञातव्य है कि भारतीय उपासना पद्धतियों में मुद्राओं का साधना की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व रहा है। विशेष रूप से पूजा विधान आदि में मुद्राओं को महत्त्व दिया जाता है। जैन परम्परा में भी विभिन्न मुद्राओं के उल्लेख मिलते हैं। विशेष रूप से योगमुद्रा, जिनमुद्रा, वीतरागमुद्रा आदि के उल्लेख हैं जो जैन परम्परा के तंत्र और विधि-विधान सम्बन्धी ग्रन्थों में मिलते हैं। विशेष रूप से 'विधिमार्गकृपा' में आचार्य जिनप्रभ सूरि ने 73 मुद्राओं का उल्लेख किया है। पूज्या साध्वीश्री ने साधना की अपेक्षा कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्राओं को अंगीकृत कर उनके माध्यम से चित्तवृत्ति को एकाग्र बनाने सम्बन्धी निर्देश दिये हैं।

वर्तमान युग में जैन परम्परा में जन्मे आचार्य रजनीश (ओशो) ने ध्यान की विभिन्न विधियों के प्रयोग किये हैं। वस्तुतः उनके द्वारा प्रस्तुत ये सभी ध्यान विधियाँ विभिन्न परम्पराओं से संकलित की गई हैं। अतः जैन ध्यान विधि के विकास की अपेक्षा इनका विशेष महत्त्व नहीं है। क्योंकि जैन परम्परा में जन्म लेकर भी आचार्य रजनीश का दृष्टिकोण व्यापक रहा है। इसलिए जैन ध्यान विधि की ऐतिहासिक विकास यात्रा में उनकी विधियों को सम्मिलित करना सम्भव नहीं फिर भी हम इतना तो कह सकते

हैं कि ध्यान के क्षेत्र में उनका जो व्यापक परिप्रेक्ष्य है वह ध्यान की अन्य विधाओं की तरह जैन परम्परा की ध्यान विधि से भी प्रभावित नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनधर्म में ध्यान साधना की एक सुदीर्घ परम्परा है, महावीर से महाप्रज्ञ तक इसकी यात्रा में अनेक पड़ाव और मोड़ आये हैं। महावीर के युग की सजगता की ध्यान साधना विधि क्रमशः रूपान्तरित हुई, उस पर योगदर्शन और फिर तन्त्र का प्रभाव आया और एक स्थिति ऐसी आई कि महावीर की ध्यान साधना विधि का मूल स्वरूप ही विस्मृत हो गया। गोयनकाजी द्वारा जब बुद्ध की मूल ध्यान विधि विपश्यना के रूप में इस देश में पुनर्जीवित हुई तो उसके आलोक में आचार्य महाप्रज्ञ जी का ध्यान महावीर की मूल ध्यान साधनाविधि की खोज में लगा और प्रेक्षा ध्यान विधि का जन्म हुआ, जिसमें महावीर की मूल साधना विधि के आगमिक आधारों को सुरक्षित रखते हुए उनका योग साधनाविधि तथा आधुनिक शरीर शास्त्र और मनोविज्ञान के साथ समन्वय करके प्रेक्षाध्यानविधि को स्वरूप मिला। इस प्रकार जैन परम्परा में ध्यान साधना विधि की महावीर से महाप्रज्ञ तक की यात्रा रोचक और अनेक अनुभवों से परिपूर्ण है। प्रस्तुत कृति में हमने यथाशक्ति उनका परिचय देने का प्रयत्न किया है। आशा है, पाठकवृन्द और विद्वत् जगत् दोनों ही इससे लाभान्वित होंगे।



सहायक ग्रन्थ सूची

- अध्यात्मदर्शन : मुनिनेमिचन्द्र, विश्ववात्सल्य प्रकाशन समिति, लोहा मण्डी आगरा, (उ. प्र.), 1976
- अध्यात्मसार : पं. मुनिश्री नेमिचन्द्र जी, श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ, दिल्ली, 1976
- अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद्, ज्ञानसार प्रकरण रत्नत्रयी : उपा. यशोविजय, केशर बाई ज्ञान भण्डार, जामनगर, वि.सं. 1994
- अनुत्तरोपपातिक : (सं.) युवाचार्य श्री मिश्रीमल जी म.सा. 'मधुकर', आगम प्रकाशन समिति, पीपलिया बाजार, ब्यावर
- अभिधम्मत्थसंगहो (नवनीत टीका)
- अभिधान चिन्तामणि : हेमचन्द्राचार्य, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1964
- अमृतनादोपनिषद् : गीताप्रेस गोरखपुर
- अमितगति श्रावकाचार : श्रावकाचार संग्रह, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर
- अर्चनार्चन ग्रन्थ : (सं.) साध्वी डॉ. सुप्रभा जी म.सा. 'सुधा', मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन समिति, पीपलिया बाजार, ब्यावर, 1988
- अष्ट पाहुड : कुन्दकुन्द कहान दि. जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर, 1984
- अंगुत्तर निकाय : महाबोधि सभा, कलकत्ता
- आचारांग सूत्र : (सं.) युवाचार्य श्री मिश्रीमल जी म.सा. 'मधुकर', आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
- आदि पुराण : (सं.) पन्नलाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1963
- आनन्दधन पदावली : (सं.) नैनमल विनयचन्द्र सुराणा, जैन श्वेताम्बर सकल संघ, मेड़ता सिटी, वि.सं. 2053
- आवश्यक निर्युक्ति : आचार्य हरिभद्र - आगमोदय समिति, बम्बई
- आवश्यक सूत्र : (सं.) युवाचार्य श्री मिश्रीमल जी म.सा. मधुकर, आगम प्रकाशन

समिति, ब्यावर

- आवश्यक सूत्र भाग 2 हरिभद्र वृत्ति सहित : निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई 1917
- इष्टोपदेश : आचार्य पूज्यपाद (सं.) परमानन्द शास्त्री, वीरसेवा मंदिर दरियागंज, दिल्ली वि.सं. 2020
- इसिभासियाई : प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
- उत्तराध्ययन सूत्र : (सं.) युवाचार्य श्री मिश्रीमल जी म.सा. 'मधुकर', आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
- उपासकदशांग सूत्र : (सं.) युवाचार्य श्री मिश्रीमल जी म.सा. 'मधुकर', आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
- औपपातिक सूत्र : (सं.) युवाचार्य श्री मिश्रीमल जी म.सा. 'मधुकर', आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
- कर्मग्रन्थ (हिन्दी) श्री देवेन्द्रसूरि, टीका - श्री मिश्रीमल जी म.सा., मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति, जोधपुर 1974
- कार्तिकेयानुप्रेक्षा : स्वामी कुमार विरचिता, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास
- गीता : गीताप्रेस, गोरखपुर
- गीता का ध्यानयोग : स्वामी रामसुखदास : गोविन्द भवन, गोरखपुर, वि. सं. 2041
- घेरण्ड संहिता : डॉ. चमनलाल गौतम, संस्कृति संस्थान, बरेली
- छान्दोग्योपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर वि.सं. 2023
- जैनदर्शन मनन और मीमांसा - आचार्य महाप्रज्ञ : आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान)
- जैनधर्म : पं. कैलाशचन्द्र जैन शास्त्री, जैनसंघ चौरासी, मथुरा
- जैन योग ग्रन्थ चतुष्टय : (सं.) डॉ. छगनलाल शास्त्री, मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन समिति, ब्यावर
- जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पं. जुगलकिशोर मुख्तार
- जैन योग परम्परा : मुनि राकेशकुमार : तुलसी अध्यात्मनीडम्, 1982

- तत्त्वार्थसूत्र : पं. सुखलाल संघवी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी 1976
- तत्त्वार्थ - राजवार्तिकम् : भट्टकलंक देव, यूनिवर्सल एजेन्सीज, देरगाँव आसाम
- तत्त्वार्थ - श्लोक वार्तिकालंकार, विद्यानन्दी, कुन्धुसागर ग्रन्थमाला, सोलापुर, 1984
- दशवैकालिक सूत्र : आचार्य आत्माराम जी म.सा., खजांचीराम जैन, जैनशास्त्रमाला, लाहौर, 1946
- दशवैकालिक सूत्र : युवाचार्य श्री मिश्रीमल जी म.सा. मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
- दीघनिकाय : महाबोधिसभा, सारनाथ
- द्रव्यसंग्रह : श्रीमन्नेमिचन्द्र सैद्धान्तिकदेव विरचित, कोल्हापुर, 1900
- धम्मपद : धर्मरक्षित, मास्टर खेलाड़ीलाल एण्ड संस, बनारस
- धर्म : जीवन जीने की कला : सत्यनारायण गोयनका, सियाजी ऊ.वा. खिन मेमोरियल ट्रस्ट, मुम्बई
- ध्यानदीपिका : उपाध्याय सकलचन्द्र, देवीदास हेमचन्द्र बोरा, 98 गोलबाजार, खड्गपुर, 1961
- ध्यान : एक दिव्य साधना : आचार्य शिवमुनि, प्रज्ञा ध्यान एवं स्वाध्याय केन्द्र, मुम्बई, द्वि.सं. 2000
- ध्यान बिन्दूपनिषद् : पं. श्रीराम शर्मा, संस्कृति संस्थान, बरेली
- ध्यान शतक : दिव्यदर्शन कार्यालय, कालूपुर अहमदाबाद वि.सं. 2030
- ध्यान सम्प्रदाय : डॉ. भरतसिंह उपाध्याय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
- ध्यान स्तव : आचार्य भास्करनन्दी, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
- नन्दीसूत्र : (सं) युवाचार्य श्री मिश्रीमल जी म. सां. 'मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
- नियमसार : कुन्दकुन्द, श्री कुन्दकुन्द कहान जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर, 1984
- पंचास्तिकाय : कुन्दकुन्द, श्री कुन्दकुन्द कहान जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर, 1984

- पंचाशक प्रकरण : आचार्य हरिभद्र, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, 1997
- पासनाह चरिअं : प्रफुल्लकुमार मोदी, प्राकृत ग्रंथ परिषद्, वाराणसी, 1965
- पातंजल योगसूत्र (भोजवृत्ति) (सं.) रामशंकर भट्टाचार्य, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी 1969
- पातंजल योगदर्शनम् : वाचस्पति मिश्र विरचित तत्त्वशास्त्री टीका, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1971
- पातंजल योगदर्शनम् : उदयवीर शास्त्री, गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली
- प्रश्नव्याकरण सूत्र : (सं.) युवाचार्य श्री मिश्रीमल जी म.सा. मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
- प्रज्ञापनासूत्र : (सं.) युवाचार्य श्री मिश्रीमल जी. म.सा. मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
- प्रमाणनय तत्त्वालोक : वादिदेवसूरि, जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी अहमदनगर 1972
- प्रशमरति : उमास्वामी : परमश्रुत प्रभावक मण्डल, मुम्बई 1950
- प्रेक्षा : एक परिचय : मुनि किशनलाल, जैन विश्व भारती, लाडनूँ
- बृहद् द्रव्य संग्रह : ब्रह्मदेव विरचित टीका सहित, राजचन्द्र आश्रम अगास, वि.सं. 2022
- बृहत्कल्पभाष्य : आचार्य भद्रबाहु स्वामी, आत्मानन्द सभा, भावनगर, 1936
- ब्रह्मविज्ञान : स्वामी श्री योगेश्वरानन्द सरस्वती, योगनिकेतन ट्रस्ट, ऋषिकेश, 1974
- बौद्धदर्शन मीमांसा : बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1954
- भगवती आराधना : शिवार्यकृत, जैन संस्कृति संरक्षण संघ, सोलापुर
- भगवती सूत्र : (सं.) युवाचार्य श्री मिश्रीमल जी म.सा. 'मधुकर', आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
- भागवत : क्षेमराज, कृष्णदास, वेंकटेश्वर प्रेस मुम्बई, 1882
- भीतर की ओर : आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनूँ

- महाभारत : गीताप्रेस, गोरखपुर
- मञ्जिमनिकाय : कश्यप जगदीश, बिहार राजकीय पालि प्रकाशन मण्डल, 1958
- मनुस्मृति : जवाहर बुक डिपो, मेरठ
- मनोनुशासनम् : आचार्य तुलसी : आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, चूरू
- मूलाचार : स्वामी वट्टकेर, भा. अनेकान्त विद्वत् परिषद्, वाराणसी, 1996
- मूलाराधना : शिवार्य, वीरप्रेस, जयपुर
- यशस्तिलकचम्पू : सोमदेवसूरि : निर्णयसागर प्रेस मुम्बई
- याज्ञवल्क्य स्मृति : संस्कृति संस्थान, बरेली
- योगशास्त्र : स्वोपज्ञ व्याख्या एवं हिन्दी अनुवाद, संजय साहित्य संगम आगरा 1975
- योगशास्त्र : आचार्य हेमचन्द्र (सं.) मुनि समदर्शी श्री ऋषभचन्द्र जौहरी, किशनलाल जैन, दिल्ली 1963
- योगसार : आचार्य योगीन्दुदेव : जिनश्रुत प्रकाशन समिति, जयपुर
- योगमार्ग : आचार्य सोमदेव : श्री शान्तिसागर जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, शान्तिवीरनगर, श्रीमहावीरजी
- योगमार्ग : आचार्य सोमदेव : अनुवाद एवं विवेचन : श्री उमरावकुंवर जी म.सा. 'अर्चना', मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन, ब्यावर, 2003
- योगप्रदीप : (सं.) अमृतलाल कालिदास दोशी, जैन साहित्य विकास मण्डल, मुम्बई, 1960
- योगवासिष्ठ : माडर्न थॉट : बी.एल. अत्रे, द इण्डियन बुक शॉप, बनारस, 1954
- विशेषावश्यक भाष्य : श्री जिनभद्रगणि, प्राकृत विद्यापीठ, वैशाली (बिहार)
- विसुद्धिमग्न : बुद्धघोष, बौद्ध भारती, वाराणसी, 1977
- शान्तसुधारस भावना : महोपाध्याय श्रीमद् विनय विजय, श्री भूपेन्द्र सूरि जैन साहित्य संचालन समिति, आहोर
- श्वेताश्वतरोपनिषद्, गीताप्रेस गोरखपुर
- षट्खण्डागम : जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर

- षोडशक प्रकरण : आचार्य हरिभद्र, निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई 1911
- समयसार : कुन्दकुन्द : टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर 1983
- समवायांग सूत्र : (सं.) युवाचार्य श्री मिश्रीमल जी म.सा. 'मधुकर', आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
- समाधितंत्र : आचार्य पूज्यपाद, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली वि. सं. 2020
- सर्वार्थसिद्धि : (सं.) पं. फूलचन्द जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
- संयुक्तनिकाय : (महावग्ग-पालि) भिक्खु जगदीश काश्यप, पालि पब्लिकेशन बोर्ड, बिहार 1959
- सूत्र निपात : (हिन्दी पालि) भिक्षु धर्मरत्न, महाबोधि वाराणसी, 1960
- सूत्रकृतांग सूत्र : (सं.) युवाचार्य श्री मिश्रीमल जी म.सा. मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
- स्कन्द पुराण : कलकत्ता
- स्थानांगसूत्र : (सं.) युवाचार्य श्री मिश्रीमल जी म. सा. मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
- स्याद्वाद मंजरी : हेमचन्द्र, सेठ मणिलाल रेवाशंकर जगजीवन जौहरी, मुम्बई, 1935
- श्रीमद् भागवत पुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर
- हठयोग प्रदीपिका : डॉ. चमनलाल गौतम, संस्कृति संस्थान, बरेली
- ज्ञानार्णव : आचार्य शुभचन्द्र, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास
- ज्ञानसार : पद्मसिंह, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत



5. ध्यान तत्त्वतः आत्मनिष्ठा है। किन्तु जब मन संकल्पों से घिर जाता है और उसके निरसन हेतु चेष्टा की जाती है तो इस चेष्टा को ध्यान शब्द से व्यक्त किया जाता है। आत्मनिष्ठता तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है तुम जैसे हो तथावत् रहो। यही लक्ष्य है।

महर्षि रमण

'ध्यान' पुस्तक से उद्धृत

6. ध्यान अभियान है-सबसे बड़ा अभियान जिस पर मनुष्य का मन निकल सकता है। ध्यान है बस होना-कुछ भी न करते हुए-कोई क्रिया नहीं, कोई विचार नहीं, कोई भाव नहीं। तुम बस हो। और यह एक खालिस आनंद है।

ओशो रजनीश

'ध्यान योग प्रथम और अंतिम मुक्ति' पृष्ठ 2

7. चित्त का विविध विकल्पों से रहित होकर एक विकल्प पर स्थिर हो जाना और अन्त में निर्विकल्प हो जाना ही ध्यान है।

डॉ. सागरमल जी जैन, शाजापुर

8. ध्यान अन्तर्यात्रा का वह सोपान है जो साधक को आन्तरिक पहचान कराता है। ध्यान के द्वारा ही साधक अपने मन को वश में कर रागादि से मुक्त होकर निर्विध्न रूप से समभाव में लीन हो जाता है। इसे आत्ममन्दिर में प्रवेश का द्वार कहा जा सकता है।

डॉ. नरेन्द्रसिंह

**अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
राजकीय महाविद्यालय,
ब्यावर (राज.)**



साध्वी डॉ. उदितप्रभा 'उषा' का संक्षिप्त परिचय

- जन्म : कार्तिक सुदी चवदस वि. सं. 2017 (2-11-1960)
- जन्म स्थान : कलकत्ता
- माता : सौ. श्रीमती रुकमाबाई सा बैद
- पिता : स्व. श्रीमान् बालचन्द जी बैद (डेह) चैन्नई
- शैक्षणिक अध्ययन : एम. ए., पीएच.डी., साहित्य रत्न, सिद्धान्ताचार्य-I
संस्कृत साहित्य विशारद
- अध्यात्म अध्ययन : आगम, शोकड़े, दर्शन, न्याय, व्याकरण
- वैराग्य : धार्मिक संस्कार
- दीक्षा स्थान : डेह (नागौर) राजस्थान
- दीक्षा गुरु : उप. प्र. स्वामी जी श्री ब्रजलाल जी म. सा.
पू. युवाचार्य श्री मिश्रीमलजी म. सा. 'मधुकर'
- गुरुवर्या : महायोगेश्वरी महासती श्री उमरावकुंवर जी म. सा.
'अर्चना'
- विहार क्षेत्र : राजस्थान, मध्यप्रदेश, गुजरात, सौराष्ट्र
- शोध विषय : जैन धर्म में ध्यान का ऐतिहासिक विकास क्रम
- साहित्य सृजन : सद् शिक्षा के फूलों से लदी डालियाँ;
उलझता जीवन, सुलझते प्रश्न; अन्तहीन आलोक;
सरोवर के सारंग कुछ इस पार कुछ उस पार;
रिशतों की कंदील; प्रश्नों के रेखाचित्र उत्तर के रंग;
कहावतों पर कहानियाँ भाग-I